हिन्दी और उसके कलाकार

लेखक—
श्री फूलचन्द जैन "सारङ्ग" एम० ए०
हिन्दी विभाग
एम० डी० जैन कॉलिज आगरा।

विनोद पुस्तक-मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

अपनी बात

राष्ट्रमन्दिर मे राज्य भाषा के आसन पर आज हिन्दी की चिर कल्याणी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। साधना के लम्बे पथ को पार कर हिन्दी इस गौरव की अधिकारिणी बनी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने जीवन में घर बाहर सर्वत्र इसे उपेक्षा और तिरस्कार के कड़ुवे घूँट पीने को मिले हैं। फिर भी सब ओर से उपेक्षित और अवहेलित होकर भी उसने अपनी प्राण शक्ति कभी नहीं खोई। राज्य का सरक्षण उसे कभी नहीं मिला पर जनजीवन में उसकी जड़े फैलती ही गईं, और आज हिन्दी जनता के देश भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है। हिन्दी की इस उज्ज्वल परपरा के पीछे उन कलाकारो की तपःपूत साधना है जिन्होने अपने जीवन और कृतित्व के सबल से उसके प्राणो मे स्पदन भरा, समृद्धि के सोपानो पर उसे चढ़ाया, जन-जन के हृदयों तक उसके सदेश को पहुँचाया। उनका जीवन, उनकी साधना क्या कम गौरवपूर्ण है ? वह निश्चय ही हमारे राष्ट्र की, हमारी सस्कृति की सबसे बड़ी धरोहर है। अपने ऐसे कलाकारो के जीवन और साधना से हम परिचित हो सके, श्रद्धा और अनुराग के भाव प्रसून लेकर उन तक पहुँच सके, 'हिन्दी और उसके कलाकार' के प्रणयन का यही मूल उत्स है।

यह कृति जैसी भी है, सुधी पाठको के सामने है। इतना अवश्य है कि इस दिशा मे यह कोई नया प्रयास नही है। हिन्दी कवियो और लेखको को लेकर साहित्य मर्मज्ञो द्वारा प्रचुर मात्रा मे साहित्य की रचना हो चुकी है। फिर भी इस पुस्तक की आवश्यकता क्यो हुई, इसका भी विशिष्ट कारण है। ज्यो-ज्यो हिन्दी भाषा और साहित्य प्रगति के पथ पर तेजी से गतिशील है त्यो-त्यो उसके स्रष्टाओ का कृतित्व, अनुसधान और समीक्षाओ के रूप में मनीषी विद्वानो द्वारा अधिक से अधिक प्रकाश में आता जा रहा है। उनका

साहित्यिक व्यक्तित्व अब अधिक पूर्णता और स्पष्टता के साथ साहित्य जगत मे रखा जा रहा है। पुस्तक मे इन्हीं नवीनतम अनुसधानो और समीक्षाओ के प्रकाश मे हिन्दी कलाकारो के कृतित्व को परखने का प्रयास किया गया है। साहित्य के विद्वानो द्वारा हिन्दी कलाकारो पर डाला गया नवीनतम प्रकाश साधारण पाठको तक पहुँच सके, यह पुस्तक इसका माध्यम बनी है। फलतः जहाँ तक मौलिकता की बात है, लेखक अपनी ओर से यह दावा करने का अधिकारी नहीं है। उसका अपना कार्य तो यह रहा है कि हिन्दी का प्रत्येक प्रमुख कलाकार अपने वास्तविक रूप मे हमारे सामने आ सके, जटिल होने की अपेक्षा अधिक रोचक और आकर्षक बन सके, तथा उसकी साधना को भली भाति हृदयगम किया जा सके।

लेखक अपने इस कार्य मे कहाँ तक सफल हुआ है, इसका उत्तर तो इस कृति के विज्ञ पाठको के पास ही है। अपनी ओर से यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि साहित्य की प्रमुख विधाओ के प्राचीन और नवीन उन सभी हिन्दी के कलाकारो को जो कि हिन्दी के इतिहास के महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं, एक ही स्थान पर विशद रूप में देखने का सम्भवतः यह पहिला ही प्रयास है।

अन्त मे जिन विद्वानों की कृतियो से सहायता लेकर पुस्तक को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है उनके प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए लेखक अपनी बात समाप्त करता है।

—फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग'

विषय-सूची

हिन्दी

और

उसके

कलाकार

हिंदी का समस्त वीर गाथा काव्य सामत युगीन भारतीय सभ्यता और सस्कृति के जीवन रस से अनुप्राणित है। आर्यावर्त्त की शस्य'श्यामला वसुन्धरा पर यवन वाहनियो की हुंकार, राजपूत राजाओ का असफल प्रतिरोध, रणभूमि में उनका उत्कट शौर्य और पराक्रम, कामिनी प्रिय सामंतो का रति विलास तथा अतृप्त वासनाओ की पूर्त्ति के लिये राजकन्याओ का हरण और उसको लेकर राजपूत राजाओ के पारस्परिक गृह युद्ध आदि, सामत कालीन जीवन की इन विशेष भगिमाओ ने ही हिंदी के वीर गाथा काव्य का सृजन और पोषण किया है। राजसी सरक्षण में पोषित कविकुल गुरु कालिदास की वह काव्य परम्परा इस युग के साहित्य स्रष्टा चारण और भाट कवियो की धरोहर थी। जन-जीवन के व्यापक क्षेत्र से दूर एक सीमित और बँधे हुए दायरे में उस युग की कविता अपने आश्रयदाताओ के वैयक्तिक शौर्य और हास-विलास की अतिरंजना पूर्ण अभिव्यक्ति थी।

चद इसी युग की उपज हैं और इस युग मे उनका व्यक्तित्व सर्वोपरि है। उन जैसा काव्य कला-मर्मज्ञ, षट भाषाओ का निष्णात पण्डित, व्युत्पन्नमति, वाक्पट्ठु, और एक ऐसा ऊर्जस्वित व्यक्तित्वधारी पुरुष जो अपने आश्रयदाता का राजकवि ही नही वरन् अंतरग सखा, सुख-दुख और जीवन-मरण का साथी रहा हो, अन्य कोई कवि उस युग मे दृष्टिगोचर ही नहीं होता। रामचरितमानस के रूप में जिस प्रकार तुलसी की अलौकिक काव्य प्रतिभा ने मर्यादा पुरुषोत्तम

भगवान् राम के दिव्य जीवन को प्रसूत कर आर्य सस्कृति की चिरतन रसधारा प्रवाहित की है उसी प्रकार इस महाकवि ने भी भारतीय इतिहास के विशिष्ट पुरुष महाराज पृथ्वीराज की शौर्य और शृङ्गार से अनुरजित जीवन-प्रशस्ति को अपने काव्य का विषय बनाकर मध्यकालीन राजपूती सम्कृति का अभिनव आलोक हमे दिया है। दिल्ली नरेश पृथ्वीराज, चद विरचित 'पृथ्वीराजरासो' के ही नायक नही हैं वरन् वे तत्कालीन युग मे भारतीय इतिहास के भी नायक हैं। समस्त उत्तरी भारत उनकी सुदृढ़ भुजाओ के सरक्षण मे सौख्य और समृद्धि के निर्द्वन्द गीत गा रहा था। उनका सपूर्ण जीवन शौर्य और पराक्रम की ही प्रतिमूर्त्ति था। वे अन्तिम हिदू सम्राट थे और मुहम्मद गोरी के हाथो उनकी पराजय हिदू साम्राज्य के अपकर्ष का ही दूसरा रूप है। अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण वे अनेक राजकन्याओं के आकर्षण केन्द्र थे और भारतीय राजकुलो की अनेक सुन्दरियों द्वारा पति रूप मे वरण किये गये थे। चद को ऐसे ही आश्रयदाता के राजकवि होने का गौरव प्राप्त है। सम्राट विक्रमादित्य के साथ कविकुल गुरु कालिदास के कवि जीवन का जैसा मणिकाचन संयोग हमे दृष्टिगत होता है, उसकी ही पुनरावृत्ति महाराज पृथ्वीराज और कवि चद के रूप मे हुई थी। निश्चय ही चद के कवि हृदय का स्पर्श पाकर मध्यकालीन भारतीय इतिहास के नायक का जीवन कृतकृत्य हुआ है।

अपने युग के प्रतिनिधि और हिंदी के इस महान कवि का जन्म लाहौर मे हुआ था। रावमल्ह इनके पिता थे। ये जगाति गोत्र के ब्रह्मभट्ट थे।

जीवन वृत्त

पृथ्वीराज के जन्म से पूर्व मल्ह अपने पुत्र चंदवरदाई को लेकर महाराजा सोमेश्वर के दरबार मे आ गये थे। चद से महाराज सोमेश्वर अत्यन्त प्रभावित हुए और यही कारण था कि चंद कवि शीघ्र ही महाराज के विश्वासपात्र बन गए। पृथ्वीराज का जन्म देहली मे हुआ था। महाराज सोमेश्वर ने कवि चद और वीर लौहानो को पृथ्वीराज को लेने के लिये देहली भेजा था जैसा कि प्रथम समय (सर्ग) के निम्न छन्द से प्रगट है—

तब बुलाय सोमेस बर, लौहानौ अरु चंद।
लै आवहुँ अजमेर घर, पहौते घरह सु इंद॥

इस प्रकार चदवरदाई पृथ्वीराज से आयु में बड़े थे। पृथ्वीराज का जन्म सवत् १२०५ माना जाता है। चदवरदाई का जन्म इससे पहले हुआ होगा। मिश्रबन्धुओ ने चदवरदाई और पृथ्वीराज की आयु का अन्तर २३ वर्ष माना है। इस आधार पर चद का जन्म स० ११८२ के लगभग बैठता है। परन्तु रासो के कुछ अन्य छदो में वर्णित है कि कवि चद, रानी सयोगिता और पृथ्वी राज का जन्म एक ही साथ हुआ था। रासो के छदो का यह विरोधाभास विवाद की वस्तु है और इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता।

कुछ भी हो इतना अवश्य है कि कवि चंद पृथ्वीराज के जीवन पर्यन्त तक साथ रहे। आखेट मे, युद्ध में, मत्रणा मे, राजसभा मे, सर्वत्र पृथ्वीराज के लिये चद की उपस्थिति अपेक्षित थी। रासो के अनुसार कवि चंद और पृथ्वीराज की मृत्यु एक ही दिन हुई थी। जब शाहबुद्दीन गौरी के हाथो पराजित पृथ्वीराज बदी के रूप मे गजनी ले जाए गये थे, कवि चद भी योगी का भेष धारण कर गजनी पहुँचे। अपने वाक्चातुर्य से उन्होने गजनी के सुल्तान गौरी से इस बात की स्वीकृति प्राप्त करली कि पृथ्वीराज गजनी के राज-दरबार मे शब्द-बेधी बाण चलाएँ। योगी चद के सकेत पर गौरी को लक्ष्य कर महाराज पृथ्वीराज ने शब्द-बेधी बाण चलाया और वह गौरी के तालू को बेधता हुआ निकल गया। गौरी सिहासन से च्युत होकर मृत्यु की गोद मे सो गया। इधर गौरी के सैनिको से अपमानित होने की अपेक्षा चद और पृथ्वीराज ने मृत्यु को श्रेयस्कर समझा। फलतः दोनो वीरो ने एक दूसरे का प्राणात कर दिया। इस प्रकार सं० १२४६ में इस महाकवि का प्राणात हुआ। रासो द्वारा वर्णित यह घटना ऐतिहासिक तथ्यो की कसौटी पर कसने से निराधार सी प्रतीत होती है। क्योकि सुलतान गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के शब्द-बेधी बाण द्वारा न होकर गक्खरो के हाथो हुई थी और पृथ्वीराज को गजनी न लाया जाकर गौरी के सिपाहियों द्वारा उनका युद्ध भूमि मे ही शिरोच्छेदन कर दिया गया था।

चदवरदाई केवल कवि ही नही थे, वरन् षड्भाषा, व्याकरण, साहित्य, काव्य, छदशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक प्रभृत्ति अनेक विद्याओ में पारगत, तन्त्र-मंत्र विद्या के ज्ञाता, धर्म प्रेमी और तलवार के धनी थे। रासो के अनुसार

चद, देवी सरस्वती के वरदानी थे। इसीलिये चद, वरदाई कहलाये। इन्हे ज्वाला देवी का भी इष्ट था। इस देवी ने अनेक स्थानो पर कवि चद की सहायता की थी। देवी का इष्ट होने के कारण कवि चद अदृष्ट काव्य रचना भी करते थे। वाक् चातुर्य की जातीय विशेषता चद में कूट-कूटकर भरी हुई थी। गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य को युद्ध के लिए उकसाने के निमित्त पृथ्वी-राज ने कवि चद को ही दूत बनाकर भेजा था। सुलतान गौरी के आक्रमण के अवसर पर रूठे हुए सामत हमीर को मनाने का कार्य भी चंद को सोपा गया था। महाराज पृथ्वीराज पर चद का अनन्य प्रभाव था। पृथ्वीराज के भरे राज दरवार मे कवि चद ने अपनी निर्भीक और स्पष्ट वाणी मे घोषणा की कि राजमत्री कैमास का वध स्वय महाराज पृथ्वीराज के हाथो हुआ है। इस कुकृत्य के लिये कवि चद ने पृथ्वीराज को कड़ी फटकार भी सुनाई।

पृथ्वीराज रासो

महाकवि चन्द ने दिल्ली नरेश महाराज पृथ्वीराज के जीवन का यशोगान अपने महाकाव्य पृथ्वीराज रासो मे किया है। यह रासो ६९ समयो (सर्गों) मे विभाजित लगभग डेढ़ हजार पृष्ठो का विशाल ग्रन्थ है, और इसमे लगभग एक लाख से ऊपर छन्द हैं। इसमे यज्ञकुण्ड के चार क्षत्रिय कुलोकी उत्पत्ति तथा चौहानो की अजमेर राज स्थापना से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का विस्तृत वर्णन है। सुप्रसिद्ध बाण भट्ट लिखित सस्कृत ग्रन्थ कादम्बरी का अन्तिम अश जिस प्रकार उसके पुत्र द्वारा पूर्ण हुआ था उसी प्रकार 'रासो' का अन्तिम भाग भी कवि चद के पुत्र जल्हण ने पूर्ण किया था। इसका उल्लेख रासो मे इस प्रकार है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।

पृथ्वीराज रासो में जो कथा वर्णित है उसके अनेक अश ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नही खाते। फलतः रासो की प्रामाणिकता पर रासो के अनेक अधि-कारी विद्वानो ने अपना सन्देह प्रगट किया है। कवि राजा श्यामलदान और मुरारदान, डा० बूलर, मारीसन, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशीदेवी प्रसाद प्रभृति इतिहास विज्ञो द्वारा रासो को सर्वथा अविश्वसनीय और जाली ग्रंथ बतलाया गया है। बगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा इस विशाल

ग्रथ के प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया गया था। कुछ थोड़ा अंश प्रकाशित भी हो चुका था। परन्तु इसी बीच डा० बूलर को संस्कृत ग्रन्थो की खोज करते समय जयानक कवि विरचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ की खण्डित प्रति हाथ लगी। पुस्तक की परीक्षा करने के उपरात डा० बूलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इतिहास की दृष्टि से 'पृथ्वीराज विजय' अधिक प्रामाणिक और पृथ्वीराज रासो अत्यन्त अप्रामाणिक ग्रन्थ हैं। क्योकि पृथ्वीराज विजय में वर्णित घटनाएँ और सवत् अब तक प्राप्त शिलालेख और ताम्रपत्रो पर उल्लिखित घटनाओ और संवतो से साम्य रखते हैं परन्तु पृथ्वीराज रासो मे वर्णित घटनाएँ और सवत् ऐतिहासिक तथ्यो से बिल्कुल मेल नही खाते। आश्चर्य तो यह है कि 'पृथ्वीराज विजय' में चदवरदाई नामक किसी कवि का उल्लेख तक नहीं है। फलतः रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे डा० बूलर की इस शोध के आधार पर रायल ऐशियाटिक सोसाइटी द्वारा रासो का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

इसमें सन्देह नहीं कि अनेक अनैतिहासिक तथ्यो. का वर्णन हमें रासो में मिलता है। रासो मे आबू पहाड़ के राजा जेत और सलख बताए गए हैं जिनका तात्कालिक शिलालेखो में कोई उल्लेख नहीं मिलता। पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह रासो के अनुसार चित्तौड़ के राजा समरसिंह से हुआ था। किन्तु रासो की वह बात शिलालेखो के अनुसार सर्वथा मनगढ़न्त प्रतीत होती है। समरसिह के जीवनकाल से बहुत पहले पृथ्वीराज परलोक वासी बन गये थे। इसी प्रकार गुजरात नरेश भीमदेव चालुक्य की मृत्यु रासो के अनुसार पृथ्वीराज के हाथो हुई, जब कि भीमदेव पृथ्वीराज के बहुत बाद तक जीवित रहे। रासो के अनुसार शाहबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज के तीर से मारा गया था जब कि ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वह सवत् १२६० में गक्खरो के हाथो मृत्यु को प्राप्त हुआ था। रासो की तिथियाँ भी ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर अविश्वसनीय हैं।

इन्हीं अनेक आंतरिक और बाह्य प्रमाणों की सहायता से प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता प० गोरीशकर हीराचंद ओझा ने इसे सर्वथा जाली ग्रन्थ सिद्ध करते हुये लिखा है "पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रथ है। उसमे चौहानों,

प्रतिहारों और सोलकियो की उत्पत्ति के सबध की कथा, चौहानो की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई बहिन, पुत्र और रानियो आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओ के सवत् प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामतो आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी सुनाई बातो के आधार पर इस बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि 'पृथ्वीराज रासो' पृथ्वीराज के समय मे लिखा गया होता तो इतनी बड़ी अशुद्धियो का होना असभव था।"

इन सब मतो के विरुद्ध मोहनलाल विष्णुलाल पाड्या, बाबू श्यामसुन्दर-दास, मिश्रबधु, दशरथ शर्मा, कर्नल टाड, तासी, आदि मान्य विद्वानो ने अपने प्रमाणों द्वारा रासो को प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पाड्या जी ने तो रासो की तिथियो की सगति ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिठाने के लिए विशुद्ध अनुमान के आधार पर अनद संवत् की कल्पना की है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी चंद को पृथ्वीराज का समकालीन होना मानते हैं। अपने हिन्दी साहित्य मे वे लिखते हैं "चदवरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार मे होना निश्चित है, और यह भी सत्य है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छन्दो मे लिखी थी।" अन्य स्थान पर उन्होने लिखा है "वर्त्तमान रूप मे 'पृथ्वीराज रासो' मे प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक हैं, पर साथ ही उसमें बीच-बीच मे चद के छद बिखरे पड़े हैं, और यह निश्चित जान पड़ता है कि वर्तमान रासो चद विरचित छन्दो का सङ्कलित एवं सम्पादित रूप है।" इधर हाल मे मुनि जिन विजयजी ने पुरातन प्रबध सग्रह मे जयचन्द प्रबन्ध नामक एक प्रबध प्रकाशित किया, जिसमे उन्होने चद के नाम से चार छप्पय उद्धृत किये हैं। वर्त्तमान रासो मे भी ये छद कुछ विकृत अवस्था मे प्राप्य हैं। इन पद्यो के प्रकाशन के उपरात तो अब इस विषय मे किसी को भी सन्देह नही होना चाहिये कि चद नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार मे था और उन्होने किसी ग्रन्थ की रचना भी की है। यह हो सकता है कि मूलरूप मे रासो छोटा रहा हो और बाद मे परवर्त्ती कवियो द्वारा उसमे अनेक क्षेपक जोड़ दिये गये हो जिसके कारण रासो अपनी इस विकृत अवस्था को प्राप्त हुआ है।

इसमें सदेह नहीं कि रासो के मूल रूप पर जमी हुई प्रक्षेपो की पर्त्तें इतनी

गहरी हैं कि उन्हे हटाकर रासो के मूल रूप को पहिचानना नितात कठिन है। परन्तु रासो के साथ प्रक्षेपो का यह समिश्रण रासो की इस लोक प्रियता का ही परिचायक है कि परवर्त्ती जनकवियो और लोक साहित्य के सृजनहारो ने किस श्रद्धा और आदर की भावनाओ के साथ रासो को अपनाया तथा इसके सहारे अपने काव्य को गौरवान्वित बनाने का प्रयत्न किया। रासो अपने युग की प्रतिनिधि रचना है और तत्कालीन काव्य जगत में उसका सर्वोपरि स्थान रहा होगा, इसमें लेशमात्र भी सदेह अपेक्षित नही है। रासो में राजपूत सामती सभ्यता का जैसा निरूपण और निदर्शन हुआ है वह अन्यत्र दुष्प्राप्य है। चद की यह महान कृति समस्त वीर गाथा युग की सबसे अधिक महत्व पूर्ण रचना है। कर्नल टॉड के शब्दो में तो 'चद का ग्रन्थ अपने युग का पूर्ण इतिहास है।' यही कारण था कि राजस्थान के अनेक राजकुलो की ख्याति और वशावलियाँ 'रासो' के आधार पर रची गईं। स्वय कर्नल टॉड ने अपना राजस्थान का इतिहास रासो की सहायता से लिखा है। फलतः रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विवादग्रस्त विषय मे ही उलझकर हम रासो के काव्य सोन्दर्य और साहित्य मूल्याकण से अपने हिन्दी साहित्य को वचित बनाकर बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि रासो की ऐतिहासिकता तथा अनैतिहासिकता को लेकर, बिद्वानो के निरर्थक तर्क मथन द्वारा उत्पन्न फेनिल स्थिति से रासो को मुक्त करते हुये उसके साहित्यिक रस का आनन्द लें और उसके साहित्यक परीक्षण द्वारा हिन्दी भाषा को गौरवशाली बनाएँ।'

प्रसिद्ध फ्रासीसी इतिहास वेत्ता गार्सा दि तासी के अनुसार इस कवि ने 'जैचन्द्र प्रकाश' या जयचन्द्र का इतिहास नामक एक और ग्रन्थ लिखा है जिसका उल्लेख वार्ड महोदय ने किया है। परन्तु स्वर्गीय सर एच० इलियट का अनुमान है कि चद्र कृत जयचन्द्र प्रकाश कोई भिन्न ग्रन्थ नही है वरन् पृथ्वी राज चरित्र का कनौञ्ज या कन्नौज खड भाग है जिसका अनुवाद कर्नलटॉड ने सगोप्तानेम' के नाम से ऐशियाटिक जर्नल मे प्रकाशित किया था। फलतः रासो के रूप मे कवि का एक ही प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है।

अपनी कृति के साहित्यक सौदर्य पर प्रकाश डालता हुआ रासो का कवि आदि पर्व मे कहता है—

रासो का काव्य सौन्दर्य

अति ढक्यौ न उघार सलिल जिमि जानि सिवालह ।
वरन वरन सुवृत्त हार चतुरंग विसालह ॥
विमल अमल बानी विलास वचन वर वन्नन ।
वक्तणि बाणि विनोद मोद श्रोतनि मन हुन्नन ॥
जुत अजुत अग्गि विचार बहु बचन छन्द छुट्यौ न कहि ।
घटि बढ़ि कोई मच्पह पढ़ै चंद दोस दिज्जोन यहि

"अर्थात् इस रासो का अर्थ न तो अत्यन्त ढका हुआ है और न ही सर्वथा स्पष्ट तथा बोधगम्य है, किन्तु जल के मध्य मे सिवार के समान है । तात्पर्य यह है कि अर्थ अनुसधान करने पर प्रतीत होता है । प्रत्येक वर्ण से युक्त अर्थ लाल पीले सफेद आदि अनेक प्रकार के पुष्पो से, चारो ओर से गुथे हुए विशाल हार की तरह शोभायमान है । रासो मे विमल अमल वाणी का विलास है, अर्थात् छन्दोभंगादि दोषो से रहित है, सुन्दर बचनो से युक्त उत्कृष्ट वर्णन है । मन को आनन्दित करने वाले मनोहर शब्द हैं, अर्थात् वीर रस में ओजस्वी शब्द हैं ।"अर्थ का विश्लेषण करने से वक्ता के कहने मे आमोद होता है और श्रोताओ के मन को हरने वाला है ।"

अन्यत्र अपने महाकाव्य का उल्लेख करते हुए कवि का कथन है कि उसमे विशाल धर्म की उक्तियाँ हैं, राजनीति और नव रसो का वर्णन है, तथा छः भाषाओ, पुराण और कुरान का मैने कथन किया है, यथा—

उक्ति धर्म विशालयस्य, राजनीति नवं रसं ।
षट् भाषा पुराणंच, कुराणं कथितं मया ॥

अपनी कृति के विषय मे कहे हुए कवि के उपर्युक्त कथन तनिक भी अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है और सत्य तो यह है कि रासो का काव्य सौन्दर्य और साहित्यक सौष्ठव इससे भी बढ़कर है । रासो की उत्कृष्ट भाव व्यजना और सुन्दर अलङ्कारों की विमुग्धकारी छवि, रस भरी कल्पनाओ का अभिनव विलास मनोहारिणी उक्तियो का अपूर्व चमत्कार, शौर्य और शृंगार की मनोहर छबि

अंकन, रासो की ये सब विशेषताएँ इस बात की साक्षी हैं कि इस कृति की गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थो मे बिना किसी सकोच के की जा सकती है।

रासो मूलतः वर्णनात्मक काव्य है। उसमें सैकड़ो उत्कृष्ट वर्णन भरे पड़े हैं और अधिकाश वर्णन कवि के कल्पना-सौदर्य से अभिभूत हैं। चाहे युद्ध की हुंकारो का चित्रण हो अथवा नारी के अप्रतिम रूप सौन्दर्य का वर्णन, चाहे ऋतु वर्णन का प्रसग हो और चाहे उत्सव वर्णन के स्थल, कवि चद सर्वत्र अविचलित रूप से महान कवि के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होने अपने कल्पना चित्रो द्वारा एक ही प्रकार के कौशल से इन वर्णनो का शृङ्गार किया है। नगर वर्णन, पनघट वर्णन, युद्ध वर्णन, उत्सव वर्णन, ऋतु वर्णन, व्यूह वर्णन, स्त्रीभेद वर्णन तथा शृ गार वर्णन के अन्तर्गत स्नान से लेकर पुष्पो, वस्त्रो और आभूषणो द्वारा अलकरण का लम्बा विवरण आदि विविध प्रकार के वर्णनो से रासो का कवि हमे परिचित बनाता है। षट ऋतुओ का ललित वर्णन विस्तृत रूप से हुआ है। यद्यपि ये ऋतु वर्णन उद्दीपन भाव को लेकर ही किए गए हैं परन्तु फिर भी ये वर्णन हमें कवि के ऋतु विषयक अनुभव, निरीक्षण और प्रकृति के प्रति सरस प्रेम का अच्छा परिचय देते हैं। प्रत्येक ऋतु के सजीव चित्र खींचने की कवि ने प्रशंसनीय चेष्टा की है।

रूप और सौन्दर्य के चित्रण मे तो कवि की कविता रुकना ही नहीं जानती। पृथ्वीराज की रानियो के नख सिख रूप सौन्दर्य और शृंगार के चित्रण मे तो कवि ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है और अपने काव्य की समस्त सरसता उसमें उडेल दी है। कोमल कल्पनाओ और मनोहारिणी उक्तियो से इन वर्णनो में अपूर्व काव्य चमत्कार आ गया है। यह सत्य है कि इन वर्णनो में काव्यगत रूढ़ियो का बहुत व्यवहार हुआ है, तथा परम्परागत उपमानो से सौन्दर्य की अभिव्यजना की है तथापि निर्झर के प्रसन्न वेग की भाति कवि की प्रतिभा निर्बाध रूप से सर्वत्र गतिशील है।

युद्ध के प्रसगो से रासो भरा पड़ा है। रासोकार ने अपने काव्य नायक पृथ्वीराज के शौर्य का प्रदर्शन करने के लिये अनेक कल्पना प्रसूत युद्ध प्रसगो को रासो में स्थान दिया है। रासो के सभी युद्ध वर्णन बड़े सजीव और

अद्वितीय हैं। उसमे राजपूती शौर्य और सामतयुगीन जीवन की तडक भडक का पूर्ण प्रदर्शन है। केवल नाद के सहारे युद्ध के वातावरण की सृष्टि की गई है। परन्तु यह वातावरण इतना सजीव बन पड़ा है कि कवि की काव्य प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। इन सब वर्णनो मे भाषा का जैसा ओजस्वी प्रवाह है, वीर रस का जैसा सफल उद्रेक है, वह अन्यत्र कहाँ ? रासो मे वर्णित युद्ध का एक चित्र देखिए—

बजे राज सिंधू सु मारूअ वज्जे। गजें सूर सूरं असूरं सुभज्जे॥
चढ़े व्योम विम्भा न देपंत देवं। बदे स्वामि कुज्जे सुसज्जे उभेवं॥
छुटे नाल गोला हवाई उछंगं। नछत्रं मनों ज्ञानि तुट्टे निहंगं॥
करषै चलै बानं कमानं। भई अन्ध धुंधन सुज्झै सुभानं॥
मिले सेल मेलं समेलं अपारं। सनाहं फटै हीय होवंत पारं॥
मंद मत्त दंतं उषारैं समद। मनो मिल्लिया पव्व उप्पालिकंदं॥
मचै हूक हूकं बहै सार-धारं। चमक्के चमक्के करारं करारं॥
भभक्कै भभक्कै बहै रक्त धारं। सनक्कै सनक्कै वहै वान भारं॥

कवि की भावना का क्षेत्र जन जीवन की अनुभूतियाँ न होकर अपने आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज का आद्योपात जीवन है। महाराज पृथ्वीराज के वीरोचित गुणो को उनके अतुल शौर्य एव पराक्रम को, और उनकी रसिकता को ही कवि ने अपनी वाणी प्रदान की है। महाराज पृथ्वीराज का यशोगान करते हुए चद ने सामंतकालीन आदर्श हिन्दू वीरता के चित्र उपस्थित किए हैं तथा परम्परागत प्रेम कथाओ का निर्वाह किया है। फलतः वीर और शृंगार इन दोनो रसो की धारा चन्द के काव्य मे प्रवाहित हुई है। वीर और शृगार रस की अनूठी भाव व्यंजना काव्य के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक व्याप्त है। वीर और शृंगार के साथ-साथ अन्य रसो का भी सफल उद्रेक प्रसगानुकूल अनेक स्थानो पर हुआ है।

रस

निश्चय रूप से रासो वीर रस प्रधान काव्य है और वीर रस की भाव-व्यंजना में कवि की वृत्ति खूब रमी है। चंद कोरे कवि ही नही थे, वे स्वय

वीर योद्धा थे। हाथ में उन्होने तलवार लेकर युद्ध के क्षेत्र में अपने अन्तरग मित्र पृथ्वीराज का साथ दिया था। इसलिये वीररस की व्यजना में उनके हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ घुली मिली हैं। उदाहरण के लिये वीररस की सफल भाव व्यंजना के रूप मे निम्न छद देखिए—

बज्जिय घोर निसाँनं रोन चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिग गिगन रंगन मगन भई श्रोनधर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रग नव रत्त वर॥

तत्कालीन राजपूत वीर, हृदय से रसिक भी होते थे। उनके एक हाथ में यदि शत्रु की मानमर्दनी तलवार थी तो दूसरा हाथ प्रिया के रसमय आलिगन को उठा हुआ था। उनकी एक आँख से शौर्य की चिनगारियाँ फूटती थीं तो दूसरी आँख से प्रेम की मदिरा छलकती थी। इस प्रकार वीरता और हास-विलास तत्कालीन राजपूत सस्कृति की दो प्रधान जातीय विशेषताएँ थीं। वीर और शृङ्गार रस की भाव व्यजना के रूप मे सामत जीवन की इन दो विशेषताओ का उत्कृष्ट चित्रण रासो मे हमे दृष्टिगोचर होता है।

रासो के नायक पृथ्वीराज का इच्छनि, पद्मावती, शशिव्रता, इन्द्रावती, हसवती, सयोगिता आदि राजकुल की राजकन्याओं से विवाह हुआ था। इन सब राजकन्याओ का वरण अपहरण के द्वारा किया गया था। या तो स्वप्न मे नायक को नायिका के और नायिका को नायक के दर्शन होते थे जिससे हृदय मे एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता था और तज्जनित वियोग की ज्वाला दोनो को दग्ध बनाती थी। अथवा नायक या नायिका दोनो एक दूसरे के चित्र को देखकर वियोग की आग से पीड़ित होते थे। नायिका की प्राप्ति के लिये उसके माता पिता से नायक को भयकर युद्ध करना पड़ता था और विजयोपरांत नायिका से नायक का प्रथम मिलन होता था। वियोग और सयोग की इन्ही अनेक दशाओ का चित्रण रासो मे हुआ है। यह सत्य है कि रासो के ये सभी प्रेम

कथानक सदेश रासक, नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध आदि लोक साहित्य के प्रेम कथानको पर ही आधारित हैं, परन्तु कवि ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ से, उसमें अपनी उत्कृष्ट भाव व्यंजना से, शृङ्गार रस का साहित्यिक और कलात्मक रूप-रग भरा है वह निस्सदेह अभिनदनीय है। रति भाव को लेकर नखसिख तथा षटऋतु आदि के बड़े सूक्ष्म और कुशल वर्णन कवि ने किए हैं।

विप्रलंभ शृङ्गार के विशिष्ट स्थान कवि की अद्‌भुत काव्य प्रतिभा के प्रकाश से निसदेह निखर उठे हैं। गौरी से लोहा लेने के लिये महाराज पृथ्वीराज रणक्षेत्र के लिये प्रस्थान कर रहे हैं। उस समय विरह से दग्ध सयोगिता की अवस्था पर दृष्टिपात करिए—

नृप पयान पोमिनि परपि घटि साहस धरि एक।
सुकथ केलि पियूप पिय, जतन करहि सपिकेक॥
जतन करहि सपि केक हाय कर जय जय जंपहि।
दंत कष्ट कर मिड़ि थरकि थरहर जिय कंपहि॥
इह प्रयान नृप करत परी संयोग धराधपि।
सषी करत सब जतन चलत पयान तहाँ नृप॥

नृप के प्रयाण की बात सुनकर वह सयोगिता क्षणभर में ही साहस रहित बन गई। सहेलियाँ कितने ही यत्न कर रही हैं। हाय के साथ-साथ जय जय मुख से निकल जाता था। कष्ट के साथ दाँत बन्द हो जाते थे, शरीर थरथराता था, और हृदय धड़कता था। नृपति के प्रस्थान करते ही सयोगिता धरती पर गिर पडी। सखियाँ अनेक प्रकार के उपचार कर रही थीं। राजा प्रयाण कर चुके थे।

रासो महाकाव्य है और उसमें सभी रसो का विधान है। युद्ध आदि के प्रसगो में रौद्र, वीभत्स और भयानक रसो का सुन्दर परिपाक स्वाभाविक ही है रासो में अनेक स्थानो पर इन तीनो रसो की उत्कृष्ट व्यजना हुई है। रौद्र रस का उदाहरण देखिए—

संभलिय वत्त प्रथिराज मंत, भ्रिकुटी करूर द्रिग रत्त जंत।
आरन मुषष सुत श्रोन बुंद, कल मलिय कोप रोमंत जिंद॥

यहाँ पर सुलतान गौरी आलबन है। शरणार्थी हुसैन खाँ को निकालने का प्रस्ताव उद्दीपन है और पृथ्वीराज की भृकुटी भग होना, मुँह तथा नेत्रो का लाल होना, प्रस्वेद रोमाच आदि अनुभाव हे, मद और उग्रता सचारी भाव हैं।

हास्य रस और निर्वेद रस का एक दो स्थलो को छोड़कर अभाव है। फिर भी जहाँ इनकी व्यजना हुई है वह सफल है। अद्भुत रस की व्यजना, शाप वश मनुष्य का असुर हो जाना, देवी की सिद्धि, कबधो की लड़ाई, वीरो के वशीकरण आदि प्रसगो में बहुत सुन्दर रूप से हुई है। सामतो की मृत्यु से उनकी रानियो का दुख, बदो होने और पराजित होने पर महाराज पृथ्वीराज के उद्गार, सती होने का दृश्य और सयोगिता के प्राण त्यागने आदि के स्थलो पर करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

एक ही छन्द मे नव रसो का सुन्दर विधान कर कवि चन्द ने अपनी काव्य मर्मज्ञता का अच्छा परिचय दिया है। नवरसो का एक ही स्थल पर समन्वय रासो की अपनी प्रधान विशेषता है। उदाहरण के लिये देखिए :—

भान कुंअरि शशिवृत्त नैन शृङ्गार सु राजै।
वीर रूप सामन्त रुद्र प्रथिराज विराजै।
चंद अद्भ्भुत जानि भए कातर करुनामय।
वीभछ्छ अरिन समूह सात उप्पनौ मरन भय।
उप्पज्यौ हास अपछर अमर भौ भयान भावी विगति।
कूरंभ रव प्रथिराज वर लरन लोह चिंते तरनि।

राजा भान की राजकुमारी शशिवृत्ता के नेत्रो मे रतिभाव के कारण शृङ्गार रस का उद्रेक हुआ। युद्धोत्साह की पूर्णता से सामतो मे वीर रस विराज रहा था। इष्ट प्राप्ति की बाधा के कारण पृथ्वीराज रौद्र रूप थे। चंद आश्चर्य चकित होने के कारण अद्भुत रस मे था और उसकी कातरता का भाव करुण रस का सचार कर रहा था। शत्रु समूह युद्ध की भयकर मारकाट देखकर जुगुप्सा की भावना से भर जाने के कारण वीभत्स रस मे था। मृत्यु के भय से डरे हुये देखकर वीरो के हृदय मे निर्वेद (वैराग्य) की भावना के कारण शात रस व्याप्त था। युद्ध के कौतुक आदि तथा उसके कारणो के लक्ष्य से अप्सराओं

और देवताओ के हृदय मे हास्यरस उत्पन्न होगया था। युद्ध की भवितव्यता अर्थात हार या जीत का अनुमान भयानक रस की निष्पत्ति कर रहा था। पृथ्वीराज के श्रेष्ठ सामन्त कूरभ राव को तलवार से युद्ध करने और सूर्य मण्डल मे वास करने मात्र की चिन्ता थी।

अलङ्कार

अलङ्कार काव्य की शोभा है। कवि चद ने अपनी कविता कामिनी का अलकारो की शोभा से हृदय खोलकर शृङ्गार किया है। शब्दालकारो मे चद की कविता अनुप्रासो की भरमार और यमक की बहुलता से आच्छन्न है। अनुप्रासो की छटा देखिए—

(१) जंग जुरन जालिम जुभार, भुज सार भार भुअ।
(२) न जानंन जानं न जानं प्रमानं
न रुद्रं न रुद्रं न रुद्रं न जानं।
(३) कट्टिस्य कुलाह कलंहतरह ढकी ढाल ढंढोरियै।

वृत्यानुप्रासो की तीनो वृत्तियो का बडा सुन्दर प्रयोग हुआ है। लाटानुप्रासो की भी कमी नही है। सत्य तो यह है कि चद की कविता अनुप्रासो से लदी हुई है। यमकालकार का बड़ा सुन्दर प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है। यथा—

अङ्ग सुलच्छिन हेम तन, नग धरि सुन्दरि सीस।
गोरी ग्रहि गोरी गयो, बिना जुद्ध बुझि रीष।

और—

हरि हरि हरि बन हरित महि, हरन पिष्षयै अंषि।
सारंग रुकि सारंग हने, सारंग करनि करिष्षि।

यह तो हुई शब्दालकारो की बात, अर्थालकारो मे उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, रूपकातिशयोक्ति स्मरण आदि से चद का काव्य भरा पड़ा है। रूप सौंदर्य और युद्ध के वर्णन मे कवि ने उपमाओ का जी भरकर प्रयोग किया है यद्यपि चंद ने अधिक़तर परम्परागत प्राचीन उपमानो का ही प्रयोग किया है, परन्तु इन उपमानो के शृङ्गार ने चद के काव्य की शोभा को निखार दिया

है। कही-कही तो अपने मौलिक उपमानो के प्रयोग से चद की भाव-व्यजना मे अनन्य सौष्ठव आ गया है। यथा—

'मनीस बाल साच ज्यो, कि कन्ह कालि नाच ज्यौं।'

मणि बध इस प्रकार का है मानो कृष्ण काली नाग पर नाच रहे हो।

"कुच मद्धि हार विराज, हरद्वार गंगकाजुराज'

कुचो के बीच हार ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो दो पर्वतो के बीच हरिद्वार की गगा बह रही हो।

'नितंब उत्त ंग रज्जि, मनमध्य चक्र विसज्जि।'

नितंब क्या है, मानो कामदेव के रथ के दो चक्र हैं।

'यो सरिता अस सिंध सधि, मिलत दुहून हिलोर।
त्यो सेसव जल संधि मे, जोवन आपत जोर।

नदी और सागर के सगम पर जैसे दोनो ओर हिलोर उठती हैं वैसे ही सधिकाल में शैशव रूपी जल मे यौवन हिलोर करता है।

रूपको की रासो मे बाढ़ है। स्वय कवि का कथन है कि उसके ग्रन्थ में सात हजार रूपक हैं, जैसा कि निम्न छद से प्रगट होता है—

सहस सत्त रूपक सरस गुन सुन्दर बहु वित्त।
ले पुस्तक कवि चंद कौ दिव माता बहु रित्त॥

रूपक अलकार के समस्त भेद रासो मे देखे जा सकते हैं। फिर भी साग रूपक अलङ्कार का रासो मे व्यापक प्रयोग है। साग रूपक का एक चित्र देखिए:—

बाल नाल सरिता उतंग, आनंग अंग सुज।
रुप सु तट मोहन तड़ाग, भ्रम भए कटाच्छ दुज।
प्रेम पूर विस्तार जोग मनसा विध्वंस न।
दुति ग्रह नेह अथाह चित्त करषन पिय तुट्टन।
मन विसुद्ध वोहिथ्थ बर, नहि थिर जे चित्त जोगिन्द तिहि।
उतरन पार पावैं नहीं, मीन तलफ लगि मत्त विहि।

वह बाला उत्तुङ्ग सरिता है। रूप जिसका तट है। आकर्षण रूपी तड़ाग है। कटाक्ष रूपी भ्रमर है। प्रेम रूपी जिसका विस्तार है, योग रूपी मन को वह नष्ट करने वाली है। उसकी द्युति ग्राह्य है। स्नेह रूपी उसकी गहराई है। स्थिर चित्त वाले योगेन्द्र भी विशुद्ध मन रूपी जहाज पर चढकर उस रमणी रूपी नदी के पार नहीं जा सकते।

रूप समुद्र तरंग दुति नदि सब की भलि आनि।
गुन मुक्ताहल अधिकै वस किन्नो चहुँ आन।

रूपरूपी समुद्र में द्युतिरूपी तरगे उठ रही हैं। गुण रूपी मोती अर्पण करके उसने चौहान रूपी हस को अपने वश मे कर लिया।

उपमा और रूपक की भाति उत्प्रेक्षाओ से भी कवि ने अपने काव्य को खूब सजाया है।

पानि देइ दिढ हथ्थ गहि, वर करि हथ्थ दिवंक।
मनु रोहिन सो मिलिग ज्यौ, उदित्त मयंक।।

छद्मवेशी पृथ्वीराज बाए हाथ मे पान लेकर महाराज जयचद को इस प्रकार दे रहे हैं मानो द्वितीया का चद्रमा रोहिणी नक्षत्र से मिलने के लिये उदय हुआ हो। इसी प्रकार सयोगिता का रूप देखकर कामदेव अनग हो गया। सयोगिता का स्वर सुनकर कोयल का वर्ण श्याम हो गया।

रासो छन्दो की एक प्रकार से प्रदर्शनी है। इसमें कुल मिलाकर ७२ प्रकार के छन्द हैं। इन मे से अधिकाश छन्द प्राकृत और अपभ्रंश युग के हैं जिनका प्रयोग परवर्ती हिन्दी साहित्य मे अपेक्षाकृत कम देखा जाता है। अपने समय के प्रचलित सभी नए पुराने छन्दो का प्रयोग रासो में हुआ है। इनमे छप्पय, गाहा, दूहा, अरिल्ल, त्रोटक साटक, नाराच, विराज आदि छन्द प्रमुख हैं। छन्दो का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है और कहीं भी अस्वाभाविकता नही आने पाई है, वरन् छन्दों का यह परिवर्त्तन रसोद्रेक मे सहायक ही बना है।

छंद

भाषा की दृष्टि से रासो बड़ा महत्व पूर्ण ग्रन्थ है। भारतीय भाषाओं के इतिहास से अनुराग रखने वाले तथा भाषा विज्ञान बेत्ताओं के लिए

भाषा

रासो में अपूर्व सामग्री है। संस्कृत से लगाकर अब तक शब्दो के रूप मे जो परिवर्त्तन हुआ हैं, उन सबका प्रयोग रासो मे भली भाति देखा जा सकता है। डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी अनुसार रासो की भाषा संध्या भाष है। उनके ही शब्दो मे 'रासो की भाषा को 'संध्या भाषा' इसलिए कहा गया है कि उनकी भाषा में बारहवी शताब्दी की उत्तर भारत मे प्रचलित भाषाओ की मिलन सध्या दिखलाई देती है। अपभ्रंश साहित्य की जर्जर वृद्धावस्था रूपी सायंकाल में आधुनिक भारतीय भाषाओ का बाल्यकाल अपने तिमिर पटल लिए उससे मिलने और स्वयं आच्छादित हो जाने के हेतु प्रबल वेग से बढ़ रहा था।" रासो की भाषा अपभ्र श साहित्य और आधुनिक भारतीय भाषाओ के ऐसे ही संधि स्थान की भाषा है।

रासो मे संस्कृत, पाली, पैशाची, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी प्राचीन गुजराती, पजाबी, व्रज, अरबी, फारसी, तुर्की आदि विविध भाषाओ के शब्दो की खिचड़ी पकाई गई हैं। डा० श्यानसुन्दरदासजी ने 'रासो' की भाषा को प्राचीनकाल की साहित्यक पिगल माना है। अन्य विद्वान इसकी भाषा प्राचीन राजस्थानी या डिंगल मानते हैं। व्याकरण के नियम हिन्दी के ही हैं। उसमे प्रधानता पिगल को मिली है।

परवर्त्ती प्रक्षेपो के कारण रासो की भाषा का रूप बहुत विकृत होगया है इसमे सन्देह नही है। कही-कही तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे सोलहवी शताब्दी का कोई कवि अपभ्रंश की शैली का अनुकरण कर रहा हो। भाषा मे शब्दो की तोड़ मरोड़ बहुत है। परवर्त्ती कवियो द्वारा किए गए प्रक्षेप और लिपिकारो की असावधानी इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है।

चन्द की भाषा मे माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। यह भाषा वीर रस की व्यजना के सर्वथा उपयुक्त है। यही कारण है जहाँ चंद युद्ध आदि के प्रसंगो मे वीर रस का उद्रेक करते हैं वहाँ उनकी भाषा का ओज, तीव्र प्रवाह, वीरोचित भावो का प्रतिनिधित्व करता हुआ शब्द चयन देखते ही बनता है।

चंद का सा भाषा गौरव तत्कालीन अन्य कवियों में परिलक्षित ही नहीं होता।

रासो को हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य होने का श्रेय प्राप्त है। ये अपने युग के प्रतिनिधि कवि की महान रचना है। ६६ समयों और एक लाख से ऊपर छन्दों में इसकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा वर्णित है।

महाकाव्यत्व इसके नायक अभिजात्य कुलोत्पन्न, क्षत्रिय कुल भूषण वीर और इतिहास प्रसिद्ध पुरुष महाराज पृथ्वीराज हैं। इसमे अनेक युद्धो, यात्राओ, प्राकृतिक दृश्यो, आखेटो, ऋतुओ आदि का विस्तृत और आकर्षक वर्णन है। इसमे सभी रसो का सुन्दर परिपाक हुआ है तथा प्रमुख रूप से वीर रस की उत्कृष्ट व्यजना हुई है। इसमें राजपूती सामती सभ्यता और उसकी जातीय विशेषताओं का वास्तविक निरूपण है। इस प्रकार इन समस्त लक्षणो के आधार पर हम रासो को बिना किसी सकोच के 'महाकाव्य' की सज्ञा दे सकते हैं। यद्यपि कथानक के शैथिल्य और घटनाओ के असम्बद्ध वर्णन के आधार पर डा० श्यामसुन्दरदास इसे 'महाकाव्य' का रूप न देकर 'विशालकाय वीर काव्य' बतलाते हैं, परन्तु रासो के प्रति उनका यह दृष्टिकोण युक्तियुक्त नही दीखता। यह सत्य है कि 'रासो' में रामचरितमानस, और पद्मावत की भाँति भावानुभूतियो की गहराई, कल्पनाओ का प्राचुर्य, और जन जीवन का व्यापक चित्रण नहीं है, तथापि रासो की भाषा शैली, उसका काव्यत्व, उसके वर्णन, भाषा का साहित्यक सौष्ठव, उसका वीर भाव, राजपूत सस्कृति का प्रतिनिधित्व आदि रासो की अपनी ऐसी विशिष्ट विशेषताएं हैं, जिनके आधार पर रासो को महाकाव्य कहना युक्ति सगत प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द हिन्दी के महान कवि है, और उनका महाकाव्य पृथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट युग की प्रतिनिधि रचना है। उस युग मे यद्यपि दलपति विजय का खुमान रासो, कवि नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो, जगनिक का आल्हखंड, शारङ्गधर का हम्मीर रासो, नल्हन सिंह भट्ट का विजय पाल रासो प्रभृत्ति अनेक वीर काव्यो द्वारा चारण और डिंगल साहित्य का भण्डार भरा गया है, परन्तु चद कृत रासो के जोड़ की इनमें से कोई भी रचना नही है। वीरगाथा काल की समस्त प्रवृत्तियों का जैसा परिपक्व रूप रासो मे मिलता है वैसा इन रचनाओ मे दुष्प्राप्य है।

युद्धो के प्रसगो में, वीर भावो के चित्रण में, शृङ्गार के वर्णन में, सर्वत्र रासो का कवि महान है और उनकी इस महानता को उनके युग का कोई कवि छू नही सका। उनका प्रत्येक पद, उनकी काव्य प्रतिभा और कवित्व शक्ति का स्पष्ट प्रमाण है। भाव सौदर्य और कला विलास दोनो ही एक साथ अपने उत्कृष्ट रूप मे चन्द के काव्य में विद्यमान हैं और अपने ऐसे काव्य के वल पर चद साधारण नही असाधारण कवि हैं। हिन्दी के वे पहले मौलिक प्रबन्धकार हैं और इस रूप में तुलसी और जायसी को छोड़कर हिन्दी जगत में उनका स्थान अप्रतिभ है।

रति मानव हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य मात्र का यह सबसे अधिक व्यापक भाव है। रति के जितने भी सम्बन्ध होते हैं, उसमे भी स्त्री पुरुष के प्रेम मे अधिक तीव्रता, गहनता और आकर्षण होता है। स्त्री पुरुष के हृदय मे स्थायी रूप से स्थित यह रतिभाव जब तुष्ट होता है तब अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। हृदय रस-सागर मे निमग्न हो जाता है। रसानुभूति की यह स्थिति साहित्य शास्त्र मे शृंगार का रूप लेकर आई है। मानव हृदय की अनुभूतियो को व्यजित करने वाले काव्य पर इस शृंगार का व्यापक प्रभाव है। रस काव्य की आत्मा है और काव्य शास्त्रकारो ने शृंगार को रसराज माना है। इसका कारण यह है कि शृङ्गार मे रस की अनुभूति चरमावस्था मे होती है। यही नहीं शृ गारानुभूतियो का चित्रण साहित्य जगत की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रही है। हिन्दी साहित्य में तो एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक शृंगार की निर्बाध धारा प्रवाहित हुई है। हिन्दी का समस्त वीर गाथा काल सामंत काल की प्रणय लीलाओ का क्रीड़ा क्षेत्र रहा है। भक्तिकाल भी ब्रह्म और जीव की रति भाव से पूर्ण उपासना का ही दूसरा रूप है। रीतिकाल तो घोर शृंगारी काल है ही, आधुनिक काल की काव्य धारा मे भी छायावाद के रूप में कवि हृदय की अतृप्त वासनाएँ शृ गार की ही रसानुभूतियो का रूप लेकर आई हैं। इस प्रकार शृंगारी कविता हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है और विद्यापति हिंदी की शृंगारी काव्य धारा के आदि कवि हैं।

२०.

विद्यापति का जन्म दरभगा जिले के विसपी नामक ग्राम मे एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न मैथिल ब्राह्मण कुल मे हुआ था। विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर अपने समय के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान थे। मैथिल के राजवश में उनका बहुत मान था। महाराज गणेश्वर सिह के वे राज सभासद थे और राज दरवार में वे अपने पुत्र विद्यापति को भी ले जाया करते थे। वाल्यकाल से ही विद्यापति बड़े मेधावी थे, और बहुत छोटी आयु में सस्कृत, काव्य, दर्शन और साहित्य के उद्भट विद्वान बन गये थे। केवल बीस वर्ष की आयु मे उन्होने राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्तिसिह की प्रशसा मे 'कीर्तिलता' काव्य की रचना की थी। कीर्तिसिह के उपरान्त विद्यापति उनके उत्तराधिकारी राजा देवीसिह के आश्रय में रहे। इसके उपरात राजा शिवसिह मैथिल की राजगद्दी के अधिकारी बने। मिथिला के सभी आश्रयदाताओ मे शिवसिह अधिक उत्साही और साहित्य प्रेमी थे। विद्यापति को भी सबसे अधिक सम्मान अपने इस आश्रयदाता के हाथो प्राप्त हुआ। उन्होने कवि को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से सम्मानित किया। राजा शिवसिह की पत्नी रानी लखिमा देई भी कवि की प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित थीं। विद्यापति राजकवि ही नहीं थे वरन् राजा शिव सिह के अन्तरंग मित्र भी थे। महाराज शिवसिह के राज्यकाल के उपरान्त भी कवि विद्यापति जीवित रहे और उन्होने मैथिल का राज्याश्रय प्राप्त किया। जीवन के अन्तिम बर्षों मे यह कवि ससार से उदासीन बन गया। प्रेम और आनन्द का कवि कठोर दार्शनिक की भाति कहने लगा—

जीवनवृत्त

> 'जतन जतेक धन पाय बटोरल
> मिलि मिलि परिजन खाय
> मरनक बेरि हरि कोई न पूछय,
> करम संग चलि जाय।

सौ वर्ष से भी अधिक आयु भोग कर यह कवि ससार से विदा हो गया।

कवि के जन्म और मृत्यु के विषय को लेकर निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। निश्चित प्रमाण के अभाव में केवल अनुमान से ही काम लिया जा सकता है। जैसा कि कवि के जीवन वृत्त से स्पष्ट है, कवि अपने पिता

के साथ महाराज गणेश्वर के राज दरबार मे जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ लक्ष्मणाब्द* अर्थात् १३७१ ई० मे हुई थी। उस समय विद्यापति १० या ११ वर्ष के अवश्य रहे होगे। महाराज गणेश्वर के बाद राजा शिवसिह सिहासनारूढ हुए। उनका जन्म २४३ लक्ष्मणाब्द (सन् १३६२) मे हुआ और राज्याभिषेक के समय उनकी आयु ५० वर्ष की थी। जनश्रुति है कि विद्यापति उनसे २ बर्ष बड़े थे। इस प्रकार विद्यापति का जन्म लक्ष्मणाब्द २४१ (१३६० ई०) माना जाना चाहिये।

राजतरंगणी पुस्तक में विद्यापति ने नासिरशाह का उल्लेख किया है जिसने सन् १४२६ ई० से सन् १४५१ ई० तक राज्य किया। इससे सिद्ध होता है कि लक्ष्मणाब्द ३१६ (सन् १४३५ ई०) तक विद्यापति अवश्य विद्यमान थे। शिवसिंह की मृत्यु (लक्ष्मणाब्द २९६) के बत्तीस बर्ष पश्चात् अर्थात् लक्ष्मणाब्द ३२८ (१४४७ ई०) मे विद्यापति ने राजा शिवसिह को स्वप्न मे देखा था—

सपंन देखल हम शिवसिंह भूप
बतिस बरस पर सामर रूप
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
अब भेलहुँ हम आयु विहीन।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी बर्ष या एक दो वर्ष उपरान्त लक्ष्मणाब्द ३२९ (१४४८ ई०) की कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को कवि की मृत्यु हो गई।

कार्तिक धवल त्रयोदशि जान।
विद्यापतिक आयु अवसान॥

क्योंकि इस प्रकार मृत व्यक्तियो को देखना मृत्यु का पैगाम समझा जाता है। फिर भी कवि विद्यापति की कोई निश्चित मृत्यु तिथि नही दी जा सकती। वे पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक जीवित थे। उनकी मृत्यु सन् १४५० के लगभग हुई हो।

* लक्ष्मणाब्द और ईसवी सन् मे प्रो० गुणानन्द जुयाल १११० वर्ष का अन्तर मानते हैं और वर्तमान इतिहास कार लक्ष्मणसेन के १११९ ई० मे गद्दी पर बैठने से १११९ वर्ष का अन्तर मानते हैं।

विद्यापति बगाली कवि न होकर मैथिल कवि हैं, यह बात अब निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है। कवि के काव्य, कवि के जीवन वृत्त, कवि की काव्य भाषा पर जो अब तक शोध हुई है उससे कवि विद्यापति पर बग क्षेत्र का अधिकार नही रहा। बाबू राधाकृष्ण मुकर्जी, सर जार्ज ग्रियर्सन, नगेन्द्र नाथ गुप्त, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री प्रभृत्ति विद्वानों ने अपने अकाट्य प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिया है कि विद्यापति मैथिल थे और उनकी पदावली की भाषा मैथिली है।

रचनाएँ

संस्कृत, अपभ्र श और मैथिली इन तीन भाषाओ मे कवि ने अपनी रचनाओ का प्रणयन क्रिया है। सस्कृत मे (१) शैव सर्वस्वसार (२) शैव सर्वस्वसार प्रमाण-भूत पुरार्ण सग्रह (३) भू-परिक्रमा (४) पुरुष परीक्षा, (५) लिखनावली (६) गंगा [illegible] (७) दान वाक्यावली (८) विभागसार (९) गया पत्तलक (१०) वर्ण कृत्य (११) दुर्गा भक्ति तरगिणी आदि उनकी [illegible] और कीर्तिपताका उनकी अपभ्र श की रचनाएँ हैं। मैथिल भाषा मे पदावली के रूप मे कवि के पदो का सग्रह है। इस प्रकार पदावली कवि का स्वतत्र ग्रन्थ न होकर उसकी बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक विभिन्न अवसरो पर रचे गए पदो का सग्रह मात्र है। ये पद ही विद्यापति को अमर बनाने के लिए पर्याप्त हैं। हिन्दी साहित्य की तो यह पदावली गौरव निधि है ही, कवि के काव्य का भी यह गौरव स्तूप है, इसमे सदेह नहीं। पदावली के पद तीन रूपो मे हमे प्राप्य हैं—

शृ गार सबन्धी—:इस वर्ग मे राधा कृष्ण के प्रेमी जीवन से पूर्ण पद हैं।

भक्ति संबन्धी—इसमे शिवभक्ति के पद हैं।

काल सम्बन्धी—इस वर्ग मे तत्कालीन परिस्थितियो के चित्र हैं।

भक्ति संबधी पद विद्यापति ने बहुत कम लिखे हैं। परन्तु जो कुछ भी लिखे हैं वे निश्चय ही सुन्दर हैं। भक्ति रस का उसमे अनन्य प्रवाह है। पर अधिकतर नचारी हैं और शिव नृत्य के समय गाए जाते हैं। ये पद शिव, दुर्गा, गङ्गा की भक्ति मे रचे गए हैं। काल सम्बन्धी पद राजा शिवसिह के

राज्य-भिवेक तथा युद्ध आदि प्रसगो को लेकर लिखे हुये हैं। इन पदो में वर्णनात्मकता अधिक हैं, और भाव सौन्दर्य की न्यूनता है। इन पदो की संख्या भी अधिक नहीं है तथा काव्य समीक्षा की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

कवि की रचनाएँ यह स्पष्ट बतलाती हैं कि उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभाव शाली रहा होगा। इसमें सदेह नहीं कि विद्यापति एक साथ पडित, कवि और नीतिज्ञ थे। उनकी प्रतिभा एकागी नही थी और नाना विषयो के पूर्ण ज्ञाता थे। उनका शास्त्र, पुराण, भूगोल, इतिहास, धर्म, नीति सभी पर पूर्ण अधिकार था। अपने युग के वे विशिष्ट पुरुष। उनके काव्य प्रेमियो ने अभिनव जयदेव, कविराज, कवि कण्ठहार, कविरजन, कविशेखर, दशावधान, राज पण्डित आदि अनेक उपाधियो से उन्हे सम्मानित किया था।

व्यक्तित्व

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की तरुणाई को लेकर प्रेम और सौंदर्य के गीत गाए हैं। ये गीत राधा और कृष्ण की भक्ति भावना से प्रेरित होकर नहीं लिखे गये वरन् इनमे शत प्रतिशत विशुद्ध शृङ्गार की रसीली व्यजना है। हिंदी मे पहली बार विद्यापति ने राधा-कृष्ण परक शृङ्गारी काव्यधारा का सूत्रपात किया है। परन्तु कृष्ण काव्य की यह शृगारी परम्परा विद्यापति ने अमरू शतक, गाथा सप्तशती आर्यासप्तशती और जयदेव के राधाकृष्ण सम्बन्धी शृगारी पदो से ग्रहण की है, इसमे सन्देह नहीं। जयदेव ने अपनी कोमलकात पदावली मे राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओ का जैसा सुन्दर और सश्लिष्ट चित्रण किया है विद्यापति का काव्य उसी आदर्श को लेकर चला है।

काव्य साधना

विद्यापति ने यौवन और वासना की तरगो से उद्वेलित राधा और कृष्ण के रूप में दो प्रेमी जनो की विलास लीलाओ और केलि क्रीड़ाओं को ही अपनी सुकुमार वाणी प्रदान की है। राधा की वयःसधि, यौवनागम, प्रेमी कृष्ण से परिचय, तरुण हृदयो में प्रेम का स्फुरण, दूतियो का व्यवहार, मिलन, मान, अभिसार, कृष्ण के मथुरा गमन पर राधा का विप्रलंभ, इन सब विशेष भंगिमाओ के बीच विद्यापति का काव्य पला है। इससे ऊँचा वह उठ ही

नहीं सका। विद्यापति की समस्त काव्य प्रतिभा राधा और कृष्ण के यौवन रस में डूब गई हैं। उनका रसिक हृदय कृष्ण और राधा के मदन रूप पर रीझा है और उनके इसी रूप का उन्होंने सौ सौ प्रकार से बखान किया है। राधा और कृष्ण के सरस प्रेम से उद्वेलित तरुण हृदयो मे बैठकर विद्यापति ने भौतिक प्रेम और विलास के बड़े संश्लिष्ट चित्र हमे दिए हैं। यौवन के मदमाते प्रागण में प्रवेश करने वाली तरुणी के हृदय मे वासनामय प्रेम की जो मदिर रागनी बजती है, वयः संधि को प्राप्त उसके हृदय मे केलि क्रीड़ाओ की जो लहरे तरंगित होती हैं, अपने प्रेमी से अभिसार के लिए जो तीव्र आकांक्षाओ का ज्वार उमड़ता है, प्रिय के समागम से उसे जो रसानुभूति होती है, प्रिय वियोग से उसके हृदय में वासना जनित प्रेम की जो भूख जगती है, उस सब का विशद और माधुर्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कविता का रूप लेकर विद्यापति के रसिक हृदय से प्रस्फुटित हुआ है। परन्तु वासना जनित प्रेम और विलास का यह चित्रण अपने मे इतना पूर्ण है, भाव और सौन्दर्य से इतना अनुप्राणित है, उसकी व्यंजना इतनी मधुर और सशक्त है कि कवि की काव्य प्रतिभा के सम्मुख बरबस झुकना पड़ता है।

शृङ्गार के मादक चित्रण में उन्होने प्रेम की रसानुभूति के साथ-साथ रूप सौंदर्य के बड़े व्यापक चित्र उतारे हैं। परन्तु जिस प्रकार विद्यापति के शृङ्गार में स्थूलता और शारीरिकता अधिक है, उसी प्रकार उनके सौन्दर्य चित्रण में आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य की प्रमुखता है। शृङ्गार की रसानुभूति को तीव्र बनाने के लिए उन्होने शारीरिक अङ्ग प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य का बड़ा संश्लिष्ट चित्रण किया है। वयःसन्धि को प्राप्त नायिका, पूर्ण यौवन को प्राप्त युवती और सद्यः स्नाता सभी के सौन्दर्य को खुले रूप में कवि ने देखा है। रूपसि राधा का चित्रण देखिए :—

अरे! नव यौवन अभिरामा
जत देखत तत कहए न पारिअ
छओ अनुपम इक ठामा!
हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम,
पिक बूझल अनुमानी।

नयन बदन परिमल गति तन रुचि,
अओो अति सुललित बानी ।।
कुच जुग परसि चिकुर पुजि पसरल
ता अस भायल हारा ।
जानि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद विहिनु सब तारा ।।
लोल कपोल ललित मनि कुण्डल,
अधर बिम्ब अघ जाई ।
भौंह भ्रमर नासापुट सुन्दर,
संदेसि कीर लजाई ।।

सौन्दर्य की ऐसी भाव राशियो से समस्त पदावली भरी हुई है। परन्तु विद्यापति का यह सौंदर्य चित्रण भी परम्परागत है। नारी सौन्दर्य की ऐसी अभिव्यक्ति सस्कृत साहित्य मे बहुत मिलती है। फिर भी गेय पदो की शैली मे सगीत की स्वर लहरी से भीगे हुए रूप सादर्य के ऐसे सवाक् चित्र विद्यापति ने उतारे हैं कि वे अपने मे सर्वथा पूर्ण हैं।

सयोग शृङ्गार की अविरल रसधार बहाने वाले इस कवि ने विप्रलम्भ शृङ्गार के बड़े मर्म स्पर्शनी चित्र भी हमें दिए हैं। जहाँ विद्यापति का संयोग शृङ्गार उनकी भावुकता और पाडित्य का फल है, वहाँ वियोग वर्णन का चित्रण कवि ने राधा के हृदय की सम्पूर्ण गहराइयों में बैठकर अपनी सहज भावुकता से किया है। यहाँ कवि का पांडित्य उसके हृदय तत्व मे समा गया है। यौवन की मदिरा से मतवाली केलि क्रीडाओ की पुतली राधा वियोग की अवस्था में आदर्श प्रेमिका के रूप में दृष्टिगत होती है। प्रेम के विशुद्ध आलोक में वासना का अन्धकार लुप्त हो जाता है। उसका प्रेम स्थूल और लौकिक न होकर अतीन्द्रिय बन जाता है। उसमे अब प्रिय समागम की लालसा और वासना की भूख नही है वरन् प्रेम की विह्वलता और तन्मयता है। उसमें इन्द्रियो की अनुभूति इतनी तीव्र नही हैं जितनी प्राणों की आकाक्षा। कृष्ण मथुरा प्रस्थान कर रहे हैं। वियोगिनी राधा का कितना करुण चित्र है—

कान मुख हेरइते भावनि रमनी
फुकरइ रौअत झरझर नयनी
अनुमति मांगते बर बिधु बरनी
'हरि हरि' शब्दे मुरछि पड़े धरनी
आकुल कंत परबोधइ कान
अब नहि मथुरा करत पयान ॥

परन्तु निष्ठुर कृष्ण तो रुके नहीं। राधा के समस्त हर्ष और उल्लास को वे अपने साथ समेट ले गए, वियोगिनी राधा अपने कृष्ण के बिना कैसे जीवन विताए। चन्द्र की शीतल चाँदनी अब उसे नहीं सुहाती। बसत की मधुश्री, सावन भादो की काली घटाएं विरहणी राधा के संतप्त हृदय को और भी दारुण क्लेश पहुँचाती हैं। वर्ष के बाहर महीनों में उसे विरह के प्रचण्ड थपेड़े सहने पड़ते हैं। अहर्निश उस कृष्ण का ध्यान लगा रहता है। उसका यौवन विरह की वेदना से दिनो दिन क्षीण हो रहा है। वह इतनी कृश हो गई है कि नील कमल से हवा करती हुई सखियाँ डरती हैं कि कहीं कमल की वायु के वेग से उनकी राधा उड़ न जाय :—

नील नलिनि लए जब कर बाए
हृदय रहए भय उड़ि जनु जाए।

विरह के ताप से दग्ध ऐसी राधा के प्रेम की पीर बढ़ती ही जाती है। कृष्ण का नाम रटते रटते वह इतनी तन्मय बन जाती है कि अपने को स्वयं कृष्ण समझने लगी है और कृष्ण के स्थान पर राधा पुकारने लगती है।

अनुखन माधव माधव सुमिरत
सुन्दर भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावहि विसरल
अपने गुन लुबुधाई

प्रेम की तन्मयता का कितना मर्म स्पर्शी चित्त है फिर भी राधा कृष्ण को भुला नहीं पाती। कृष्ण के भुलाने से तो उस के शरीर का अवसान ही हो जायगा—

"पासरइते बदन होएत अवसान
कहि न जात बूझत व्यवधान ॥

विरह की इतनी दारुण वेदना होने पर भी राधा अपने प्रियतम को कुछ दोष नहीं देती वरन् अपने भाग्य को ही दोष देती है। उसका विरह अन्त मे आत्म संतोष का रूप धारण कर लेता है। वह अपने प्रियतम की कुशलता की कामना करती है :—

माधव हमरो रहब दुर देश
के ओ न कहे सखि कुसल सदेश
जुग जुग जिव थु बसथु लख कोस
हमर अभाग हुनक नहिं दोस
हमर करम भेला विहि विपरीत
ते जलन्सि माधव पुरविल प्रीति
हृदयक वेदन बान समान
आनक वेदन आ आ न जान

इस प्रकार राधा के विरह का बड़ा हृदयग्राही वर्णन विद्यापति ने किया है। उसमे पाडित्य प्रदर्शन की अपेक्षा भावुकता का रग प्रखर है। उसमें अलकारों की चमक दमक नहीं है वरन् भावनाओं का सहज सौन्दर्य मुखरित है। विरह के इन गीतो में विरहणी नायिका के अन्तर्जगत की सभी मनोवृत्तियो की सफल अभिव्यक्ति हुई है। राधा के प्रेम में जो तीव्रता है, प्राणो का जो आलोड़न है, विद्यापति के भावुक हृदय ने पहले उसे भली भाँति समझा है और फिर उसे मर्मस्पर्शी काव्य का रूप दिया है। यद्यपि [illegible] विरह वर्णन में जायसी के विप्रलंभ श्रृङ्गार की भाँति व्यापकता नहीं है, सूर की भांति गहराई और प्रभावोत्पादकता नही है, मीरा की भाति अनुभूतियो की सचाई नहीं है, फिर भी विद्यापति के विरह गीतो में विरहणी राधा के विकल हृदय की ऐसी करुण रागिनी बजी है, जिसके स्वरो मे डूबा हुआ विद्यापति का काव्य सदैव के लिए अमर बन गया है। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र मे विद्यापति को जो आदर और सम्मान मिला है उसका समस्त श्रेय विद्यापति के

इन विरह गीतो को है। इन्हीं गीतो को गाते-गाते महाप्रभु चैतन्य आत्म-विभोर हो मूर्च्छित हो जाते थे।

अपने काव्य सौदर्य को विद्यापति ने अलकारो की रमणीयता से खूब निखारा है। विद्यापति की कविता कामिनी के अङ्ग प्रत्यग पर अलंकार की निराली छटा दर्शनीय है। कवि के समस्त वर्णन अलकारो की

अलंकार

चमक दमक से अनुप्राणित है। विद्यापति काव्यकला के पंडित हैं, और पाडित्य प्रदर्शन का मोह उन्हें सर्वत्र बना रहा है। उनके काव्य मे अनुप्रासो की मधुर झकार है, उत्प्रेक्षाओं का अतुल सौन्दर्य है, उपमाओ की रमणीयता है और रूपक, अपन्हुति, दृष्टान्त, उदाहरण, यमक, विरोधाभास, अतिशयोक्ति, अनन्वय, मीलित, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, परिकर, व्यतिरेक, पर्यायोक्ति और सदेह आदि विविध अलंकारो की मनोरम छटा है। उपमा और उत्प्रेक्षा विद्यापति को बहुत प्रिय है। सस्कृत मे उरोजो की उपमा कमल से दी जाती है परन्तु विद्यापति ने इसी परम्परागत प्राचीन उपमान को अपनी मौलिक सूझ बूझ से अभिनव रूप दे दिया है :—

मेरु ऊपर कमल पुलाइन नाल बिना रुचि पाइ।
मणिमय हार धार बहु सुरसरि तैं नहि कमल सुखाई

(कुच ऐसे कमल के समान हैं जो मेरु पर्वत पर बिना नाल के खिले हुए हैं। नायिका के गले में जो हार है वही गगा है। गगा के जल में पड़े रहने के कारण वे सूख नहीं पाते)

उपमा की भाति उत्प्रेक्षा के भी बड़े सुन्दर और व्यापक प्रयोग विद्यापति ने किये हैं।

केस निगरइत बहे जल धारा
चामरे गले जनि मोति महारा
अलकहि कमल बेढ़ल मधु लोभा
नीर निरंजन लोचन राता
सिंदूर-मण्डित जनि पंकज पाता

(बालो से निकल कर जल-धारा ऐसी बहती है, जैसे चवर में गुथा हुआ मोती का हार टूट रहा हो और मोती झर रहे हो। मुख पर भीगी अलके इस

प्रकार शोभा पाती हैं जैसे मधु के लोभ मे भ्रमर-गण कमल की ओर आकर्षित होकर बढ़े आते हो। जल से भीग कर नेत्र अजन रहित और लाल हो गये हैं मानों सिन्दूर मण्डित कमल पत्र हो)। निःसदेह उपमा और उत्प्रेक्षा का जैसा सफल और व्यापक प्रयोग विद्यापति ने किया है, सूर को छोड़कर हिन्दी का कोई कवि उनकी समानता नही कर सकता। इन अलकारो ने ही विद्यापति के काव्य को इतना कलात्मक रूप प्रदान किया है।

अलंकारो की भाति ही उक्ति सौन्दर्य और वाग्वैदग्ध ने पदावली के काव्य सौन्दर्य को खूब निखारा है। एक साधारण बात को मार्मिक ढङ्ग से कहना विद्यापति खूब जानते हैं, यही कारण है कि विद्यापति के काव्य में उक्ति सौदर्य और वाग्वैदग्ध की अतुल राशि बिखरी पड़ी है।

अपनी भाषा के माधुर्य पर तो विद्यापति को स्वयं गर्व है :—

भाषा

बाल चन्द बिज्जा वइ भाषा,
दुइ नहि लग्गई दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

बालचन्द्र और विद्यापति की भाषा पर दुर्जनो का हँसी नहीं आ सकती। क्योंकि चन्द्रमा शिवजी के मस्तिष्क पर बिराजमान है और विद्यापति की भाषा को नागरिको के मन को मोहित करने वाली है। विद्यापति का यह कथन गर्वोक्ति न होकर पूर्णतः सत्य है। विद्यापति सस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और जन भाषा मैथिली के अच्छे ज्ञाता थे। काव्य शास्त्र के भी वे पूर्ण पंडित थे। अपनी पदावली की रचना उन्होने जनभाषा मे की है। परन्तु पंडित विद्यापति ने अपनी कला से इस भाषा का शृंगार कर उसे अनन्य साहित्यक सौन्दर्य प्रदान किया है। शब्दो का तो उनके पास अपार भण्डार है इसीलिये विद्यापति का शब्द चयन बड़ा प्रभावशाली है। मधुर और कोमल भावो की अभिव्यक्ति के लिये उन्होने मधुर और कोमल शब्दो का चुन चुन कर प्रयोग किया है। वे भली भाति जानते हैं कि कौनसा शब्द किस स्थान पर सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है। एक उदाहरण लीजिये—

कामिनी करिये स्नाने, हेरतहि हृदय हनेय पंचवाने ।

कामिनी शब्द का प्रयोग यहाँ कितना उपयुक्त है। कामिनी मे काम का निवास होता है। अतएव जो भी कामिनी की ओर देखेगा वह कामदेव के पञ्चवाणो से विदीर्ण किया जायगा। पदावली की भाषा शैली मे सर्वत्र ऐसा ही शब्द-सौदर्य विद्यमान है। सत्य तो यह है कि विद्यापति भाषा की कला के अच्छे पारखी हैं, और अपनी भाषा को भावानुकूल बनाने मे वे विशेष रूप से पटु हैं।

इतना ही नही विद्यापति ने अपने समय की प्रचलित अनेक लोकोक्तियो को सुन्दर मोतियो के रूप मे अपनी काव्य माला मे पिरो दिया है। इससे विद्यापति के काव्योत्कर्ष को बहुत बल मिला है।

मार्ग मे चलते हुये राधा-कृष्ण की दृष्टि से एक दूसरे के प्रेम में लीन हो जाते हैं। नया प्रेमी अपने प्रेम भाव को छिपाने की चातुरी नहीं जानता। इस भाव को विद्यापति ने लोकोक्ति के द्वारा कितने सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत किया है—

दुहु मुख हेर इत दुहु मेल भोर।
समय न बुझए अचतुरक चोर॥

खण्डिता नायिका की वेदना कवि के इन शब्दो मे देखिये—

चंदन भरम सिमर आलिगन,
सालि रहल हिय काट।

ऐसी कहावतो और लोकोक्तियो से विद्यापति का काव्य भरा पड़ा है।

गेय पदो की सरस स्वर लहरी काव्यानुरागियो के अन्तरतम मे प्रवेश करके उन्हें भावमग्न कर देती हैं। तीव्रतम भावावेश का सफल उद्रेक जैसा गीतो में सम्भव है, अन्य माध्यम द्वारा उसकी उतनी सुन्दर अभिव्यक्ति नही हो सकती। संगीत के मधुर आवरण से लिपटे हुए गेय पदो के सरस शब्दो मे आन्तरिक अनुभूतियो और भावो के साक्षात् कराने की अद्भुत क्षमता होती है। विद्यापति ने ऐसे ही गीतो की निर्झरणी से हिन्दी साहित्य को प्लावित किया है। इस

गीतकार विद्यापति

रूप में विद्यापति हिन्दी के अमर गीतकार हैं। सस्कृत जैसे विशाल साहित्य मे जो स्थान कालिदास और भवभूति के होते हुए भी जयदेव का है, वही स्थान तुलसी और सूर के होते हुये भी हिन्दी मे विद्यापति का है।

विद्यापति ने गीति गोविन्दकार जयदेव की शैली को ही अपनाया है। अपनी माधुर्य पूर्ण कोमल कान पदावली की सरसता के लिये जयदेव के गीत समस्त संस्कृत साहित्य मे बेजोड़ हैं। इन गीतो मे राधा-कृष्ण की विलास लीलाओ की बड़ी मधुर अभिव्यजना हुई है। विद्यापति ने भी जयदेव की ही भाति से उन्मत्त विलासी कृष्ण और केलि क्रीड़ाओ की पुतली राधा के प्रेम और रूप-सौन्दर्य का चित्रण किया है। अतएव कवि के लिये जयदेव की माधुर्य रस से ओतप्रोत कोमल कात शैली का अनुकरण स्वाभाविक ही था। परन्तु गीतकार विद्यापति गीतकार जयदेव से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। विद्यापति के गीतो की सरसता जयदेव के गीतो से भी आगे बढ़ गई है। यह सत्य है कि जयदेव ने अनुप्रासो की मधुर झकार से मुखरित अत्यत ही मधुर कोमलकात पदावली की सृष्टि की है, परन्तु सस्कृति के अघोष अल्पप्राण वर्णों, सयुक्ताक्षरो और समासात पदावली के कारण गीतों का सरस प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। परन्तु लोक भाषा मे होने के कारण विद्यापति के गीतो मे गति का यह अवरोध नहीं है। इसके अतिरिक्त विद्यापति के गीतो मे जहॉ वर्णन की प्रधानता है वहॉ विद्यापति के गीतो में रागात्मक तत्व की प्रधानता है।

अपनी इस गीत पद्धति को विद्यापति ने अधिक से अधिक रमणीय और सौन्दर्य युक्त बनाने का प्रयत्न किया है। माधुर्य, विद्यापति के गीतो की आत्मा है। सगीत की मधुर स्वर लहरी ने इन गीतो को रूप रस दिया है। इस प्रकार काव्य और सगीत के मधुर समन्वय ने विद्यापति के गीतो को जन्म दिया है। वैयक्तिता, सगीतात्मकता, सक्षिप्तता, भाषा और भावो की स्पष्टता, सरस और माधुर्य पूर्ण शब्दो का प्रयोग आदि गीत काव्य के जितने भी गुण अपेक्षित हैं, वे सब विद्यापति के गीतो में पेक्षणीय हैं।

विद्यापति हिन्दी की इस गीत काव्य परम्परा के जनक हैं। उनके गीतो ने कृष्ण भक्ति परक समस्त काव्य धारा को प्रभावित किया है। विद्यापति की शैली पर ही गीत काव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि सूर द्वारा सूरसागर की रचना हुई

है। सूर के पश्चात् तो मुक्तक काव्य रचना का समुद्र ही उमड़ पड़ा। मीरा, नन्ददास तथा अन्य भक्त कवियो ने अपने गीत प्रसूनो से हिन्दी साहित्य का अनुपम शृंगार किया। यह सब विद्यापति की ही देन है। माधुर्य और सरसता मे तो विद्यापति सूर से भी ऊपर उठ गये है। सूरदास के पदो में भाव गाम्भीर्य और काव्य सौदर्य भले ही अधिक हों परन्तु जो उल्लास, मस्ती और माधुर्य की वेगवती धारा विद्यापति की पदावली मे बही है वह सूर ही क्या किसी भी कवि के काव्य में अप्राप्य है।

विद्यापति और रहस्यवाद

विद्यापति के काव्य की समीक्षा से यह भली भाति स्पष्ट है कि वे एक घोर शृङ्गारी कवि हैं। जन जीवन की व्यापक अनुभूतियो को उन्होने अपने काव्य का क्षेत्र नही बनाया। दैन्य, निराशा, पीडा, करुणा, ममता, और त्याग आदि मानवीय भावो का उन्होने चित्राकण नही किया। मानवीय जगत की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो को अपने काव्य में ग्रहण नहीं किया। इन्होने तो केवल यौवन के उल्लास और उसकी मस्ती से उन्मुक्त वातावरण मे अपने काव्य को सजा है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "विद्यापति का ससार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती है। फूल खिला करते है, पर उनमे काटे नही होते। राधा रात भर जागा करती है। उसके नेत्रो मे ही रात समा जाती है। शरीर मे सौदर्य के सिवा कुछ भी नहीं है। पथ है उसमे गुलाब हैं, शैया है, उसमे भी गुलाब है, शरीर है उसमे भी गुलाब। सारा ससार ही गुलाब मय है। उनके ससार में फूल फूलते है, काटो का अस्तित्व ही नही है। यौवन शरीर के आनन्द ही उनके आनन्द हैं।" ऐसे ससार के नायक नायिका अहर्निशि यौवन के हास विलास और केलि क्रीड़ाओ में लिप्त रहते हैं। इससे अलग कवि की दृष्टि में उनके जीवन का कोई अस्तित्व ही नही है। अंग्रेजी कवि बाइरन के समान विद्यापति के काव्य का यही सिद्धाँत हैं—"यौवन के दिन ही गौरव के दिन है।' बस विद्यापति ने ऐसे ही गौरव मय चिर यौवन का, यौवन की उद्दाम वासना का, वासना जनित भौतिक प्रेम की विलास मयी स्वर लहरी का मधुर कूजन किया है।

विद्यापति के ऐसे शृङ्गारमय पदो को लेकर कुछ विद्वानो ने उन्हे ईश्वरोन्मुख और रहस्यमूलक बतलाया है। उनके मतानुसार रस से भरे राधा कृष्ण के प्रेम गीतो में गभीर आध्यात्मिक अभिप्राय अन्तर्निहित है। विद्यापति के पद रहस्यवाद से प्रभावित हैं इस बात का समर्थन करते हुये अपनी मैथिली क्रेस्टो मेथी की भूमिका मे डा० ग्रियर्सन लिखते हैं—अब विद्यापति की कविता पर विचार करना है। वे लगभग सबके सब वैष्णव पद या भजन हैं।...उस पर यह दोष नही लगाना चाहिये कि आत्मा और परमात्मा का प्रेम वर्णन करने के लिये अश्लीलता का प्रयोग किया है।...जिस प्रकार सोलोमन के गीतो को क्रिश्चिअन पादरी पढ़ते हैं उसी प्रकार भक्त हिन्दू विद्यापति के चटकीले और चमत्कार पूर्ण पदो को पढ़ते हैं और तनिक भी काम वासना का अनुभव नहीं करते।"

इसी मत की पुष्टि करते हुये बाबू नगेन्द्रनाथ कहते हैं। "विद्यापति की पदावली मूलतः रहस्यवादी रचना है। वह आत्मा परमात्मा की खोज मे बेचैन है और वह परमात्मा से निर्जन स्थान में मिलने को लालायित है। ससार के लोग इस पवित्र ईश्वर प्रेम को नही जानते, इस कारण वह इस सच्चे प्रेमी के मार्ग में बाधक बनते हैं। भक्त इस बाधा से बचने के लिये इस ससार को त्याग कर बन या किसी निर्जन स्थान मे जाता है।" इस प्रकार नगेन्द्रनाथ गुप्त पदावली के अभिसार के पदो को रहस्यवाद से ओतप्रोत पाते हैं—

> **रयनि काजर सम भीर भुअंगम, कुलिस पड़ए दुरवार।**
> **गरज तरज मन, रोसे बरिस घन संसय पड़ अभिसार॥**
> **चरन बेधल फनि हित कय मानिल धनि नेपुरन करए रोल**
> **सुमुखि पुछो तोहि सरूप कहसि मोहि सिनेह कतए दुर ओल**

इन पंक्तियो में साधक के मार्ग की कठिनाइयाँ और मिलन का उत्साह प्रगट किया गया है। नगेन्द्रनाथ गुप्त का यह भी कथन है कि पदावली के पदो का कीर्त्तन करते हुये चैतन्यदेव मूर्च्छित हो जाते थे और इन्हीं पदो का प्रभाव है कि वे आजीवन कौमार व्रत धारण किये रहे। डा० जनार्दन मिश्र भी विद्यापति की रचना को आध्यात्मिक व्यजना से पूर्ण समझते हैं। अपनी

कृति 'विद्यापति' में अपने मत का प्रतिपादन करते हुये वे लिखते हैं "विद्यापति के समय में रहस्यवाद जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना, और किसी निस्कटक मार्ग का अवलम्बन करना उन्हें शायद अभीष्ट न था, अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति उनमे न थी। इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी, उसमें उन्होने अपने आप को बहा दिया।" यही नहीं मिश्र जी ने दादू कबीर के पदो से विद्यापति के गीतो की तुलना करके, विद्यापति को भक्त कवियों की श्रेणी में खड़ा करने का भी परिश्रम किया है।

परन्तु विद्यापति के सम्बन्ध मे ये सब मत समीचीन ज्ञात नहीं होते। विद्यापति विशुद्ध शृंगारी कवि है, भक्ति कवि नही, इस सत्य को छिपाया नही जा सकता। सर जार्ज ग्रियर्सन का यह कथन कि विद्यापति के पद वैष्णव भक्तों द्वारा गाए जाते हैं और उनमे वे काम वासना का अनुभव नहीं करते, इस बात को प्रमाणित नही करते कि विद्यापति रहस्यवादी हैं। सत्य तो यह है कि कालातर मे कृष्ण भक्ति की ऐसी अविरल धारा बही कि किसी भी रचना से राधा-कृष्ण का नाम देखकर लोग भक्ति से आत्म विभोर हो जाते थे। अतएव राधा-कृष्ण सम्बन्धी विद्यापति के मधुर पदो को पढ़कर वैष्णव भक्त प्रेम विभोर हो गए हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या और फिर शिवनन्दन ठाकुर के अनुसार तो विद्यापति के शृंगारी पद मिथिला में केवल विवाह, मधु पर्व कोहवर, आदि अवसरो पर ही गाये जाते हैं। यदि भजन रूप में विद्यापति के पद गाये भी जाते हैं तो इसका कारण इन पदो की भक्ति भावना नहीं वरन् पदावली की सरसता और मधुरता है जिसने कि सगीत प्रिय वैष्णव भक्तो को आकर्षित किया है।

इसी प्रकार नगेन्द्रनाथ द्वारा अभिसार के केवल दो-चार पदो की नींव पर ही रहस्यवाद का महल खड़ा कर देना वस्तु स्थिति से बहुत दूर भागना है। यदि पदावली के अभिसार संबन्धी पद रहस्यवादी हैं तब वयःसंधि नख-शिख दूती चातुर्य, और सद्यस्नाता के पद क्या कहे जायेंगे ? यदि कवि रहस्यवादी ही था तो उसने ब्रह्म के प्रतीक कृष्ण का नख-शिख वर्णन क्यो नहीं किया ?

राधा के ही अङ्ग प्रत्यङ्ग के कामोद्दीपक चित्रण मे उसका क्या उद्देश्य निहित था ? सद्यस्नाता और वयः संधि के इस चित्रण में—

कामिनि करए सनाने, हेरितहिं हृदय हनए पंचबाने

× × × ×

सैसव जोबन दरसन भेल। दुइदल बलें दंव परिगेल।
कबहुँ बांधन कच कबहुँ बिभारि। कबहुँझाँपय अङ्ग कबहुँ उघार ।।
अति थिर नयन अथिर किछु भेल। उरूज-उदय थल लालिम देल।

विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करने वाले विद्वानो को आध्यात्मिक और रहस्यवाद का भले ही संकेत मिले परन्तु हमें तो इसमे वासना के प्रखर रंग से रंगे हुए घोर श्रृंगार के ही दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार जनार्दन मिश्र का यह कथन कि विद्यापति के समय रहस्यवाद जोरो पर था युक्ति सङ्गत नही। क्योकि रहस्यवाद विद्यापति के बहुत बाद की चीज है। फिर विद्यापति जैसे पुराण, शास्त्र, स्मृतियो के ज्ञाता पर सूफियो और निर्गुण संतो का इतना प्रभाव पड़े कि वे उनकी रहस्यवादी परम्परा में बह जावे, एक निराधार सी बात है। यदि विद्यापति ऐसे ही रहस्यवादी थे तो वे पदावली के अतिरिक्त अन्य तेरह ग्रन्थो मे भी रहस्यवाद का निर्देश अवश्य करते परन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया। अतएव विद्यापति को विशुद्ध श्रृङ्गारी कवि न कहकर भक्त और रहस्यवादी बतलाना उसी प्रकार उपहासास्पद है जैसे 'वालम आओ हमरे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे" के आधार पर कबीर को श्रृंगारी कवि कहना। विद्यापति के काव्य मे कहीं भी ईश्वरीय अनुभूति के दर्शन नहीं होते। आराध्य के प्रति आराधक की जैसी पवित्र भक्ति भावना और विशुद्ध प्रेम की व्यंजना होनी चाहिये उसका अंश मात्र भी पदावली में नहीं है। प्रेम का बड़ा स्थूल और ऐन्द्रिक चित्रण हमे वहाँ मिलता है। वहाँ भक्ति का अमृत नहीं, वासना की मदिरा है। जीव की ब्रह्म के प्रति रतिभाव की उपासना नहीं दो कामी नायक नायिका का उन्मुक्त हास विलास है।

विद्यापति के ये शृङ्गारी गीत भक्ति भावना के प्रतीक हों या न हों फिर भी इतना अवश्य है कि उन्होंने ब्रजभूमि के परवर्ती कृष्ण भक्त कवियो की भावभूमि के शिलान्यास में अनन्य योग प्रदान किया है। विद्यापति के साथ ही १४०० ई० के लगभग कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा हिन्दी साहित्य में जन्म लेती हैं और इस परम्परा पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राधा-कृष्ण सम्बन्धी विद्यापति के सरस पद बगाली कृष्ण भक्तों को बहुत प्रिय रहे यह तो निर्विवाद है। कृष्ण की लीला स्थली ब्रजभूमि पर भी इन्ही बंगाली कृष्ण भक्तो द्वारा कृष्ण की भक्ति के विकास का सूत्रपात किया गया। चैतन्य ने स्वय ब्रज की यात्रा की थी और उनके शिष्य बहुत दिनों तक ब्रज भूमि मे रहे। विद्यापति के गीत चैतन्य के भक्त जीवन मे प्रमुख अग बनकर रहे हैं। फलतः विद्यापति के गीतों की भाव सम्पदा चैतन्य आदि बगाली वैष्णव भक्तो के द्वारा ब्रजभूमि के परवर्त्ती कृष्ण भक्त कवियों को धरोहर रूप में प्राप्त हुई है। इस प्रकार हिन्दी का समस्त कृष्ण काव्य विद्यापति का ऋणी है। राधा और कृष्ण को लेकर विद्यापति ने शृङ्गार की जो अविरल धारा बहाई, वही परवर्त्ती काल मे सूर आदि अष्ट छाप के कवियो का सहारा पाकर भक्ति की परम पावन गगा में बदल गई।

इतिहास की दृष्टि से विद्यापति हिन्दी के वीरगाथा कालीन कवि हैं। उस युग के अन्य चारण कवियो की भाँति वे भी राज्याश्रित थे। वे जिस वातावरण में रहे वह तत्कालीन समय की सामान्य अवस्थाओ और दशाओ से अछूता न था। विद्यापति के प्रमुख आश्रयदाता मिथिला नरेश शिवसिह वीर और रसिक पुरुष थे। मिथिला की भूमि भी मुसलमानो के आक्रमणो से आक्रात थी। परन्तु विद्यापति का काव्य अपने युग की इन समस्त मान्यताओ से नितात अछूता रहा। वीरगाथा काल के चारण कवियो की भाँति विद्यापति ने अपने आश्रयदाता की जीवन प्रशस्ति को लेकर वीरोचित भावोको अतिशयोक्ति पूर्ण व्यंजना नहीं की वरन् इन सबसे अलग विद्यापति ने अपने काव्य की नवीन सृष्टि रचना की। जिस प्रकार भूषण ने रीतिकाल के घोर शृङ्गारी युग में वीर गाथा कालीन आदर्श को अपनाकर अपने आश्रयदाताओ का वीरोचित भावों से पूर्ण यश गान किया, उसी प्रकार विद्यापति ने वीर गाथा युग में

रीतिकाल की घोर शृङ्गारिकता को अपने काव्य में प्रश्रय दिया। अपने इस रूप में विद्यापति सर्वथा मौलिक थे। अपने युग के किसी कवि से उनके काव्य ने प्रेरणा नहीं ली। उन्होंने अपना मार्ग अपने हाथों बनाया और इस मार्ग पर चलकर मुक्त हस्त से जो भाव रत्न उन्होंने लुटाये वे कवि के साथ-साथ हिन्दी साहित्य को भी अमर बना गए।

मध्य युग की पन्द्रहवीं शताब्दी, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक सभी रूपो मे विनष्ट होते हुए, देश के जर्जर जीवन की ज्वलत कहानी है। मुसलमानो की तलवारों के पानी मे अनेक हिन्दू राज्य सिहासन डूब चुके थे। हिन्दू राजाओ मे वह प्रताप और शौर्य नहीं था कि वे मुसलमानो के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सके। चारो ओर राजनैतिक विप्लव, अशाति, निराशा और दरिद्रता का भीषण राग छिड़ा हुआ था। सामान्य जनता के जीवन की गति दुख और दैन्य की स्थिति मे मृत प्रायः बन रही थी। हिन्दू और मुसलमान दोनो ही समाजो मे मिथ्या आडम्बर बढ़ रहे थे। सामाजिक जीवन के उज्ज्वल आदर्शों पर ढोग, पाखड, अनाचार और अनैतिकता की कालिमा छाई हुई थी। निराश और निरुत्साह जनता कुछ सुख और शाति की आशा मे धर्म की ओर प्रेरित हो रही थी परन्तु तत्कालीन धार्मिक अवस्था भी बड़ी विशृङ्खल और विकृत अवस्था को प्राप्त थी। उच्चवर्गीय समाज मे पडितो और मुल्लाओ का बोलबाला था जो भोली-भाली जनता को धर्म के नाम पर मूँड़ रहे थे। हिन्दुओ और मुसलमानो का पारस्परिक भेद-भाव, उच्च वर्गीय समाज द्वारा निम्न वर्गीय समाज के प्रति घोर घृणा व उपेक्षा का व्यवहार समाज मे नारी जाति की दयनीय स्थिति, अन्धविश्वास और धर्म के मिथ्या आडम्बर आदि हिदू और मुस्लिम दोनो ही समाजो की आत्मा को जर्जर

बना रहे थे। जहाँ तक निम्न वर्ग का सवाल है उनमे भस्म रमाने वाले और अलख जगाने वाले ढोंगी साधुओं और झूठे योगियो का प्रभाव बढ रहा था। इस प्रकार समाज और धर्म दोनो ही घोर हीनावस्था को प्राप्त थे। उसमे न तो किसी प्रकार का उत्साह ही था और न स्फूर्ति, न जीवन था न शक्ति।

सक्षेप मे यह उस क्रान्ति की पृष्ठभूमि है जिसका सूत्रपात एक ऐसे अपूर्व स्रोत से हुआ जिसने मृतप्राय युग जीवन में लोक कल्याण के प्रशस्त मार्ग का निर्माण किया। जिसने जन जीवन की आत्मा को जीवित रखने के लिए विरोधी शक्तियों से खुलकर सघर्ष किया, जिसने अटल विश्वास और प्रचण्ड आँधी सा साहस लेकर अपने युग के समस्त वातावरण को झकझोर डाला। जिसका व्यक्तित्व स्वय ही एक जलती हुई मशाल था जिसकी चमक से युगधर्म और समाज की विरोधी शक्तियाँ सिहर उठीं। जिसकी विप्लवकारी क्रान्ति के प्रत्येक पदाघात पर मिथ्याचार, झूठे ढकोसले, रूढ़ियाँ और सामाजिक जीवन की कुत्सित प्रवृत्तियाँ अपने उच्च सिहासनो से नीचे गिरकर धराशायी बन गई। इस क्रान्ति का शखनाद किया अपने युग के सबसे बड़े विद्रोही कबीर ने जिसका आविर्भाव मध्ययुगीन सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और साधना जगत की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। निस्सदेह कबीर का आविर्भाव प्रसिद्ध इतिहासकार बर्कले के इस कथन को पूर्णतया सिद्ध करता है कि युग की महान विभूतियाँ काल प्रसूत होती हैं।

युग की निष्प्राण धमनियो मे नए जीवन का रक्त प्रवाहित करने वाले साधको, सतो और मनीषियो की भाँति कबीर का जीवन-वृत्त भी अधकारमय है। कबीर का जन्म और मरण, उनका निवास स्थान, पारिवारिक जीवन यहाँ तक कि उनका यथार्थ नाम सभी के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ नही कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। श्री अनन्तदासजी लिखित 'कबीर साहबजी' की परचई' में उल्लेख है कि सिकन्दरशाह का काशी मे आगमन हुआ था और उन्होने कबीर पर अत्याचार किए थे। सवत् १७०२ में प्रियादास द्वारा लिखित भक्तमाल की टीका से यह स्पष्ट है कि कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। बील, हटर, ब्रिग्स, मेकालिफ, स्मिथ,

जीवन वृत्त

भण्डारकर आदि सभी प्रमुख इतिहासकारो ने सिकन्दर लोदी का समय संवत् १५४५-४६ से १५७५ माना है। अतः कबीर इस समय मे अवश्य ही विद्यमान रहे होगे।

अन्तर्साक्ष्य के आधार पर कबीर की एक ही पक्ति से उनके समय का अनुमान लगाया जा सकता है—

गुरु परसादी जैदेउ नामा।
भगति के प्रेम इन्हहि है जाना॥

इससे स्पष्ट है कि कबीरदासजी जैदेव और नामदेव के पश्चात् हुए थे। इतिहासकारो ने जैदेव का समय बारहवी शताब्दी तथा नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना है। इससे स्पष्ट है कि कबीर का आविर्भाव इनके बाद ही होना चाहिए। इसी प्रसग मे एक और बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सत पीपा ने अपने पद मे कबीर की बड़ी प्रशसा की है। इसका तात्पर्य है कि कबीर का जन्म या तो संत पीपा से पहले हुआ होगा अथवा उन्होने सत पीपा के जीवन काल मे ही यथेष्ठ ख्याति अर्जित करली होगी। सत पीपा का जन्म स० १४८२ मे हुआ है। अतः कबीर का जन्म निश्चय रूप से चौदहवी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर स० १४८५ के मध्य मे होना चाहिए। कबीर पथी साहित्य के 'कबीर चरित्रबोध' में भी १४५५ वि० ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार की जन्म तिथि का निर्देश है। जिसके आधार पर कबीर पथियो मे एक दोहा प्रचलित है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

इस प्रकार कबीर का जन्म स० १४५५ मे ज्येष्ठ पूर्णिमा चन्द्रवार का होता है। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास ने इस दोहे के 'गए' शब्द को व्यतीत हो जाने के अर्थ मे मानकर १४५६ को इनकी जन्म तिथि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी भी अपने इतिहास में इसी तिथि का उल्लेख करते हैं। परन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की इण्डियन क्रोनोलौजी के आधार पर गणना करके यह स्पष्ट किया है कि सं०

१४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार को पड़ती है। यदि हम कबीर की जन्मतिथि सवत् १४५५ मान ले तो वे सहजता से रामानन्द के शिष्य और सिकन्दर लोदी के समकालीन ठहराए जा सकते हैं। इस प्रकार यही जन्म तिथि अधिक उपयुक्त और तर्कसगत जान पड़ती है।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे, इस बात के अनेक सशक्त तर्क हैं। यद्यपि कबीर ने स्वय कही भी रामानन्द नाम का सकेत नही दिया हैं, किन्तु इस आधार पर हम कबीर को रामानन्द के शिष्यत्व से वञ्चित नही कर सकते। मोहसिन फ़ानी के दबिस्ताने तवारीख, नाभादास के भक्तमाल, अनन्तदास के 'प्रसग पारिजात' मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि रामानन्द कबीर के गुरु थे। प्रसिद्ध भक्त सैन रचित 'कबीर अरु रैदास सवाद' के अनुसार दोनो ही गुरुभाई थे। रैदास का नाम भी रामानन्द की शिष्य परम्परा मे मिलता है। फलतः कबीर को रामानन्द का शिष्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मैलकाम साहब, वेस्कट साहब और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार कबीर शेखतकी के शिष्य थे। परन्तु अन्तर्साक्ष्यो और बहिर्साक्ष्यो के आधार पर यह मत प्रामाणिक नहीं है। कबीर ने कहीं भी अपनी वाणी में शेखतकी के प्रति श्रद्धा प्रगट नहीं की है वरन् वे एक प्रतिद्वन्दी के रूप मे चित्रित किए गये हैं। हो सकता है कि शेखतकी के अनुयायियो ने कबीर को छोटा सिद्ध करने के लिये उन्हें शेखतकी का शिष्य बतलाया हो।

जनश्रुति है कि एक विधवा ब्राह्मणी ने अपने नवजात शिशु को लहरतारा तालाब के निकट छोड़ दिया था जिसका पालन पोषण नीरू तथा नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति ने किया। इस जनश्रुति मे कहाँ तक सत्य है यह तो कुछ कहा नही जा सकता परन्तु इतना अवश्य है कि कबीर का लालन पालन जुलाहा परिवार में हुआ था और उनके माता पिता का नाम नीरू तथा नीमा था। **'जाति जुलाहा नाम कबीरा"** के अनुसार कबीर ने अनेक स्थलो पर अपने को जुलाहा बतलाया है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार कबीर जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने से पहले जोगियो के अनुयायी थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर का सम्बन्ध जुगी जाति से जोड़ा है। यह जाति हिन्दुओं में

बड़ी अस्पर्श्य और हेय समझी जाती थी। इसका सम्बन्ध नाथपथी योगियो से था। मुसलमानो के आगमन पर इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। कबीर ऐसी ही जाति के रत्न थे'। मगहर में कबीर का जन्म हुआ था। यद्यपि बहुत से विद्वान उनका जन्म स्थान काशी और आजमगढ़ अन्तर्गत बेलहरा गॉव मानते हैं। उनके कथन का आधार यह हो सकता है कि कबीरदासजी के जीवन का अधिक काल काशी में व्यतीत हुआ तथा मृत्यु के समय वे काशी से मगहर चले आए। परन्तु यह मत समीचीन नहीं।

सन्त कबीर गृहस्थ भी थे इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने विवाह किया था और वे ससंतान भी थे। किंवदती है कि लोई नाम की शिष्या कबीर की पत्नी बन गई थी। डा० रामकुमार वर्मा ने अन्तर्साक्ष्यो के आधार पर कबीर की दो पत्नियाँ मानी हैं। उनकी पहली पत्नी कुरूप कुजाति और कुलक्षणी थी। दूसरी सुरूप स्वजाति और सुलक्षणी थी। पहली स्त्री का नाम लोई था और दूसरी धनिआ, जो रमजनिआ भी कहलाती थी। यह रमजनिआ वास्तव में भक्तिन होगी और बाद में कबीर की पत्नी बन गई होगी। कुछ विद्वानो के मतानुसार कबीर के कमाल, निहाल, कमाली तथा निहाली नाम के चार पुत्र और पुत्री थे।

इतना होते हुए भी कबीर का पारवारिक जीवन सुखी नहीं था। बूढा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल' की लोक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार कबीर अपने पुत्र से प्रसन्न नही थे। वे एक अन्य स्थान पर लिखते हैं—

जदि का भाई जनमिया कहूँ ना पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौ पाती पाती दुख॥

इस प्रकार कबीर को पारवारिक जीवन मे सुख प्राप्त नही हुआ।

सवत् १५७५ मे मगहर में ही कबीर की महान आत्मा नश्वर काया के बंधनो से मुक्त बन मुक्ति पथ की विहारणी वन गई। अनन्त दास की परचई के अनुसार कबीर ने १२० वर्ष की दीर्घ आयु पाई थी। सवत् १४५५ मे १२० वर्ष जोड़ने पर स० १४७५ ही बैठता है जो निम्न जनश्रुति द्वारा मान्य भी है:-

संवत् पन्द्रहसौ पचहत्तर कियो मगहर को गौन।
अगहन सुदी एकादसी रलो पौन मे पौन॥

विद्याध्ययन और पुस्तक ज्ञान की दृष्टि से कबीर सर्वथा शून्य थे। उन्होंने निस्संकोच रूप से स्वीकार किया है, 'विद्या न परउ वाद नहि जानउ' इतना होते हुए भी कबीर बहुश्रुत थे; भ्रमण और ससर्ग से उन्होने अनुभव का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त कर लिया था। यथार्थ मे उनके ज्ञान का वास्तविक आधार था जीवन की खुली पुस्तक। इसी आधार पर कबीर अपने युग के महान दार्शनिक बन सके। अपने इसी जीवन दर्शन को कबीर ने उपदेश के रूप मे जन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नही की, क्योंकि अपने को कवि रूप देना उनका उद्देश्य न था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों का सकलन किया। कबीर पथियो में बीजक के नाम से यह सकलन समादृत है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कबीर दास ने स्वय इस ग्रन्थ को अपने दो शिष्यो जगजीवनदास और भगवानदास को दिया था। बीजक के तीन भाग हैं— साखी, सबद, रमैनी। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त अनेक ऐसे हस्तलिखित ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, जिनमे कबीर के पद मिलते हैं। परन्तु उनकी भाषा का स्वरूप ऐसा अव्यवस्थित है कि उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यही बात कबीर की समस्त रचनाओ के सबंध में कही जा सकती है। कबीर की कविता का रूप मुक्तक होने के कारण परवर्त्ती सन्त सम्प्रदाय के भक्तों ने मनमाने रूप से घटाया और बढ़ाया है। कबीर की रचनाओ का बहुत सा अंश तो ऐसा है जो यथार्थ में कबीर के भक्तो की रचनाए हैं और कबीर के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा प्रगट करने के लिए कबीर के नाम से प्रचारित करदी गई हैं। इस प्रकार कबीर के नाम से प्रसिद्ध रचना मे से कबीर की वास्तविक रचना को पाना बहुत कठिन है।

रचनाऐं

कबीर जन्म जात विद्रोही थे। उन्होंने वह किया जो उनके मन को भाया। किसी की तनिक भी परवाह उन्होंने नही की। मुसलमान परिवार मे जन्म लेने पर भी वे राम नाम के पुजारी बने। कबीर की माता कबीर के ऐसे रंग ढग देखकर सिर धुनती थी। वह कहती थी हमारे कुल मे किसने राम का नाम लिया है? जब से इस निपूते कबीर ने जप की माला हाथ में ली है तब से

कबीर का व्यक्तित्व

सुख नही मिला। परन्तु कबीर अपनी धुन के पक्के थे। माता के असन्तोष की उन्हे क्या चिता। साधु सतो के सत्सग मे उन्होने अपना व्यवसाय ही छोड़ दिया था। घर के बालको और परिवार के परिजनो को सदैव अन्न कष्ट रहता था। फिर भी मस्तमौला कबीर घर की ओर से लापरवाह रहते। वे अपना सारा भोजन तो साधु सन्यासियो को बाँट देते थे परन्तु परिवार के लोग चबेना चाब कर ही पेट भरते थे।

इस प्रकार कबीर सिर से पैर तक लापरवाह और मस्तमौला थे। मस्ती ही उनका जीवन था। उनकी "यह घर फूंक मस्ती, फक्कड़पन लापरवाही और निर्मम अखण्डता उनके अखण्ड आत्म-विश्वास का परिणाम थी। उन्होने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को, अपनी साधना को सन्देह की नजरो से नही देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कभी भी डिगा नही" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। अपनी इस अखड आत्मनिष्ठा के बल पर कबीर वीर साधक बन सके। भक्ति और साधना के क्षेत्र मे समाज और धर्म के जीवन मे इतनी बड़ी क्राँति का सृजन और पोषण कर सके। लापरवाही का कवच पहिन कर और अखड आत्म-विश्वास की कृपाण लेकर सिर से कफन बाँध उन्होने जीवन पर्यन्त तक युद्ध किया था। उन्होने नाथपथी अवधूतो को ललकारा, मुल्लाओं और पडितो की कड़ी भर्त्सना की। सिकन्दर लोदी की धर्मान्धता से टक्कर ली और अपने से बिरोध रखने वाली समस्त शक्तियो को डके की चोट प्रबल चुनौती दी। सिकन्दर लोदी ने ललकार के बल पर उसे मिटाना चाहा, नाथ पथियो ने अपने प्रभाव मे घोल कर समाप्त कर देने की चेष्टा की, सूफियो ने अपने सम्प्रदाय मे मिलाना चाहा, परन्तु महान कबीर इन सब आँधी तूफानो में हिमालय की तरह अटल और अविचलित भाव से खड़ा रहा। उसे कोई रोक नही सका, उसे कोई डिगा न सका।

कबीर निस्सदेह विद्रोह और क्रान्ति की प्रतिमूर्त्ति थे। उन्होने अपने जन्म जात सस्कारो से विद्रोह किया अपने वर्त्तमान का प्रतिकार किया और पुरानी मान्यताओ को ठुकरा दिया—

पण्डित मुलां जो लिखि दीआ।
छांडि चले हम कछू न लीआ॥

इस प्रकार कबीर किसी बँधी बँधाई लीक पर नहीं चले । उन्होने तो परम्परागत विश्वास और मान्यताओ के झाड़ झखाड़ को साफ कर अपनी लीक का निर्माण किया। उन्होने किसी भी सत्य को इसलिए स्वीकार नही किया कि लोक और वेद मे उसकी प्रतिष्ठा है, वरन् अपनी अनुभूति के तराजू पर तोल कर जीवन के सामान्य सत्यो का उद्घाटन किया। इस प्रकार कबीर का समस्त जीवन सत्यानुभूति, सत्य प्रचार और सत्य के प्रयोगो मे बीता था। इस रूप मे कबीर ने जो कुछ दिया वह सर्वथा नवीन और मौलिक है। उस पर किसी का ऋण नही है, वरन् आने वाले इतिहास को उसने अपना ऋणी बनाया है।

इस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व अनेक विशिष्ट गुणो का मिलन विन्दु है। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दो मे "वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वदनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुये थे और युग प्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमे वर्त्तमान थी इसलिए वे युग प्रवर्त्तन कर सके।"

कबीर के सिद्धान्त

कबीर ने आँखे खोलते ही यह अनुभव किया कि हिन्दुओ मे पौराणिक मत की प्रबलता है। वे सब जात पात, छुआछूत, तीर्थ स्थान, व्रत, उपवास, कर्मकाड आदि के अध उपासक हैं। ईश्वर की सच्ची भक्ति कोई नही करता। भक्ति का स्थान व्यर्थ के आडम्बर और ढकोसलो ने ले लिया है। उधर मुससमानो की धर्मान्धता और कट्टरता उन्हे अखरी। उन्होने देखा धर्म के नाम पर मुस्लिम शासन सत्ता हिन्दुओ पर अत्याचार कर रही है। मन्दिर तोड़कर मस्जिदे बनाई जा रहीं हैं। एक ही परम पिता, एक ही परमेश्वर की सन्तानो मे ऐसा वैमनस्य, ऐसी कटुता, ऐसी धर्मान्धता। कबीर का हृदय चीत्कार कर उठा—"अरे इन दोउन राह न पाई।" किन्तु कबीर इतना ही कह कर चुप न रह सके। उन्होने हिन्दू और मुसलमान दोनो की रूढ़ियो, परम्पराओ, धार्मिक वितडावाद तथा बाह्याचारो की जी खोल कर भर्त्सना की। सामा-

जिक विषमताओ को ललकारा। उन्होने मुसलमानो की हिसा की निदा की और हिदुओ की छुआछूत की भावना को बुरा बतलाया। छूआछूत का दभ भरने वाले पण्डितो से उन्होने पूछा :—

पंडित देखा मन यो जानी।
कहु धो छूत कहाँ ते उपजी तबहि छूत तुम मानी।
नादस बिदु रुधिर एक संगै घट ही घट सज्जे।
अष्ट कमल को पहुमी आइ कंह यह छूत उपज्जे।
लख चौरासी बहुत वासना सो सब सरि जो माटी।
एकै पाट सकल बैठारे सींचि लेत धौ काटी।
छूतहि जेवन छूतहि अचवन छूतहि जग उपजाया।
कहत कबीर ते छूत बिवर्जित जाके संग न माया।

इसी प्रकार कबीर ने मुसलमानो की थोथी धर्मान्धता पर करारी चोटे की। हिन्दुओ की भाति मुमलमान भी अपने दीन को भूल गये थे। रोजा, नमाज, हज, हिसा जैसे ढकोसले उनके धर्म के प्रधान अङ्ग बन गए थे। और ऐसे धर्म के ठेकेदारो मुल्लाओ को खरी खोटी सुनाते हुए कबीर ने ललकारा :—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे क्या साहब तेरा बहरा है।
चिउंटी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है।

× × × ×

बस कबीर की विद्रोही आत्मा ने धर्म के ढोगी और पाखडियो का पर्दाफाश कर दिया। उन्होने डके की चोट कहा कि न कोई शूद्र है, न कोई अशूद्र। न कोई मलेच्छ है और न कोई देवता। हिन्दू और मुसलमान का भेद ईश्वर कृत नही मनुष्य कृत है। व्यर्थ की बातो मे उलझकर, अधविश्वास के अधकार में मानवमात्र धर्म की सच्ची राह को भूल गया है। कबीर ने• मानव कल्याण के सच्चे मर्म को पहिचाना। उन्होने वाह्याचारो और कुतर्कनाओं के दलदल में फसे हुए जनजीवन को व्यापक मानव धर्म की भूमि पर ला खड़ा किया। इस प्रकार "कबीर ने जितने साहस से परपरागत हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड से सघर्ष लिया उतने ही साहस से उन्होने भारत में जड़ पकड़ने वाली इस्लाम

की नवीन साम्प्रदायिक भावना से लोहा लिया। कबीर ने सफलता पूर्वक दोनो धर्मो की अधार्मिकता पर कुठाराघात किया और एक नए सप्रदाय का सूत्रपात किया जो 'सत मत' के नाम से प्रख्यात हुआ।" (डा० रामकुमार वर्मा)

कबीर का यह सतमत जातिगत, कुलगत, धर्मगत, सस्कारगत, विश्वासगत शास्त्रगत, सप्रदायगत, आदि समस्त सकीर्णताओ से ऊपर उठा हुआ मनुष्यता की सामान्यभूमि पर खड़ा हुआ है, जहाँ मनुष्य मनुष्य मे कोई भेद नही है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे इस संप्रदाय ने शास्त्रीय जटिलताओ को सुलझा कर धर्म को सरल और जीवनमय बना दिया जिससे साधारण जनता भी उससे अतः प्रेरणाएँ ले सके। यही कारण है कि इस सतमत मे समाज के साधारण और निम्न व्यक्ति भी सम्मिलित हो सके जिनकी पहुंच शास्त्रीय ज्ञान तक नही थी। कबीर ने साधारण जीवन के रूपको द्वारा अथवा अनुभूति पूर्ण सरस चित्रो के सहारे ही आत्मा, परमात्मा और ससार की समस्यायोको सुलझाया। धर्म प्रचार की इस शैली ने धर्म को व्यक्तिगत अनुभव का एक अग बना दिया और समाज ने धर्म के वास्तविक रूप को पहिचान लिया।

संत मत

हिंदू मुसलमानो के धार्मिक विरोधो का परिहार करने तथा उन्हें अधिक से अधिक निकट लाने के लिए, वाह्य ढकोसलो के स्थान पर ईश्वर भक्ति की स्थापना के लिए कबीर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। परन्तु कबीर का यह ऐकेश्वरवाद मुस्लिम धर्म मे स्वीकृत ऐकेश्वरवाद की भाँति नही है। मुसलमान धर्म के अनुसार ईश्वर समस्त प्राणियो और स्थानो से भिन्न और परम समर्थ है। परन्तु कबीर द्वारा प्रतिपादित मतानुसार ईश्वर व्यापक है। समस्त ससार मे वह रम रहा है। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है—वह सब घट मे रम रहा है—

एकेश्वरवाद

खालिक खलक खलक मे खालिक सब घट रह्यौ समाई ॥

ऐसा ईश्वर निराकार है। उसका रूप और आकार नही है। निर्गुण और सगुण से भी वह परे है। वह अलख, अगोचर, और वर्णनातीत है। गूंगे के गुड़ की भाँति अनुभव गम्य है। कबीर के इस ऐकेश्वरवाद में 'समत्व' सिद्धांत

एक समान हैं चाण्डाल और ब्राह्मण मे कोई भेद नही है। दोनो मे एक ही ब्रह्म की ज्योति है, जिस प्रकार काली तथा सफेद गाय में एक ही रग का दूध है।

अपने ऐसे भगवान को कबीर ने 'निर्गुण राम' कहकर सम्बोधित किया है। परन्तु ये राम दशरथ सुत राम नही हैं। कबीर के तो राम इनकी अपेक्षा अधिक अगम और अपार हैं। उसको दूर खोजने की आवश्यकता ही नही है। वह तो सारे शरीर मे रम रहा है। लोहू, चाम सब झूठ है, सत्य तो केवल राम है जो इस सारे शरीर मे रम रहा है—

कहै कबीर विचारि करि जिन कोई खोजै दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि राम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर विचारि करि झूठा लोही चाम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता राम॥

यह राम शास्त्रो के अध्ययन से और दार्शनिक वाद-विवाद से नही जाना जा सकता वरन् यह केवल भक्ति से प्राप्य है। निर्गुण राम की भक्ति संतमत का प्रधान अङ्ग है। राम और उनकी भक्ति ये ही रामानन्द की कबीर को देन है। "इन्हीं दो वस्तुओ ने कबीर को योगियो से अलग कर दिया, सिद्धो से अलग कर दिया, पण्डितो से अलग कर दिया, मुल्लाओ से अलग कर दिया। इन्हीं को पाकर कबीर 'वीर' हो गए—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस सबसे तेज।" (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

भक्ति

निर्गुण राम की इस भक्ति के लिए तिलक, छापा, जप, तप, माला की आवश्यकता नहीं है। जिन्होने भक्ति की टेक ग्रहण करली है, बाह्य आचार उनके मार्ग मे बाधा नही बन सकते। यह भक्ति भगवान के प्रति अनन्य भाव मे बिना किसी शर्त आत्मसमर्पण की भावना है। कबीर की भक्ति इसी अनन्य आत्मसमर्पण का रूप है—

मैं गुलाम मोहि बेच गुसाईं।
तन-मन-धन मेरा रामजी के ताईं।

आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोई गाहक सोई बेचनहारा।
बेचै राम तो राखै कौन,
राखे राम तो बेचे कौन।
कहे कबीर मै तन-मन जारया,
साहिब अपना छिन न बिसारया ॥

मै गुलाव हूँ। हे गुसाई मुझे बेच दो। यह सारा तन, मन, धन तेरा ही है। राम ही ग्राहक हैं, राम ही सौदागर है। कबीर ने तो तन, मन, धन सब न्योछावर करके अपने आपको राम पर कुर्बान कर दिया है। कबीर की यह भक्ति सर्वथा निष्काम है। इसमे सदाचरण पर विशेष महत्व दिया गया है। कबीर के अनुसार भक्त को स्त्री, धन, दम्भ, अभिमान और दुष्ट सगति से बचना चाहिए। उन्होने कुल, कुसंग, लोभ, मोह, मान, कपट, आशा, तृष्णा आदि को भक्ति मे बाधक माना है।

कबीर की भक्ति साधना प्रेम मूलक है। प्रेम ही भक्ति का सार है। प्रेम कीतन्मयासक्ति से ही राम प्राप्त किये जा सकते हैं। कबीर की प्रेम भावना ने राम के निर्गुण रूप को मधुर और सहज ग्राह्य बना दिया है। निर्गुण ब्रह्मवाद की यही वैयक्तिक साधना कबीर के काव्य में रहस्यवाद का रूप लेकर जगमगाई है। संक्षेप मे

रहस्यवाद

रहस्यवाद ब्रह्म से आत्मा के भावात्मक तादाम्य की साधना का प्रकाशन है। ब्रह्म के साथ आत्मा की यह ऐक्यानुभूति तर्क से नहीं जानी जाती। महात्मा कबीर तर्क की इस असमर्थता से भलीभाँति परिचित थे। कबीर ने भक्ति और प्रेम के सहारे ब्रह्म के तादाम्य का अनुभव करना चाहा है और प्रेम के सहारे की गई आध्यात्मिक ब्रह्म की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति अपने आप ही रहस्यात्मक हो जाती है। "कबीर के काव्य मे प्रेम मूलक भावना प्रधान रहस्यवाद का अनुभूतिजन्य प्रकाशन है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अनुभूति के आश्रय से होती है। अनुभूति भावना से सम्बन्धित है। भावना प्रेम की प्रधान प्रवृत्ति है। यह अनुभूति प्रेम पर अवलम्बित होने के कारण जीव और ब्रह्म मे एक अनवि-

छिन्न और अनन्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रेम की चरम परिणित दाम्पत्य प्रेम मे देखी जाती है। अतः रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहिणी के आश्रय मे होती है" (डा० त्रिगुणायत्त)। इसी लिये कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप देकर परमात्मा रूपी पति की आराधना की है। जब तक परमात्मा रूपी पति से साहचर्य नही होता तब तक आत्मा विरहिणी के समान दुखी रहती है। जब आत्मा का परमात्मा से तादाम्य हो जाता है, दोनो मिल कर एक हो जाते हैं, तभी रहस्यवाद का आदर्श पूर्णता को प्राप्त करता है।

कबीर भी इसी प्रियतम की नगरी के अखण्ड और पूर्ण प्रकाश को पाना चाहते है। प्रियतम के विरह मे वे बहुत व्याकुल हैं। प्रिय मिलन के लिये उनकी तड़पन संसार के किसी भी प्रेम व्यापार से अधिक तीव्र है। चकवी का विरह प्रसिद्ध है, परन्तु रात्रि की समाप्ति के पश्चात उसका मिलन अपने प्रियतम से हो जाता है। परन्तु राम के विरही को तो न दिन मे सुख मिलता है, न रात मे, न सपने मे, न जागरण मे, न धूप मे न छाँह मे।

> चकवी बिछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
> जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिलै न राति।
> बासरि सुख ना रैण सुख, ना सुख सपने माँह
> कबीर बिछुट्या राम सूँ ना सुख धूप न छाँह।
> विरहिन ऊभी पथ सिरि, पंथी पूछे धाइ।
> एक सबद नहिं पीव का, कबरे मिलेंगे आइ॥

कबीर तो अपने प्रियतम के प्रेम का प्याला पीकर मतवाले हो चुके हैं। उनका रोम-रोम झूम रहा है। उन्हे अब किसी और नशे की जरूरत नहीं है। उनकी नसे तात बन गई हैं। शरीर रबाब बन गया है, जिसे विरह नितप्रति बजाता रहता है। उस आवाज को सुनने वाला या तो साईं है या चित्त है। अन्य कोई नही सुन सकता। प्रीति उनके मन मे पैठकर समा गई है। रोम-रोम पिउ-पिउ पुकारता है, मुख कुछ कहने मे भी असमर्थ है—

> **कबीर प्याला प्रेम का अन्तर लिया लगाय।**
> **रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय।**

सब रंग तॉत, रवाब तन विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साँई कै चित्त।
प्रीति जो लागी घुल गई, पैठ गई मन माँहि।
रोम-रोम पिउ कहै, मुख की सरधा नाँहि॥

प्रियतम के प्रति कबीर की इस विरहणी आत्मा का प्रेम बड़ा आदर्श और महान् है। एक सती आत्मा की भाँति उसे विरहका विषमपथ पार करना पड़ता है। प्रियतम का रास्ता निहारते-निहारते आँखों में झाईं पड़ गई हैं। नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड गये हैं। रात दिन आँखों से आँसुओ की झड़ी लगी हुई है। मुख से पपीहे की रट लगी हुई है—

अँखड़ियाँ झाँईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि।
नैना नी झर लाइया रहट बसै निस-जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौ कबस मिलहुगे राम॥

बालम के बिना कबीरदास की आत्मा तडप रही है। न तो दिन को चैन ही मिलता है और न रात को नीद ही आती है। सेज सूनी है और शरीर चर्खा बन गया है। आँखे थक गई है। पन्थ सूझता ही नही। फिर भी वेदर्दी प्रियतम ने सुधि नहीं ली—

तलफै बिन बालम मोरि जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निदिया तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोरि रहट अस डोले, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै सांई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधौ हरो पीर दुख जारे किया॥

हाय कबीर की विरहिणी आत्मा के वे दिन कब आवैगे, जिससे उनका नर भव सफल बनेगा। जब पिय के साथ अङ्ग से अङ्ग मिलाकर एक रूप होने का परम सुख प्राप्त होगा—

वै दिन कब आवेगे भाई।
का कारनि हम देह धरी है मिलि बा अंग लगाई।

ऐसे ही मिलन और विरह के पदो मे कबीर ने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। एक सती के प्रेम की भाति उसमे अपूर्व तन्मयता, एकात निष्ठा और विरह का रुदन तथा हास है। प्रियतम राम के प्रति विरह और मिलन का यह दुख और उल्लास ही कबीर के काव्य की आत्मा है, जो हमारे प्राणो को स्पर्श करती है। इसी स्वानुभूति के चित्रण मे कबीर का समस्त दर्शन, समस्त साधना, समस्त चिन्तन उनकी कविता के स्वर पाकर सहस्त्र रूपो मे मुखरित हुआ है। कबीर का प्रखर व्यक्तित्व, ज्ञान प्रेम के अथाह सागर मे आपाद मस्तक डूबा हुआ है। भक्ति की इसी तन्मयाशक्ति ने, आत्मा के इसी रुदन और हास, प्रियतम मिलन के लिए प्राणो के इसी आलोड़न विलोड़न ने कबीर के भावना क्षेत्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है।

सतो ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को अनेक रूपो में प्रकट किया है। जब उनकी अनुभूति का प्रकाशन साधारण भाषा मे न हो सकता था तब वे रूपको का सहारा लिया करते थे। ये रूपक विशेषतः दो प्रकार से बाधे गए है एक तो उलटबासियो के रूप मे जिसमे मानवी कार्यो की विपरीति रूप से कल्पना की जाती है—

रूपक और उलटबासिया

मूसा पैठा बांबि मे, लारे सापणि धाई।
उलटि मूसैं सापणि गिलीं, यहु अचरज भाई॥

रूपको का दूसरा रूप आश्चर्यजनक घटनाओ की सृष्टि से है :—

शरीर मे परमात्मा की अनुभूति वैसी होती है जैसे—नाव में नदी का डूब जाना और परमात्मा के मिलन का आनन्द उसी प्रकार होता है जैसे सिह द्वारा पानी को कतरना। इस प्रकार उलटबासियो और रूपको के रूप मे कबीर ने अपने रहस्यवाद की विचित्र अभिव्यक्ति की है। इसमे सन्देह नहीं कि उलटबासियो की शैली के कारण उनकी शुष्क और नीरस दार्शनिक उक्तियो मे एक विशेष चमत्कार आ गया है।

कबीर के रहस्यवाद पर सूफी प्रेम उपासना का स्पष्ट प्रभाव है। सूफी लोग आत्मा और परमात्मा के बीच एक मौन और अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना

सूफीमत और कबीर

करते है। प्रेम के सहारे ही आत्मा परमात्मा से सान्निध्य प्राप्त कर सकती है। सूफी मतानुसार प्रेम ही कर्म है, प्रेम ही धर्म है। दाम्पत्य प्रतीको के सहारे सूफी कवियो ने अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है। यही दाम्पत्य प्रतीक पद्धति कबीर ने अपनाई है। उनका समस्त रहस्यवाद इसी प्रेम पर टिका हुआ है। सूफीमत मे प्रेम के नशे मे ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। कबीर भी प्रेम के नशे मे मतवाले बनकर ईश्वर के प्रति अपने विरह और मिलन का प्रकाशन करते हैं। यही नही कबीर के रहस्यवाद पर इब्नसिना के सौन्दर्यवाद और हल्लाल मसूर के प्रेमवाद की भी स्पष्ट छाया है। सूफी-मत मे शैतान साधक को प्रियतम के पथ से विचलित करने की चेष्टा करता है। इस शैतान से बचने के लिए पीर की बहुत आवश्यकता होती है। इसी-लिए सूफीमत मे पीर का बहुत सम्मान है। कबीर के मत मे पीर का स्थान माया ने ले लिया है। यद्यपि सत्य और मिथ्या के रूप मे माया के दो रूप हैं। सत्य माया तो साधक को परमात्मा की प्राप्ति मे सहायता प्रदान करती है, परन्तु मिथ्या माया बडी पापिन होती है। वह भक्त को भगवान से विमुख करती है "कबिरा माया पापिणी हरि सू करै हराम।" कबीर ने मिथ्या माया का ही अधिकतर वर्णन किया है। यह माया महा ठगिनि है। यद्यपि यह खाड की तरह मीठी है परन्तु इसका प्रभाव विष के समान है। इसने सारे ससार को अपने वश मे कर रखा है। सतगुरू की कृपा से ही माया से छुटकारा पाया जा सकता है—

कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खांड।
सतगुरु की किरपा भई नहीं तो करती भांड॥

इस प्रकार सूफीमत का पीर कबीर के सत मत मे गुरु का रूप लेकर आया है। कबीर के काव्य मे गुरु के प्रति अपार श्रद्धा है। केवल सत-गुरु ने ही उन्हे सच्चा मार्ग दिखाया है—सतगुरु मिलिआ मारगु दिखाइआ।' गुरु की कृपा से ही उन्होने हरि रूपी धन को पाया है—

'गुरु परसादि हरि धन पाइओ।'

इस प्रकार हम सत मत और सूफीमत मे बहुत साम्य पाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि सूफीमत भारतीय उपासना पद्धति के बहुत अधिक निकट है और उसका जन्म इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था।

कबीर और नाथपंथी

कबीर के समय में नाथ पथियो का बहुत प्रभाव था। स्वयं कबीर ने जिस समाज, जाति, कुल और वातावरण में जन्म लिया वह नाथपंथी योगियो के प्रभाव से आच्छन्न था। कबीर इस प्रभाव से बच न सके। नाथपंथियो को बहुत अधिक निकट से देखने का अवसर कबीर को मिला था, इसीलिए नाथपथियो की साधना, भक्ति, उनकी भाषा और अभिव्यक्ति, शैली सभी से वे भली भॉति परिचित हो गए थे। यही कारण है कि कबीर की साधना पर, दर्शन पर, भाषा और अभिव्यक्ति पर नाथपंथियो का स्पष्ट प्रभाव है। नाथपथियो के समान इद्रिय साधना, प्राण साधना, मन साधना पर कबीर ने जोर दिया है। षटचक्र भेदन कबीर के प्रिय विषय रहे हैं। अजपा, सुरति, शब्द योग सून्य, सहज, निरजन, नाड़ी साधन और कुण्डलिनी साधन आदि बातें भी कबीर की योग साधना मे हमे मिलती हैं। नाथपथियों की भाति हठयोग को कवीर ने भी ईश्वर प्राप्ति का साधन माना है।

कबीर की उलटबासिया और रूपको के रूप में अटपटी साध्य भाषा नाथ पथियों की देन है। अनेक स्थानो पर कबीर ने गोरखनाथ के शब्दो, वाक्यो वाक्याशो को ज्यो का त्यो उद्‌धृत किया है।

ऐसा प्रतीत होता कि कबीर दास रामानन्द के समागम से पूर्व योग मार्ग की ओर झुके हुये थे। क्योकि उनकी कुल परम्परा मे यही मार्ग प्रतिष्ठित था। फलतः उन्होंने योग माया से प्रभावित ऐसे पदों की रचना की जिसमें भक्ति रस का लेश भी न था। पर गुरु रामानन्द के प्रताप से जिस दिन उन्हें हरि भक्ति मिली उनकी राह ही बदल गई:—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी दिन दिन अधिक चली।

× × × ×

आँख न मूदो कान न रूधो तनिक कष्ट नहि धारो ।
खुले नैन पहिचानो हंसि हंसि सुन्दर रूप निहारो ।।
सब्द निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी ।
उठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी ।।

रामचन्द शुक्ल ने कबीर को इस्लामिक एकेश्वरवाद के प्रभावित माना है, हरिऔध जी ने कबीर के एकेश्वरवाद को वैष्णवी सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु दोनो प्रकार की धारणाएँ भ्रमपूर्ण है।

कबीर और वैदिक अद्वैतवादी

डा० त्रिगुणायत के शब्दो में "कबीर का ऐकेश्वरवाद पूर्णतः वैदिक अद्वैतवाद के साँचे मे ढलकर निकला है।" कबीर ने मुसलमानो के खुदा ओर वैष्णवों के विष्णु की भाति अपने निर्गुण राम का साकार रूप स्वीकार नही किया। वह तो उपनिषदों के ब्रह्म के समान अनिर्वचनीय तत्व है। कबीर ने जहाँ भी अपने ब्रह्म का निरूपण किया है वहा वेदो की भाति ब्रह्म की एकता और अद्वैतता दोनो को एक साथ मान्यता दी है।

कबीर पर जैन धर्म की अहिसा और बौद्ध धर्म की बुद्धि वादिता का प्रभाव है। वास्तव मे कबीर सारग्रही थे। जहाँ कही भी उन्होने सत्य देखा उसे ग्रहण किया। इसलिये उनकी विचार धारा में सब मतमतान्तरों का सार रूप हम पाते हैं। कबीर ने इन सब मतमतान्तरो को पचाकर अपना बना लिया है। उन पर सबका प्रभाव है, परन्तु अपने सतेज व्यक्तित्व की प्रखरता के आगे उन्होने किसी के प्रभाव को टिकने नही दिया। इसीलिये कबीर सबसे ऊपर हैं, सबसे नवीन है, सबसे अछूते हैं।

काव्य समीक्षा

संत कबीर कवि कर्म से सर्वथा अपरिचित थे। इसीलिये कविता के चमत्कार प्रदर्शन की भावना से उन्होने अपना कण्ठ मुखरित नही किया था। उन्होने तो जन जीवन की भावनाओ का परिष्कार करने के लिए, सत्य धर्म के उद्घाटन के लिये ही अपनी वाणी को काव्य का रूप दिया था। फलतः कबीर सत पहले हैं, कवि बाद को। उनकी वाणी में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान हैं, काव्यगत दृष्टिकोण

गौण। इतना अवश्य है कि जन जीवन के व्यापक धरातल पर खड़े होने के कारण कबीर के काव्य की भाव भूमि बहुत सशक्त और दृढ है। आत्मा के इस निर्भीक अनुचर की वाणी 'हृदय की प्रेरणा से मुखरित हुई है। उसमे उनकी आत्मा का तेज और जीवन का सत्य है। इसीलिए कबीर की वाणी मे जन जीवन की क्रान्ति सहस्रमुखी हो उठी है और सत कबीर बरबस कवि कबीर बन गये है। कबीर ने साहित्य के लिये गीत नही गाए फिर भी उनके अध्यात्म-रस की गगरी से छलके हुए रस ने काव्यामृत बनकर साहित्य के मानस को अजर अमर बना दिया।

साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग कवि की अनुभूति की सच्चाई से संबध रखता है। कबीर के काव्य मे यह सचाई सर्वोच्च मात्रा मे उपस्थित है। उन्होने अपने चारो तरफ जैसा देखा जैसा अनुभव किया, उसीको जन जीवन से ग्रहण की हुई उपमाओ, उत्प्रेक्षाओ और दृष्टातो के द्वारा काव्य का रूप दिया। जीवन के सामान्य तथ्यों को काव्य का ऐसा रूप देने में कबीर अपना जोड नहीं रखते। जीवन मे गहरी पैठ होने कारण उनकी काव्य की प्रत्येक पक्ति अनुभव की दीप्ति से प्रकाशमान है।

अनुभूति और सचाई से अनुप्राणित कबीर के काव्य मे उनका प्रखर व्यक्तित्व साकार हो उठा है। व्यक्तित्व की भाँति ही कबीर का काव्य खरा और स्पष्ट है। उसमे लाग लपेट और आडम्बर नहीं है। वह तो सीधे सादे ढंग से व्यक्त किया गया जीवन का सत्य है, स्फटिक की भाँति निर्मल। परन्तु कबीर के अखड आत्मविश्वास ने इस सीधे सादे ढग से की गई बात में भी असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव हृदय से निकलते हैं और हृदय पर चोट करते हैं। कबीर के काव्य ने इसी असाधारण शक्ति का कवच पहिनकर बाह्य आडम्बरो पर करारे आक्रमण किये हैं।

परन्तु कबीर का काव्य उस स्थान पर बहुत ऊँचा उठ गया है जहाँ कबीर ने अपनी विरहाकुल आत्मा के स्पन्दन को, उसके रुदन और हास को, अपने हृदय का स्वर दिया है। प्रियतम के मिलन और विरह के इन गीतो मे कबीर का काव्य प्राणमय होकर अनेक चित्रो मे साकार हो उठा है। इन गीतो मे हृदय जनित अनुभूतियो की जैसी सशक्त व्यजना है, भावनाओ का जो प्रबल

वेग है भाव सौंदर्य की जो अतुल राशि है, उसका दिग्दर्शन तो हम पहले ही करा चुके हैं, यहाँ एक पक्ति मे इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस रूप मे कवि कबीर लौकिक न होकर अलौकिक बन गए हैं। उनकी मस्ती, तन्मयता, और अपने इष्ट के प्रति अनन्य भक्ति ने चिरन्तन काव्य को प्रसूत किया है। यह वह स्थल है जहाँ सत साधक, भक्त और कवि आदि कबीर के समस्त रूप मिल कर एक हो गये हैं।

वस्तुतः भक्ति रस अनुभूति की चीज है। उसका प्रकाशन भाषा की शक्ति से परे है। कबीर ने इसी भक्ति रस का आस्वादन किया है। उन्होंने भक्ति के इस अरूप और अगोचरतत्व को भाषा के द्वारा रूप प्रदान करने की साधना की है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों मे "इस प्रकार कबीर ने रूप के द्वारा अरूप की व्यजना की है, कथन के सहारे अकथ्य को कहा है, और इसी में हमें कबीर के काव्य का चरम रूप मिलता है। काव्य शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।"

हम पहले कह आये हैं कि कबीर कवि कर्म से अपरिचित थे। उन्हे छन्दो का ज्ञान न था और अलकारो के वे पण्डित नहीं थे। इसी लिए पिगल और अलकारो से कबीर ने अपने काव्य को सजाने की चेष्टा नहीं की। उन्हें जैसी भाषा मिली, जैसे छन्द प्राप्त हुए उसी रूप मे उन्होने अपने हृदय की अनुभूतियो के चित्र उतारे। फिर भी कबीर की कविता मे कला का सहज सौन्दर्य अभिभूत है। कबीर ने कभी अपनी कविता को अलकारो से सजाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् वे स्वय कबीर की कविता के उपादान बन गए हैं।

छंद और अलकार

जिस प्रकार कालिदास अपनी उपमाओ के लिए प्रसिद्ध हैं, कबीर अपने रूपकों के लिये प्रसिद्ध हैं। कबीर के रूपको की अपनी सामान्य विशेषताए' हैं। इसके उपमान अप्रस्तुत सरल तथा सामान्य जीवन से लिये गये हैं। उपमान अधिकतर सकेतात्मक एव प्रतीकात्मक है। रूपक अधिकतर फलसाम्य या वस्तु साम्य पर टिके हुये हैं। इस प्रकार कबीर के रूपक परम्परागत न होकर सर्वथा मौलिक हैं। कुछ उदाहरण लीजिये—

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।

\+ + + +

नैनो की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलको की चिक डारिके, तिय को लिया रिझाइ॥

रूपक की भाँति कबीर की उपमाएं भी बडी सुन्दर है। इन उपमाओं के उपमान भी परम्परागत न होकर सामान्य जीवन से संबधित हैं—

पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जाति।
एक दिनां छिप जाहिंगे तारे ज्यूँ परिभात॥

उदाहरण अलकार का भी कबीर ने अधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त कबीर के काव्य मे उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, लोकोक्ति, विभावना, अर्थान्तर-न्यास, काव्य लिंग, दृष्टाॅत आदि अलकारो की भी कमी नहीं है।

कबीर का समस्त काव्य मुक्तक रचना है। उसमे गेय पदो की प्रधानता है। इनमे साखी, सबद और रमैनी है। साखी का रूप बहुत कुछ दोहो से मिलता है। सबद अधिकतर राग-रागनियो और पदो के रूप मे है। रमैनी मे कुछ चौपाइयो के बाद दोहे के समान साखी का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त चौंतीसी, बिप्र, कहरा, भतीसी, हिडोला, बसत, चाचर, बिरहुली आदि छन्दो का प्रयोग भी कबीर ने किया है। ये छद कबीर को कुछ तो ग्रामीण बोलियो से और कुछ साधु परपरा से प्राप्त हुए है। कबीर पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके छन्द शास्त्र के नियमो पर पूरे नही उतरते। दोहों का प्रयोग अशुद्ध रूपो मे हुआ है। मात्रा की न्यूनता और पुनरुक्ति की त्रुटियाॅ भी अनेक है। परन्तु इन सबका उत्तरदायित्व इस बात पर है कि कबीर के पद पाठ की अशुद्धता और मौखिक रूपान्तर के कारण अपने वास्तविक रूप मे कम ही मिलते है।

अपनी शैली के कबीर स्वय निर्माता है और उस पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनके व्यक्तित्व की सारी मस्ती, लापरवाही, अक्खड़ और फक्कड़पन उनकी शैली में प्राण रूप हो आ विराजे हैं। इस से उनकी शैली मे बड़ा बल आगया है। जहाॅ कबीर धार्मिक कुरीतियो पर चोट करते है, पण्डित,

मुल्ला, अवधूतों और नाथपंथियों की हँसी उड़ाते हैं तब उनकी शैली की शक्ति देखने योग्य होती है। सीधी सादी भाषा में किए गये व्यंगों और चुटकियों से विरोधी तिलमिला जाते हैं, और अपना सा मुँह लेकर रह जाते हैं।

संगीत की विभिन्न राग-रागनियों को दृष्टि में रखकर रचे गये पदों में गेयता अधिक है। ये पद शैली की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। कबीर ने दाम्पत्य प्रेम सम्बन्धी स्वानुभूतियों का बड़ा सुन्दर चित्रण इस शैली द्वारा किया है। कबीर की रमैनियां वर्णनात्मक और तथ्य प्रधान हैं।

उलटवासियों, अन्योक्तियों और प्रतीकों के रूप में भी कबीर ने अपनी शैली का प्रयोग किया है। यह शैली अस्पष्ट होते हुए भी बड़ी चमत्कारपूर्ण है। प्रतीकों द्वारा निश्चय ही कबीर ने आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है।

कबीर के सामने भाषा का कोई आदर्श नहीं था। उस समय भाषा बन रही थी और उसका रूप निखर रहा था। इसलिये कबीर को स्वतः ही अपनी भाषा का रूप स्थिर करना पड़ा। उन्होंने जिस भाषा को अपनाया वह जन भाषा थी। इस भाषा की शक्ति से वे पूर्णतया परिचित थे और इस शक्ति का उन्होंने व्यापक प्रयोग भी किया। भाषा के समस्त उपकरणों को निसंकोच भाव से ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में उनका कोई साहित्यिक दृष्टिकोण नहीं रहा। भाषा सम्बन्धी कबीर की यह स्वतन्त्रता उनकी अपनी विशेषता है। इससे कहीं-कहीं उनकी भाषा असंस्कृत और ग्रामीण बन गई है, परन्तु साथ ही उसमें बड़ा आकर्षण और बल आ गया है।

भाषा

अपनी इस जन भाषा को अधिक व्यापक रूप देने के लिये कबीर ने तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों को अधिक स्थान दिया है। तत्सम शब्दों की ओर उनकी अधिक रुचि नहीं थी। क्योंकि भाषा को उन्होंने 'बहता हुआ नीर' और संस्कृत को 'कूप जल' कहा है। फलतः कबीर की भाषा तद्भव शब्दों को लेकर चली है।

संत होने के नाते कबीर ने भारत के विशाल भू-भाग का पर्यटन किया था। अतएव कबीर भारत की सभी प्रान्तीय बोलियों से परिचित थे। अपनी

भाषा मे प्रान्तीय बोलियो के शब्दो को अपनाकर उन्होने अपनी बहु भाषा विज्ञता का अच्छा परिचय दिया है। सधुक्कडी भाषा की भाँति उनकी भाषा मे भी अवधी, व्रजभाषा, खडी बोली, भोजपुरी, पंजाबी, संस्कृत, फारसी, अरबी, राजस्थानी भाषा के शब्दों का मिश्रण है। फिर भी कबीर की कविता पर पंजाबीपन अधिक है। इसका कारण यह है कि पंजाब का क्षेत्र उन दिनो सूफी सन्तो का केन्द्र था। हो सकता है कबीर ने बहुत दिनो तक इन साधु-सन्तो का सत्संग किया हो। भोजपुरी का भी उनकी भाषा पर स्पष्ट प्रभाव है बनारस के निवासी कबीर का भोजपुरी से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है।

कबीर की भाषा, विषय, व्यक्ति और भाव के सर्वथा अनुकूल है। जब वे किसी मुसलमान से बात करते हैं तो फारसी मिश्रित उर्दू बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं।—

अल्लाह अवलि दीन का साहिब जोर नहीं फुरमाया।
मुरसीद पीर तुम्हारै है को कहाँ कहाँ थै आया॥

इस प्रकार जब हिन्दू धर्म सम्बन्धी मत का प्रतिपादन करते हैं तो शुद्ध हिन्दी से युक्त भाषा का प्रयोग करते हैं—

निरबैरी निह कामना, साँई सेती नेह।
विषियाँ सूं न्यारा रहै, संतनि का अङ्ग एह॥

डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के शब्दो मे "अपनी भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। भाषा के एक प्रकार से वे डिक्टेक्टर थे।' भाषा उनके सामने जैसे करबद्ध होकर खडी है। उन्होने अपने भावो को जिस रूप मे चाहा उस रूप में भाषा के माध्यम से व्यक्त किया। उनकी भाषा मे इतना साहस नही कि वह कबीर की किसी आज्ञा का विरोध करे।

कबीर का महत्व

महात्मा बुद्ध के बाद भारतीय इतिहास की कबीर ही वे अन्यतम विभूति है जिन्होने धार्मिक अन्ध विश्वासो, रूढियो और बाह्य आडम्बरो से वीर साधक की भाति सघर्ष किया और उनका परिहार कर अन्त मे धर्म को अधिक उदार, सार्व भौतिक और सार्वजनीन रूप दिया। हिन्दुओ और मुसलमानो की पारस्परिक विरोधी सीमाओ

को तोड़कर उन्होने व्यापक युग धर्म की प्रतिष्ठापना की । मुस्लिम शासन सत्ता की छत्र छाया मे जो वर्ग कुछ तो भय से और कुछ प्रलोभन से अपना धर्म परिवर्त्तन कर रहा था कबीर की बाणी ने उसे अपने धर्म पर दृढ रहने की शक्ति प्रदान की । इस प्रकार कबीर एक युग प्रवर्त्तक कलाकार के रूप मे हमारे सामने आते है ।

कबीर का यह युगान्तर कारी स्वरूप भारतीय साहित्य के इतिहास मे और भी प्रखर है । "उनकी युगान्तर कारी कविता भक्त कवियों की विनयशीलता और आत्मभर्त्सना के बीच मे स्पष्ट कण्ठ से कही गई धार्मिक और सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित विवेचना है", (डा० रामकुमार वर्मा) । इस प्रकार कबीर ने पहली बार जन-जीवन की भावनाओं को अपने काव्य का अक्षय आलोक प्रदान किया है । कबीर के समय तक कवि कर्म केवल अपने आश्रयदाताओ को रिझाने तक ही सीमित था । जन मानस की भावनाओ का उनके काल मे स्पन्दन नही था । कबीर ने कविता की गति को अवरुद्ध बनाने वाली इन सीमाओ को तोड़कर उसे अधिक व्यापक और मुक्त रूप प्रदान किया । यदि यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के हजार बर्षो से कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई कवि सामने नही आया । उनकी महिमा को, उनके व्यक्तित्व को शब्दो मे आका ही नही जा सकता । वे एक साथ सत, साधक, कवि, लोकनायक सभी कुछ हैं और अपने इन सभी रूपो में वे बहुत महान हैं ।

मुस्लिम शासन सत्ता के साथ साथ भारत वर्ष मे सूफी सम्प्रदाय ने भी प्रवेश किया। मुसलमानो की धार्मिक कट्टरता के स्थान पर यह सम्प्रदाय हिदू समाज के प्रति बडा उदार और सहृदय था। उसके सात्विक और निरीह जीवन सिद्धान्त भारतीयता के अधिक निकट थे। फलतः सूफी सन्तो ने हिन्दू जन समाज मे भी विशेष श्रद्धा और आदर का स्थान ग्रहण कर लिया था। अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तो के प्रचार के लिये सूफी सन्तो ने भारतीय जन समाज के लोक प्रचलित प्रेम कथानको का आधार लिया। इस प्रकार भावुक और सहृदय सूफी कवि प्रेम की पीर से सजोई हुई कहानियो को लेकर साहित्य जगत मे उतरे। उन्होने मुसलमान होते हुये भी हिन्दू जन-समाज की कहानियो को उन्हीं की भाषा मे अपने हृदय का स्वर देकर हिन्दी साहित्य मे सूफी काव्य धारा का प्रणयन किया। लौकिक प्रेम गाथाओ द्वारा पारमार्थिक प्रेम साधना की अभिव्यक्ति में इस काव्य धारा को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। जायसी इसी सूफी काव्य धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूफी कवियो मे तो उनका स्थान सर्वोपरि है ही, हिन्दी काव्य साधना के क्षेत्र मे भी उनका स्थान बहुत महत्वपूर्ण पूर्ण हैं। प्रबन्धकार की दृष्टि से तो जायसी तुलसी को छोड़कर हिन्दी के सब कवियो से आगे हैं।

जायसी की रचनाओं में अनेक स्थानों पर उनके आत्मकथन मिल जाते जीवन परिचय हैं। उसी के आधार पर हम उनके जीवन और व्यक्तित्व से परिचित बन सकते हैं।

जायसी ने अपनी एक कृति 'आखरी कलाम' की रचना ९३६ हिजरी सन् में बाबर के शासन काल में की थी। इस रचना में जायसी ने अपने जन्म के सम्बन्ध में कहा है—

भा अवतार मो नौ सदी,
तीस बरस ऊपर कबि बदी।

अर्थात् तीस वर्ष की आयु में उन्होंने यह रचना की और वे 'नव सदी' में जन्मे थे। ९३६ हिजरी में से तीस वर्ष निकाल देने पर ९०६ हिजरी आता है। ९११ हिजरी में एक बहुत बड़ा भूकम्प आया था और सूर्यग्रहण भी ९०२ हिजरी में पड़ा था। जायसी ने भी अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है कि उनके जन्म के समय भूकम्प आया था और सूर्यग्रहण पड़ा था। इस प्रकार आखरी कलाम के अन्तर्साक्ष्य से जायसी का जन्म ९०६ हिजरी अर्थात् सन् १४९८ में हुआ था।

'जायस नगर मोर अस्थानू' के अनुसार जायसी का जन्म जायस नगर में हुआ था। जायस नगर में जन्म लेने के कारण ही ये जायसी कहलाये। एक अन्य अन्तर्साक्ष्य 'जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू'' के आधार पर पं० सुधाकर और डा० ग्रियर्सन ने यह अनुमान लगाया था कि मलिक मुहम्मद जायसी किसी और स्थान से जायस में आकर बसे थे। परन्तु यह ठीक नहीं।

बाह्यसाक्ष्य और जनश्रुति के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि जायसी के माता पिता जायस नगर के कंचन मुहल्ले में रहते थे। पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ था। बचपन में ही माता पिता की मृत्यु होने के कारण साधुओं और फकीरों के साथ रहने लगे थे। कुछ जनश्रुतियों के अनुसार जायसी का विवाह हुआ था और इनके पुत्र मकान के नीचे दबकर मर गये थे। अन्य जनश्रुतियों के अनुसार ऐसी मान्यता नहीं है।

अपनी कृतियो मे जायसी ने अपने चार मित्रो का भी उल्लेख किया है–मलिक यूसुफ, सलार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख । अन्तर्साक्ष्य द्वारा यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि जायसी कुरूप और एक नेत्र से विहीन थे । 'एक आँख कवि मुहम्मद गुनी' कहकर उन्होने स्वय अपना परिचय दिया है । जायसी एक कान से बहरे भी थे—'मुहम्मद बॉई दिसि तजा एक स्रवन ।' कहा जाता है कि शीतला के प्रकोप से जायसी की यह दशा हुई थी । इनका कण्ठस्वर बडा मधुर था । इसीलिये जायस मे आते ही गायक के रूप मे इनकी प्रसिद्धी हो गई थी ।

जायसी की शारीरिक कुरूपता उनके यश मे बाधक न बन सकी । साधारण जनता से लेकर राजा, महाराजा और दिल्ली के बादशाह तक उनका बडा आदर और मान था । गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगनदेव के आश्रित जायसी रहे थे । देहली सुलतान शेरशाह सूरी का भी उन्हे आश्रय प्राप्त था । जायस मे ऐसा प्रसिद्ध है कि एक बार वे शेरशाह के दरबार मे गए । शेरशाह उनके चेहरे की कुरूपता पर हँसा । पर जायसी शेरशाह के इस उपहास पर लज्जित नही हुए । उन्होने बड़े शान्त भाव से कहा 'मोहि का हँससि कि कोहरहि ?' अर्थात् तू मुझ पर हँसा अथवा उस कुम्हार (ईश्वर, जिसने मुझे बनाया है) पर ? शेरशाह यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ । उसने जायसी से क्षमा माँगी । अमेठी नरेश रामसिह भी उन पर बडी श्रद्धा रखते थे । ऐसी जनश्रुति है कि जायसी के आशीर्वाद से अमेठी नरेश को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी । एक अन्य जनश्रुति यह भी बतलाती है कि जायसी का एक शिष्य अमेठी मे जाकर नागमती का बारह मासा गा-गाकर भीख माँगा करता था । अमेठी के राजा ने भी बारह मासा सुना । बारह मासे के निम्न अश ने उसे बहुत प्रभावित किया—

> कँवल जो बिगसा मानसर बिन जल गएउ सुखाँय ।
> रूखि बेलि बिनु पलुहै जो पिउ सींचै आइ ॥

राजा ने बारह मासे के गायक से पूछा "शाहजी यह बारह मासा किसने

रचा है ?" फकीर ने जायसी का नाम बतलाया। राजा ने उन्हें अपने यहाँ बुलवाया और विशेष आदर-सम्मान किया।

जायसी की मृत्यु के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। जनश्रुतियों के अनुसार इनकी मृत्यु सन् १५४२ ई०, १६३६ ई० और १६५६ ई० में बतलाई जाती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जायसी बड़े पहुँचे हुए सिद्ध थे। योग के बल से वे अन्य पशुओं का रूप धारण कर लिया करते थे। एक बार अमेठी के राजा से उन्होंने कहा कि एक शिकारी की गोली से मेरा प्राणान्त होगा। फलतः अमेठी नरेश ने आस-पास के जंगलों में शिकार खेलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दैवयोग से एक शिकारी उसी वन में शिकार खेलता हुआ आ पहुँचा। उसे बाघ की गरज सुनाई पड़ी। आत्म-रक्षा के लिये उसने गोली चला दी। पास जाकर देखा तो शिकारी को बाघ के स्थान पर जायसी का मृतक शरीर मिला। अमेठी के राजा ने जायसी की वहीं पर एक समाधि बनवा दी, जो अब तक वर्तमान है।

व्यक्तित्व

शरीर से कुरूप होते हुए भी जायसी हृदय से बड़े भावुक और सहृदय थे। बचपन से ही साधु-सन्तों के संसर्ग में रहने के कारण उनके ज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया था। मुसलमान होते हुए भी हिन्दू धर्म पर उनकी विशेष आस्था और श्रद्धा थी। हठयोग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष आदि बहुत सी बातों का ज्ञान उन्होंने हिन्दू साधु सत्सङ्गों के संसर्ग से प्राप्त किया था। कबीर की भाँति अक्खड़ और उग्र न होकर वे बड़े शान्त स्वभाव के पुरुष थे। इसीलिये उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये अपने विरोधियों का उपहास और भर्त्सना नहीं की। शान्त और सरल गति से वे सदैव अपने साधना-पथ के पथिक रहे। वे सार ग्रहणी प्रवृत्ति के पुरुष थे और उनकी साधना में समस्त धर्मों को समान स्थान प्राप्त था। इन सब बातों से हमें जायसी के हृदय की उदारता का परिचय मिलता है। मुसलमान होते हुए भी अहिंसक भावना से उनका हृदय ओत-प्रोत था। पशु-हिंसा की उन्होंने अनेक स्थलों पर निन्दा की है। वे बड़े भगवद्भक्त थे। सच्चे भक्त का प्रधान गुण दैन्य उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। सामान्य मनुष्य धर्म के वे सच्चे अनुयायी थे। जिस समाज में वे पालित-

पोषित हुए उसके प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना वे अपना धर्म समझते थे। इस प्रकार जायसी एक आदर्श सत थे। उनका समस्त जीवन सात्विक वृत्ति से ओत-प्रोत था।

जायसी द्वारा रचित इक्कीस कृतियो का उल्लेख किया जाता है परन्तु अभी तक उनकी केवल तीन प्रतियाँ ही प्रकाश मे आई है—१—पद्मावत, २—अखरावट, ३—आखरी कलाम। पद्मावत के अतिरिक्त

रचनाएँ

अन्य दो कृतियो का साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्य नही है। अखरावट तो ईश्वर, सृष्टि, जीव आदि सैद्धान्तिक विवेचना के लिये रचा गया काव्य ग्रन्थ है। कवि की आध्यात्मिक विचार-धारा को समझने के लिये अखरावट का अध्ययन निश्चय ही आवश्यक है। 'आखरी कलाम' फारसी ग्रथ रचना की 'आखिरतनामा' परम्परा का ही एक रूप है। इसमे जायसी ने ईश्वर वन्दना तथा आत्म कथन के पश्चात कया-मात की कहानी का वर्णन किया है।

'पद्मावत' निश्चय ही जायसी की महत्त्वपूर्ण कलाकृति है। यह इतना लोकप्रिय हुआ है कि बँगला, पश्तो, फारसी, उर्दू, खडीबोली, फ्रेंच, इङ्गलिश भाषाओ मे इसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। 'सन नव से सत्ताइस अहा, कथा अरभ बेन कवि कहा' के अनुसार पद्मावत की रचना हिजरी ६२७ मे हुई थी। फारसी लिपि मे लिखे होने के कारण जायसी की पद्मावत का वास्तविक रूप हमारे सामने है। 'पृथ्वीराजरासो' की भाँति यह महाकाव्य विकृत अवस्था को प्राप्त नही हुआ है।

पद्मावत की कथा बड़ी आकर्षक और प्रेम के स्वर्गीय भावो से ओत-प्रोत है। इसका निर्माण इतिहास और कल्पना दोनो के समन्वय से हुआ है। सूफी काव्य धारा के अन्य कवि कुतबन, मझन आदि ने जहाँ कल्पना प्रसूत प्रेम कथानको को अपने काव्य मे प्रश्रय दिया है, जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्यो का भी अपने महाकाव्य मे समावेश किया है। पद्मावत का कथानक चित्तौड़ के राजा रत्नसेन तथा सिहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेमाख्यान को लेकर चला है।

शुक्लजी के कथनानुसार जायसी का यह प्रेमाख्यान मौलिक न होकर

लोक प्रचलित कहानी का ही रूप है जिसे अपनी मनोहर कल्पना द्वारा कवि ने काव्य का सुन्दर स्वरूप प्रदान किया है। सस्कृत मे कई काव्यो की नायिका पद्मावती है। सवत् १४६७ वि० मे पाठक राजबल्लभनाथ ने रत्नसेन पद्मावती कहानी को सस्कृत मे लिखा था। गुजराती साहित्य मे भी यह नाम और कथा प्रचलित थी। जायसी के उपरात हेमरतन (१५८८ ई०), जटमल (१६१३ ई०) लब्धोदय (१६५० ई०), सग्रामसूरि (१७०३ ई०), गिरधारीलाल (१७७५ ई.) आदि कवियो ने भी पद्मावती और गोरा-बादल के कथानक को लेकर काव्य-रचना की है। इससे प्रकट होता है कि यह प्रेमाख्यान लोक साहित्य मे बहुत ही आकर्षक और प्राचीन रहा होगा।

पद्मावती और रत्नसेन की इस प्रेम कहानी को जायसी ने सूफियो की पारमार्थिक साधना का रूप दिया है। उन्होने लौकिक प्रेम के माध्यम से प्रियतमा रूप ईश्वर के प्रति अलौकिक प्रेम की व्यजना की है। सूफीमत के अनुसार ईश्वर एक है और सर्वव्यापी है। प्रेम के द्वारा बन्दा (आत्मा) ईश्वर तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। प्रेम मे चूर होकर आत्मा इस आध्यात्मिक यात्रा को पार कर ईश्वर मे शरबि-पानी की भाँति मिल जाती है। शकर के अद्वैतवाद मे जहाँ से जीव और ब्रह्म के मिलन मे माया को बाधक माना गया है, सूफी साधना मे माया के स्थान पर शैतान की कल्पना की गई है। गुरु की सहायता से प्रेम की कठोर साधना पर चलकर ही आत्मा परमात्मा का मिलन हो सकता है। मिलन की इस स्थिति तक पहुँचने के लिए बदे को शरीयत, तरीकत, हकीकत आदि चार दिशाए पार करनी पडती हैं। मारिफत मे 'रूह' बका या जीवन प्राप्त करने के लिए फना हो जाती है। इस फना मे प्रेम ही सहायक है। 'बका' 'होकर' आत्मा मे ही परमात्मा के मिलन का असीम उल्लास अनुभव होने लगता है।

जायसी के काव्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि

जायसी के पद्मावत के पीछे इन्ही सूफी सिद्धान्तो की रूपरेखा है। अनेक स्थलो पर कवि ने लौकिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर सकेत किया है। कहीं-कहीं तो प्रेम के गभीर और व्यापक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि आध्यात्मिक प्रेम की झाँकिया प्रस्तुत कर रहा हो। रत्नसेन की पद्मावती

तक पहुँचने की प्रेम साधना आत्मा और ईश्वर के मिलन की स्थिति को प्राप्त करने का प्रेमपथ है। सच्चे साधक की भांति प्रेम के नशे मे चूर रत्नसेन इस साधना की अनन्य कठिनाइयो को पार करता है। सद्गुरु सूआ उनका उचित पथ-प्रदर्शन करता है। नागमती संसार जाल है जो साधक के प्रेम मार्ग में बाधक है। पद्मिनी ईश्वर से मिलाने वाली ज्ञान या बुद्धि है अथवा स्वय ही चैतन्य स्वरूप परमात्मा है। राघवचेतन शैतान और अलाउद्दीन माया के रूप में साधक तथा प्रियतमा के मिलन मे बाधाए उपस्थित करते हैं। इस प्रकार जायसी ने अपने काव्य को अन्त मे अन्योक्ति का रूप दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाचा सोई न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत, सोई सैतानू।
माया अलादीन सुलतानू ॥

इस सकेत कोष को देने के साथ-साथ कवि यह भी दावा करता है कि पद्मावत के अर्थ बड़े-बडे पडितो की बुद्धि के परे है—

मै एहि अरथ पंडितन्ह बूझा,
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥

अखरावट में भी कवि एक स्थान पर लिखता है—

कहै प्रेम कै बरनि कहानी।
जो बूझै सो सिद्ध गियानी ॥

कवि की ये उक्तियाँ इस बात की प्रतीक हैं कि पद्मावत काव्य अन्योक्ति है और उसमे आध्यात्मिक रूपक का निर्वाह है। परन्तु इस रूपक का निर्वाह जायसी पूर्णरूप से कर सके है यह सदेहास्पद है। रत्नसेन और सिंहल

दोनो ही मन के प्रतीक क्यो हैं, समझ मे नही आता। इसी प्रकार मन रूपी रत्नसेन का ज्ञान रूपी पद्मावती से मिलन हो जाने पर शैतान और माया रूपी राघवचेतन अलाउद्दीन उन दोनो का विच्छेद क्यो कराते है ? यदि शैतान का कार्य साधक के प्रेम पथ मे बाधा पहुँचाना ही था तो राघवचेतन और अलाउद्दीन की कथा को पूर्वार्ध मे विवाह से पहले ही आना चाहिए था। आत्मा और परमात्मा के मिलन के पश्चात शैतान कैसा ? यदि नागमती सासारिक मोह माया की प्रतीक है तथा पद्मावती बुद्धि की तो राजा रूपी मन उन दोनो से समान व्यवहार क्यो करता है ? इस प्रकार इस सकेत कोष को देखकर अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क मे अपना घर बनाते हैं, जिनका समाधान कवि नही कर पाता। अपने काव्य को आध्यात्मिक रूप देने मे वह सर्वथा असफल रहा है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि पद्मावत के आध्यात्मिक सकेत की रूपरेखा कवि ने काव्य रचना के उपरान्त प्रस्तुत की हैं। काव्य रचना करते समय उसके मस्तिष्क मे ऐसी कोई धारणा नही थी। यही कारण है कि इस आध्यात्मिक रूपक का निर्वाह काव्य मे नही हो पाता।

इस प्रकार पद्मावती का सकेत कोष सर्वथा निरर्थक है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जायसी के मूलग्रथ का अश नहीं है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियो से यह बात सिद्ध हो चुकी है। जायसी का पद्मावत अन्योक्ति न होकर वास्तव मे समासोक्ति है। सत्य तो यह है कि जायसी ने मसनवी शैली का आधार लेकर अपने काव्य मे प्रत्येक छोटी से छोटी बात का इतना विस्तार से वर्णन किया है कि विषय के विश्लेषण मे सारी आध्यात्मिकता खोगई है। कथा इतनी व्यापक है कि उसमे आध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित हो ही नही सकता। फलतः जायसी के काव्य मे कुछ ही स्थल अध्यात्मभाव के प्रतीक हैं। बीच बीच मे कही-कही कवि ने ऐसे विशेषणो का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत के साथ-साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त मे अनायास ही उद्भासित हो सके। यही 'समासोक्ति' पद्धति है और जायसी ने इसी पद्धति का प्रयोग पद्मावत मे किया है। पद्मावत मे अनेक ऐसे स्थल हैं। सिहलगढ वर्णन के प्रसग मे, रत्नसेन की सिघल यात्रा मे, रत्नसेन और पद्मावती भेट मे, सिहलद्वीप पहुंचने पर रत्नसेन के मूर्च्छित होने में, सात

समुद्र खड मे राजा और सुवा के सवाद में समासोक्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होती हैं। समासोक्तियों के ये सभी प्रसग पूर्वार्द्ध में हैं। पूर्वार्द्ध मे भी इनका सबध ग्यारहवे खड से ही अधिक है। उत्तरार्द्ध मे तो कही भी आध्यात्मिक भावो की व्यजना नही हुई। "इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने इस कथा का प्रारम्भ तो एक रहस्यवादी अन्योक्ति या समासोक्ति की भावना से किया था परन्तु कवि उसका निर्वाह नही कर सका। धीरे धीरे वह अन्योक्ति की भावना उसकी मुट्ठी से छूटने लगी और उत्तरार्द्ध मे बिल्कुल निकल गई है" (डा० कमल कुलश्रेष्ठ)।

जायसी का रहस्यवाद

ऊपर की पक्तियो से स्पष्ट है कि पद्मावत मे वर्णित अनेक प्रसग लौकिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर सकेत करते हैं। जायसी का रहस्यवाद इन्ही स्थलो पर मुखरित हुआ है। पद्मावत का प्रेम खण्ड रहस्यवाद का सर्व श्रेष्ठ अश है। नख-शिख वर्णन तथा अन्य कुछ वर्णन भी रहस्यवाद की प्रवृत्ति लिए हुये हैं। परन्तु अन्य स्थलो पर रहस्यवाद ढूँढना सर्वथा बुद्धि-विलास है। रहस्यवाद वस्तुतः अन्तरात्मा की उस रहस्यमय भावना का नाम है जब जीवात्मा बाह्य वस्तुओ से सम्बन्ध तोड़कर एक ऐसे भावना लोक मे पहुँच जाता है, जहाँ उसे अपने और परमात्मा के बीच एकरूपता अनुभव होने लगती है, और इस दिव्य एकीकरण मे जीवात्मा को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। रहस्यवाद के रूप मे इसी अलौकिक आनन्द की अनुभूति के उत्कृष्ट चित्रण जायसी के पद्मावत मे देखे जा सकते हैं।

हीरामन तोते के मुँह से पद्मावती का नखसिख वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो जाता है। इस बेसुध अवस्था मे उसे परम ज्योति के मिलन की आनन्द-मयी अनुभूति होती है, जिसके भग होने पर उसकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे कोई बावला जाग्रत अवस्था को प्राप्त होगया हो। जिस प्रकार एक बालक जन्म लेते ही रोने लगता है उसी प्रकार रत्नसेन भी यह कहता हुआ कि 'हाय मैंने ज्ञान खो दिया, हाय मै तो अमरपुर को प्राप्त हो गया था, मै यहाँ मृत्युलोक में फिर कैसे आगया, रोने लगा—

जब भा चेत उठा वैरागा। बउर जनौ सोई उठि जागा।
आवत जग बालक जस रोआ। उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ॥
हौंतौ अहा अमरपुर जहाँ। इहां मरनपुर आएहुँ कहाँ॥

रहस्यवादी अनुभूति का यह चरम रूप है। इसके बाद तो हीरामन तोता द्वारा प्रेम के मार्ग की कठिन अवस्थाओ के चित्रण करने पर भी एक रहस्य-वादी साधक की भाँति राजा का हृदय प्रेम की तीव्रता से भर जाता है। उसके नेत्रो से आँसू मूँगे और मोती के समान गिरते हे। उसके मुख से शब्द नहीं निकलते। जिस प्रकार गूंगा गुड़ खाने के पश्चात् उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता उसी प्रकार राजा के प्रेम-पथ का वर्णन नही हो सकता था। उसके हृदय में ज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश हो गया जिससे उसे वह द्वीप (सिहल) दिखाई देने लगा। बाह्य दीपक उसके लिये अधकार रूप बन गया। उसकी दृष्टि माया से रूठ गई और माया को झूठी समझ कर फिर इसकी ओर न लौटी :—

सुनि सो बात राजा मन जागा, पलक न मार प्रेम चित लागा।
नैनन ढरहिं मोति औ मूंगा। जस गुरु खाइ रहा हो गूंगा॥
हिय के जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधियारा बूझा॥
उलटि दीठि माया सो रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥

प्रकृति के बीच ईश्वरीय सत्ता के रहस्यमय आभास के बड़े मर्मस्पर्शी दृश्य चित्र जायसी ने दिए हैं :—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥

नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

ईश्वर के कल्पनातीत चरम सौन्दर्य की झलक सृष्टि के सभी पदार्थों को मिली हुई है। सभी उस अनन्त सत्ता का सानिध्य पाने के लिये विरह से अत्यन्त व्याकुल हैं :—

चाँद सुरज और नखत तराई। तेहि उर अंतरिख फिरहि सवाई ॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चाहा। मारा तैस लोटि भुइं रहा ॥
अगिनि उठी, जर बुझी बिआना। धुआँ उठा उठि बीज बिलाना ॥
पानि उठा उठि जाय न छूआ। बहुए रोई आइ भुंइ चूआ ॥

इस प्रकार जायसी के पद्मावत मे रहस्यवाद के बडे सफल और मार्मिक चित्र हमें मिलते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य है। डा० कुलश्रेष्ठ के शब्दो मे "जिस प्रकार सागर की कुछ लहरें सागर का प्रतिनिधित्व नही कर सकतीं उसी प्रकार जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य नही कहा जा सकता। हम उसे सरलता से लौकिक प्रेम-गाथा का रूप दे सकते हैं।

पद्मावत मे लौकिक प्रेम का चित्रण होते हुए भी उसका महत्व कम नहीं किया जा सकता। समस्त काव्य प्रेम की तीव्र व्यजना और उसके मर्म स्पर्शी चित्रो से भरा हुआ है। कवि ने अपनी कविता को रक्त की लेई लगा कर जोड़ा है और गाढ़ी प्रीति को आँसुओ से भिगो-भिगो कर गीला किया है। जो कोई भी इसे सुनता है वह प्रेम की वेदना से भर उठता है :—

जायसी की प्रेम पद्धति

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा ॥
जोरी लाई रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई ॥

कवि के आँसुओ से भीगी हुई यह प्रेम कथा कितनी महान होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। जायसी ने प्रेम की पीर से भरे हुए हृदय की भावनाओ को प्रेम साधना की रूपरेखा को, प्रेम की महानता को अपने हृदय का जो स्वर दिया है, वह इतना तीव्र और सशक्त है कि बरबस पाठक के हृदय को छूता है। पद्मावत तो उस आदर्श प्रेमी की कहानी है जो अपने प्रेम के लिए कुटुम्ब, परिवार, राजसी, वैभव, घर द्वार, पत्नी, सुख, आहार, निद्रा, सब को तिलाजलि दे योगी बन जाये। मार्ग की विषम आपदाओ को सहर्ष सहन करते हुए सात समुद्र पार अपने प्रियतम के देश जा पहुँचे और सूली पर चढ़ने की स्थिति मे भी प्रेम के खातिर झूठ न बोल सके।

ऐसा प्रेम लौकिक हो अथवा अलौकिक अपने मे आदर्श और महान है। यह सत्य है कि जायसी के प्रेम का यह आदर्श अरबी फारसी की प्रेम कहानियो के लैला मजनू, शीरी फरिहाद आदि के प्रेमादर्श से मिलता जुलता है। भारतीय प्रेम पद्धति मे जहाँ नायिका के प्रेम की तीव्रता व्यजित की जाती हैं, फारसी की प्रेम पद्धति मे नायक के प्रेम की तीव्रता का प्रकाशन किया जाता है। जायसी की प्रेम पद्धति मे हम दोनो का समन्वय पाते है। जायसी की नायिका पद्मावती के प्रेम मे भी उतनी ही तीव्रता है जितनी नायक रत्नसेन के के प्रेम मे। इसी प्रकार फारसी की प्रेम कहानियो मे जिस प्रेम के आदर्श का चित्रण किया है वह सर्वथा एकातिक, लोक व्यवहार से परे और आदर्शात्मक होता है। इस प्रेम का ससार ही दूसरा होता है जिसमे नायक नायिका की दशा प्रेम के नशे मे चूर दीवानो की भाँति होती है। जिन्हे प्रेम के अतिरिक्त ससार की अन्य किसी बात मे कोई मतलब ही नही रहता। परन्तु भारतीय प्रेम पद्धति लोक जीवन के बीच फलती फूलती है। वह इस लोक से सबधित और व्यावहारिक होती है। जायसी की प्रेम साधना मे हमे दोनो ही प्रेम पद्धतियो का रूप मिलता है। फारसी की मसनवियो के आदर्शो को ग्रहण करते हुए भी जायसी का प्रेम लोक-व्यवहार से शून्य नही है। जायसी के काव्य मे प्रेम के लौकिक पक्ष का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। राजा रत्नसेन योगी बनकर सिहलद्वीप के लिए जब प्रस्थान करता है तब माता और पत्नी रो-रो कर उसे रोकती हैं। सिहलद्वीप से बिदा होती हुई पद्मावती को अपनी सखियो और माता पिता से विलग होने का स्वाभाविक दुख भी है। यही नही पद्मावती को हम सपत्नी नागमती से झगड़ते हुये तथा प्रिय की मगल कामना हेतु लोक व्यवहार करते हुये भी पाते हैं। इस प्रकार जायसी की प्रेम गाथा पारवारिक और सामाजिक जीवन से अभिन्न है। उसमे भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनो शैलियो का अपूर्व मेल है।

मुसलमान होते हुए भी जायसी ने नागमती के दाम्पत्य प्रेम की जो व्यंजना की है वह अपूर्व और श्लाघनीय है। नागमती के चरित्र मे हमे एक पति परायण आदर्श हिन्दू गृहणी का निर्मल चित्र देखने को मिलता है।

पद्मावत हिन्दी का महाकाव्य है, इसमे सदेह नही। सस्कृत के लक्षण

पद्मावत का महाकाव्यत्व

ग्रन्थो मे प्रतिपादित महाकाव्य के जितने भी लक्षण होते है उन सबका पूर्ण समावेश पद्मावत मे हुआ है। कथा का नायक रत्नसेन इतिहास प्रसिद्ध चित्तौड़ के राजकुल से सम्बन्धित है। उसमे धीरोदात्त नायक के समस्त गुण विद्यमान है। पद्मावत का कथानक भी अर्द्ध ऐतिहासिक और अर्द्ध लोक प्रचलित है। इसमे नाटक की पॉचो सधियॉ मिलती है। पूरी कथा ५८ सर्ग जिसे खड कहा गया है बॅटी हुई है। एकाध खण्ड को छोड़कर न तो कोई खण्ड बड़ा है और न कोई खण्ड छोटा है। कथा मे स्वाभाविक प्रवाह बना हुआ है। शृंगार रस इस महाकाव्य का प्रधान रस है और इसके साथ साथ अन्य रसो का भी सफल निर्वाह हुआ है। काव्य मे कहीं तो खलो की निन्दा है और कही पर सज्जनो की प्रशंसा है। इसमे युद्ध प्रकृति, नगर स्वर्ग आदि के वर्णन हैं। परतु बाह्य लक्षणो की दृष्टि से पूर्ण होते हुये भी किसी काव्य ग्रन्थ को महाकाव्य की सज्ञा नहीं दी जा सकती। महाकाव्य का अर्थ है महान काव्यत्व जिसमे कल्पना और आन्तरिक तथा बाह्य अनुभूतियो और विचारो के उत्कृष्ट प्रकाशन द्वारा विराट भाव सौंदर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति हो। महाकाव्य का यह सौन्दर्य पद्मावत मे अपने पूर्ण रूप मे विद्यमान है। इस कथन की सत्यता जायसी की काव्य कला पर दृष्टि डालने से पूर्णतः प्रगट हो जाती है।

भाव व्यंजना

रस काव्य की आत्मा है और जायसी ने रसराज शृंगार को अपनाकर अपने काव्य की रस रूप आत्मा को जो चरम रूप प्रदान किया है वह कवि की महान काव्य प्रतिभा का स्पष्ट द्योतक है। कवि ने शृंगार के दोनो पक्षो संयोग और वियोग की विशद और व्यापक प्रतिष्ठा अपने काव्य मे की है। प्रेम, करुणा, त्याग की आदर्श नारी-मूर्त्ति नागमती के माध्यम से जायसी ने जिस निरीह, निष्कपट, निरावरण और विशुद्ध विरह की मार्मिक अभिव्यजना की है वह अद्वितीय है। विरह जनित प्रेम मे जो तीव्रता होती है, जो तूफान आता है, उसके अत्यन्त सजीव और मर्म स्पर्शी चित्र जायसी ने हमे दिये हैं। विरह की इस तीव्र व्यजना मे जायसी की कविता चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। ऐसा लगता है जैसे कवि ने नागमती के विरह को अपने हृदय के ऑसुओ से

लिखा हो। प्रेम की पीर से व्याकुल कवि की अन्तरात्मा का रुदन उसमें फूट पड़ा हो। यही कारण है कि जायसी की विरह व्यजना मे इतनी तीव्रता, इतनी मार्मिकता और तन्मयता है कि पाठक का हृदय विरह के प्रवाह मे अपने को भुला देता है। पाठक ही क्यों विरह की पीड़ा से समस्त भूमण्डल सतप्त है। समस्त प्रकृति पेड, पौधे और पशु पक्षी विरहणी के स्वर मे अपने स्वर मिला देते हैं। नागमती के विरह की तीव्र वेदना से सबके हृदय द्रवीभूत बन रो उठते है।

नागमती राजा रत्नसेन की पट रानी है। सुख साधना ऐश्वर्य और भोग विलास की उसे कमी नही है। पर नागमती इन सबसे ऊपर एक पतिपरायण आदर्श हिन्दू नारी है। पति के उत्कट प्रेम से उसका हृदय भरा हुआ है। एक दिन एक तोते के मुह से किसी स्त्री का सौन्दर्य सुनकर उसका पति राज पाट सब त्याग, योगी बनकर घर से निकल जाता है। इधर पति के वियोग मे विरहिणी नागमती अहर्निशि तिल तिल करके जलती हैं। प्रकृति का उद्दीपन उसके लिये असह्य है। बर्ष के बारह मास आते हैं और उसकी विरह की ज्वाला को उद्दीप्त बनाते हें। अषाढ़ मास के गरजते हुये बादल ऐसे है मानों विरह की सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया हो।S सावन मे पानी बरस रहा है पर विरहिणी नागमती मुरझा रही है× नेत्रो से रक्त की अश्रुधार बह रही है ऐसा प्रतीत होता है मानो वीर बहूटिया चल रही हो×× भादो की काली राते काटे नहीं कटतीSS और शय्या नागिन के समान डसती है।* क्वार मे विरहणी का शरीर क्षीण हो गया है। कार्त्तिक की शीतल चाँदनी धरती

S चढ़ा अषाढ गगन घन गाजा।

× सावन बरस मेह अति पानी, भरनि परी हो विरह झुरानी।

×× रकत के आँसू चलहि भुइ टूटी। रेगि चली जस वीर बहूटी।

SS भर भादो दूभर अति भारी। कैसे भरो रैन अँधियारी।

* सेज नागिन फिर फिर डसा।

आकाश को जलाये दे रही है।** कार्त्तिक की लम्बी रातों मे वह विरहणी दीपक की बाती के समान जलती हैं। × × ×

पौष मास मे नागमती की दशा बडो दारुण होगई हे। उसका समस्त रक्त गल गया है, हाड सख से समान पोले पड़ गए हैं। वियुक्त सारस के समान नागमती रट कर मर गई। अब प्रिय आकर पख समेट सकता है।+ माघ मास ने विरह को और भी तीव्र बना दिया है। नेत्रों से आँसू ओले के समान गिर रहे हैं। विरह पवन बदन को सुन्न कर रहा है × फागुन मास मे शरीर पीले पत्ते की भाति हो गया है और विरह उसे झकझोर रहा हैऽ बसन्त में कोयल का पञ्चम स्वर हृदय को वियोग मे व्यथित कर रहा है। रक्त के आसुओं से सारा हृदय भीग गया है। नये पत्तो मे ललाई मानो उसी रक्त मे भीगने के कारण है। मजीठ और टेसू की लालिमा उसी के कारण है* बैसाख मास की विरहाग्नि से नागमती भाड़ की तरह जल रही हे। जिस प्रकार अनाज का दाना भाड़ की बालू मे भुन कर ऊपर उछलता है और फिर उसी मे गिर पड़ता है उसी प्रकार वह भी विरहाग्नि से अलग नहीं हो पाती।++ नागमती के शरीर रूपी मान सरोवर मे जो हृदय रूपी कमल है वह स्वामी रूपी जल के बिना सूख गया है। स्वामी के दर्शन रूपी जल ते सिंचित होने पर ही वह हरा भरा हो सकता है।* जेठ मास की अग्नि ने उसकी विरहाग्नि को इतना

** चौदह करा चाँद पर गासा। जनहुँ जरे सब धरति अकासा।

××× जरो विरह जस दीपक बाती।

+ रक्त ढुरा मासू गिरा हाड भए सब सख।

घनि सारस होइ रटि मुई पीउ समेटहि पख।

× टप टप बूँद परहि जस ओला। बिरह पवन होइ मारे झोला।

ऽ तन जस पिंजर पात भा मोरा। तेइ पा विरह देइ झकझोरा॥

* पञ्चम विरह पञ्चसर मारै। रकत रोइ सगरो वन ढारै।

बूड़ि उठे सब तरुवर पाता। भीग मजीठ टेसु बन राता।

++ लागिऊँ जरै जरै जस भारू। फिर फिर भू जेसि तजिऊँ न बारू॥

* कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जलु गएउ सुखाय।

अबहुँ वेलि फिर पलु हैं जो पिउ सींचे आइ॥

तीव्र बना दिया है कि उसकी जलन को पहाड़, समुद्र, चन्द्रमा, बादल और सूर्य भी सहने मे असमर्थ हैं। नागमती जैसी सती स्त्री ही धन्य है जो अपने स्वामी के हेतु उसे सह रही है।+

इस प्रकार नागमती को अपने स्वामी के विरह मे तडपते हुए पूरा एक वर्ष हो गया। परन्तु उसके स्वामी फिर भी नही आये। उसकी एक साँस सहस्रो दुखो मे भरी हुई है। तिल भर समय एक वर्ष के समान प्रतीत होता है। सुबह से शाम तक नागमती स्वामी का मार्ग देखते देखते सूखी जा रही है। स्वामी के विरह से उसका रग कोयले के समान काला पड गया है। सारा शरीर सूख गया है। शरीर मे तोले भर भी माँस और खून नही रहा है। सारा रक्त नेत्रो के रास्ते से आँसू होकर बह गया है।

> रोइ गँवाए बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा॥
> तिल तिल बरख बरख परिजाई। पहर पहर जुग जुग न सेराई
> सो नहि आवै रूप मुरारी। जासो पाव सोहाग सुनारी॥
> साँझ भए झुरि झुरि पथ हेरा। कौनि सी घरी करै पिउ फेरा।
> दहि कोयला भइ कन्त सनेहा। तोला माँसु रहि नहि देहा॥
> रकत न रहा विरहतन गरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा॥

विरह की तीव्र ज्वाला से दग्ध नागमती बन मे कोयल के समान चीख चीख कर रोने लगी। उसके रक्त के आँसू बन मे घुँघची के समान फैल गए। रोते रोते मुख काला पड़ गया और नेत्र लाल पड़ गए। उस विरहाग्नि को स्वामी के बिना कौन शान्त कर सकता है। नागमती बन मे जहा जहाँ खड़ी होती है वही उसके रक्त के आँसुओ का ढेर लग जाता है और वह गुंजा के ढेर के समान मालूम होता है। उसके दुख से दुखित होकर पलास भी पत्ते रहित हो गए और रक्त मे डूबकर लाल बन कर निकले। उसी के दुख से बिबाफल भी लाल हो गया। परवर पक गया और गेहूँ का हृदय फट गया।

+ गिरि समुद्र ससि मेघ रवि, सहि न सके वहि आगि
मुहम्मद सती सराहिए जरै जो अस पिउ लागि।

कुहुकि कुहुकि जस कोयल रोई । रकत आँसु घुंघची बन बोई ।।
भइ कर मुखी नैन तन राती । को सेराव ? विरहा दुख ताती ।।
जहँ-जहँ ठाढ़ि होई बनबासी । तहँ तहँ होइ घुंघचि कै रासी ।।
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ । गुंजा गूंजि करै 'पिऊ पिऊ' ।।
तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ।।
राते बिब भीजि तेहि लोहू । परवर, पाक फाटि हिय गेहू ।।

विरह की पीड़ा से दग्ध नागमती का कितना निरीह और करुण चित्र है जैसे इस चित्र मे वियोग की समस्त वेदना, करुणा और दारुण व्यथा मूर्त्तिमान बन गई हो । नागमती का शरीर स्वयं अब विरह की अग्निशिखा बन गया है, इसीलिए नागमती जिस पक्षी के पास अपनी विरह को बात कहती है वही पक्षी जल जाता है और वृक्ष पत्तो से हीन बन जाते हैं—

जेहि पंखी के निअर होइ कहै विरह कै बात ।
सोइ पंखी जाइ जरि, तरवरि होइ निपात ।।

इस प्रकार रत्नसेन की रानी नागमती राजमहल के सुख त्याग बन-बन फिर कर पक्षियो से अपनी विरह व्यथा सुनाती फिरती है और अपना सदेशा पिउ के पास भिजवाने की प्रार्थना करती है :—

पिउ सो कह संदेसड़ा हे भोरा हे काग ।
सो धनि विरहे जरि मुई तेहिक धुंवा हम्ह लाग ।।

नागमती का यह विरह किसी भोग और ऐन्द्रिय सुख की इच्छा से नहीं बरन् वह तो इतना चाहती हैं :—

यह तन जारो छार कै, कहौ कि पवन उड़ाय ।'
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ।।

प्रेम का कितना व्यापक और उज्ज्वल रूप हैं, महान त्याग की निर्धूम ज्वाला से संजोया हुआ । जायसी के विरह वर्णन मे ऐसे ही प्रेम की पीर से भरे हुए आदर्श हिन्दू नारी के करुण हृदय की विकल पुकार है । उसकी इस करुण पुकार से मानव हृदय ही नहीं रात्रि को नींद मे विश्राम पाता हुआ पक्षीगण भी सहानुभूति से भर उठता है :—

फिरि फिरि रोव, कोइ नहि डोला। आधीरात विहंगम बोला ॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पॉखी। केहि दुख रैन न लावसि ऑखी ॥

नागमती ने पद्मावती से कहने के लिये जो सदेशा भेजा है. वह कितना मर्मस्पर्शी, मान गर्व से रहित, सुख भोग की लालसा से अलग और विशुद्ध प्रेम का प्रतीक है :—

पद्मावति सो कहेहु विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।
तोहि चैन सुख मिले सरीरा। मो कहँ हिए दुंद दुख पूरा ॥
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आयुहि पाइ, जानु पर जीऊ ॥
मोहि भोगसौ काज न बारी। सौह दिस्टि के चाहन हारी ॥

शुक्लजी के शब्दो मे नागमती के इस विरह वर्णन मे जायसी ने यद्यपि कही-कही ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, फिर भी उसमे गॉभीर्य बना हुआ है। विहारी की विरह व्यजना की भॉति उसमे उछल-कूद और मजाक नही है। जायसी की अत्युक्तियॉ बात की करामात नही जान पड़ती, हृदय की, अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द सकेत प्रतीत होती है। फारसी की काव्य शैली से प्रभावित होने के कारण जायसी का विरह वर्णन कही कही वीभत्स भी हो उठा है, परन्तु जहॉ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहॉ कोई अरुचिकारी वीभत्स दृश्य नही आने पाया।

अपने अन्तर्चक्षुओ से घायल नागमती की विरह वेदना को देखने वाले जायसी ने सयोग श्रृङ्गार के भी उल्लास भरे सजीव चित्र हमे दिये हैं। नागमती के विरह वर्णन मे जिस प्रकार बारहमासा की सृष्टि कवि ने विप्रलभ के उद्दीपन की दृष्टि से की है, उसी प्रकार सयोग श्रृङ्गार के उद्दीपन भाव के लिये कवि ने षट ऋतु वर्णन किया है। पावस की ऋतु, नागमती को तो विरह की अग्नि से जलाती है पर पद्मावती को वही ऋतु बड़ी आकर्षक और मधुर प्रतीत होती हैं। पद्मावती को मन चाही वस्तु प्राप्त होगई है। आकाश सुहावना है और पृथ्वी शोभायमान है। कोकिल बोल रही है। बगुलो की पक्ति उड़ रही हैं। स्त्रियॉ मानो बीर बहूटियो के रूप मे निकल रही हैं। बिजली चमक रही है जिसकी दीप्ति मे जल की बूदे सोने की बूदो के समान प्रतीत होती हैं।

दादुर और मयूर के सुन्दर शब्द सुनाई दे रहे हैं। प्रेम मे अनुरक्त पद्मावती प्रियतम के साथ जग रही है। बादलो की गर्जना सुनाई पड़ने पर चौककर वह प्रिय के गले से चिपट गई।

पद्मावति चाहत ऋतु आई। गगन सोहावन भूमि सोहाई।
चमके बीजु बरसे जल सोना दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती पीतम संग जानी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥

विवाह के उपरात रत्नसेन और पद्मावती की सुहाग रात का बड़ा विशद चित्रण कवि ने किया है। ऐसे अवसर पर उपयुक्त कुछ हास परिहास का विधान भी कवि ने किया है। यद्यपि प्रथम समागम की रसधारा के बीच 'पारे गधक, और हरताल' का रासायनिक प्रलाप असगत प्रतीत होता है। फिर भी अभिसार के विविध मादक चित्र जायसी ने कुशलता से उतारे है। शारीरिक भोग विलास के वर्णन मे यद्यपि कुछ पक्तियाँ अश्लील होगई हैं फिर भी जायसी ने सर्वत्र प्रेम का भावात्मक रूप ही सामने रखा है। "इतना होते हुए भी सयोग श्रृगार के काल्पनिक चित्र इतने स्वाभाविक एव मार्मिक नही है कि पाठक को सयोग श्रृङ्गार के मधुर बातावरण में एकदम डुबो सके"। (डा० कमल कुलश्रेष्ठ)

श्रृङ्गार रस के साथ-साथ जायसी ने अपने प्रबन्ध काव्य मे करुणा, शान्त, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स और वीर रस के विविध प्रसगो को लेकर बड़े मर्मस्पर्शी भाव चित्र खींचे है। रत्नसेन के सिघलगमन तथा रत्नसेन की मृत्यु पर करुण रस का बड़ा सफल उद्रेक हुआ है। रत्नसेन के योगी होकर घर से निकलने पर रानियाँ जो विलाप करती हैं उसमे करुण रस की सरस अभिव्यक्ति है। रौद्र रस का प्रसग वहाँ दृष्टिगत होता है जहाँ रत्नसेन को अलाउद्दीन की चिट्ठी मिलती है परन्तु यहाँ रौद्र रस का विस्तृत सचार नही है। युद्ध वर्णन में डाकनियो के वीभत्स दृश्यो द्वारा वीभत्स रस का सफल उद्रेक हुआ है। जायसी का वात्सल्य वर्णन शिथिल सा है और उसमे पुत्र के मातृ-हृदय की वात्सल्य रस से भीगी जैसी भावनाएं होनी चाहिये वे नही

हैं। 'पद्मावत' के प्रमुख पात्रो का क्षत्रिय होने के कारण काव्य मे वीर रस की भी उत्कृष्ट व्यजना हुई है। गोरा-बादल के युद्धोत्साह मे वीर रस जैसे साकार हो उठा है।

जायसी की इस भाव व्यजना के सम्बन्ध मे हमे एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि उन्होने विभाव, अनुभाव और सचारी भावो की व्यर्थ ठूस-ठॉस नहीं की है। भावो का उत्कर्ष जितने हाव और अनुभावो की योजना से हो गया है, उतने से ही उन्होने अपना प्रयोजन रखा है। फिर भी जायसी का भावोत्कर्ष बहुत बढ़ा-चढा है। सयोग के विप्रलम्भ पक्ष की व्यजना मे तो यह भावोत्कर्ष अपने चरम रूप को प्राप्त हुआ है।

कवि ने अपने काव्य को अधिक से अधिक रसात्मक बनाने के लिये वस्तु-वर्णन की यथेष्ठ सामगी पाठको को दी है। क्योकि बिना इतिवृत्त के जिस प्रकार कौतूहल की सृष्टि नही हो सकती उसी प्रकार बिना वर्णन विस्तार के रसात्मकता भी नहीं आ सकती। वस्तु वर्णन मे जायसी की वृत्ति भी खूब रमी है। इसका एक कारण तो यह है कि जायसी को मसनवी की वर्णनात्मकता बड़ी प्रिय थी, दूसरे जायसी का कथानक पात्र प्रधान न होकर घटना प्रधान है, तथा घटना प्रधान काव्य मे वर्णनात्मकता का बहुत बड़ा स्थान रहता है। यही कारण है कि जायसी ने जिस चीज को हाथ मे लिया है उसी का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। छोटी छोटी बातो को भी अपने विशद् चित्रण मे उन्होने बड़ा तूल दिया है। सिहल द्वीप मे फूलो-फलो और घोड़ो के नाम, भोजन मे पकवानो की लम्बी सूची, रत्नसेन का हठयोग और रसायन सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन सर्वथा अनावश्यक और असम्बद्ध प्रसंग है और इनसे कथा के प्रवाँह मे बाधा पहुँची है।

प्रबन्ध काव्य मे चरित्र-चित्रण का भी प्रमुख स्थान होता है। जायसी ने अपने प्रबन्ध काव्य मे चरित्र चित्रण की ओर विशेष ध्यान नही दिया। राम-

चरित्र-चित्रण

चरितमानस मे पात्रो की जैसी व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, वैसी विशेषताएँ जायसी के पात्रो द्वारा प्रकट नही होती। पद्मावती, रत्नसेन, नागमती पद्मावत के तीनो प्रमुख पात्र अपनी किसी व्यक्तिगत विशेषता का परिचय नही देते। उन्हें हम केवल

आदर्श प्रेमी और पति-पत्नी के रूप मे पाते हैं। इसी प्रकार तुलसीदास जी ने जहाँ अपने पात्रो मे सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा की है जायसी का चरित्र चित्रण एक देशीय है। रत्नसेन आदर्श प्रेमी है, पद्मावती आदर्श प्रेमिका, नागमती पति परायण नारी और गोरा-बादल आदर्श वीरता के प्रतीक हैं। परन्तु शक्ति, वीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इन सब गुणो से युक्त सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श पात्र जायसी ने हमारे सामने नही रखा। इतना होते हुए भी जायसी ने अपने पात्रो के चरित्र चित्रण मे कही-कही अच्छी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। उनके पात्र हिन्दू जीवन के आदर्शों से पूर्ण सामजस्य रखते हैं। उनमे से कुछ सात्विक वृत्ति वाले है और कुछ तमोगुणी है। दोनो मे सघर्ष होता है और अन्त मे पाप पर पुण्य की विजय होती है। रत्नसेन आदर्श प्रेमी है और सम्पूर्ण रूप से धीरोदात्त दक्षिण नायक हैं। पद्मावती आदर्श प्रेमिका और स्त्री मर्यादा मे दृढ़ है। नागमती उत्कृष्ट नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती है। गोरा-बादल आदर्श वीरता के प्रतिमूर्ति हैं। इसके विपरीत अलाउद्दीन कामी, अभिमानी, और लोभी है। राघवचेतन बाममार्गी, अहकारी, कृतघ्न और निर्लज्ज है।

भावपक्ष की भाँति जायसी के काव्य का कलात्मक सौन्दर्य भी बड़ा उत्कृष्ट है। जहाँ तक अलकारो का प्रश्न है जायसी ने सादृश्य मूलक अलकारो से अपने काव्य को खूब सजाया है। सादृश्य मूलक अलकारो मे उन्हे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा विशेष प्रिय हैं। इनमे भी हेतूत्प्रेक्षा का उन्होने विषद प्रयोग किया है। अनेक स्थानो पर रूपकातिशयोक्ति अलकार की रमणीय छटा देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त व्यतिरेक, श्लेष, अनुप्रास, तद्गुण, निदर्शना, संदेह, विभावना, परिकुराकर आदि अलकारो का भी सफल प्रयोग काव्य मे मिलता है। जायसी का यह अलकार विधान अधिकतर परम्परागत है और उसमे भी कवि समय सिद्ध उपमान ही अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि जायसी के वर्णन परपरागत हैं। इतना होते हुए भी भावो मे अनुकूल ही अलकारो का प्रयोग हुआ है। अपने पाडित्य प्रदर्शन के लिये जायसी ने अलकारो की व्यर्थ ठूँस-ठाँस

अलंकार

नही की है वरन् उनका प्रयोग रसोत्कर्ष और काव्य सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक ही बना है।

अपनी तीनो कला कृतियो मे जायसी ने दोहा और चौपाई, छन्दो को अपनाया है। यद्यपि दोहा और चौपाई छन्द जायसी से पूर्व सूफी कविकुल द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे परन्तु प्रेमाख्यानो मे इन छन्दो का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग जायसी ने ही किया है। अवधी भाषा में जायसी के हाथो इन छन्दो का प्रयोग इतना सफल रहा कि तुलसी की अमर कृति रामचरितमानस दोहा, चौपाई छन्दो मे ही रची गई।

छन्द

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है जायसी ने ठेठ अवधी के पूर्वी पन को अपने काव्य मे स्थान दिया है। यद्यपि तुलसी की तुलना मे जायसी की भाषा अपेक्षाकृत असस्कृत है और उसमे उतना साहित्यक सौन्दर्य नहीं है, परन्तु उसकी स्वाभाविकता, सरसता और मधुरता बढ़ी चढ़ी है। इसका कारण यह है कि जायसी की अवधी पर खड़ी बोली, ब्रज भाषा, सस्कृत और अरबी फारसी आदि भाषाओ का प्रभाव नही है। जायसी ने अवधी के खालिस रूप को अपनाया है। इसीलिये अवधी की निजी मिठास जायसी के काव्य मे दृष्टिनीय है। स्वाभाविक बोल चाल के शब्दो से वह पूर्ण हैं। लोकोक्तियो और मुहावरो के सफल प्रयोग ने भाषा की सौन्दर्य अभिवृद्धि में अनन्य सहायता दी है। जायसी की भाषा का कोई भी वाक्य असयत और शिथिल नहीं है। समस्त पदो का व्यवहार भी उन्होने बहुत कम किया है। प्रसाद और माधुर्य गुण उसमे कूट कूट कर भरा है। उनकी भाषा मे यद्यपि कही कही न्यूनपदत्व दोष देखने को मिलता है, वाक्यो मे विभक्तियो, सम्बन्ध वाचक सर्वनामो और अव्ययो का लोप खटकता है, दिनअर, ससहर, भुवाल, विसहर, आदि प्राकृत सज्ञाओ के प्रयोग ने भाषा को अव्यवस्थित बना दिया है, तथापि जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

भाषा

अन्त मे बिना किसी सकोच के यह कहा जा सकता है। कि भारतीय साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे जायसी का विशिष्ट और महत्व पूर्ण स्थान

है। वे हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो को समन्वय की व्यापक भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करने वाले कवि हैं। यद्यपि समन्वय का यह प्रयत्न जायसी से पूर्व कबीर द्वारा सम्पादित हो चुका था परतु कबीर की प्रवृत्ति दोनो सप्रदायो के प्रति आक्रमणात्मक अधिक थी। दोनो संस्कृतियो के पारस्परिक वैमनस्यमूलक तत्वो पर चोट करने की लौह शक्ति तो उनके व्यक्तित्व में कूट कूट कर भरी हुई थी परन्तु दोनो जातियो के हृदय को स्पर्श करने वाली स्निग्ध रस धारा उनमे नहीं थी। उनमें माता का मधुर वात्सल्य कम, पिता की कठोर ताड़ना अधिक थी। इसलिये सॉस्कृतिक दृष्टि से कबीर हिन्दू और मुसलमानो को निकट लाने मे अधिक सफल न हो सके। इसका श्रेय तो जायसी को है। शुक्ल जी के शब्दो मे "हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालो मे इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"

दैन्य और निराशा के तप्त झोकों से मुरझाई हुई हिन्दू जन-मानस की बल्लरी जिन भक्त कवियों की स्निग्ध पीयूष धारा में अवगाहन कर लहलहा उठी, उनमें भक्त कवि सूरदास का स्थान अप्रतिम है। उन्होंने कृष्ण के लोक-रंजक रूप को भक्ति और काव्य की भावभूमि पर अवतीर्ण कर भगवत प्रेम की जो अविरल रसधारा प्रवाहित की उसकी प्रत्येक बूँद साधना, भक्ति और काव्य जगत की संजीवनी शक्ति बन गई। मध्ययुगीन साधना जगत में पुष्टि मार्ग के प्रतिपादन द्वारा बल्लभाचार्य ने जिस कृष्णभक्ति का प्रणयन किया उसका सबसे स्पष्ट स्वर सूर के काव्य में मुखरित हुआ। सूर पहले भक्त तथा पहले कवि थे जिन्होंने कृष्ण-भक्ति पद्धति के सच्चे मर्म को पहिचाना और कृष्ण के बाल और तरुण रूप की अनुपम छवि को काव्य का सरस आवरण दिया। उन्होंने जीवन के कोमल और मधुर भावों की सृष्टि की और अपने हृदय के भाव-प्रसूनों से उसका शृङ्गार किया। अपने इष्टदेव की प्रेम-साधना में सूर ने अपने व्यक्तित्व को दुग्ध और जल की भाँति इतना आत्मसात कर दिया कि इससे परे सूर ने अपना अस्तित्व ही नहीं रखा। उनकी समस्त चेतना श्रीकृष्ण के माधुर्य भाव में समा गई। भक्ति के क्षेत्र में वे इतने आगे पहुँच गये कि सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। कबीर की भाँति सुधारक बनकर जन समाज को उन्होंने उपदेश नहीं दिए और न किसी मत तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही किया। तुलसी की भाँति लोकनायक बनकर

उन्होने लोकधर्म की स्थापना भी नहीं की। उन्होने तो आत्मविस्मृत होकर अपने इष्टदेव के प्रेम की पुनीति मन्दाकिनी बहाई जिसकी भाव-लहरियो मे डूबकर भक्तजन आत्मविभोर हो गये और साहित्यमर्मज्ञ काव्य के ब्रह्मानन्द की अलौकिक रसानुभूतियो से भर गये।

जीवन परिचय

हिन्दी के ऐसे अमरकवि सूरदास का क्रमबद्ध जीवन-वृत्तान्त अभी तक उपलब्ध नही है। इनकी रचनाओ में मिलने वाले कुछ पद तथा जनश्रुतियो और वार्ताओ के आधार पर इनके जीवन के विषय मे कोरा अनुमान ही किया जा सकता है। अपनी एक कलाकृति साहित्य-लहरी के एक पद मे सूर ने अपनी वशावली का उल्लेख किया है। इसके अनुसार वे जाति के ब्रह्मभट्ट और चन्दवरदाई के वशज हैं। परन्तु अनेक विद्वानो की दृष्टि मे यह पद प्रक्षिप्त हैं। बहुत से विद्वान तो साहित्य लहरी को ही अप्रमाणिक मानते हैं। सूरसागर मे आए हुए पदो से विदित होता है कि सूरदास अन्धे थे। यद्यपि उनके जन्मान्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वे कवि और गायक थे तथा उनका निवास किसी समय यमुना तट के गोवर्धनगिरि पर हो गया था। गिरिराज पर कीर्तन करते समय उन्हें कुछ काल तक श्री बिठ्ठलनाथ के सत्सग और सेवा का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके कुछ पदो से ऐसा आभास मिलता है कि उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन का भी यत्किंचित अनुभव था और वे शिवोपासना के प्रभाव मे भी आये थे। उन्होंने पर्याप्त लम्बी उम्र का जीवन प्राप्त किया था।

सूरदास के सम्बन्ध मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से प्राप्त होता है। इनके अनुसार सूरदासजी बहुत से सेवको के साथ सन्यासी वेश मे आ गये और मथुरा के बीच गऊघाट पर निवास करते थे। प्रभु बल्लभाचार्य अडेल से जब ब्रज पधारे तब गऊघाट पर सूरदास ने उनसे भेट की। आचार्यजी ने उन्हे भगवत्-यश वर्णन करने को कहा। सूर ने दास्य-भाव से पूर्ण विनय के पद उन्हे सुनाए। आचार्य को सूर का इस प्रकार 'घिघियाना' अच्छा नहीं लगा। अपने मत मे दीक्षित करने के उपरान्त बल्लभाचार्य ने सूरदास को एक 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनाया, जिससे उन्हें सम्पूर्ण भागवत् स्पष्ट हो गई और उसी के अनुसार उन्होने भागवत् के द्वादश

स्कन्धों पर पदों की रचना की। तदुपरान्त बल्लभाचार्य की आज्ञा से ब्रज आकर सूरदास श्रीनाथजी के मन्दिरमें कीर्तन करने लगे और नित ही सुललित पदों की रचना कर अपने मधुर कण्ठ से कृष्ण की पावन लीलाओं का गुणगान करने लगे। अपना मरणकाल निकट जान कर सूरदासजी रासलीला की पावन भूमि पारसौली चले आए। वहीं गुसाईं बिठ्ठलनाथ, रामदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुजदास आदि की उपस्थिति में उन्होंने अपने प्राण त्याग दिए।

श्री हरिराय कृत भाव प्रकाश के अनुसार सूरदास जी का जन्म दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम के निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस कथन की पुष्टि गोस्वामी बिट्ठलनाथ के समकालीन प्राणनाथ कवि ने अपने अष्टसखामृत में की है। जन्म से ही ये नेत्र विहीन थे। यहीं से चलकर ये गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में यह भी उल्लेख है कि सूरदासजी की भेंट अकबर बादशाह से हुई थी। डा० दीन-दयाल गुप्त ने काकरौली और नाथद्वारा से सूर की जन्म-तिथि विषयक एक जनश्रुति सकलित की है। इसके अनुसार सूरदासजी महाप्रभु बल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। आचार्यजी का जन्म वैसाख कृष्णा ११ सवत् १५३५ में हुआ था। इस प्रकार सूरदासजी की जन्म तिथि वैसाख शुक्ला ५ हुई। नाथ द्वारा में प्रति वर्ष इसी तिथि को सूर का जन्म दिन मनाया जाता है। इस जनश्रुति के आधार पर अन्य किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में हम इस जन्म तिथि को अधिक प्रामाणिक मानेंगे। सूरसागर के अनुसार वे गोस्वामी बिठ्ठल नाथ के स्थायी प्रवास (सवत् १६२८) तक जीवित थे। मूल वार्ता में ज्ञात होता है कि उनका देहावसान गोस्वामी बिठ्ठलनाथ की उपस्थिति अर्थात् स० १६४२ से पूर्व अवश्य हो गया होगा। इस प्रकार सूरदासजी की निधन तिथि अवश्य ही स० १६२८ और स० १६४२ के बीच में होगी।

सूर ने श्रीमद्भागवत सम्बन्धी सहस्र-विधि पदों की रचना की थी जो उनके जीवनकाल में ही 'सागर' कहलाने लगे थे। बाद में सगृहीत होकर वे सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। जनश्रुति है कि सूरसागर

रचनाएँ

में सवा लाख पद हैं। परन्तु अब तक चार या पाँच हजार

पद ही प्राप्य हैं । इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अनुसधान रिपोर्ट और आधुनिक विद्वानो के अनुसार सूरदास जी रचित चौबीस ग्रन्थो का उल्लेख किया जाता है । इनमे से सूर सारावली और साहित्य लहरी ही प्रमाणित हैं ।

सूर सारावली—इसमे ११०३ तुक हैं तथा सग्रहकार ने इसके प्रारम्भ मे लिखा है—"अथ श्री सूरदासजी कृत सूरसागर सारावली।" तथा "सवालक्ष पदो का सूची पत्र ।" फलतः सारावली सूर सागर का सार मात्र और उसके पदो की अनुक्रमणिका है । परन्तु इसकी कृति के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा यह बात स्पष्ट नही होती । सूर सारावली में अनेक प्रसग वर्णित है जिनका उल्लेख तक सूर सागर मे नही हुआ । कृष्ण के जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओ के वर्णन मे भी वैषम्य है । इससे प्रतीत है कि सारावली सूरसागर की अनुक्रमणिका न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है । हो सकता है कि इसका कवि सूर सागर के कवि से भिन्न हो, जैसा कि डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा आदि की मान्यता है ।

साहित्य लहरी—साहित्य लहरी सूर सागर का अश मात्र है । इसमे सूरदास के वे पद हैं जिनमे नायिका भेद, अलकार एव रस निरूपण आदि की ओर विशेष ध्यान दिया गया है । इसमे अनेक पद दृष्टि कूट के हैं । इसका रचना काल सवत् १६०७ है । इस कृति की प्रामाणिकता मे भी सन्देह है । डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० ब्रजेश्वर वर्मा इसे सूरदास की कृति नही मानते ।

सूरसागर—सूरसागर ही सूर का एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है । ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना प्रबन्ध-काव्य के रूप मे नही की गई । वरन कृष्ण लीला सम्बन्धी विभिन्न प्रसगो को ध्यान मे रखकर पदो की रचना की गई है । सूरसागर की कथा बारह स्कधो मे विभक्त है । प्रथम स्कन्ध के २१९ पदो मे विनय सम्बन्धी रचना हैं । द्वितीय स्कन्ध के ३८ पद भक्ति, आत्मज्ञान, ब्रह्म तथा २४ अवतारो की कथा से भरे हैं । तृतीय स्कन्ध के १८ पदो मे अनेक कथाए और सवाद है । चतुर्थ स्कन्ध के १२ पदो मे पार्वती विवाह, शुक वचन आदि का वर्णन है । पचम, षष्ठम और सप्तम स्कन्ध मे क्रमशः ४, ४, और ८ पद हैं । इनमे अजामिल नृसिह अवतार आदि की कथाए वर्णित हैं । अष्टम स्कन्ध के १४ पदो में गजमोचन, कुर्म अवतार,

समुद्र मथन आदि की कथाए वर्णित हैं। गङ्गावतरण परशुराम अवतार की कथाओ को लेकर नवम स्कन्ध मे १७२ पद हैं। राम की कथा का विस्तृत वर्णन है। दशम स्कन्ध मे कुल मिलाकर ३६३२ पद हैं। यही स्कन्ध सूरसागर की आत्मा है और सूर के काव्य की गौरवनिधि है। इसमे कृष्ण जन्म से लेकर मथुरा गमन तक की कथा है। एकादश स्कन्ध मे ६ पद तथा बारहवे स्कन्ध मे ५ पद है। इनमे अवतारो आदि की कथा है। इस प्रकार सूरसागर के कुल भावरत्नो की सख्या ४०३२ है।

सूरसागर का कथा सगठन यद्यपि भागवत का आधार लिए हुए है, फिर भी सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं है। सूरसागर के अनेक अश सर्वथा मौलिक हैं, और उसमे सूर ने अपनी सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है।

सूरदास काव्य के क्षेत्र में यद्यपि किसी से पीछे नहीं रहे, फिर भी वे भक्त पहले थे कवि बाद मे। उनका साध्य काव्य न होकर भक्ति था। कृष्ण के प्रति उनकी अनन्य भक्ति का स्वर ही उनके काव्य मे मुखरित हुआ है। सूर ने अपनी कृष्ण भक्ति का रूप वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग के दर्शन से ग्रहण किया है। फलतः सूर के काव्य पर दृष्टिपात करने से पूर्व सूर की भक्ति और उसकी दार्शनिक रूपरेखा को समझना नितात आवश्यक है।

सूर की भक्ति

श्री वल्लभाचार्य ने जिस मत का प्रचार किया। वह पुष्टिमार्ग कहलाया। भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि के मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा गया है। "जिस मार्ग मे सर्वसिद्धियो का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं। जिस मार्ग मे भगवद् विरस अवस्था मे भगवान की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग मे सर्व भावो मे लौकिक विषय का त्याग है और उन भावो के सहित देहादि का भगवान को समपर्ण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है"। (श्री हरिहरराय)

यह पुष्टि चार प्रकार की होती है। १—प्रवाह पुष्टि, २—मर्यादा पुष्टि, ३—पुष्टि पुष्टि, ४—शुद्ध पुष्टि। प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त ससार मे रहता हुआ भी भगवान की भक्ति कर सकता है। मर्यादा पुष्टि मे भक्त ससार से

अपना नाता तोड़ परमब्रह्म श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। पुष्टि पुष्टि की अवस्था में श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है। शुद्ध पुष्टि भक्ति का चरम रूप है। इसमें भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित रहता है। यही भक्ति साधना वल्लभ सम्प्रदाय का चरम साध्य है क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने पर भक्त का हृदय श्रीकृष्ण की लीला भूमि बन जाता है।

श्री वल्लभाचार्य जी के मतानुसार "भगवान में माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह" ही भक्ति है। भक्ति दो प्रकार की होती है (१) गौणी, (२) परा। साधन दशा की भक्ति को गौणी कहते हैं और सिद्ध दशा की भक्ति को परा कहते हैं। गौणी भक्ति के भी दो रूप है। वैधी तथा रागानुगा। जिसमें शास्त्रोक्त विधि से भक्ति के विविध अङ्गो का नियम पूर्वक साधन होता है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। जिस भाव से भगवान के प्रेम में अपूर्व रस का अनुभव होता है और जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शान्ति और आनन्द का उदय होता है उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। सूर आदि अष्टछाप के कवियो ने इसी रागानुगा भक्ति के भाव से अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की उपासना की है। गौणी भक्ति की सिद्धि की दो अवस्थाए एक पूर्ण ज्ञान की अवस्था दूसरी पूर्ण प्रेम भाव की अवस्था। श्री वल्लभाचार्य ने इस दूसरी अवस्था का ही प्रचार किया। उन्होने श्रीमद्भागवत् में उल्लखित नवधा भक्ति को भी अनन्य प्रेमावस्था की प्राप्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है। उन्होने नवधाभक्ति के अतिरिक्त दसवी प्रेमलक्षणा भक्ति का भी उल्लेख किया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने प्रेम लक्षण भक्ति की तीन अवस्थाऐ कही हैं (१) स्नेह, (२) आसक्ति, (२) व्यसन। पहली अवस्था में भक्त के समस्त सम्बन्ध लोक से छूटकर भगवान में लग जाते हैं। आसक्ति की अवस्था मे भगवान से मिलन की आतुरता रहती है। व्यसन में भक्त सदैव भगवान के ध्यान में ही लीन रहता है। इसके बाद प्रेम की तन्मयावस्था आती है। इसमे भक्त भगवान के मिलन का भावात्मक आनन्द लेता है। भगवान के प्रति इन्ही अनन्य प्रेमावस्थाओ के अविरल सुधारस से सूर ने अपने काव्य कानन को सींचा है। कृष्ण के प्रति, वात्सल्य, सख्य, दास्य, और कात

भावों के रूप में सूर के भावुक व्यक्तित्व ने प्रेम की स्फीत उर्मियों के भावना रस से अनुप्राणित अपने भक्त हृदय को लीलाधारी कृष्ण के प्रति समर्पित किया है।

बल्लभ सम्प्रदाय में ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में मान्य हैं किन्तु उनकी उपासना का आधार सगुण रूप ही रहा है। सूरसागर के आरम्भ में सूरदास जी इस सम्बन्ध में कहते हैं —

अविगत गति कछु कहत न आवे।
ज्यों गूंगे हि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै॥
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने सो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै॥
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

परब्रह्म ही कृष्ण के सगुण रूप में लीला के लिए अवतार लेते हैं। जब ब्रह्म आनन्द के लिए लीला करना चाहता है तो उससे जीवात्माओं की उसी प्रकार सृष्टि होती है जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग। भक्तों को लीला का आनद देने के लिए परब्रह्म, कृष्ण और राधा के रूप में ब्रज में अवतरित होता है। भक्त आत्माएं गोपी, ग्वाल, नन्द, यशोदा आदि ब्रजवासियों का रूप ले लेते हैं तथा कृष्ण और राधा की लीला का सुख प्राप्त करते हैं। मुरली भगवान की मोहनी शक्ति है, माया है। माया अज्ञान को उत्पन्न करती है। परन्तु ईश्वर का अनुग्रह हो जाने पर विद्या और ज्ञान को जन्म देती है। वह भक्त को भगवान के पास ले जाती है। भक्त आत्मा सूरदास ने भी नन्द यशोदा, गोपी, ग्वाल, के रूप में पुष्टि मार्ग की रागानुगा भक्ति द्वारा परब्रह्म कृष्ण के प्रति प्रेम की तन्मय अवस्था को प्राप्त होकर कृष्ण लीला का अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्त किया है। इसी लीला का गान उनकी हृदय वीणा के तारों से से झकृत हुआ है।

हम पहले कह आये हैं कि सूर की कृष्ण भक्ति का आधारतत्व प्रेम है। विनय, वात्सल्य, और श्रृङ्गार आदि प्रेम के विविध रूपों द्वारा उन्होंने अपने

सूर की काव्य साधना

आराध्य की भक्ति की है। फलतः सूर का समस्त काव्य विनय, वात्सल्य और शृङ्गार की त्रिवेणी है। प्रेम के इसी व्यापक धरातल पर उनके काव्य के भव्य प्रासाद का निर्माण हुआ है।

सूर के विनय पद—सूर की विनय, आत्मग्लानि, पश्चाताप और ससार के प्रति वैराग्य भावना से ओत प्रोतः है। उसमे भगवान के प्रति आत्म-समर्पण की कातर व्यजना है। एक सच्चे भक्त की भॉति सूर ने अपने आराध्य की सामर्थ्य, भक्त वत्सलता, और अपने अधम जीवन का उद्घाटन अनेक विनय के पदो मे किया है। इनके निष्कपट भक्त हृदय के स्वच्छ और सरल उद्गार है। भगवान के प्रति अटल भक्ति और पूर्ण प्रेम का प्राजल प्रकाश है।

आत्म-निवेदन के भाव को प्रगट करते हुये ही सूरदास जी कहते है हे भगवान आप जैसे रखेगे वैसे ही रहूँगा। आप तो सब लोगो के सुख दुख को भली भॉति समझते हैं फिर अपने मुख से मै क्या कहूँ ? हे कृपानिधि ! भोजन मिल जाता है तो उसे ग्रहण कर लेता हू अन्यथा भूखा ही रह जाता हूँ। कभी हाथी और घोडो की सवारी करता हू तो कभी स्वय बोझा ढोता हू। हे कमल-नयन वाले सुन्दर श्रीकृष्ण मै तो सदैव आपका दास बनकर रहूँगा। हे दया के सागर मै तो आपका ही भक्त हूँ। आपके ही चरणो की शरण मे पड़ा रहना चाहता हू।

> जैसेहि राखो तैसेहि रहौ।
> जानत हो दुख सुख सब जन कौ मुख करि कहा कहौ॥
> कबहुँक भोजन देत कृपा करि कबहुँक भूख सहौ।
> कबहुँक चढ़ौ तुरंग महागज कबहुँक भार बहौ॥
> कमलनयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौ।
> 'सूरदास' प्रभु भगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौ॥

इस प्रकार विनय के इन पदो मे भक्त हृदय की समस्त दीनता, निरीहता, आत्म-विस्मृति और उत्कट प्रेम भावना मूर्त्तिमान होगई है। तुलसी की भाति

उसमे दार्शनिक चिंतन और तर्क नही है। उसमे तो भक्त की कातर प्रार्थना और करुण आत्म-निवेदन है।

सूर का वात्सल्य वर्णन

सूर ने यदि वात्सल्य को अपने काव्य का विषय चुना तो वात्सल्य ने भी सूर को ही अपना एकमात्र आश्रय बनाया है। सचमुच इस क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य मे ही नही अपितु विश्व साहित्य मे सूर की प्रतिभा बेजोड़ है। सूर की पैनी दृष्टि कृष्ण के बाल्य जीवन का कोना-कोना झाँक गई हैं। उनका बाल्य वर्णन एक प्रकार से बाल मनोविज्ञान का माधुर्य पूर्ण अध्ययन है। उन्होने बाल्य जीवन की साधारण सी घटनाओ को इतने कलात्मक ढङ्ग से सजाया और सँवारा है कि उससे प्रभावित होकर साहित्य मर्मज्ञो ने नवरसो के अतिरिक्त वात्सल्य रस के रूप मे दसवे रस की उद्भावना की है।

सूर अपने कृष्ण के बालरूप पर जी जान से न्योछावर हैं और इसीलिये हर तरह से उसका बखान करते हैं। वे बाल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे घुसकर कृष्ण के शैशव की मनोरम झाँकियाँ उपस्थित करते है। वे कभी यशोदा के मातृ हृदय मे पैठकर बाल-कृष्ण की नयनाभिराम क्रीडाओ का आनन्द लेते हैं कभी नन्द के हृदय का वासी बन आत्मविभोर हो जाते हैं। वे कृष्ण के साथ माखन चुराने मे दूध का मटका लुढकाने मे, बहाना बनाने मे, गोचारण मे, राधिका और कृष्ण की छीना झपटी मे सदैव साथ रहते है और उन दृश्यो को देखकर गद्गद् हो जाते हैं। वे यशोदा के मातृ हृदय के मर्म को जानते हैं और कृष्ण के अन्तर्भावो को अच्छी तरह पहिचानते हैं। इसीलिये बाल्य-जीवन की कोई भी वृत्ति इस कवि की विराट प्रतिभा के स्पर्श से अछूती न रह सकी। यह एक महत्व की बात है कि सूर से पूर्व हिन्दी के किसी कवि ने वात्सल्य रस का निरूपण नही किया, पर सूर ने पहली बार इस सम्बन्ध मे इतना सुन्दर कहा कि इससे आगे कहने को कुछ रह ही नहीं जाता।

सूर के वात्सल्य वर्णन के आलम्बन बालकृष्ण हे। उनका मनोहर स्वरूप और बालसुलभ क्रीड़ाए उसकी उद्दीपन है। कृष्ण के बाल्य जीवन से सबधित कोई बात उन्होने नही छोड़ी। कृष्ण का जन्म, नालछेदन, नामकरण, वर्ष गाँठ, तथा कृष्ण का पालने मे झूलना, अगूठा चूसना, लोरियो के साथ

सोना, प्रभातियो के साथ जागना, हसना, मचलना, बहाने बनाना आदि शैशव की समस्त क्रीडाओ का अत्यन्त सूक्ष्म और विशद विवेचन सूर ने किया है। वात्सल्य भाव के आश्रय पक्ष माता यशोदा और बाबा नन्द हैं। कृष्ण को पाकर उनके हृदय का असीम उल्लास, कृष्ण के सुखी जीवन की अभिलाषा, कृष्ण दर्शन की उत्सुकता, कृष्ण की परिचर्या का उत्साह, कृष्ण की बाल्य चेष्टाओ पर कभी क्षोभ, कभी अमर्ष, कभी चिता, कभी मोह आदि वात्सल्य भाव की समस्त अन्तरग और बहिरंग वृत्तियो का प्रकाशन सूर ने अद्भुत रीति से किया है। इस क्षेत्र मे सूर ने इतने भावो, अनुभावो और सचारी भावो की योजना की है कि वे साहित्य शास्त्र को भी पीछे छोड़ गये हैं।

माता यशोदा का समस्त व्यक्तित्व कृष्ण के वात्यप्रेम मे घुलमिल गया है। उठते बैठते सोते जागते चौबीसो पहर उन्हे कृष्ण का ध्यान लगा रहता है। वह कृष्ण को सुलाती हुई नीद को बुलाने के लिये लोरियाँ गाती हैं :—

> जसोदा हरि पालने झुलावै।
> हलरावे दुलरावे जोइ सोइ कुछ गावै॥
> मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै॥

यशोदा के मन मे बडी अभिलाषा है कि कब उनका कृष्ण घुटनो के बल चलने लगेगा? कब उसके दूध के दाँत चमकेगे? कब मुख से तोतले मीठे बचन बोलेगा :—

> कब मेरो लाल घुटुरुअन रेगे कब धरनी पग नैक धरै।
> कब द्वै दंत दूध के देखो कब तुतरे मुख बैन झरै॥

मातृ हृदय की कितनी सरस व्यजना है।

यशोदा की अभिलाषा पूरी होती है। घर के आँगन मे घुटनो के बल चलते हुये कृष्ण किलकने लगते है। यशोदा मैया का हाथ पकड़ कर डगमगाते पावो से चलते हैं। कभी यशोदा माता ताली दे देकर अपने कृष्ण को आगन मे नचाती है। धीरे-धीरे कृष्ण शिशु से बालक हो जाते है। उनका रूप सौंदर्य उनके व्यापार सौन्दर्य मे परिणित हो जाता है। उनकी क्रीड़ाए और उनकी भोली बाते बाल सुलभ चचलता से भरी होती हैं। हठ करने पर

भी वे दूध नही पीते तब माता यशोदा चोटी बढने का प्रलोभन देती है। कृष्ण दूध पीने लगते है और पीते-पीते ही अपनी चोटी टटोलकर उतावले होकर पूछते हैं :—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

कैसी बाल सुलभ 'उत्कण्ठा' है। इसी प्रकार हार जीत के खेल मे बालको के 'क्षोभ' का कैसा सुन्दर वर्णन है :—

खेलत मे को काको गोसयाँ
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति पांति हमते कछु नाही न बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयां॥

खेल ही खेल मे बलराम के साथ साथ सभी ग्वाल बाल कृष्ण को चिढाते हैं। कृष्ण इसे सहन नही करते और इसकी शिकायत माता यशोदा से करते हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मो सो कहत मोल को लीन्हौ तू जसुमति कब जायौ॥

कृष्ण को सबसे बड़ा दुख तो यह है कि यशोदा बलराम से तो कभी कुछ नही कहती पर उनको अवश्य मारती है—

तू मोहीं को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै॥

भला अपने बालक के मुख से ऐसी बाते सुनकर कौन माता हर्ष से गद्-गद् नहीं हो जायगी इसीलिये—

मोहन मुख रिस की ये बाते जसुमति सुनि सुनि रीझै॥

पर ऐसी भोले भाली बाते बनाने वाले श्रीकृष्ण वास्तव मे बड़े चन्चल और नटखट हैं। मक्खन चुराकर खाने मे तो वे सिद्धहस्त है ही घरो मे घुस कर बर्त्तन फोडने, राह चलते छेड खानी करने से भी वे बाज नही आते। तग आकर गोपियाँ कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के पास उलाहना देती हुई

ले जाती हैं। कृष्ण किस चतुरता के साथ अपने को निर्दोष सिद्ध करते है—

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबे मिलि मेरे मुख लपटायौ ॥
देख तुही सींके पर भाजन ऊँचे धरि लटिकाऔ ॥
तुही निरखि नन्हे कर अपने मै कैसे करि पायौ ॥

पर एक दिन तो कृष्ण रगे हाथ पकड़े ही गये। लेकित फिर भी अपने वाक चातुर्य से सबको रिझाने की उनकी कला तो देखिये।

मैं जान्यौ यह घर अपनो है या धोखे मे आयो।
देखतु हौ गोरस मे चींटी काढ़न को कर नायो॥

बालक कृष्ण जब बाहर खेलने जाते हैं तब माता यशोदा का हृदय भय और आशका से भर जाता है कि कही उसके लाल को कुछ न हो जाय। इसीलए 'हौआ' के भय से डरकर वे कृष्ण को खेलने के लिये दूर जाने से रोकती हैं—

खेलन दूर जात कित कान्हा।
आजु सुन्यो बन हाऊ आयो तुम नहि जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजि आयो बोलि बुझावहु ताहि॥
कान तोरि वह लेत सबन के लरिका जानत जाहि॥

मातृ हृदय के कितने सरल और स्वच्छ उद्गार हैं। इस प्रकार सूर ने एक बाल सुलभ हृदय की चपलता, चचलता, स्पर्धा, ईर्ष्या, क्षोभ आदि समस्त बालोचित गुण और क्रिया व्यापार तथा एक सामान्य मातृ-हृदय की वात्सल्यरस से पूर्ण प्रेम की सभी अवस्थाओ का नैसर्गिक सौंदर्य हमे दिया है। सूर के वात्सल्य पदो मे एक माता के हृदय की मधुर स्पन्दन है। उनमे जैसे वात्सल्य रस साकार हो उठा हैं। सूर के बाल्य वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उनके कृष्ण तुलसी के राम की भाति जन जीवन से अलग नही हैं। यशोदा के कृष्ण जैसी बाल सुलभ क्रीडा करते हैं वैसी ही बाल चेष्टाओ से आज भी बालक प्रत्येक घर के आँगन को हर्ष और उल्लास के स्वच्छ हास से भर देते हैं। कृष्ण के प्रति माता यशोदा का जो वात्सल्य प्रेम हैं वैसा ही

प्रेम सब माताएँ अपने पुत्रो से करती हैं। इस प्रकार सूर के कृष्ण केवल व्रज के न होकर समस्त विश्व के हैं। यशोदा के न होकर सब माताओ के हैं।

सूर के वात्सल्य वर्णन पर रीझ कर वियोगीहरि जी ने कितना उचित कहा है "सूर का दूसरा नाम 'वात्सल्य' हैं और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर। दोनो का अन्योयाश्रम सम्बन्ध हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं कि प्रेम के जितने भी सम्बन्ध होते हैं उनमे स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण तीव्रता और गहनता होती है।

सूर का श्रृंगार वर्णन

लोकानुभूति स्त्री पुरुष की इस प्रेम सन्बन्धी व्यापकता को देखकर भक्त और साधको ने भी ईश्वर के प्रति अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को लौकिक श्रृङ्गार की भाषा मे व्यक्त किया है। माधुर्य भाव की इस प्रीति में आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था, पूर्णरूप मे आ जाती हैं। फलतः सूर ने इष्ट देव के प्रति अपने अनन्य प्रेम की अनुभूतियो को रति भाव की सयोग और वियोग जनित अवस्थाओ मे आत्म विभोर होकर चित्रित किया है। कृष्ण की रूप माधुरी के रस से भीगी हुई गोपिकाएँ जब कृष्ण मिलन के आनन्द से असीम आनन्द का अनुभव करती हैं, तब गोपिकाओ के उल्लास के भीतर सूर की अतरात्मा छिपी रहती है। जब गोपिकाए कृष्ण के वियोग मे छटपटाती हैं तब सूर का ही हृदय गोपिकाओ के रूप मे अपने इष्ट से मिलने के लिये व्याकुल रहता है। इसीलिये सूर का श्रृंगार कल्पना का स्वच्छन्द विलास नहीं है, वरन् अन्तरात्मा की गहन अनुभूतियो का यथार्थ प्रकाशन है। सूर ने बड़ी सच्चाई के साथ प्रेमी हृदय मे रति की उत्पत्ति, प्रिय मिलन की लालसा, प्रिय सयोग का हर्ष और चापल्य, प्रिय स्मृति, लोक लाज कुल कानि की चिता, प्रेमी हृदय का साहस, उन्माद और विकलता आदि समस्त सचारी भावो और मानसिक अवस्थाओ के प्रभावशाली चित्र हमें दिये हैं। अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये उन्होने श्रृङ्गार की लोकोत्तर छटा से साहित्य मानस को अनुरंजित किया है। श्रृङ्गार की भाव भूमि मे सूर की वाणी ने इतनी व्यापकता से संचरण किया है कि उसका कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा। श्रृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र मे जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी

कवि की नही। इन दोनो क्षेत्रो मे तो इस महाकवि ने मानो और के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य मे शृङ्गार का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।

वृन्दावन की कुंज गलियो मे गोपियो और कृष्ण के हास परिहास के बीच प्रेम का स्वाभाविक विकास होता है। साथ साथ रहने वाले दो प्राणियो मे स्वभावतः प्रेम हो ही जाता है, फिर अतुल रूप राशि वाले कृष्ण तो बाल्यावस्था से ही गोपिकाओ के बीच मे रहे। फलतः रूप लिप्सा और साहचर्य के योग से गोपिकाओ और कृष्ण के अनुराग का कारण भी यह रूप आकर्षण ही ही हैं—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए स्याम रवि तनया के तट अङ्ग लसत चंदन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सर श्याम देखत ही रीझै नैन मिलि परी ठगोरी॥
बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी तू बेटी ? देखी नाहीं कहे ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी॥
सुनति रहित श्रवनन नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरी कहा चोरि हम लै है ! खेलन चलौ संग मिलि जोरी॥
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातिन भुरइ राधिका भोरी।

बस खेल ही खेल मे राधा और कृष्ण के भोले भाले हृदयो की सरल स्वाभाविक बातो के बीच वह बात पैदा होगई जिसे प्रेम कहते हैं। अपनी वाक् पटुता और क्रीड़ामय चपल विनोदी स्वभाव के द्वारा बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से कृष्ण राधा के हृदय मे तीव्र प्रेम उत्पन्न कर देते हैं। कृष्ण के प्रेम मे राधा ऐसी उलझ गई कि उसका चित्त चचल रहने लगा। खान पानै सब भूल गई कभी वह हँसती है, कभी वह विलाप करती है। कभी सकोच से भर उठती है, कभी लज्जा प्रगट करती है और कभी कृष्ण के साथ रतिविलास करती है। अब वह मोहन मूर्त्ति कृष्ण से मिलने के लिये नित प्रति ही गाय दुहाने के बहाने मैया से दोहनी लेकर खरिक मे जाने लगी। कृष्ण भी अपने चंचल स्वभाव के

कारण कभी राधा के नयन मूँद लेते हैं तो कभी खरिक मे गाय दुहते समय एक धार दोहनी मे दुहते हैं और एक धार जहाँ प्यारी राधा खड़ी हैं वहाँ पहुँचाते हैं। माता यशोदा की आँखो से यह सब कुछ छिपा नहीं रहता। कृष्ण के अनोखे हाव भावो का कारण राधा ही हैं, इसे वह समझ लेती है। इसीलिए राधा को घर आने से वर्जती है। पर राधा के निपट अजान हृदय की बात तो सुनिए:—

मैं कहा करौं सुतहि नहि वरजत घरते मोहि बुलावै।
मो सो कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्राण॥

प्रेम का कितना शुद्ध और भोला स्वरूप है! वस्तुतः सूर का समस्त शृङ्गार मानव प्रकृति की ऐसी ही मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर खड़ा है।

राधा के साथ-साथ गोपिकाओ से भी कृष्ण की प्रणय लीला चलती है। रास, जल-क्रीड़ा, कुंजलीला, पनघट लीला, दान लीला, खण्डिता प्रसग, हिंडोला, होली, बसन्त आदि सयोग चित्रण के अनेक प्रसगो द्वारा सूर ने गोपी कृष्ण की सयोग क्रीड़ाओ का विशद वर्णन किया है।

आलम्बन रूप मे कृष्ण के अद्‌भुत रूप-सौन्दर्य का विशद् चित्राकन है। परन्तु आलम्बन रूप में गोपिकाओ की रूपसज्जाका वर्णन बहुत कम है। इसका कारण यह है कि गोपिकाओ का विशेष व्यक्तित्व सूर सागर मे विकसित नहीं हुआ है और जहाँ व्यक्तित्व की व्यक्तिगत विशेषताएँ कोई महत्व नहीं रखतीं वहाँ रूप वर्णन और नख-शिख कैसा? वे कृष्ण की रूप-माधुरी पर रीझकर प्रेम की अनन्य व्याकुलता से भर उठती हैं परन्तु गोपियो के प्रति कृष्ण की उत्कण्ठा, प्रेम और विरह का एक भी चित्र सूर ने हमे नहीं दिया। इस प्रकार गोपियाँ और कृष्ण का शृंगार बहुत कुछ एकागी है। फिर भी शृंगार के इस एकागी रूप मे प्रेम की विविध परिस्थितियो के बीच सूर ने गोपिकाओ के नारी सुलभ सरल और निश्चल प्रेम का सजीव चित्रण किया है। कृष्ण की रूप-माधुरी का प्रभाव गोपियो पर ऐसा पडता है कि वे एक साथ ही चकित, भ्रमित, हर्षित और विकल हो जाती हैं। मन मे प्रेम की अभिलाषा के स्फुरण होते ही 'स्तम्भ', 'रोमाच' स्वरभेद आदि सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। कृष्ण को पति रूप में वरण करने के लिए वे शिव और सूर्य की आराधना

करती हैं। पनघट प्रसग मे उनके सकोच और प्रेम जनित आकुलता का भाव तीव्रता से व्यंजित हुआ है। अनेक पदो मे गोपियो की प्रेम विवशता का निरीक्षण सूर ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। यमुना स्नान के प्रसग मे कवि ने गोपियो के हृदय मे काम और लज्जा का द्वन्द प्रदर्शित करके उनकी नव वयस, सरल स्वभाव कामातुर प्रवृत्तियो की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। दानलीला मे गोपिकाओ के प्रेमजनित विक्षोभ के भाव बड़ी सरसता से मुखरित हुए हैं। इसके बाद तो गोपिकाएँ लोकलाज को तिलाजली देकर कृष्ण प्रेम मे उन्मत्त होकर बन-बन फिरने वाली बन जाती है। गोरस बेचती हुई कभी कृष्ण स्मृति मे चौक पड़ती हैं तो कभी विकल और उद्विग्न होकर प्रलाप करने लगती हैं। रास के प्रसग मे रति के आनन्द की व्यापक और सामूहिक अनुभूति कराई गई है। गोपियो का यह प्रेम परकीया न होकर स्वकीया है। यद्यपि कुछ गोपियो का कृष्ण से विवाह नही हुआ था फिर भी वे लोकलाज और कुल की कानि छोड़कर कृष्ण से ही प्रेम करती थीं। परिस्थितियो के अनुसार सूर ने कुछ गोपियो को वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और खण्डिता के रूप मे चित्रित किया है। उन्हे कलहतरिता, प्रोषित भृतिका और स्वाधीन पतिका का रूप नही दिया। कुछ गोपियो से सूरने कृष्ण का सभोग भी कराया है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दो मे "सब कुछ मिलाकर गोपी कृष्ण की शृंगार कथा, आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। यद्यपि कुछ अशो मे स्पष्टतः रीतिशास्त्र से सहारा लिया गया है इससे कथा और भी हृदयग्राही बन गई है। गोपियो और कृष्ण के सम्बन्ध को उन्होने भागवत की अपेक्षा अधिक वृहद् चित्रपटी पर रखा है"।

गोपियो और कृष्ण के सयोग शृगार की भाँति राधा कृष्ण की प्रेमकथा एकागी नहीं है। दोनो का ही नखसिख वर्णन सूर ने विशद् रूप से किया है। रात के समय मे राधा की शोभा का वर्णन करने मे कवि ने उपमाओ का अत कर दिया है। राधा और कृष्ण की युगल लीला वास्तव मे गोपिकाओ रूपी भक्तजनो के लिए प्रेम के चरम आदर्श का प्रतीक है। इसलिए कवि ने राधा और कृष्ण की प्रेम लीला का व्यापक चित्रण अपनी कवित्व शक्ति के समस्त उपकरणो द्वारा किया है। राधा के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार उसके अप्र-

तिम कृष्ण-प्रेम मे हुआ है। सत्य तो यह है कि कृष्ण का प्रेम राधा के रूप मे मूर्त्तिमान होकर प्रकट हुआ है। राधा और कृष्ण के प्रेम की व्यापक चित्र पटी पर उन्होने सयोग सुख के समस्त क्रीड़ा विधान लाकर एकत्रित किए हैं।

राधा और कृष्ण की यह कथा रीतिशास्त्र पर आधारित न होकर सर्वथा मौलिक और स्वतन्त्र है। विद्यापति का शृंगार काव्य जहाँ पूर्व राग, वयसधि मिलन, अभिसार, मान, दूती, मानमोचन, पुनर्मिलन, विरह आदि विविध रति भाव के प्रसगो के रूप मे पूर्णतः रीतिशास्त्र पर आधारित है वहाँ सूर ने राधा कृष्ण प्रेम को सहज और स्वाभाविक गति से विकसित किया है। सयोग का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के कारण यद्यपि सूर के शृगार मे सुरति, विपरीत आदि स्थूल सयोग के चित्रण आ गए हैं। काम क्रीड़ाओ मे अनुरक्त राधा, गोपियो और कृष्ण को कामकला विशारद रूप मे चित्रित किया गया है। इसीलिए साधारण पाठक और आलोचकगण सूर के काव्य को घोर शृगार से लाछित समझते हैं। पर बात यथार्थ में ऐसी नहीं है। सूर का शृगार लौकिक भाषा मे होते हुए भी अलौकिक है। विद्यापति और परवर्त्ती रीतिकालीन कवियो की भाँति उसमे वासना की कलुष छाया नही, वरन् अध्यात्म और भक्ति का उज्ज्वल प्रकाश है। उसमे ईश्वरोन्मुख प्रेम की गूढातिगूढ और चरम व्यंजना है।

श्री बल्लभाचार्य ने कृष्ण प्रेम की विरहावस्था जनित अनुभूतियो को बहुत महत्वशाली माना है। बल्लभ सम्प्रदाय में ही नही, प्रेम भक्ति के सभी उपासको ने परमात्मा के लिए आत्मा की विरहानुभूति को भक्ति साधना मे आवश्यक माना है। सूर ने भी सयोग शृंगार की भाँति विप्रलम्भ का विस्तृत और व्यापक चित्रण किया है। सूर का सयोग चित्रण जहाँ इतना सरस, मनोहर और आनन्दोल्लास से भरा हुआ है वही उनका वियोग बड़ा करुण, मर्मस्पर्शी और हृदय को बेधने वाला है। वियोगी सूर के गीतो मे विरह की दारुण व्यथा से दग्ध अन्तरात्मा की विकल हूक, टीस, करुणा और दैन्य मूर्तिमान बन गया है। कृष्ण के मथुरागमन के साथ ही ब्रज का समस्त उल्लास, आनन्द, सुख विलीन हो जाता है। माता यशोदा जो

सूर का विप्रलम्भ शृंगार

पलभर भी कृष्ण को अपनी आँखो से दूर नही रखती थी कृष्ण के मथुरागमन पर पुत्र वियोग की दारुण व्यथा को सहती हैं। कृष्ण का वियोग रह-रहकर उसे सालता है। उसका हृदय फटा जा रहा है इसीलिए मानसिक सताप से विक्षुब्ध होकर वह नन्द से लड़ बैठती है—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई बज्र की छाती कत यह सूल सह्यो।।

यशोदा को नन्द का ब्रज अब कृष्ण बिना बिलकुल नही सुहाता। निर्वेद तिरस्कार और अमर्ष भरे स्वर मे वे कहती हैं—

नन्द ब्रज लीजे ठोक बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय।।

इस ठोकि बजाय मे कितनी विह्वलता और प्रेम की मार्मिक व्यजना है। ऐसी भाव शवलता तो सारे साहित्य-ससार का कोना-कोना छान डालने पर भी नहीं मिलेगी।

कृष्ण के मथुरा गमन पर गोपिकाएँ तो जड़ बन जाती हैं। असीम दुःख और दैन्य से उनका हृदय भर उठता है। वे बारबार आत्म-भर्त्सना करती हुई कहती हैं कि हरि के बिछुड़ते समय हमारा हृदय फट क्यो नहीं गया। वृन्दावन के हरे-भरे कु ज, यमुना का मनोहर तट, मधुवन के लता-पुष्प, मोर और पपीहे की ध्वनि सब कृष्ण के सयोग सुख का स्मरण दिलाकर उनके विरह को उद्दीप्त करते हैं। डालो पर लगे हुए लाल-लाल फूल अंगारो की तरह हृदय को दग्ध करते हैं। पावस के श्याम घन और शरद् का चन्द्र, शीतलता पहुँचाने के स्थान पर ताप देते हैं। श्याम के बिना गोपियो का सब सुख लुट गया। गृह बन के समान लगने लगा और रात तारे गिन-गिन कर बीतने लगी। पर रात भी कृष्ण बिना उन्हे साँपिन के समान लग रही है—

पिया बिन साँपिन कारी राति।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।।

सापिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। किसी को डसने पर वह उलट जाती है। पावस ऋतु की अंधेरी रात मे कभी-कभी बादलो के हट जाने से जो चाँदनी चमकती है वह मानो रात रूपी सर्पणी विरहिणी गोपिकाओं को

डसने पर उलट गई हो। कितनी मौलिक उद्‌भावना है। सूर के अतिरिक्त काव्य की ऐसी कलात्मक उक्तियाँ अन्यत्र कहाँ ?

राधा के वियोग वर्णन मे तो सूर ने अपने विदग्ध हृदय की समस्त करुणा और तरुण अनुभूतियो को घोल दिया है। मिलन समय की मुखरा चचला, रसवती, कोलकला व्युत्पन्न राधिका वियोग के समय मौन, शांत और गम्भीर बन जाती है। कृष्ण के वियोग मे वह घुली जाती है। विगत दिनो का स्मरण करते ही उसका दुःख असह्य हो जाता है, और वह मूर्च्छित हो जाती है। राधा को जिस समय गोपिकाओ ने हर्षित होकर समाचार दिया कि ध्वजपताका सहित श्वेत रथ पर पीत पट पहिने श्याम अङ्ग वाला कोई चला आ रहा है तो राधा के हर्ष का पारावार नही रहा मानो मरते मीन को पानी मिल गया हो। सब गोपियाँ तो आतुर हाकर उस रथ को देखने के लिए दौडीं पर राधा कपाट की ओट मे ही खड़ी रह गई उसका तन काप रहा था। विरह की व्याकुलता से हृदय मे 'धुकधुकी' चल रही थी। उससे चला भी नही जाता था और आसुओ से सारा शरीर भीगा हुआ था। उद्धव के साथ अन्य गोपियाँ तो व्यगो की बौछार से कृष्ण को खूब उलाहने देती हैं पर राधिका वहा जाती तक नही। वह निरतर 'माधो माधो' रट रही थी। माधव-माधव रटते-रटते जब वह सचमुच माधव रूप हो जाती थी तो राधा के विरह मे दहने लगती थी। उसे किसी भी प्रकार चैन नही था। उद्धव ने श्रीकृष्ण से जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होने राधिका की आखो से निरन्तर आँसुओ को गिरते देखा था। आखे धस गई थीं और शरीर ककाल मात्र रह गया था। राधा दरवाजे से आगे नही बढ सकी। प्रिय के लिए-सदेश मागा तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

राधा और गोपिकाए ही नहीं कृष्ण के वियोग मे गाए भी बड़ी दुखी और निर्बल हो गई हैं। उनकी आखों से निरन्तर आँसू बहा करते हैं और दुख से वे हूँका करती हैं। जिन स्थानो पर कृष्ण ने गायो को दुहा था उन्ही स्थानो पर वियोग से व्याकुल होकर गाए पछार खाकर गिर पड़ती हैं जैसे जल से निकाली हुई मछली तड़फ रही हो।

विरह की विदग्धता भ्रमरगीत के प्रसग मे और भी तीव्रता से प्रगट हुई

भ्रमर गीत

है। भ्रमरगीत वास्तव मे सूर सागर का सबसे आकर्षक और मधुर प्रसंग है। उसमे भाव-सौन्दर्य, काव्य-सौष्ठव और साथ ही दार्शनिक विचारो की व्यापक चित्रपटी है। भ्रमर गीत का एक एक पद सूर सागर का ही नही अपितु साहित्य ससार का अमूल्य रत्न है।

भ्रमर गीत के प्रसंग को भागवत से लेकर भी सूर ने उसे स्वतन्त्र और मौलिक रूप से गढ़ा है। कृष्ण की ओर से उद्धव गोपियो को निर्गुण भक्ति का उपदेश देने के लिए ज्ञान की गठरी लेकर व्रज आते हैं। परन्तु कृष्ण प्रेम मे मतवाली गोपिकाओ के प्रेम रस से सने मधुर उपालम्भो, तीखे व्यग वचनो और अकाट्य तर्कों के सम्मुख उद्धव ठगे से रह जाते हैं। उनका समस्त ज्ञान गर्व धूल मे मिल जाता है। गोपियो के कृष्ण-प्रेम से वे इतने प्रभावित होते है कि स्वयं गोपियो के प्रेमादर्श मे रग कर मथुरा लौटते हैं। इस प्रकार उद्धव के निर्गुण ज्ञान की हार होती है, और गोपियो का सगुण प्रेम विजयी होता है। निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म की उपासना की महत्ता का प्रतिपादन ही भ्रमरगीत का मूलाधार है।

काव्य की दृष्टि से भी यह भ्रमरगीत बड़ा कलात्मक और भावना पूर्ण है। विरह और प्रेम की तीव्र अनुभूतियो से रजित गोपिकाओ की मार्मिक उक्तिया और वाग्वैदिग्ध्य देखते ही बनता है। सौ सौ प्रकार से गोपिकाओ ने अपने अपने विरह की कथा को और कृष्ण प्रेम की तीव्रता को उद्धव के सामने खोल कर रखा है। आचार्यों ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण विरह की ये ग्यारह अवस्था मानी हैं। भ्रमर गीत के अन्तर्गत सूर ने इन सभी अवस्थाओ के मार्मिक चित्र खींचे हैं। वियोग की जितनी अन्तर्दशाए हो सकती हैं इसके भीतर मौजूद है। विरह का चित्रण इतना गहरा और व्यापक है कि वह देश, काल पात्र से मुक्त बन गया है।

इस प्रकार सूर ने बहिरग और अतरग दोनो रूपो मे विरह की सर्वांगीण व्यंजना की है। भ्रमरगीत की भूमिका मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूर के विरह वर्णन की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि "सूर की गोपियो का विरह ठाली

बैठे का सा कार्य दिखाई देता है। उनके विरह मे गम्भीरता नही है। चार कोस पर मथुरा मे बैठे हुए कृष्ण से गोपियाँ क्यो नही मिल आतीं?" पर शुक्ल जी का यह कथन समीचीन नही है। सूर के वियोग वर्णन की यह त्रुटि नही है वरन् इसमे सूर ने अपने भक्ति सिद्धात का ही निर्वाह किया है। सूर का विश्वास है कि भक्त का कार्य भगवान से मिलन की तीव्र अभिलाषा रखते हुए भी सतत प्रेम करना ही है। भगवान स्वय भक्त को अपनाते है। भगवत् प्रेम मे पुरषार्थ और साधन अपेक्षित नही है और फिर गोपियों के उपास्य मथुरा और द्वारिका के चक्र सुदर्शन धारी राजनीति विशारद कृष्ण न होकर मोर-मुकुट मुरली वाले व्रज कृष्ण हैं। मथुरा जाकर उन्हे अपने व्रज कृष्ण के दर्शन कहाँ से होते?

सूर का प्रकृति चित्रण

सूर काव्य के नायक श्रीकृष्ण का जीवन ब्रज की प्रकृति के खुले प्रागण मे व्यतीत हुआ है। कृष्ण के बाल्यकाल ने कालिदी कूल के कु जो मे मधुर क्रीड़ा की है। राधा गोपियो के साथ उनकी प्रणय लीला राज प्रासादो मे न होकर कु ज, करील, कदम्ब, तमाल और बनवीथि के बीच हुई है। कृष्ण का ही जीवन प्रकृति के बीच बीता हो ऐसी बात नही, प्रत्युत स्वय सूर का भी अधि-काश जीवन यमुना के तट पर स्थित गऊघाट और ब्रज भूमि पर बीता था अतएव प्रकृति से निकट तम परिचय होने के कारण ही सूर प्रकृति का नैसर्गिक और व्यापक चित्रण कर सके।

सूर का प्रकृति चित्रण स्वतन्त्र रूप से न होकर चरित नायक की लीलाओ की पृष्ठ भूमि के रूप मे ही है। शृ गार और वात्सल्य के प्रसग मे उन्होने उद्दीपन रूप मे प्रकृति को अपने काव्य का विषय बनाया है। जिस प्रकार सूर ने जीवन के मधुर और कोमल तत्त्वो की अपनी कविता की भाषा मे अभिव्यक्ति की है उसी प्रकार उन्होने प्रकृति के भी सुन्दर चित्र उतारे हैं। उन्होने प्रत्येक ऋतु का वर्णन किया है और प्रत्येक ऋतु के वर्णन में सूर ने प्रकृति और मानव हृदय के उद्‌गारो का सुन्दर सामजस्य दिखाया है। तुलसी की भाँति न उन्होने अपने प्रकृति चित्रण मे नीति और दर्शन को प्रधानता दी है और न केशव की भाँति वे अलकार पाडित्य के पचड़े में पड़े हैं। उन्होने तो भाव

विभोर होकर प्रकृति के सजीव चित्र उतारे हैं। सूर के प्रकृति चित्रण को देखकर निश्चय रूप से यह कहा जा सकता है कि सूर अंधे होते हुए भी प्रकृति सौदर्य के सच्चे पारखी थे।

सूरदास जी की कल्पना शक्ति और अलंकार विधान उनकी अन्यतम काव्य प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है। भाव चित्रण मे कवि की कल्पना सृष्टि का उद्देश्य भावो का स्पष्ट प्रकाशन होता है। फलतः उसे आवश्यकतानुसार सूक्ष्म और गहन मनोवेगो के लिये अप्रस्तुत दृश्य अथवा कार्य व्यापार की सृष्टि करनी पड़ती है। अप्रस्तुत की यह योजना ही काव्यशास्त्र मे 'अलकार' के नाम से अभिहित है। सूर की कल्पना ने भी भावचित्रण के लिये अप्रस्तुत की बहुमुखी योजना की है। इसीलिये सूर के काव्य मे अनेक अलकारो के उदाहरण न्यूनाधिक सख्या मे ढूँढे जा सकते हैं। शब्दालंकारो मे सूर ने अनुप्रास यमक वीप्सा का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। अनुप्रासो का प्रयोग तो सहज सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यमक का प्रयोग दृष्टिकूट सम्बन्धी पदो में हुआ है। वीप्सा राधा-कृष्ण के अग वर्णन का आधार है। अर्थालकारो में उपमा, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप मुख्य है। उपमा और रूपक सूर को विशेष प्रिय हैं। श्याम की छवि के उपमान जुटाने के लिए कवि ने आकाश पाताल एक कर दिया है। उत्प्रेक्षा से तो सूर का समस्त काव्य भरा पड़ा है। वक्रोक्ति और विभावना ने सूर के काव्य को और भी सजीव बनाया है। सक्षेप मे कवि की कल्पनाशक्ति और कलात्मक प्रतिभा महान है। वह निश्चय ही कवि की उर्बरा कल्पनाशक्ति, सौन्दर्य प्रियता, चित्रोपमता, सूक्ष्मदर्शिता, वाग्वैचित्र्य का परिचायक है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते है तो मानो अलकार शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओ की बाढ़ आ जाती है, रूपको की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह मे कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य मे इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलकारो को देखकर कोई भी अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलकारो का प्रयोग कर रहा है! पन्ने पर

कलापक्ष

पन्ने पढ़ते जाइये केवल उपमाओ और रूपको की छटा, अन्योक्तियो का टाट, लक्षणा और व्यजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार दुहराई जा रही हैं। फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नही हुआ ह। काव्य गुणो की इस विशाल बनस्थली मे एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उरा रमणीय उद्यान के समान नही जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है बल्कि उस अकृत्रिम बन-भूमि की भाँति ह जिसका रचयिता रचना मे ही घुल-मिल गया है।"

सूर की भाषा

सूरने चलती हुई ब्रजभाषा मे सर्व प्रथम और सर्वोत्कृष्ट रचना की है। उन्होने साधारण बोलचाल की भाषा को अपनी प्रतिभा से तराशकर सजाया-सॅवारा और उसे साहित्यिक तथा कलात्मक रूप प्रदान किया है। सूर की कविता ने ही व्रज की इस साधारण बोली को इतना चमत्कारपूर्ण बना दिया कि वह शीघ्र ही उत्तर भारत की सामान्य काव्य भाषा के रूप मे समस्त कवि समुदाय के आकर्षण का केन्द्र बन गई।

भाषा की दृष्टि से सूर का काव्य बडा समृद्धिशाली और वैभवपूर्ण है। शब्दो का अक्षय-भण्डार होने के कारण वे किसी भी प्रकार के भाव को किसी भी प्रकार से व्यक्त करने मे सर्वदा समर्थ है। भावो को भलीभाँति व्यक्त करने के लिए उन्होने सस्कृत के तत्सम एव तद्भव शब्दो का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा मे खड़ीबोली, पूर्वी हिन्दी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी, गुजराती, पजाजी, अरबी, फारसी शब्दो के शब्द भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है। किन्तु ब्रज भाषा से इतर इन शब्दो के प्रयोगो ने सूर की भाषा को वेगवती और प्रभावशालनी बनाया है। "वास्तव में सूर के शब्द प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होने शब्दो के निर्वाचन में साहित्यक-असाहित्यक, अथवा शिष्ट-अशिष्ट का कोई विचार नही किया। पात्र और परिस्थिति के विचार से जिन शब्दो को उन्होने उपयुक्त समझा उनका प्रयोग करने में उन्हें इस बात का संकोच नहीं हुआ कि वे किस श्रेणी अथवा किस उद्गम के हैं" (डा० ब्रजेश्वर वर्मा)। सूर का शब्द-भंडार वास्तव मे इतना

विशाल था कि उन्हे अपनी कविता के लिए शब्द खोजने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। कविता के प्रबल वेग मे शब्द अपने आप भाषा का निर्माण करते चलते हैं।

वात्सल्य और श्रृङ्गार का वर्णन करने के कारण सूर की भाषा मे ओज की अपेक्षा प्रसाद एव माधुर्य गुण अधिक परिणाम में है। भावो के अनुरूप शब्दो का चयन बड़ा सुन्दर और सयत है तथा वाक्य विन्यास सुव्यवस्थित और सजीव है। लोकोक्तियों और मुहावरो के सफल प्रयोग से उनकी भाषा का सौंदर्य और भी निखर उठा है। इसमे सदेह नहीं कि सूर के पदो में व्यावहारिक भाषा की स्वाभाविकता के कारण सहज आडम्बर हीन सरलता आगई है। सामान्य बोल चाल की भाषा मे मार्मिक- व्यजना पूर्ण गम्भीर से गम्भीर भावो को प्रगट करने में केवल सूर की ही भाषा समर्थ है।

सूर ने अपने हृदय के भावावेश और उमडते हुए तीव्रतम भावना उद्गारों को गीतो का रूप दिया है। डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के शब्दो मे

सूर की शैली

"इस अमरशिल्पी ने गीत काव्यात्मक मनोरागो को आश्रय देकर महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण किया है। गीत काव्यात्मक मनोरागो पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूर सागर हैं।" सूर के गीतकाव्य यह पद्धति सूर की कोविद्यापति जयदेव कबीर बिरासत रूप मे मिली हैं। परन्तु सूर की शैली पर सूर के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। उनके पदो मे जो व्यग, सजीवता, स्वाभाविकता, सहज प्रवाह, चित्रोपमता, और भाव गाम्भीर्य है वह जयदेव, विद्यापति और कबीर मे नहीं है। सूर की यह गीत पद्धति उनकी मुक्तक रचना के लिये सर्वथा अनुकूल है। उन्होने इन गीत पदो मे एक एक भाव को शृ खलावद्ध बनाया है, हृदय की एक एक लहर का चित्र प्रस्तुत किया है, एक-एक अनुभूति का रूप दिखाया है।

सूर के गीतो मे काव्य और सगीत का अपूर्व समन्वय है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "सूर की कविता मे सगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमे यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरो का स्पर्शानुभव कर रहे हें। सूरदास तो

स्वभावत ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें सगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाई है कि वे पद सगीत के जीते जागते अवतार से होगए हैं।"

सूर के गीत घटना प्रधान और भावना प्रधान दोनो ही है। दोनो का उसमे सुन्दर सामजस्य है। इसीलिए सूर के गीतो मे तीव्रता है, तन्मयता है, चुटीलापन है। उनके गीत हमारे हृदय के मर्म पर चोट करते हैं। इसीलिए तो किसी घायल ने कहा है—

किधो सूर को सर लग्यौ किधौं सूर को तीर।
किधो सूर को पद लग्यौ, वेधत सकल शरीर॥

इस प्रकार सूर मानव हृदय की कोमल सरल और सरस भावनाओ के कवि हैं। यह सत्य है कि उन्होंने अपने कृष्ण का लोक रंजक रूप लेकर जीवन के गम्भीर तथ्यो को नहीं सुलझाया, किन्तु फिर भी उन्होने कृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति के चित्रण द्वारा भक्त हृदयो को अलौकिक सुधा रस पिलाया है वहीं काव्य रस-पिपासुओ को तृप्त बनाया है। जन मानस के सम्पूर्ण अ गों को प्रभासित करने वाला सूर्य जैसा प्रखर तेज उनके काव्य में नहीं है, फिर भी उसमे चन्द्र की सी कोमलता, माधुर्य और सरसता अवश्य है। इसीलिये सूर हिन्दी साहित्याकाश के कमनीय कलाधर हैं। पर इससे सूर का महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता। विशुद्ध काव्य की दृष्टि वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनका काव्य अपने मे पूर्ण है और अपने काव्य क्षेत्र के वे अधिपति हैं। उनकी महानता को कोई कवि छू नही सकता। उनका कवि-व्यक्तित्व उस विशाल मेरु शृङ्ग की भाति है जिसके सम्मुख अन्य कवि समुदाय नितान्त बौना सा प्रतीत होता है।

सूर का हिन्दी साहित्य मे स्थान

सर जार्ज ग्रियर्सन का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि बुद्धदेव के अनतर भारत के सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास ही हैं। उन्होने राम के पावन चरित्र मे अनन्त सौन्दर्य, अनन्त गुण, अनन्त शक्ति की प्रतिष्ठा करके तथा उन्हें नारायण से नर बतलाकर और नर मे नारायण का रूप दिखला कर अपनी जीवन साधना से एक ऐसी प्राणवान लोक क्रान्ति का सृजन और पोषण किया जिसने निराश और निष्पद हिन्दू जाति की शिथिल धमनियो मे उत्साह और आशा का सचार कर जीने का नया सम्बल दिया। इस प्रकार तुलसी आर्य सस्कृति और आर्य धर्म के पोषक, रक्षक और पुनरुत्थापक थे। उन्होने अपने रामराज्य की सत्य और सुन्दर कल्पना द्वारा आततायी शासन से त्रस्त भारतीय जनता को व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र का उच्चादर्श बताकर पुनः सगठित किया। 'राम नाम' का महामन्त्र देकर उन्होने हिदू जाति और सभ्यता को युग-युग तक अमर बना दिया।

तुलसीदास जी निश्चय ही शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे। नाभादास ने उन्हे कलिकाल का बाल्मीकि कहा है। स्मिथ ने उन्हे 'मुगल काल का सबसे बड़ा व्यक्ति' माना है। वास्तव में तुलसी कवि, भक्त और समाज सुधारक इन तीनो रूपो मे महानतम हैं। उनका यह बहुमुखी व्यक्तित्व बड़ा विराट और तेजस्वी है। वह लोक कल्याण की तपःपूत भावनाओ

का मूर्त्तिमान रूप है। मानवता का सच्चा सदेश जैसे उसमे प्राणवान हो उठा है। भारतीय समाज के वे लोकनायक हैं। भारतीय साधना और सस्कृति-गगन के प्रचण्ड सूर्य हैं। साहित्य कल्पतरु के वे उत्कृष्टतम पुष्प हैं। हम उन्हे एक युग की विभूति नही कह सकते क्योकि उन्होने आने वाले अनेक युगो पर अपने व्यक्तित्व की अमर छाप अकित कर दी है। उन्होने सनातन युगो के लिए विशाल मानव समुदाय के अन्तस्तलो मे शाश्वत सत्य का आलोक बिखेर दिया हैं।

जीवन परिचय

इस महान आत्मा के जीवन विषय मे अभी तक विद्वानो मे बडा मतभेद है। फलतः तुलसीदास जी का क्रम वद्ध प्रामाणिक जीवन चरित्र अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण यही है कि अन्य महात्माओ की भाति इस महापुरुष ने भी अपने जीवन के विषय मे कही कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थो मे विशेष कर कवितावली, विनयपत्रिका मे यत्र तत्र कुछ बिखरी हुई सामग्री अवश्य मिलती है। उसको लेकर तथा इनके समकालीन एव परवर्त्ती लेखको की रचनाओ के आधार पर विद्वानो ने इनके जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

तुलसीदास जी के जन्म के विषय मे उनकी किसी भी कृति मे कोई उल्लेख नहीं मिलता। तुलसीदास जी के शिष्य बाबा बेणी माधव दास कृत 'मूल गुसाई चरित' के अनुसार तुलसी की जन्म तिथि स० १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी हैं। परन्तु यह ज्योतिष गणना के अनुसार दिये हुये दिन ग्रह राशि से मेल नही खाती। जनश्रुति के अनुसार प० रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म सवत १५८९ माना है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार किया है, तथा आधुनिक शोधो के आधार पर डा० माता प्रसाद गुप्त भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

तुलसीदास किस स्थान पर पैदा हुये थे यह भी उनके जन्मकाल की भांति विवाद का विषय है। ठाकुर शिवसिह सेगर और पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्मस्थान राजापुर को ही माना है। राजापुर से एक सनद भी प्राप्त हुई है जिससे गोस्वामी जी के राजापुर मे जन्म लेने का परम्परागत लोक

विश्वास पुष्ट होता है। रामचरित मानस मे अयोध्याकाण्ड के तापस प्रसङ्ग से इसी विश्वास की पुष्टि होती है। इसके विपरीति सुकविसरोज के लेखक प० गोरीशकर द्विवेदी और प० रामनरेश त्रिपाठी ने सोरो को तुलसी के जन्म स्थान का सौभाग्य प्रदान किया है। वास्तव में इस विषय मे निश्नय पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

तुलसी की माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम दुबे था। श्री चन्द्रवली पाडे हुलसी को तुलसी की माता न मानकर पत्नी मानते हैं। तुलसीदास उच्च ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे इतना निश्चित है। ब्राह्मणो के किस विशेष वर्ग मे उनका जन्म हुआ था, यह अनिश्चित है। जनश्रुति है कि तुलसी अभुक्त मूल नक्षत्र मे पैदा होने के कारण माता-पिता द्वारा त्याग दिए गए थे। जन्मकाल के कुछ दिनो उपरान्त ही माता-पिता की मृत्यु हो गई। फलतः तुलसी के जीवन का सुन्दर प्रभात शीघ्र ही दुखो के काले अन्धकार से भर गया। पेट पूर्ति के लिए उन्हें दर-दर ठोकरे खानी पड़ीं। इसका उल्लेख उन्होने बहुत ही स्पष्ट ढग पर 'कवितावली' के अनेक छन्दो मे किया है। बचपन मे इनका नाम रामबोला था जो बाद में तुलसी और तुलसीदास में परिणित हो गया। अपने दीक्षा गुरु बाबा नरहरिदास से उन्होने शूकर क्षेत्र या सोरो मे राम कथा सुनी।

युवावस्था प्राप्त होने पर तुलसीदास ने गृहस्थ जीवन मे प्रवेश किया। दीन बन्धु पाठक की कन्या रत्नावली इनकी पत्नी थी। अपनी पत्नी के प्रति तुलसी अत्यधिक आसक्त थे। एकबार पत्नी मायके चली गई। तुलसी पत्नी के वियोग के दारुण दुख को न सह सके। काली अँधियारी रात में जल से भरी हुई विशाल नदी को पार कर पत्नी से मिलने के लिये जा पहुँचे। तुलसी के इस पत्नी मोह पर रत्नावली क्षुब्ध हो उठी। फटकार भरे स्वर मे वह बोली-

लाज न आवत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौ मै नाथ॥
अस्थि चरममय देह मम तामे ऐसी प्रीति।
होती जो कहुँ राम मे होति न तो भवभीति॥

स्त्री के इस व्यंग की चोट से तुलसी तिलमिला उठे। उन्होंने स्त्री, घर, धन सभी कुछ त्याग दिया और उनका अनुराग सचमुच ही श्रीराम की ओर प्रवाहित हो चला। इनके विवाह के सम्बन्ध मे अनेक समालोचको का अनुमान है कि मेरे ब्याह न बरेखी और काहू की बेटी सो बेटा न व्याहब के आधार पर इनका विवाह नहीं हुआ था। परन्तु ऐसा अनुमान लगाना अधिक समीचीन नही।

गृह त्यागने के पश्चात तुलसी हिन्दू सस्कृति के केन्द्र काशी आए और बड़ी लगन के साथ धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन करने लगे। 'नानापुराण निगमागम' के अध्ययन से उनकी प्रतिभा को विकास का मार्ग मिल गया और उन्होने अपना भावी पथ निश्चित कर लिया। गोस्वामी जी ने विभिन्न तीर्थो तथा विस्तृत भूभाग का विशाल पर्यटन किया। काशी से अयोध्या आकर तुलसी ने रामचरितमानस का प्रणयन प्रारम्भ किया। उसका उत्तरार्द्ध तुलसी ने काशी मे आकर पूरा किया।

काशी मे तुलसीदासजी का सम्मान बढ़ता ही गया। राजा टोडरमल, अब्दुर्रहीम खानखाना, राजा मानसिह तुलसीदासजी के अनन्य मित्र थे। सम्मान वृद्धि के साथ तुलसी का विरोध भी कम नही हुआ। विरोधियों ने तुलसी को भाति-भॉति के कष्ट पहुँचाए। पर तुलसी का वे कुछ बिगाड़ नहीं सके। उनके जीवन काल मे ही काशी मे महामारी का भीषण प्रकोप बढा। महामारी को शात करने के लिए उन्होने कवितावली के अनेक छन्दो मे माता पार्वती की स्तुति की। महामारी शात होने के कुछ दिनो बाद तुलसी की दाहिनी बॉह मे भयकर शूल प्रारम्भ हुआ। कुछ समय बीतने पर यह शूल समस्त शरीर मे व्याप्त हो गया। इसकी शाति के लिए तुलसी ने हनुमान, शिव, और राम से प्रार्थना की। इस पीड़ा के थोड़े ही दिनो बाद स० १६८० में तुलसीदास जी का शरीरात होगया।

तुलसीदासजी के नाम पर अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं, किन्तु प० रामगुलाम द्विवेदी केवल १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक मानते हैं जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं। काशी नागरी प्रचारणी सभा ने भी इन्हीं १२ ग्रन्थो को प्रामाणिक माना है :—(१) दोहावली—इसमे नीति,

रचनायें

भक्त, नाम महात्म्य, राम महिमा विषयक ५७३ दोहे हैं। (२) कविता-वली—इसमे कवित्त, सवैया, छप्पय आदि ३२५ छन्द हैं। राम कथा का वर्णन सात काडों मे है पर कथा क्रमबद्ध नहीं है। (३) गीतावली—इसमे ३२८ पद हैं और इसमे भी रामकथा का विभाजन ७ काडो में है। (४) श्रीकृष्ण गीतावली—इसकी रचना भी गीतावली की भाँति राग-रागनियो मे है। पदो की सख्या ६१ है जिनमे कृष्ण की कथा गाई गई है। (५) विनय-पत्रिका—यह रागरागनियो मे विनय सम्बन्धी पदो का सग्रह है। (६) राम-चरितमानस—यह गोस्वामी जी का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें राम की कथा ७ काडों में है। यह ग्रन्थ प्रधान रूप से दोहा चौपाई मे है। इसका रचना-काल स० १६३१ माना जाता है। (७) रामलला नेहछू—इसमे राम का नेहछू २० छन्दो में वर्णित है। (८) वैराग्य सदीपनी—इसमे सन्त महिमा, सन्त स्वभाव, शाति का वर्णन दोहा चौपाइयो में हैं। (९) बरवै रामायण—इसहे ६९ बरवै छन्दो मे रामकथा का वर्णन है। (१०) पार्वती मगल –इसमे १६४ छन्दो मे शिव पार्वती का विवाह वर्णित है। (११) जानकी मगल--इसमे २१६ छन्दो मे सीता राम का विवाह वर्णित है। (१२) रामाज्ञा प्रश्न–इसमें ७ सर्ग हैं और प्रत्येक सप्तक मे सात दोहे है। इससे सगुन विचारा जाता है।

तुलसी का लोकनायकत्व

तुलसी जैसा बहु व्यक्तित्व सम्पन्न पुरुष मध्ययुग में कदाचित ही कोई मिलेगा। भक्त, दार्शनिक, पण्डित, कवि, नीतिज्ञ, समाज सुधारक और विचारक के रूप मे तुलसी का महान व्यक्तित्व सोलहवी शताब्दी पर छाया हुआ है। तुलसी ने पहली वार समाज के मनोविज्ञान को भली भाँति पहिचान कर अपने युग के समस्त विरोधी तत्वो का परिहार एव समाज के विकृत स्वरूप का परिष्कार कर जन समाज के सभी क्षेत्रो मे समन्वय की भावना को मूर्त्त रूप दिया और सच्चे लोक धर्म की स्थापना की। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधनी सस्कृतिया, साधनाएँ, जातियाँ, आचार निष्ठा और विचार पद्धतिया प्रचलित है। बुद्धदेव समन्वयकारी थे।

गीता मे समन्वय की चेष्टा है । तुलसीदास भी समन्वयकारी थे ।" महाभारत काल में जब ऐश्वर्य के मद मे मतवाले राजा लोग लोक धर्म और सामाजिक मर्यादा के सच्चे स्वरूप को भूल चुके थे। समाज मे उच्छृङ्खलता और अनाचार बढ रहे थे तब योगिराज श्रीकृष्ण ने महाभारत का सञ्चालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म, भक्ति के समन्वय द्वारा सच्चे लोक धर्म की प्रतिष्ठापना की । कालातर मे पुनः कर्मकाण्ड का प्राबल्य बढ़ा। यज्ञों में निर्दोष पशुओ का बलिदान होने लगा । लोक जीवन की गति सच्चे पथ प्रदर्शन के अभाव मे अवरुद्ध होने लगी तब महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ । उन्होने कर्मकाड और आडम्बरो के माया जाल में उलझे हुए लोक धर्म को दृढ़ता के साथ जनमानस की भावभूमि पर अवतीर्ण किया ।

महात्मा बुद्ध के बाद लोकनायकत्व का गुरुतर भार तुलसीदास ने वहन किया । तुलसी ने जिस युग मे जन्म लिया था वह नैतिक, धार्मिक, सास्कृतिक आर्थिक सभी रूपो मे ह्रासप्राय था । समाज के सामने कोई उच्चादर्श नहीं था उच्चवर्गीय समाज विलासता के पंक मे निमग्न, अकर्मण्य और जन-जीवन से सर्वथा उदासीन था । निम्न वर्ग के स्त्री पुरुष, तिरस्कार, घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे । उनका जीवन अशिक्षा, दरिद्रता के विष दशन से मृतप्राय था । पडितो और ज्ञानियो के साथ समाज का काई सम्पर्क नहीं था । सामाजिक मर्यादाओ का अतिक्रमण खुलकर हो रहा था । वेद, पुराण, साधु, सन्तो और पुरातन आर्य सस्कृति की ऐसे लोगो द्वारा जी भर कर निन्दा की जाती थी जो 'नारि मुई घर सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी' । इस प्रकार वैरागी होना साधारण सी बात थी और सारा देश नाना प्रकार के सम्प्रदायो और अखाड़ो में बॅटे हुए साधुओ से भर गया था । अशिक्षित और निम्नवर्गीय समाज पर अलख जगाने वाले नाथ पथी योगियो का खूब प्रभाव था । ज्ञान, भक्ति और धर्म का स्वरूप इन शास्त्र-ज्ञानहीन, अशिक्षित, ढोंगी और पाखण्डी साधुओ के हाथ अत्यन्त विकृत अवस्था को प्राप्त हो रहा था । उधर तलवार की नोक से धर्म की जड़ जमाने वाले मुसलिम सम्प्रदाय के अत्याचार बढते ही जा रहे थे । हिन्दू जनता भयभीत और त्रस्त थी । उचित पथ प्रदर्शन के अभाव में वह उच्छृङ्खल, विशृंखलित, विच्छिन्न, आदर्शविहीन

और निष्प्राण थी। तुलसी से पूर्व कबीर ने युग चेतना का नेतृत्व किया पर उन्हे आंशिक सफलता प्राप्त हुई। सूफी फकीरो की प्रेम कहानियाँ मुख्यतः इस्लाम प्रचार का माध्यम थी। कृष्ण भक्ति शाखा के सूर आदि सन्त अपनी एकागी भक्ति साधना में ही लीन रहे। लोक चेतना के स्पन्दन को उन्होने अपने काव्य का माध्यम नहीं बनाया। केवल तुलसी ने उस भ्रष्ट और पगु समाज के बीच अवतीर्ण होकर शक्ति, शील, सौन्दर्य से समन्वित साक्षात ईश्वर के साकार रूप राम का देदीप्यमान जीवन चरित्र लोकजीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित कर लोक धर्म का महामन्त्र दिया। दीनप्रतिपालक, भक्तवत्सल, सर्वशक्तिमान राम का आदर्श उपस्थित कर तुलसी ने युग-प्राचीन आर्य संस्कृति को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया और लोक चेतना का सच्चा नेतृत्व किया।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे लोकनायक तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। जीवन के विविध अङ्गो का तुलसी जो समन्वय कर सके उसका कारण यह था कि तुलसी नाना प्रकार के सामाजिक स्तरो का जीवन भोग चुके थे। ब्राह्मण वश के उच्च कुल में जन्म लेने पर भी मुट्ठी भर चनो के लिए उन्हे दर-दर भटकना पड़ा था। अशिक्षित, दरिद्र और निम्न वर्ग के समाज से लेकर साधको, सन्तो, उच्च वर्गीय समाज के लोगो, ज्ञानियो और काशी के दिग्गज पण्डितो का सहवास उन्हे प्राप्त हुआ था। उन्होने नाना पुराणो और निगमागम का अध्ययन किया था साथ ही जनमानस मे प्रचलित लोक साहित्य और साधना के स्वरूप को पहिचाना था। लोक और साहित्य दोनो का उन्हे व्यापक ज्ञान था। पर इस व्यापक ज्ञान को उन्होने अपने तक ही सीमित नही रखा। लोक भाषा के माध्यम से उन्होने राम-साहित्य के रूप मे लोक धर्म के साहित्य का सृजन किया। पडित लोग जिस ज्ञान को जन सुलभ नहीं बनाना चाहते थे, तुलसी ने उसका द्वार सभी के लिए खोल दिया। लोक भाषा मे रचे गए उनके ग्रन्थो ने ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वित स्वरूप को लोक हित के रूप मे प्रदर्शित किया। अपने पूर्व-वर्ती कवियो की भाति तुलसी ने आश्रयदाताओं की प्रशसा मे अपनी प्रतिभा

का दुरुपयोग नही किया। उनकी दृष्टि में 'कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुन गिरा लागि पछिताना'' था। सरस्वती के इस वरद् पुत्र ने अपनी 'गिरा का उपयोग केवल जन कल्याण के लिए ही किया।

लोक और शास्त्र का ही नही तुलसी ने वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और सस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, पडित और अपडित का, ब्राह्मण और चाडाल का, आदर्श और व्यवहार का, प्रकृति और निवृति का अपूर्व समन्वय किया। इस प्रकार तुलसी का समस्त काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रो में उनका समन्वय रूप उभरा हुआ है।

तुलसी के समय शैवो और वैष्णवो मे बड़ी कटुता थी। तुलसी ने रामायण में अनेक स्थानो पर शिव को राम का और राम को शिव का उपासक बताकर इस पारस्परिक वैमनस्य का परिहार किया। उन्होने राम के मुख से बड़ी स्पष्ट रीति से कहलाया कि—

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहुँ नहि भावा

तुलसी के धार्मिक समन्वय का दूसरा रूप धर्म के तीनो अङ्गो ज्ञान, कर्म और उपासना का उचित स्थान निर्धारित करते हुए उनके महत्व का विवेचन है। गोस्वामीजी के अनुसार सुख के लिए भक्ति आवश्यक है। भक्ति का साधन ज्ञान है और ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्रत, जप, तप, अध्ययन, सन्त-समागम आवश्यक हैं।

तुलसी के ग्रन्थो के मनन से विदित होता है कि उन्होने अद्वैतवाद, द्वैत-वाद और विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार कर अपने समय के प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तो का भी समन्वय किया था। अद्वैतवादी "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" वाले सिद्धान्त का निर्देष उन्होने अनेक स्थानो पर किया है।—

रजत सीप मंह भास जिमि, यथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि

इसी प्रकार विशिष्टाद्वैत को मानने वाले चित और अचित-दोनो की सत्ता को मानते हैं। ब्रह्म जगत का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण

भी। गोस्वामी जी की निम्न पक्तियो मे इस मत का भी समर्थन है।

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जलथल वासी॥
सीया राम मय सब जग जानी। करौ प्रणाम जोरि जुग पाणी॥

इन विविध दार्शनिक मतो पर आस्था रखते हुए भी तुलसीदास जी ने इनके विवेचन मे कहीं वैषम्य नही आने दिया। उनकी दृष्टि सर्वत्र समन्वय वादी ही रही।

यह तो हुई धार्मिक समन्वय की बात, सामाजिक समन्वय के रूप में तुलसी ने रामराज्य का आदर्श उपस्थित कर आदर्श जन समाज का सगठन किया और उसमे लोकधर्म की व्यवस्था की। राम सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान जैसे महान चरित्रो की अवतारण कर तुलसी ने हिन्दू जाति को समाज शास्त्र लोक शास्त्र और चरित्र सम्बन्धी नए आदर्श दिए है। उन्होने आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श भाई और आदर्श सेवक के उज्ज्वल चित्र देकर जन जीवन को उच्च बनाने की स्फूर्तिदायक प्रेरणा दी। हिन्दू समाज के हित के लिए तुलसी वर्ण व्यवस्था को आवश्यक समझते थे। उनका कहना था—

वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहि सदा पावहि सुख नहि भव शोक न रोग॥

इस प्रकार तुलसीदास समाज हित की दृष्टि से छोटी बडी श्रेणियो का विधान अनिवार्य समझते थे। वे चाहते थे कि सब श्रेणी के लोग अपनी-अपनी मर्यादा के भीतर ही प्रगति करे। सामाजिक जीवन का सुन्दर सामंजस्य और सभी श्रेणी के लोगो का पारस्परिक प्रेमपूर्ण व्यवहार ही सुख और समृद्धि का कारण बन सकता है। अन्यथा समाज मे उच्छृङ्खलता बढ़ेगी। सामाजिक मर्यादा नष्ट हो जायगी और सामाजिक जीवन का ढाचा टूट जायगा।

इस प्रकार तुलसीदास समन्वय बादी होने के साथ-साथ मर्यादावादी भी थे। समन्वयवाद के आवेश मे उन्होने कही भी धर्म के असत् रूप और लोक धर्म की विरोधी-प्रवृत्तियो से समझौता नहीं किया। लोक मर्यादा का उल्लघन चाहे-वह किसी भी रूप मे हो उनके लिए असह्य था। उनके मतानुसार मर्यादा के बिना सामाजिक कल्याण आकाश-कुसुम के समान है। परन्तु अपने

इस मर्यादावाद से तुलसीदास किसी के सुख को बलात् चोट नहीं पहुचाना चाहते थे। उनका मर्यादावाद तो जन-कल्याण के निमित्त था।

साहित्यिक क्षेत्र मे भी तुलसी ने अपनी अद्‌भुत समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "शिथिल जनता मे जितने प्रकार की काव्य पद्धतियो का प्रचलन था, उन सबको उन्होने सफलता पूर्वक अपनाया था। चंद के छप्पय, कुण्डलियाँ, कबीर के दोहे और विनय के पद, सूरदास और विद्यापति की लीला गान विषयक भाव प्रधान गीति पद्धति, जायसी, ईश्वरदास आदि की दोहा, चौपाइयो की शैली, गग आदि भाट कवियो की सवैया, कवित्त की पद्धति, रहीमके बरवै सबको उन्होने अपनी अद्‌भुत ग्राहिका शक्ति के द्वारा आत्मसात कर लिया था। इसी प्रकार उन दिनो साधारण जनता मे प्रचलित सोहर, नहछू, गीत, चाचर, बेली, बसन्त आदि रागो मे उन्होने राम-काव्य की रचना की। इस प्रकार साधारण जनता मे प्रचलित गीति पद्धति से लेकर शिक्षित जनता मे प्रचलित काव्य रूपो को उन्होने अपनाया।" यही नहीं ब्रज और अवधी दोनो ही भाषाओ को अपने काव्य का माध्यम बनाकर उन्होने भाषा का भी समन्वय किया। काव्य के दोनो रूप प्रबन्ध और मुक्तक मे रचना कर उन्होने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। इस प्रकार समाज साहित्य, सस्कृति, दर्शन सभी क्षेत्रो मे तुलसी का समन्वयकारी व्यक्तित्व प्रतिष्ठित है।

यह पहले निवेदन किया जा चुका है कि तुलसी का समस्त जीवन समन्वय की विराट चेष्टा है। अध्यात्म के क्षेत्र मे भी उनका यही समन्वयकारी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से लक्षित है।

तुलसी के काव्य की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

सम्प्रदाय की दृष्टि से तुलसी रामानन्दी मत मे दीक्षित हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित हैं। शकर ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था, सैद्धान्तिक दृष्टि से वह आकर्षक होते हुए भी व्यावहारिक रूप मे वह अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका। शंकर के इस अद्वैतवाद को अधिक उपयोग और व्यावहारिक रूप देने के लिए रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। विशिष्टाद्वतवाद के अनुसार चित्त (जीव) और

अचित्त (दृश्यम्) परमब्रह्म (विष्णु) से उत्पन्न होते है और उसी मे लीन हो जाते हैं। इस प्रकार चित्त, अचित्त विशिष्ट ब्रह्म के अश ह, उसी पर निर्भर हैं। परब्रह्म ही कर्त्ता है और वही उपादान कारण भी। जीव को परब्रह्म से सामीप्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। प्रलय होने पर चित्त और अचित्त ब्रह्म मे लीन हो जाते हैं, किन्तु उससे अभिन्न नहीं होने पाते। सृष्टि रचना की अवस्था मे वे पुनः पृथक हो जाते हैं। शकर के अद्वैत के समान वे अपना अस्तित्व नही खोते। यद्यपि ब्रह्म और जीव (चित्त) एक ही तत्त्व से निर्मित हैं तथापि उनका अन्तर माया जनित नहीं है। इसी विशिष्टता के कारण रामानुजाचार्य का अद्वैत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। बैकुण्ठ या साकेतधाम की प्राप्ति कर जीव परब्रह्म से मिलकर अनन्त आनन्दका उपभोग करता है। जीव की यह मिलन स्थिति 'अभिज्ञान सम्मिलन' कहलाती है। रामानुजाचार्य ने इसी भक्तिमार्ग का प्रचार सर्व-साधारण मे किया। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के इसी भक्तिमार्ग को बहुत ही व्यापक और लोक प्रिय रूप दिया। उन्होने विष्णु के स्थान पर उनके अवतारी रूप राम की भक्ति का प्रचार किया। यही नही उन्होने रामानुज के कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को परब्रह्म के सामीप्य लाभ का मार्ग बताया। इसी राम भक्ति साधना का पूर्ण विकास तुलसीदास की रचनाओ के माध्यम से व्यक्त हुआ।

रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्त कवि होने के कारण यह स्पष्ट है कि तुलसी विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी है। परन्तु अपनी रचनाओ मे अनेक स्थलो पर तुलसी ने शकर के अद्वैत मत का भी प्रतिपादन किया है। प० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने तो इसके प्रमाण मे मानस के प्रायः सभी दार्शनिक प्रसङ्ग ला उपस्थित किए हैं। फलतः तुलसी किस मत के अनुयायी हैं, इस विषय को लेकर विद्वानो में बड़ा भारी मतभेद है। खैर कुछ भी हो, इससे इतना तो स्पष्ट है कि तुलसी के आध्यात्मिक विचारो को किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा से नहीं बाँधा जा सकता। उन्होने तो अपनी सार ग्रहणी प्रवृत्ति और समन्वय वादी दृष्टिकोण द्वारा भारतीय दर्शन के मथन से रामभक्ति के मणि रत्न को शोध निकाला हैं। इतना अवश्य है कि उन्होने शकर के अद्वैतवाद और

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को प्रमुखता दी है। एक प्रकार से उन्होंने अद्वैत-वाद के भीतर विशिष्टाद्वैत वाद की सृष्टि की है

तुलसी के राम विश्व की समस्त चेतना के मूल स्रोत हैं, विश्व के समस्त प्राणीमात्र मे ये जीव होकर व्याप्त है। ये ही राम परम ब्रह्म और परमात्मा है। विश्व की समस्त चेतना के मूल स्रोत होने के कारण राम ज्ञान स्वरूप हैं तथा माया के स्वामी होने के कारण सगुण ब्रह्म भी हैं। वास्तव मे निर्गुण और सगुण मे कोई भेद नही है। भक्त के प्रेम के कारण ही निर्गुण ब्रह्म सगुण का रूप धारण करता है—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

अपनी माया के ही द्वारा राम ने मनुष्य शरीर धारण किया है। राम ही सृष्टि के निमित्त कारण हैं। उनकी माया उनकी भौहो के सकेत से सृष्टि की रचना और उसका सहार करती है। दुष्टो के विनाश तथा सज्जनो की पीड़ा को दूर करने तथा धर्म की रक्षा के लिए परम ब्रह्म राम अवतार ग्रहण करते हैं। सीता, आदि नारायण राम की योग माया है। जिस प्रकार गिरा से उसका अर्थ अभिन्न है, उसी प्रकार सीता राम से अभिन्न हैं। वे आदि शक्ति है जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है। सत्य तो यह है कि राम परमब्रह्म है और सीता मूल प्रकृति है। ससार मे इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिये समस्त ससार मे राम और सीता को व्याप्त समझ कर तुलसी दास सीता तथा राम की एक साथ वदना करते हैं—

सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

यह समस्त विश्व राम की माया के अधीन है। माया ही समस्त संसार की रचना, स्थिति और सहार करने वाली हैं। माया स्वतः जड़ है परन्तु राम के कारण वह चैतन्य और गतिशील है। उसने समस्त जीवो को अपने वश मे कर रखा है। माया जनित ससार मिथ्या है, परन्तु राम के सत्य से प्रतिभासित होकर वह भी सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और जीव मे भी कोई भेद नहीं है। जो भेद दोनो मे ज्ञात होता है, वह मिथ्या है, और केवल माया ने जीव को मोह या अज्ञान मे डाल रखा है। इसी अज्ञान या मोह के

कारण जीव ब्रह्म से अपने को अलग समझता हुआ भवचक्र के बधनों में पड़ा रहता है । परन्तु जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर जीव भव जाल के कठोर पाश से मुक्ति पाता है । भव चक्र के समस्त कष्टो से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय यही है कि माया के मोह अन्धकार से मुक्ति प्राप्त कर परमार्थ के साधन मे लगा जाए । राम भक्ति द्वारा ही जीव माया के पाश से मुक्त बन परमार्थ के साधन मे तत्पर हो सकता है ।

यह भक्ति ही समस्त साधनो का सुन्दर फल है । ज्ञान और विज्ञान सब इसके अधीन है । कलिकाल मे रामभक्ति ही भवक्लेश से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय है । योग, यज्ञ, पूजादि विविध विधान अन्य युगो मे उपयोगी हो सकते हैं परतु कलिकाल मे उनकी भी दाल नहीं गलती । इसलिये जो बुद्धि मान लोग हैं वे राम की निष्काम भक्ति की याचना करते है । रामभक्ति के आगे मुक्ति की महत्ता भी उनके लिए तुच्छ है । लेकिन जो लोग राम के चरणो मे अनुराग नही रखते वे जन्म जन्मातर तक सासारिक माया मोह जाल मे उलझे रहते हैं । सत्य तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य बिना रात्रि के अन्धकार का विनाश नहीं हो सकता उसी प्रकार रामभक्ति के बिना मनुज जीवन सासारिक क्लेशो से मुक्ति नहीं पा सकता । तुलसीदास जी का यह अगाध विश्वास है कि रामभक्ति से विमुख होने पर चाहे जितने भी प्रयत्न किये जावे परन्तु भवसागर से मुक्ति पाना नितात असम्भव है । क्योकि भक्ति रहित जीव माया के वश मे रहते हैं परन्तु रामभक्तो पर माया अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाती । इस प्रकार रामभक्ति माया से भी प्रवल है ।

यह राम भक्ति बिना राम की कृपा के प्राप्त नही होती । राम के प्रति अनन्य प्रेम राम कृपा की प्राप्ति का साधन है । फिर तो अपने भक्तो पर राम की कृपा निरतर रहती है । वे सदैव अपने सेवक की रक्षा करते हैं, उसके अव-गुणो पर ध्यान नही देते । भक्तो के प्रति वे इतने कृपालु होते हैं कि भक्तो के विरोधियो को उनकी क्रोधाग्नि मे भस्म होना पड़ता है, जब कि अपने प्रति किए गए अपराधो पर वे कोई ध्यान नही देते । रामकथा श्रवण, सत्सग गुरुकृपा, नामस्मरण, राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार करने की प्रबल आकाक्षा या रूपासक्ति, राम के गुणो का चिन्तन, पूजासक्ति अथवा

रामार्चन मे अनुराग, रामतीर्थो का सेवन, ब्राह्मण पूजा, वैराग्य वृत्ति, राम के प्रति अनन्य प्रेम भाव, लोक सग्रह वृत्ति, सासारिक सम्बन्धो से ममत्व त्याग तन्मयता, निष्काम प्रेमाभक्ति शिवभक्ति आदि रामभक्ति की प्रमुख भूमिकाए हैं।

इस प्रकार तुलसी की भक्ति भावना भारतीय भक्तिमार्ग की परम्परा पर आधारित है। निर्गुणवादियो की भॉति वह अस्पष्ट और रहस्यमूलक न होकर सर्वथा सीधी सरल और स्पष्ट है। तुलसी की भक्ति का आलबन राम का वह सगुण रूप है जो भक्तो की रक्षा और उन्हे भव सागर से पार उतारने तथा दुष्ट जनो का सहार करने और धर्म के रक्षण हेतु इस सृष्टि मे अवतार लेता है। आलबन के इस रूप मे तुलसी ने शील, शक्ति और सौदर्य तीनो की चरम प्रतिष्ठा की है जो मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका प्रकृति को व्यापक रूप देती हैं। उससे जीवन मे सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता और शक्ति सभी कुछ प्राप्त होती है। दास्य भाव के रूप मे राम के प्रति इसी अनन्य भक्ति के अविरल सुधारस मे तुलसी की कविता आपादमस्तक डूबी हुई है।

हिन्दी के काव्य क्षेत्र मे तुलसी जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा लेकर कोई कवि अवतीर्ण ही नहीं हुआ। हिन्दी की कवि परम्परा मे उनका स्थान सर्वोपरि है।

तुलसी की काव्य साधना

भारती के इस अप्रतिम कलाकार की दिव्य प्रतिभा के स्पर्श से कविता जैसे कृतकृत्य हो उठी है। इसीलिए हरिऔध जी का यह कथन कितना सत्य है "कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।" निस्सन्देह तुलसी की काव्य साधना के विराट और व्यापक रूप मे हिन्दी कविता अपने चरम रूप को प्राप्त हुई है। भावनाओ की विशाल रणस्थली, कविता का ऐसा लोकोत्तर आनन्द, कला की ऐसी दिव्य छटा और इन सबसे ऊपर विराट मानवता के चित्रण स्वरूप की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति केवल तुलसी के काव्य मे दृष्टव्य है।

काव्य के विविध रूपो पर तुलसी का अनन्य अधिकार था। शास्त्रीय-दृष्टि से कविता के मुख्यतया दो भाग किए जाते हैं। पहली तो भावात्मक या भाव प्रधान कविता जिसमे कवि की वैयक्तिक अनुभूतियो, भावनाओ और

आदर्शों की प्रधानता रहती है। मुक्तक रचनाओं का अन्तर्भाव इसी कोटि की रचनाओ मे किया जाता है। कविता का दूसरा रूप विषय प्रधान है। इसमे कवि की दृष्टि आत्माभिव्यजना की ओर नहीं रहती, वरन् वह जगत के वास्तविक दृश्यो और जीवन की वास्तविक दशाओ के निरूपण मे अपनी प्रतिभा का कौशल दिखलाता है। खण्ड-काव्य और महा-काव्य इसी कविता के के अन्तर्गत हैं। काव्यकला के इन दोनो रूपो मे तुलसी का व्यक्तित्व असाधारण है।

तुलसी का मुक्तक काव्य

अपनी दोहावली, बरवैरामायण, कवितावली, बाहुक, गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा विनयपत्रिका कृतियो मे तुलसीदास मुक्तककार के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। ये कृतियाँ तुलसी की ही नही हिन्दी के मुक्तक साहित्य की उत्कृष्ट रचनाए हैं। आत्मानुभूतियो का चित्रण गीनकाव्य का मूल तत्व है। इसके दो रूप हो सकते हैं। १—सहानुभूति परक और २—वैयक्तिक। शुद्ध रूप मे गीतकाव्य वही है जो दूसरो की परिस्थितियो मे अपने को आत्मसातकर उनके जीवन के क्षणो को अपना बनाकर गीतो मे ढाल देता है। जिस आदि कवि के वियोगी होने की कल्पना की गई है वह इसी दूसरे प्रकार का कवि रहा होगा। दूसरे प्रकार के गीतिकाव्य मे अपनी ही परिस्थितियो से उत्पन्न वैयक्तिक अनुभूतियो का प्रकाशन होता है। तुलसीदास जी की रचनाओ मे गीतिकाव्य के दोनो ही रूप मिलते हैं। उनकी गीतावली तथा कृष्ण गीतावली प्रथम प्रकार का गीतिकाव्य है, विनय-पत्रिका मे उसके दूसरे रूप के दर्शन होते हैं। इन दोनो रूपो मे गीत तत्व कहाँ तक विकसित हुआ है। यह विचारणीय है।

गीतकाव्य के सृजन का मूल आधार कवि की भावुकता है। परन्तु तुलसी दासजी ने रामकथा को जिस रूप मे ग्रहण किया है, उसमे भावुकता के लिए स्थान बहुत कम है। वे सर्वत्र भावावेश, अधीरता से परे विकेकवादी हैं जिसने उनकी भावुकता को मर्यादित कर रखा है। इसीलिए तुलसी के गीत काव्य को उपयुक्त आधार नहीं मिला। उनकी गीतावली सगीतात्मकता की दृष्टि से पूर्ण हो सकती है परन्तु भावातिरेकता उसमे बहुत कम है। कुछ

ही पदोमे जैसे पुत्र विरहमे माताओ के, शरणागति मे विभीषण के, भावोद्गारो में शुद्ध गीतिकाव्य का सफल परिपाक हो सका है। इसी प्रकार कृष्ण गीतावली में भावो का वह तीव्र प्रवाह, आत्मानुभूतियों की वह मार्मिक अभिव्यजना नहीं है जो उत्कृष्ट गीतिकाव्य के लिए अपेक्षित है। जिस कृष्ण चरित्र को लेकर हिन्दी साहित्य मे गीतिकाव्य के दिव्य रस का संचार हुआ है, तुलसी का कवि-हृदय पूर्ण रूप से उससे तादात्म्य स्थापित न कर सका।

वास्तव मे तुलसीदास को सहानुभूति जनक गीति काव्य से अधिक वैयक्तिक आत्मानुभूति व्यजक गीति काव्य मे अधिक सफलता मिली है। उनकी विनय-पत्रिका इस दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण रचना है। समस्त विश्व के आत्म-निवेदन साहित्य मे उसका स्थान सर्वोपरि है। भाव, भाषा, कला आदि के आधार पर तो वह रामचरितमानस की कोटि का काव्य है। तुलसी के भक्त हृदय की राम के प्रति जैसी अनन्यता, दैन्यता, आत्म-समर्पण की भावना, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्मनिवेदन, आदि भावलहरियाँ इस विनय पत्रिका के भाव-सागर मे उठी हैं, भक्तिरस का जो अपूर्व स्रोत इसमे बहा है वह अपने में सर्वथा पूर्ण है।

दोहावली, बरवै रामायण, कवितावली, बाहुक तुलसी की अगीति मुक्तक रचनाएँ हैं। मुक्तक काव्य के क्षेत्र में इनका विशेष महत्व नहीं है।

हिन्दी साहित्य मे प्रबध सौष्ठव की दृष्टि से तुलसी का स्थान सर्वोच्च है। 'रामचरितमानस' तुलसी का ही नही हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। भावना और आदर्श के माप दड के अनुसार तो यह तुलसी का प्रबन्ध विश्वसाहित्य की श्रेष्ठतम रचना कही जा सकती है। भक्ति - काव्यत्व भाव की प्रचुरता और आदर्शों की महानता ने मानस को इतना ऊँचा उठा दिया है कि धार्मिक साहित्यक और सामाजिक सभी दृष्टियो से वह एक अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति है।

महाकाव्य के समस्त लक्षणो से 'मानस' भली भाँति सम्पन्न है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं। शृगार, वीर, और शांत [illegible] इन तीनो प्रमुख रसो से मानस अनुप्राणित हैं, यद्यपि शाँत रस इसमें प्रधान हैं। इसमे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों ही वर्ग की

सिद्धि का उदात्त आदर्श भी हैं। यही नही मानस का कथानक सौष्ठव, प्रसंगानुकूल सवाद, उत्कृष्ट भाव-व्यजना, वस्तु व्यापार वर्णन और पात्रो का चरित्र-चित्रण अपनी सानी नहीं रखता। वर्णन मे कही शिथिलिता लेशमात्र को भी नहीं है तथा प्रासगिक कथाए कहीं भी तनिक अरुचिकर और लम्बी नहीं होने पाई हैं। कथा को कहाँ बढ़ाना और कहाँ घटाना चाहिए, इन सब बातो मे तुलसीदास जी निपुण थे। मार्मिक और भाव-व्यजक स्थलो को परखने की तुलसीदासजी मे अद्भुत शक्ति थी। अपने मानस मे उन्होने उन्हीं स्थानो का अधिक विस्तृत वर्णन किया है जो कि मानव मात्र के लिए हृदय स्पर्शी हैं। जैसे जनक-वाटिका में राम और सीता का प्रथम मिलन, राम बन गमन, दशरथ मरण, चित्रकूट मे राम भरत मिलन, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का विलाप। तुलसी की उत्कट प्रतिभा के प्रकाश मे इन मर्म स्पर्शी स्थलो के दृश्य इस सुन्दरता के साथ उद्भासित हुए हैं कि उन्हे निरखकर हमारे हृदय मे आदर्शों और भावनाओ का समुज्ज्वल प्रकाश प्रभासित हो उठता है। तुलसी की भाव व्यंजना में जो तीव्रता और गतिशीलता है, जो स्पदन और प्राणवान स्फूर्ति है, वह इसलिए है कि तुलसी ने विभिन्न परि स्थितियो मे मानव-वृत्तियो को गहराई से टटोला है। इसीलिए तुलसी द्वारा प्रतिपादित अनुभूतियो को, उनके राग-विराग, हास्य रुदन को हम अपनी अनुभूति और अपना हास्यरुदन समझते हैं। इस रूप मे हम तुलसी के इष्टदेव के प्रति, सिद्धान्तो के प्रति, आदर्शों के प्रति अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यही कवि की सच्ची महानता है, और तुलसी इसमें खरे उतरे हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मानस का कवि महान है। तुलसी ने अपने पात्रो की आत्मा मे पैठकर उनके चरित्र का, उनकी प्रकृति और भावनाओं का जैसा मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक निरूपण किया है वह अद्भुत है। उनके सभी पात्र हमारी ही भाति जीवन के विविध व्यापारो मे प्रवृत सर्वथा हाड़ मांस के जीव हैं। अलौकिक होते हुए भी वे लौकिक हैं, क्योकि वे हमारी ही भाति सवेदनशील हैं, सुख दुख का अनुभव करने वाले हैं मानवोचित गुणों और दुर्बलताओं से भरे हुए हैं। उनकी अलौकिकता हमारे हृदय में आश्चर्य और श्रद्धा के ही भाव नहीं उत्पन्न करती वरन् उन्हीं आदर्शों

की ओर चलने की प्रेरणा देती है । हनुमान, राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, आदि पात्रो के निर्मल चरित्र जीवन के सभी क्षेत्रो मे नवीन सन्देश देते हैं, मानव जीवन के पारस्परिक सम्बन्धो के उदात्त आदर्शों की स्थापना करते हैं, मानव जीवन के किसी न किसी अग पर प्रकाश डालते ह । यही कारण है कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तुलसीदास की तुलना विश्व-साहित्य के गिने चुने कवियो से की जा सकती है ।

पात्रो के आतरिक चरित्र चित्रण मे तुलसी ने कमाल ही कर दिखलाया है । उन्होने देव, मनुज यहा तक कि पशु पक्षियो तक की आतरिक चेष्टाओ की झॉकी प्रस्तुत की है । ऐसा प्रतीत होता है जैसे तुलसी ने मानव हृदय की प्रत्येक सूक्ष्म वृत्ति का मनौवैज्ञानिक अध्ययन किया हो । ईर्ष्या, द्वेष, करुणा आदि विभिन्न वृत्तियो और भावो के सघर्षण की अभिव्यजना उन्होने अपने काव्य में बड़ी कुशलता से की है । रामचरितमानस के सभी सवाद मानव मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण स्थान हैं । मथरा कैकई सवाद मे कवि ने बड़ी कुशलता के साथ यह परिलक्षित किया है कि किस प्रकार सरल और निर्दोष हृदय, कुटिल व्यक्ति की प्रवचना और धूर्त्तता के कारण कलुषित हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब वह पाप मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तब उसका हृदय सशय और भय से भरा रहता है। उसका शकित और सत्रस्त हृदय सदैव आकुल रहता है कि कही उसे कोई देख न ले । इस रूप मे महापराक्रमी रावण की मनःस्थिति का चित्र देखिए :—

जाके डर सुर असुर डराहीं । निसि न नींद दिन अन्न न खाई ।
सो दससीस स्वान की नांई । इत उत चितै चला भड़िहाई ॥

सीता हरण के समय राम के मानव हृदय की अन्तर्वृत्तियो का प्रकाशन कितना स्वाभाविक है जब वे पैड पौधो और पशु-पक्षियो से पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ।

तुलसी ने जहॉ अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से अन्तर्जगत के इतने व्यापक रूप मे ऐसे स्पष्ट चित्र दिए हैं वही बहिर्जगत के नाना रूपो का सजीव चित्राकन किया है । कवि के काव्य का आधार पाकर कोई भी बाह्य दृश्य जैसे मूर्तिमान हो जाता है । सुन्दर आभूषणो से सज्जित रमणियो का अपने कोकिल

कण्ठ से कलगान करते हुए झूला झूलने का चित्र देखिए—

बहु भाँति तान तरंग सुनि गन्धर्व किन्नर लाजहीं।
अति मचत छूटत कुटिल कच छबि अधिक सुन्दरि पावहीं
पट उड़त भूषण खसत हँसि-हँसि ऊपर सखी झुलावही।

विभिन्न व्यापारो में तत्पर मनुष्य की भाव-भगिमाओ और मुद्राओं का चित्रण भी बेजोड़ है। आखेट के अवसर पर मृग को लक्ष्य कर वाण खींचते हुए राम का चित्र इन पक्तियो में देखिए—

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे॥
जटा मुकुट सिर सारस नयननि गोंहै तकत सुभौंह सकोरे।

इस प्रकार के चित्रो से काव्य भरा पड़ा है। उनका शब्दचित्रण तो और भी अद्‌भुत है। सत्य तो यह है कि उन्होने प्रत्येक भावो के बड़े सवाक चित्र खींचे हैं।

तुलसी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनका समस्त काव्य एक दिव्य रस से रस सजोया हुआ है। अपनी रचनाओं मे उन्होने सभी रसों का विधान किया है। वे स्वय कहते हैं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष तिन्हि जाना नाहीं॥

इस प्रकार तुलसी प्रणीत प्रत्येक पक्ति मे रस चमत्कार अवश्य विद्यमान है। तुलसी का शृ गार रस का वर्णन अत्यन्त सयत भाषा मे और मर्यादा के अनुकूल है। ऐसा शिलष्ट और मर्यादित शृ गार सबके सम्मुख बिना किसी सकोच के साथ पढ़ा जा सकता है। पुष्प वाटिका प्रकरण मे राम सीता भेंट के प्रसग को लेकर संयोग शृ गार का चित्रण कितना सरस, कितना निर्मल है

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभि दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहुँ कीन्ही॥

इसी प्रकार हनुमानजी लका से लौटने पर श्री राम को सीता का जो प्रणय-सन्देश देते हैं विरह की मार्मिक अनुभूतियो से वह कैसा सँजोया हुआ है—

मन क्रम बचन चरन अनुरागी । केहि अपराध नाथ हो त्यागी ।
अवगुन एक मोर मै माना । बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा । निसरत प्रान करहि हठि बाधा
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छनमाहिं सरीरा ॥
नयन स्रवहि जल निजहित त्यागी । जरइ न पाव देह बिरहागी

राम वन गमन और लक्ष्मण के शक्ति लगने पर करुण रस का हृदय-द्रावक चित्र हम पाते हैं । राम-रावण युद्ध वर्णन मे रौद्र, भयानक, वीभत्स और वीर रस की उत्कृष्ट व्यजना है । नारद-मोह, शिव-विवाह और सूर्पणखाँ प्रस्ताव में हास्य रस का सुन्दर परिपाक है । राम के ब्रह्मत्व और मनुष्यत्व के आलेखन मे अद्‌भुतरस का आयोजन है । शान्त रस तो सर्वत्र बिखरा पड़ा है।

सब कुछ मिलाकर तुलसी के काव्य की आत्मा बड़ी विराट है । उनके भावना लोक की परधि बड़ी व्यापक और विशाल है, और इस भावभूमि में जितना व्यापक सचरण तुलसी के कवि हृदय ने किया है उतना और किसी ने नही । कारण भी स्पष्ट है । तुलसी ने जिस राम के चरित्र की व्याख्या की है वह समस्त विश्व मे व्याप्त है । वे केवल भक्तो को आकृष्ट करने वाले अनन्त सौंदर्य के धारक ही नहीं हैं वरन् भक्तो की रक्षा मे तत्पर दुष्ट दमन में प्रवृत्त अनन्त शक्तिवान भी हैं। वे आदर्श भ्राता, आदर्श पुत्र, आदर्श स्वामी और इन सबसे ऊपर आदर्श पुरुष हैं । मानव जीवन की विविध परि-स्थितियों के कूलो को उनकी जीवन सरिता ने स्पर्श किया है । यही कारण है कि तुलसी अपने काव्य मे मनुष्य जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियो का सन्निवेश कर सके । सूर की भाँति उनका काव्य, शृ गार और वात्सल्य तक ही सिमिट कर न रह गया वरन इससे भी आगे जीवन के विविध रूपो को उराने अपना विषय बनाया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे "मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपो के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखण्ड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो

उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास जी के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान हैं।"

तुलसी की भावभूमि जहाँ इतनी व्यापक और महान है, वहाँ उनकी अभिव्यंजना शक्ति मे उतनी ही गहनता और तीव्रता है। इतना अवश्य है कि

अलंकार

तुलसी ने काव्य का वह विकृत रूप हमारे सामने नहीं रखा जो हमारे हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, रस का उद्रेक करते हुए हमारी अनुभूतियों को नहीं जगाता, वरन् कुतूहलमात्र ही उत्पन्न करता है। इसीलिए तुलसी की वाणी, शब्दो की कलाबाजी और उक्तियो की झूठी तड़क-भड़क मे नहीं उलझी। अलंकारो का प्रयोग भी उन्होने भावो का उत्कर्ष दिखाने, वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए ही किया है। यही कारण है कि तुलसी के अलंकार प्रयोग मे सहज स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं। स्वतः ही वे तुलसी की कविता में समा गए हैं। इसीलिए अर्थ सिद्धि मे वे बाधक न होकर सहायक हैं।

पात्रो के गुण तथा स्वभाव चित्रण मे कवि ने उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त तथा उदाहरण अलकारो की सुन्दर योजना की है। भरत के सम्बन्ध मे वस्तूत्प्रेक्षा का कितना सुन्दर प्रयोग हैं—

लसत मंजु मुनि मण्डली मध्य सीय रघुचन्द।
ज्ञान सभा जनु तनु धरें भगति सच्चिदानन्द॥

भावों और मनोवेगो के चित्रण मे कवि ने उत्प्रेक्षा और रूपक का अधिक सहारा लिया है। विषम-वेदना को प्रकट करती हुई निम्न पंतियाँ देखिए—

दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जन छुइ गयउ पाक बरतोरू॥

इसी प्रकार वस्तु-चित्रण, कार्य और व्यापार चित्रण मे भी तुलसी की कविता उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य से मण्डित है। आकाश मार्ग मे पर्वत को लेकर द्रुति गति से आते हुए हनुमान का चित्र देखिए—

तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

रूपक का सर्वाधिक प्रयोग हमे घटना-चित्रण मे मिलता है। धनुष

प्रकरण मे रगमंच की ओर रामचन्द्रजी के अग्रसर होने का चित्र आकिए—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग ।
बिकसे सन्त सरोज सम हरषे लोचन भृंग ।।

इसके अतिरिक्त उपमा, परिणाम, सन्देह, अपन्हुति, उल्लेख, प्रतीप, व्यतिरेक प्रायः सभी प्रमुख अलकार तुलसी के काव्य मे दृष्टव्य हैं ।

अलकारो की भाँति तुलसी की उक्तियाँ बड़ी मार्मिक और प्रभावशालिनी हैं । तुलसीदासजी जब ससार रूपी सर्प के कारण बहुत बेहाल हो गए, तब रक्षा के लिए अपने स्वामी को पुकारने लगे—

तुलसीदास भव व्याल ग्रसित तव सरन 'उरग रिपु गामी ।'

'उरग रिपु' गरुड़ को कहते हैं जो कि सर्पो के शत्रु हैं । यहाँ भी ससार रूपी सर्प से रक्षण पाने हेतु सर्पों के शत्रु गरुड़ गामी नाथ को पुकारा गया है । इसी प्रकार राम-वन-गमन पर कौशल्या दारुण व्यथा से व्यथित होकर कहती हैं—

हो घर रहि मसान पावक ज्यो मरिबोइ मृतक दह्यो है ।

राम विहीन घर कौशल्या को शमशान के समान लग रहा है । शमशान की अग्नि मे कौशल्या को भस्म होना चाहिए, परन्तु जैसे उसमे तो उसकी मृत्यु का शव जलाया गया है । भाव यह हैं कि कौशल्या को मृत्यु नहीं आती परन्तु यह कितने अनूठे ढङ्ग से व्यक्त की गई है । तुलसी का समस्त काव्य ऐसी उक्तियो से ही भरा हुआ है ।

भाषा शैली और छन्द

तुलसी सस्कृत के निष्णात पण्डित थे और वे चाहते तो देव भाषा सस्कृत में उत्कृष्ट काव्य कर सकते थे । परन्तु उन्होंने लोक कल्याण की दृष्टि से जन समाज मे प्रचलित लोक भाषा मे कविता की । कवितावली विनय पत्रिका तथा कृष्ण गीतावली उनकी ब्रज भाषा की रचना है, अन्य सभी कृतिया अवधी भाषा मे है । यद्यपि तुलसी ने अपनी भाषा को गंवारू बताया है, परन्तु वास्तव में यह अत्यधिक परिमार्जित, साहित्यक और परिष्कृत भाषा है । उनकी रचनाओ पर राजस्थानी, भोजपुरी और बुन्देलखण्डी भाषाओ का भी प्रभाव है । उन्होंने अन्देशा, गरीब निवाज, गर्दन, जहान, निसान आदि अरबी और

फारसी शब्दो का भी प्रयोग किया है। फिर भी संस्कृत के तत्सम शब्दो की तुलसी की रचनाओ मे प्रचुरता है।

' सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रचुर प्रयोग उन्होने साभिप्राय किया है। इनके द्वारा एक ओर तो उन्होने अपनी भाषा को शिष्ट रूप दिया और उसे महत्तम और उन्नतम भावो का वाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हे देश भाषा के संयत और मनोरम साँचे मे ढालकर चलन सार और टकसाली रूप देदिया। उनकी यह भाषा-निर्माण की कला अपूर्व है। जिस कारीगरी से उन्होने सस्कृत शब्दो को देशी रूप दिया, संस्कृत की जमीन पर पहले प्रान्तीय भाषा का रग चढ़ाया और फिर हिन्दी प्रत्ययो और विभक्तियो के बूटे जड़कर हिन्दी धातुओ की गोट लगायी वह सारी मोहक और प्राजल छटा उन्हीं का निर्माण है। हमारी मातृभाषा ने उनसे अर्पण किया हुआ यह परिधान बड़े गौरव के साथ धारण किया" (डा० राजपति दीक्षित)

सत्य तो यह है कि तुलसी का शब्द सागर सीमा रहित था। उन्होने सस्कृत प्राकृत तथा विभिन्न भाषाओ के हजारो शब्दो का अधिकार पूर्वक प्रयोग किया है। उनका शब्द चयन सुन्दर और वाक्य विन्यास सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित था। थोड़े से शब्दो मे गम्भीर भाव भर देना तुलसी के बाँए हाथ का खेल था। फिर भी ऐसी भाषा मे सर्वत्र प्रवाह बना रहता था। उनकी रचनाओ मे एक भी शब्द व्यर्थ का नही है, और न वह उक्ति चमत्कार बाग्वैदिग्ध तुकबन्दी और मात्रापूर्ति के लिये प्रयोग मे लाया गया है। सरलता, बोधगम्यता, स्वाभाविक प्रवाह, सजीवता, सहज सौन्दर्य, प्रसाद, माधुर्य ओज आदि सभी गुणो की तुलसी की भाषा म प्रधानता है। लोकोक्तियो और कहावतो के सफल प्रयोग से भाषा का सौन्दर्य और भी निखर उठा है। अभिधा व्यजना और लक्षणा के सहारे उनकी भाषा मे उनके भावो की अभिव्यक्ति बडी तीव्रता और स्पष्टता के साथ हुई है।

यह तो हुई भाषा की बात शैली की दृष्टि से भी तुलसी का काव्य शरीर बहुत पुष्ट है। वह सर्वथा रसानुरूप, पात्रानुरूप तथा स्थिति, स्थान और अवसर के अनुकूल है। डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दो मे तुलसी की शैली के मौलिक गुण है उसकी ऋजुता, उसकी सरलता, उसकी सुबोधता, उसकी

निर्व्याजता, उसकी अल्पालकारप्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता और उसका प्रवाह । ऐसा प्रतीत होता है कि शैली की ये विशेषताएँ अपेक्षाकृत उसके जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं । ये वास्तव मे कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को, उसके सादे जीवन और उच्चविचार के आदर्श को, उसकी स्वभावगत सरलता एव आडम्बर विहीनता को, उसके ध्येय की एकाग्रता को और इन सबसे भी अधिक अपने विषय मे उसकी पूर्ण आत्म-विस्मृति और उसके साथ पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा व्यक्त करती है । इस प्रकार तुलसी का व्यक्तित्व उनकी शैली मे भली भाति मूर्त्तिमान है ।

भाषा की भाति छन्द विधान पर भी तुलसी का विस्तृत अधिकार है । उन्होने अपने समय के प्रचलित समस्त छन्दो तथा यहाँ तक कि ग्रामीण छन्दो को भी अपने काव्य मे प्रश्रय दिया है । तुलसी के समन्वयकारी रूप की व्याख्या करते समय हम इस विषय पर पहले प्रकाश डाल चुके हैं ।

हिन्दी साहित्य मे स्थान

तुलसीदास अपनी इन्ही समस्त विशेषताओ के साथ हिन्दी साहित्य के सूर्य हैं । सूर्य की विमल रश्मियो की भाति उनकी कविता जीवन के समस्त क्षेत्रों मे प्रकाश भरती हैं । वह जगत के कोने-कोने को स्पर्श करती है । भगवान भास्कर की भाति उनकी काव्य कला, समस्त गुणो से युक्त अपने मे परिपूर्ण है । वह अत्यन्त प्राणवान और स्फूर्तिदायक है जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से सरसिज खिल उठते हैं, भ्रमर गुंजार करते हैं, पक्षीगण आनन्द ध्वनि करते हैं, उसी प्रकार तुलसी की कविता के स्पर्श से काव्यनुरागियो के हृदय खिल उठते हैं, उनके मन रूपी भ्रमर काव्य मकरन्द की सुरभि से मत्त हो जाते हैं । अतः तुलसी निसकोच रूप से भारतीय साहित्य गगन के सूर्य हैं । उनका दिवाकर रूप व्यक्तित्व अपनी प्रकाश-रश्मियो से युग-युग तक हिन्दी साहित्य को आलोक देता रहेगा ।

हिन्दी साहित्य मे यदि कोई उनकी तुलना का कवि है तो वे सूर हैं । सूर हिन्दी साहित्यकाश के कमनीय कलाधर हैं । इस प्रकार सूर और शशि के रूप मे तुलसी और सूर हिन्दी साहित्य के अविचल प्रकाश स्तम्भ हैं । इन दोनो ही महाकवियों ने बिना किसी यश और अर्थ की कामना लिये जिस

काव्य धारा का सृजन किया उसकी पुनीत रसधार का पावन स्पर्श पा समस्त साहित्य मानस कृतार्थ हो उठा। निसदेह इन दोनो की वाणी से जो हृदयो के उद्गार प्रगट हुए वे भाषा के श्रृङ्गार और भावो के रत्नाकर हैं।

एक ही वातावरण और समय मे आविर्भाव होते हुए दोनो के काव्यक्षेत्र मे अन्तर है। लोकनायक तुलसीदासजी ने जहाँ लोकरक्षक राम के सम्पूर्ण पावन चरित्र को अपने काव्य का क्षेत्र बनाया वही सौन्दर्योपासक सूर ने नवनीत प्रिय चचल तरुण कृष्ण को अपने काव्य का आलम्बन बनाया। इस प्रकार सूर की अपेक्षा तुलसी का काव्य क्षेत्र अत्यन्त विशाल और व्यापक है। उसमे मानव जीवन की पूर्ण व्याख्या है, जबकि सूर का काव्य, जीवन के माधुर्य पक्ष तक ही सीमित हैं। यह सत्य है कि अपने-अपने क्षेत्रो मे दोनो ही महान है। यदि सूर श्रृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र मे तुलसी से बहुत आगे हैं तो प्रबन्ध काव्य की ही दृष्टि से तुलसी ने सूर को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

तुलसी का व्यक्तित्व उनकी कविता मे कई रूपो मे झलकता है। वे एक साथ भक्त कवि, दार्शनिक, व्यवस्थापक, सुधारक, उपदेशक सभी कुछ थे। वाणी के माध्यम से उन्होंने लोक नायकत्व का गुरुतर भार वहन किया है। परन्तु सूर के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं है। वे केवल भक्त कवि और कुछ अशो मे दार्शनिक हैं। तुलसी जैसा महान आदर्श सूर के पास नही है। यही कारण है कि जन मानस को आलोकित करने वाला जो दिव्य तेज तुलसी के काव्य मे है वह सूर मे नही है।

तुलसी की रचना नवरसो से पुष्ट हैं। सूर ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार केवल वात्सल्य और श्रृङ्गार मे ही दिखलाया है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से सूर तुलसी के समग्र नहीं ठहर सकते। इसका कारण तुलसी का काव्य-विषय है। भाषा के क्षेत्र मे भी सूर की अपेक्षा तुलसी का अधिकार अधिक व्यापक है। सूर तो केवल ब्रज भाषा के कवि हैं। तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनो मे सुन्दर रचनाएँ की हैं। तुलसी ने जहाँ प्रबन्ध और मुक्तक दोनो ही प्रकार की रचनाएँ की हैं, सूर का समस्त काव्य मुक्तक है। इसीलिये तुलसी के काव्य मे जहा समस्त काव्य-पद्धतियो का समावेश हैं, सूर का काव्य केवल गीतबद्ध है।

यह तो हुई सूर और तुलसी की साहित्यिक तुलना। इस क्षेत्र मे किसी ने सूर पर रीझ कर कह दिया 'सूर सूर तुलसी शशि' और किसी ने तुलसी की प्रतिभा का लोहा मान कह दिया 'सूर शशी तुलसी रवी'। परतु इस प्रकार की तुलना अपना कोई विशेष महत्व नहीं रखती। दोनो ही कवि अपने-अपने क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य के महान कलाकार ह। परन्तु तुलसी की महानता का विशिष्ट रूप यह है कि वे अपने युग की चेतना और प्रतिभा को अपनी राम-भक्ति के साथ समेट कर चले हैं। राम के पावन चरित्र के सुधारस से संजोआ हुआ उनका काव्य मानवता की दृढ़ और उज्ज्वल भूमि पर प्रतिष्ठित होकर सार्वभौमिक बन गया है। निरतर चारसौ वर्षों से उनकी वाणी जनमानस के हृदयो को पुष्ट एव स्नेहार्द्र करती हुई भारत भूमि में गू ज रही है। और आज भी राष्ट्र का स्वतत्र मानस रामराज्य की भव्य और महान कल्पना के रूप में तुलसी का चिर ऋणी है।

———————

हिन्दी के महाकवियो में केशव का विशिष्ट स्थान है। वे उस सधिस्थल के प्रतिनिधि कवि हैं जहा भक्तिकाल के ह्रासोन्मुख जीवन मे रीति युग का प्रथम उन्मेष होता है। सूर तुलसी आदि भक्त आत्माओ ने अपने इष्टदेव की अनन्य भक्ति भावना की रसानुभूतियो मे डूबकर जिस अलौकिक काव्यधारा का सृजन किया, परवर्त्ती कवियो मे उस परम्परा को वहन करने की सामर्थ्य न थी। इसका मूल कारण सोलहवी शताब्दी के अन्तिम युग की वे सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिया हैं जिन्होने कवियो के दृष्टिकोण और काव्य प्रेमियो की अभिरुचि को ही बदल दिया।

सोलहवी शताब्दी के ही मध्यकाल से देश का जोवन वैभव और विलासता की गध से भरे एक विशेष प्रकार के बातावरण की ओर झुक रहा था। उत्तरदायित्व हीन विलासता के रङ्ग मे डूबे हुए छोटे-छोटे रजबाड़े काव्य और कला के केन्द्र बन रहे थे। इनके आश्रय मे पलने वाले कलाकार वर्ग का कार्य था अपने स्वामियो की वासना परक मानसिक क्षुधा को शात करने के लिये काव्य और कला के ऐसे उपकरण जुटाना जो अपनी अलंकृत शैली, वागवैदग्ध्य, उक्ति विलास, और चमत्कारपूर्ण कल्पना द्वारा उनके मन को रिझा सके। भक्तकवियो की सी अनुभूतिजन्य तन्मयता इस नए प्रकार के काव्य में अपेक्षित न थी। अपने प्रभुओ का यही आदर्श जनसाधारण द्वारा गृहीत हुआ। फलतः राम और कृष्ण की भक्ति के गीत नायक, नायिकाओ के भेद विभेद और अङ्ग-प्रत्यङ्गो की चर्चा मे बदल गए। इस प्रकार कविता की मूल प्रेरक शक्ति भक्ति न रही। उसका स्थान अलंकार रस और नायिका भेद ने

ले लिया। काव्य प्रेमी काव्य के अन्तरङ्ग सौदर्य को छोड़कर उसकी बाह्य चमक दमक पर रीझने लगे। फलस्वरूप कविगण भी भाव्य व्यंजना मे उसके कलात्मक पक्ष को अधिक महत्व देने लगे। उनकी काव्य साधना का आदर्श जीवन के गम्भीर तथ्यो का विश्लेषण तथा मानव जीवन से ग्रहण की हुई अनुभूतियो का यथार्थ प्रकाशन न रहा। उनका कवि हृदय अपनी पूरी शक्ति के साथ अलकार उक्ति वैचित्र्य- वाग्वैदग्ध्य, और चमत्कार पूर्ण कल्पना द्वारा कविता की बाहरी रूप राशि को अधिक से अधिक निखारने की ओर प्रयत्न शील हुआ।

इस प्रकार की काव्य सर्जना के लिये कवियो को अलङ्कार रस, पिगल और नायिका भेद का ज्ञान परम आवश्यक था। सस्कृत साहित्य मे उस समय तक अलकार और नायिका भेद सबन्धी अनेक लक्षण ग्रथो का प्रतिपादन किया जा चुका था। संस्कृत के ही इन रीति ग्रन्थो के अनुकरण पर हिन्दी मे भी रस, अलङ्कार, नायिका भेद, काव्य लक्षण, काव्य गुण, शब्द शक्ति आदि विषयो पर ग्रन्थ रचना हुई। कृपाराम कृत हित तरगिणी नामक रस रीति ग्रन्थ को हिन्दी का ऐसा प्रथम काव्य शास्त्र ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु केशवदास ही हिन्दी साहित्य की इस विशिष्ट प्रणाली के मुख्य प्रवर्त्तक और कवि थे। रीति शास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय उन्हे ही प्राप्त है। वे काव्य शास्त्र के तो आचार्य थे ही काव्य साधना के क्षेत्र मे भी उन्होने उस विशिष्ट कवि सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व किया है जिनके कवि कर्म का आग्रह अलकारिक शैली, चमत्कारवादिता और पाडित्य-प्रदर्शन की ओर अधिक है। जिनकी कला कला के लिए है, जीवन के लिये नही। जिन्होने अपने काव्य का रमणीय रंगमहल धर्म भक्ति और समाज सुधार के धरातल पर न खड़ा करके शुद्ध साहित्यिक कलात्मक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है।

बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत ओरछा नगर मे स० १६१२ के लगभग आचार्य केशवदास का जन्म हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण कुल के थे। ओड़छा के राजदरबार मे उनके परिबार का बड़ा आदर सम्मान था।

जीवन-परिचय

इनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र को राजा रुद्रप्रताप से पुराण की वृत्ति मिली थी। इनके पिता काशीनाथ का राजा मधु-

करशाह विशेष आदर सम्मान करते थे। स्वयं केशवदास राजा इन्द्रजीतसिंह के दरबारी कवि, मन्त्री, और गुरु थे। इन्द्रजीतसिंह राजा मधुकरशाह के सबसे छोटे पुत्र थे। इनके बड़े भाई ओड़छा नरेश राजा रामशाह ने राज्य का भार इन्हें ही सौंप दिया था। इन्द्रजीतसिंह बड़े गुणग्राही, कविता प्रेमी और स्वय कवि थे। सगीत से आपको विशेष प्रेम था। केशव ने अपनी रसिक प्रिया की रचना इन्हीं के लिए की थी। इन्द्रजीतसिंह की ओर से उन्हें इक्कीस ग्राम मिले हुए थे। इस प्रकार इन्द्रजीत के राज्य में वे स्वय राजा की भाँति जीवन यापन करते थे। जोधपुर के राठौड राजा चन्द्रसेन, महाराणाप्रताप के पुत्र अमरसिंह, इन्दजीतसिंह के बड़े भाई वीरसिंह देव भी केशव के आश्रयदाता थे। महाराजा इन्द्रजीतसिंह के दरबार की प्रसिद्ध गायिका प्रवीणराय केशव की प्रधान शिष्या थी। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविप्रिया' की रचना केशव ने प्रवीणराय को ही काव्य शिक्षा देने के लिए की थी। केशवदास जी के दो भाई और थे। बड़े भाई का नाम बलभद्र और छोटे का नाम कल्यान था। अन्तर्साक्ष्य से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि केशवदास विवाहित थे। उनका विवाह कब और कहाँ हुआ, इस सबध में कुछ भी नही कहा जासकता। इतना अवश्य है कि उनकी पत्नी सं० १६६४ तक जीवित थी और वे ससतान थे। क्योंकि कवि की कृति विज्ञान गीता मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस रचना से प्रसन्न होकर जब महाराज वीरसिंह देव ने केशव से मनोवाञ्छित पुरस्कार माँगने को कहा तब उन्होने निवेदन किया कि मेरे बालको को अपने पूर्वजो द्वारा दी गई वृत्ति प्रदान की जाए और मुझे अपना सेवक समझ कर गगा तट पर बास करने की आज्ञा दी जाए। वीरसिंह देव ने उनकी आज्ञा स्वीकार करली। इससे यह भी सिद्ध होता है कि केशव ने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे गंगा तट पर वास किया था। स० १६७४ वि० मे उनकी मृत्यु हुई थी।

केशव तुलसी के समकालीन थे। वेणी माधवदास कृत 'मूल गुसाई चरित' के अनुसार तुलसी से इनकी भेट दो बार हुई। पहली बार काशी के असीघाट पर केशव ने तुलसी से भेट की तभी कवि के महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' का सूत्रपात हुआ। दूसरी बार तुलसीदास ने केशव को प्रेत योनि से मुक्त किया था। परन्तु केशव के सम्बन्ध मे 'मूल गुसाई चरित' के ये कथन सर्वथा भ्रममूलक

और अप्रमाणिक हैं। केशव के जीवन सम्बन्धी यह भी किंवदती है कि बीरबल की मृत्यु का शोक समाचार केशव ने ही सम्राट अकबर से निवेदन किया था। इतिहास की दृष्टि से यद्यपि यह तथ्य सत्य से परे है फिर भी इतना अवश्व है कि केशव का अकबर के दरबार मे आना जाना था तथा वीरबल केशव के मित्रो मे से थे।

पं० गौरीशकर द्विवेदी ने अपने बुन्देल वैभव नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि बिहारी केशवदास के पुत्र थे। स्व० राधाकृष्णदास जी तथा जगन्नाथ 'दास' 'रत्नाकर' जी भी इस मत के पोषक हैं। उनकी दृष्टि मे केशव तथा बिहारी के पिता पुत्र के सम्बन्ध का आधार यह है कि बिहारी और केशव समकालीन थे। दूसरे बिहारी के एक दोहे के अनुसार जन्म ग्वालियर मे हुआ था, बाल्यकाल बुन्देलखडमे बीता तथा मथुरा की ससुरालमे वे युवावस्था को प्राप्त हुए। बिहारी ने अपने एक अन्य दोहे मे 'केशवराय' की प्रशसा भी की है। बिहारी ने अपने दोहो मे बु देलखडी शब्दो का भी प्रयोग किया है। परतु इन तर्कों मे इतनी दम नही है जो यह भली भॉति सिद्ध कर सके कि बिहारी केशव के पुत्र हैं। बिहारी जाति के चौबे थे, जब कि केशव सनाढ्य मिश्र। बिहारी ने स्पष्ट रूप से अपना जन्म ग्वालियर मे होना बतलाया है, परन्तु केशव का कभी ग्वालियर मे रहना प्रमाणित नहीं होता। यदि बिहारी केशव के पुत्र होते तो यह बात परम्परा से अवश्य प्रसिद्ध होती तथा बिहारी भी अपने काव्य मे कहीं न कही इसका अवश्य उल्लेख करते।

केशव कवि तो थे ही इसके साथ-साथ राजनीति विशारद, नीति कुशल और सभा चतुर थे। किंवदती है कि इन्होंने अपनी नीति कुशलता से अकबर द्वारा किए गए राजा इन्द्रजीतसिह पर एक करोड़ रुपया जुर्माना माफ करवाया था। यही नही जिस समय रामशाह और वीरसिह देव आदि भाइयो मे परस्पर युद्ध हुआ तो राजा रामशाह के अनुसार केशवदास जी ही वीरसिह देव के पास संधि प्रस्ताव लेकर गए।

व्यक्तित्व

केशव बड़े प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उनके ज्ञान और अनुभव का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। उन्होने समय-समय पर प्रयाग, काशी, दिल्ली, आगरा आदि

उत्तरी भारत के प्रमुख नगरों का पर्यटन किया था। साँसारिक ज्ञान का कोई भी विषय ऐसा न था जहाँ केशव की थोड़ी बहुत पहुँच न हो। भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, वेदान्त, सगीतशास्त्र, बनस्पति विज्ञान आदि विविध विषयों के वे अधिकारी विद्वान थे। काव्यशास्त्र के वे आचार्य थे। सस्कृत का पाँडित्य उन्हे पैतृक सम्पत्ति के रूप मे मिला था क्योंकि वे उस परिवार के रत्न थे जहा सब सस्कृत मे बात चीत करते थे। अपने पाडित्य पर केशव को स्वय अभिमान था। इसीलिए उन्होने स्वयं को 'कवि सिर मौर' कहा है। वास्तव मे केशवदासजी बडी स्वाभिमानी प्रकृति के पुरुष थे, निर्भीकता तथा स्पष्ट वादिता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। यही कारण है कि केशव ने अपने ग्रन्थ रामचन्द्रिका मे तुलसी की भाँति विभीषण का विरद नहीं गाया वरन् उसके चरित्र की तीव्र आलोचना की है। लव के मुख से उन्होने विभीषण को कड़ी फटकार सुनवाई है। इसी प्रकार केशव की दृष्टि से सीता-त्याग राम का महान अपराध है। यही कारण है कि लवकुश द्वारा जब लक्ष्मण और भरत पराजित होते हैं तब निष्पक्ष और स्पष्टवादी कवि केशव ने भरत के मुँह से रामचन्द्रजी को यही कहलाया है कि सीताजी को किस पाप के कारण त्यागा गया। जो निर्दोष को भी दोष लगाता है उसे वैसा फल मिलना स्वाभाविक ही है।

रसिकता और भावुकता केशव के चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनका प्रसिद्ध दोहा :—

> केसव केसन असकरी जस अरिहू न कराहि।
> चन्द्रवदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि॥

इस बात का प्रतीक है कि केशव अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे भी कितने रसिक थे।

केशव की रचनाओ के विषय मे निर्विवाद रूप से कुछ नही कहा जा सकता। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक इस सम्बन्ध मे एक मत नही हैं।

रचनाएँ अब तक की खोज-रिपोर्टों के अनुसार लगभग सोलह रचनाओ को महाकवि केशव से सम्बन्धित बतलाया गया है। परन्तु उनमें से निम्न आठ ग्रन्थ ही प्रमाणित हैं—

१—रामचन्द्रिका—यह रामचरित सम्बन्धी केशव का महाकाव्य है। ३९ अध्यायो मे रामकथा का सविस्तार वर्णन है। अन्तर्साक्ष्य के अनुसार कवि को ग्रन्थ रचना की प्रेरणा स्वप्न में बाल्मीकि मुनि से मिली थी। ग्रन्थ की समाप्ति कवि द्वारा दिए गए दोहे के अनुसार स० १६५८ वि० कार्तिक सुदी बुधवार को हुई थी। बुन्देलखण्ड तथा रुहेलखण्ड आदि प्रदेशो में इस ग्रन्थ का बड़ा सम्मान और प्रचार हैं। इतिहास प्रसिद्ध महाराजा छत्रसाल को तो यह ग्रन्थ इतना प्रिय था कि वे इसकी एक प्रति सदैव अपने साथ रखते थे।

२—रसिक प्रिया—केशव ने अपने आश्रयदाता राजा इन्द्रजीतसिह के आदेशानुसार इसकी रचना की थी। ग्रन्थ की समाप्ति कार्तिक सुदी सप्तमी चंद्रवार सं० १६४८ वि० को हुई थी। यह रस, नायक नायिका भेद सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ है। रस, वृत्ति और काव्य दोषो का सागोपाग विवेचन करते हुए कवि ने शृंगार रस की प्रधानता दिखलाई है। अन्य रसो को भी शृंगार रस के अन्तर्गत दिखलाने की चेष्टा की गई है। वास्तव मे शृंगार रस की जानकारी प्राप्त करने के लिये 'रसिक प्रिया' महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ग्रन्थ के प्रथम बारह प्रकाशो मे तो शृगार के सयोग और वियोग के विभिन्न तत्वो तथा इनसे सबधित भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सात्विक और व्यभिचारी, भावो और हावो, जाति, अवस्था और मान के अनुसार नायक नायिकाओ के भेदो का विशद् विश्लेषण है। अन्तिम चार प्रकाशो मे अन्य रसो का वर्णन है। कवि की प्रथम कृति होते हुए भी काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

३—कवि प्रिया—सस्कृत के साहित्य शास्त्र की पद्धति पर आधारित यह भी कवि का रीति ग्रन्थ है। इसकी रचना कवि ने अपनी प्रधान शिष्या और इन्द्रजीतसिह की स्नेह पात्रा प्रवीणराय को काव्य शिक्षा देने के लिए की थी ग्रन्थ की समाप्ति फाल्गुन सुदी पचमी बुधवार सं० १६५८ वि० को हुई थी। ग्रन्थ के सोलह प्रभावो मे मुख्य रूप से कवि भेद, कवि रीति, कवि दोष, अलकार आदि का विशद् विवेचन है।

४—नखसिख—कवि के कथनानुसार इसकी रचना कवियो को नखसिख

वर्णन की शिक्षा देने हेतु हुई है। इस पुस्तक मे कवि नियमानुसार राधा के नखसिख तक प्रत्येक अंग का वर्णन है।

५—वीरसिंहदेव चरित—यह चारणकाल के लौकिक वीरगाथा काव्य की प्रणाली पर आधारित वीर काव्य है। ग्रन्थ तेतीस प्रकाशो मे विभक्त है जिसमे कवि ने अपने आश्रयदाता वीरसिंहदेव का चरित गान किया है। यह वीररस प्रधान काव्य है। काव्य की दृष्टि से इसका विशेष मूल्य न होते हुए इतिहास की दृष्टि से यह कृति महत्वपूर्ण है।

६—रतन वावनी—वीरसिंहदेव चरित की भाँति यह ग्रन्थ भी वीरकाव्य है। जिसकी रचना ओड़छा नरेश मधुकरशाहके पुत्र कु० रतनसेन की वीरता धीरता और कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशसा में की गई थी। ग्रन्थ राजस्थानी भाषा की डिंगल शैली पर लिखा गया है।

७—जहाँगीर जस चन्द्रिका—यह एक साधारण कोटि का काव्य है। ग्रंथ की रचना स० १६६६ वि० के माघ मास मे हुई थी। ग्रंथ का प्रारम्भ उद्यम और भाग्य की श्रेष्ठता को लेकर कथोपथन रूप मे होता है और उसकी समाप्ति मुगल सम्राट जहाँगीर के यश वर्णन के साथ होती है।

८—विज्ञान गीता—यह दर्शन सम्वन्धी ग्रंथ है, जिसकी प्रेरणा अन्त-साक्ष्य के अनुसार कवि को ओड़छा नरेश वीरसिंहदेव से प्राप्त हुई थी। ग्रथ का रचनाकाल स० १६६७ है। प्रस्तुत रचना मे रूपक के सहारे कवि ने जटिल दार्शनिक विषय को सरस बनाने की चेष्टा की है। काव्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व न होते हुए भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो के अध्ययन के लिए यह अवश्य उपयोगी है।

केशवदासजी ने अपनी रचनाओ द्वारा इस प्रकार हिन्दी साहित्य के प्रत्येक काल का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी कृतियाँ वीरसिंहदेव चरित, रतन वावनी जहाँ चारणकाल की याद दिलाती हैं वही जहाँगीर जस चद्रिका लोक साहित्य का उत्कृष्ठ ग्रन्थ है। विज्ञान गीता यदि निर्गुण काव्यधारा का प्रतीक है तो रामचन्द्रिका द्वारा केशव राम भक्ति काव्य क्षेत्र के महान कवि हैं। कवि प्रिया, रसिक प्रिया और नखसिख द्वारा उन्होने हिन्दी में रीति-साहित्य का श्री गणेश किया है।

काव्य समीक्षा

तुलसी की भाँति केशव का कवि-व्यक्तित्व भी मुक्तक और प्रबन्धकार दोनो रूपो मे हमारे सामने आता है। रसिक प्रिया, कवि प्रिया तथा नख-सिख उनकी मुक्तक रचनाएँ हैं और रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, वीरसिंहदेव चरित, रतन बावनी तथा जहाँगीर जस चन्द्रिका उनके प्रबन्ध काव्य हैं। प्रबन्ध रचना और काव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका को छोड़कर कवि की अन्य प्रबध कृतियो का विशेष महत्व नहीं है।

रामचद्रिका का कथानक हमारी चिर-परिचित राम कथा को लेकर चला है यद्यपि कवि को अपने इस ग्र थ के निर्माण की प्रेरणा मुनि बाल्मीकि से मिली है, तथापि रामचद्रिका के कथानक पर बाल्मीकि रामायण का विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता। 'रामचद्रिका' स्पष्ट रूप से संस्कृत साहित्य के अन्य दो राम चरित काव्य 'प्रसन्न राघव' और 'हनुमन्नाटक' से प्रभावित है। रामचद्रिका के अनेक स्थल इन दोनो ही सस्कृत काव्यो से भाव साम्य रखते हैं। 'हनुमन्नाटक' के कुछ अशो का रामचंद्रिका मे अक्षरशः अनुवाद है और कहीं कुछ भावो को कवि ने अपने शब्दो में व्यक्त किया है। 'प्रसन्न राघव' नाटक के तो अनेक स्थल, उक्तियाँ व कथाक्रम ज्यो के त्यो रामचद्रिका मे दृष्टिगत होते हैं। इतना सब कुछ होते हुए रामचद्रिका के कवि ने अपनी कृति के निर्माण मे बहुत कुछ अशो मे अपनी मौलिक सूझ-बूझ से काम लिया है।

कवि की मौलिक सूझ बूझ अधिकतर उसके पाडित्य-प्रदर्शन और काव्य चमत्कार की ओर अधिक झुकी है। यही कारण है कि कथाक्रम निर्वाह की ओर कवि का विशेष आग्रह नहीं है। उन स्थलो पर जहाँ केशव को अपने प्राडित्य प्रदर्शन और काव्य की चमत्कार पूर्ण उक्तियो के खिलवाड़ का अवसर नहीं मिला, उनकी वृत्ति रमी ही नही। ऐसे प्रसगो का उन्होने उल्लेख मात्र कर दिया है। प्रारम्भ मे न तो रामावतार के कारण ही बतलाये गए हैं और न राम जन्म का विशेष विवरण ही है। वहाँ तो राजा दशरथ का थोड़ा सा परिचय देकर और रामादि चारो भाइयो के नाम गिना कर विश्वामित्र आगमन का वर्णन किया है। सुबाहु, मारीच और ताड़का बध का सकेत मात्र कर दिया गया है। धनुष यज्ञ का वर्णन विस्तारपूर्वक है। राजसी दरबार

से सम्बन्ध रखने वाले केशव के लिए यह स्वाभाविक भी है। इसी प्रकार केशव ने अपना आचार्यत्व जताने के लिये नखसिख वर्णन और ऋतुवर्णन खुलकर किया है। अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाड, सुन्दरकाण्ड, किष्किधाकाड की घटनाएँ, बहुत ही सक्षेप मे वर्णित हैं। किष्किधाकाण्ड मे बाल-सुग्रीव से युद्ध तथा राम द्वारा बालि वध का वर्णन आधे छन्द मे किया गया है। रावण और जटायु का युद्धवर्णन भी एक ही छन्द मे है। लकाकाड में कथा अवश्य विस्तार पूर्वक है, परन्तु उत्तर काण्ड मे कथा भाग को गौण और वर्णन भाग को प्रधान स्थान मिला है।

इस प्रकार प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से रामचद्रिका के कथानक का विकास अनियमित रूप से हुआ है और स्थान-स्थान पर कथा सूत्र बिखरा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव का ध्येय रामकथा कहना नहीं है। उसकी कवि दृष्टि विभिन्न वस्तुओ तथा दृश्यो के वर्णन मे अधिक सजग है। जहाँ भी अवसर मिला केशव कथा प्रसग को छोड़ कर दृश्यों तथा वस्तुओं के वर्णन में रम गए हैं। बालकाण्ड मे ही सत्ताइस छन्दो मे सरयू नदी, दशरथ के हाथी तथा बाग और अवधपुरी का वर्णन है। दशरथ की राजसभा, सूर्योदय, मिथिला, आदि का भी उन्होने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। अरण्यकाण्ड में पचवटी, दडक वन तथा गोदावरी आदि का वर्णन भी खूब विस्तारपूर्वक है। बर्षा तथा शरद ऋतु का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। 'राम-चद्रिका के उत्तरार्द्ध' मे राम के राजसी ऐश्वर्य और वैभव के सूक्ष्म वर्णन से तो ऐसा प्रतीत है जैसे केशव का मुख्य ध्येय रामचंद्र के ऐश्वर्य और राजसी ठाठ-बाट का वर्णन करना हो। इन स्थलो पर केशव के पाडित्य और वाग्वि-लास ने अच्छा चमत्कार प्रदर्शन किया है।

इससे इतना तो स्पष्ट कि केशव बहिर्जगत के वर्णन-प्रधान कवि हैं। परन्तु यह बाह्यवर्णन भी राजदरबारो के सौदर्य, वहाँ के ठाठबाट और विला-सता प्रधान जीवन तक सीमित रह गया है। जीवन का एक सामान्य रूप दाम्पत्य सम्बन्ध, वात्सल्य प्रेम आदि मानव जनित भावनाओ का चित्रण उनकी काव्य दृष्टि से उपेक्षणीय रहा है इस प्रकार केशव की कविताओ

पर उनके दरबारी व्यक्तित्व की छाप है ।इसीलिये उन्होने अपनी दृष्टि सम्पूर्ण जीवन से हटाकर केवल राजसी श्रृङ्गार, नगर की सजावट और उत्सवो की रमणीयता पर ही जमा दी हैं । राम के शयनागार वर्णन मे विश्राम से सबन्धित कोई भी वस्तु उनकी दृष्टि से अछूती नही रही । उनकी इस मनोवृत्ति ने उन्हे कथा के मार्मिक स्थानो को परखने का अवसर ही नही दिया । राम का अयोध्या त्याग, दशरथ मरण, राम बन गमन इत्यादि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि अपनी लेखनी के जादू से पाठको को रुला सकता है । परन्तु केशव को तो ऐसे भावस्थलो से कोई सहानुभूति ही नहीं है । इसलिये उन्होने राम बन गमन की सम्पूर्ण कथा को केवल एक छन्द मे समाप्त कर दिया है । मानस मे जहाँ मथरा केकई के प्रसग को बहुत ही विस्तार पूर्वक और मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णित किया गया है, केशव ने केवल सात पक्तियो मे ही समस्त प्रकरण को समाप्त कर दिया । इस प्रकार केशव का काव्य मानव हृदय की कोमल भावनाओ से सर्वथा अछूना है । जीवन के विविध घात प्रतिघातो के बीच मानव हृदय के स्पन्दन को उन्होने पहिचाना ही नहीं । हृदय के विविध व्यापारो तक उनकी दृष्टि पहुँची ही नहीं । ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव हृदय को परखने के लिये जिस कवि को जिस सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति और सवेदनशीलता की अपेक्षा होती है, केशव में उसका अभाव है । यदि केशव मे यह सवेदन शीलता और सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति है भी तो उन्होने इसका सही दिशा मे और व्यापक रूप से उपभोग ही नहीं किया । कही-कहीं तो केशव ने परिस्थित और प्रसग का बिना कोई विचार किए बड़ी विचित्र कल्पनाओ और विचित्र सूझो का सहारा लिया है । उदाहरण के लिए उन्होने बनगमन के अवसर पर राम द्वारा अपनी जननी को पातिव्रत धर्म का उपदेश दिलवाया है । इसी मकार भरत जब राम से भेट करने जाते हैं तो केशव उनका वर्णन करते हुए कहते हैं—युद्ध को आज भरत्थ चढे, धुनि दु दुभी की दसहूँ दिसि धाई । मानो भरत साक्षात् रामचद्रजी से युद्ध करने जा रहे हो। परिस्थितियो का ऐसा ऊटपटॉग चित्र देखकर केशव की प्रतिभा पर दया उपजती है । स्वयं केशव के भक्त लाला भगवान दीन जी के शब्दो मे "ऐसे समय में इस वर्णन मे ये उत्प्रेक्षाएँ हमें समुचित नहीं जँचती । न जाने केशव ने

इन्हें क्यों यहाँ स्थान दिया है ? इसमे केवल सूखा पाडित्य प्रदर्शन ही प्रधान हैं । कैसा समय है और कैसा प्रसङ्ग है, इसका ध्यान कुछ भी नही । वास्तविक युद्ध स्थल मे ऐसा वर्णन उपयुक्त हो सकता था ।"

उनके इस सूखे पाडित्य प्रदर्शन ने उनके काव्य रचना के सहज सौन्दर्य और स्वाभाविक विकास की गति को अवरुद्ध बना दिया है । केशव की कविता हृदय की सहज अनुभूतियो के चित्रण हेतु न होकर उनके पाडित्य प्रदर्शन का साधन मात्र हैं । इसीलिए केशव के काव्य मे न तो कबीर की भाति बल है, न जायगी की [illegible] [illegible] न तुलसी की भाति मार्मिकता है, और न सूर की भाँति सरसता है । उन्होने अपनी कविता कामिनी को सर्वत्र कृत्रिम उपादानो से सजाया और सँवारा है । इसमे रागात्मक तत्व की न्यूनता है तथा कलापक्ष की प्रधानता है । एक शब्द मे केशव चमत्कारवादी कवि है । पाडित्य प्रदर्शन, उक्ति वैचित्र्य, कल्पनाओ की ऊँची उड़ान और चमत्कार कौतुक मे ही उन्होने अपनी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट कर दी है । उनके काव्य सौष्ठव को, उनके क्लिष्ट शब्द विधान और अनावश्यक अलकारों के प्रचुर प्रयोग ने ढक लिया है । उसमें काव्योचित कल्पना और हृदय की सरसता का अभाव है । उनकी व्यजनाओ मे शुष्कता है, कल्पना मे हृदय हीनता है, और शैली मे कठोरता है । उनकी कविता हृदय से नही मस्तिष्क से निकलती हैं, इसीलिए वह हृदय को नहीं मस्तिष्क को छूती है । यही कारण है कि केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहे जाते हैं ।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि केशव का काव्य सर्वथा सवेदनशीलता और भावुकता से रहित है तथा उनकी भाव-व्यजना काव्य की उच्च मनोभूमि को स्पर्श ही नहीं करती है । सत्य तो यह है कि अपनी वृद्धावस्था में भी 'बाबा' पुकारे जाने पर इन शब्दो मे :—

> केसव केसन असकरी जस अरिहू न कराहि ।
> चन्द्र बदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि ॥

मे पश्चाताप करनेवाला कवि हृदयहीन और अरसिक हो ही नही सकता । यही कारण है कि केशव की कविता जहाँ क्लिष्ट मान्यताओ के वाग्जाल और पाण्डित्य प्रदर्शन की चकाचोध से मुक्त हैं, वहाँ मस्तिष्क का योग कम

और हृदय का योग अधिक है, वहाँ भावव्यजना बडी उत्कृष्ट और मर्मस्पर्शी है। दासियो की ऐड़ियो का वर्णन करते समय केशव की उद्भावना कितनी मौलिक, कितनी सजीव है—

छावनि की छुई न जाति सुभ्र साधु माधुरी।

अर्थात उन ऐड़ियो की शुभ्र माधुरी ऐसी है कि नेत्रो से भी उन्हे छूने मे संकोच होता है क्योकि दृष्टि के मैल से वे कहीं मैली न हो जायॅ। हनुमान द्वारा वेग से लंका मे कूदने का दृश्य भी उन्होने एक पक्ति मे बड़ी भावपूर्णता के साथ चित्रित किया है।—"लीक सी लिखत नभ पाहन के अङ्क को।" अर्थात् उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे आकाश रूपी पाहन पर लकीर खिच गई हो। इसी प्रकार विश्वामित्र जब राम लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते हैं तब दशरथ दारुण दुख से भर उठते हैं। केशव ने बिना किसी शब्दो की करामात और चमत्कारो के दशरथ की इस अवस्था का कितना हृदय स्पर्शी चित्र खींचा है—

राम चलत नृप के जुग लोचन।
बारि भरित भे बारिद रोचन॥
पायन परि ऋषि के सजि मौनहि।
केसव उठि गये भीतर भौनहिं॥

दशरथ का यह मौन उनके हृदय की गम्भीर व्यथा को प्रकट करता हुआ पाठक को भी करुण रस मे डुबाने मे समर्थ है। भय और लज्जाके मारे मनुष्य किस प्रकार सिकुड जाता है, रावण के समक्ष सीता को उसी स्थिति मे देखिए—

सबै अङ्ग लै अङ्ग ही मे दुरायो।

अशोक वाटिका मे हनुमान जी सीता जी को रामचन्द्र जी की मुद्रिका देते हैं। मुद्रिका के प्रति सीता जी का कितना भावपूर्ण कथन है—

श्रीपुर मे बन मध्य हौं तू मग करी अनीति।
कहि मु दरी अब तियन की को करिहै परतीति

राम चद्रिका के सबसे अधिक आकर्षक स्थल उसके सवाद हैं। वास्तव

मे केशव की सवाद योजना कितनी उत्कृष्ट और विदग्धतापूर्ण है, उतनी अन्य किसी महाकाव्य मे दृष्टिगत नही होती। इस क्षेत्र मे केशव तुलसी से भी आगे हैं। वहाँ उनका कवित्व साधारण भूमि से बहुत ऊँचा उठ गया है।

संवाद वर्णन

सवाद लेखन के लिए कवि को जैसी व्यवहार कुशलता और भाषा प्रवीणता अपेक्षित है, केशव मे वह पर्याप्त मात्रा मे हैं। राज-दरबारो से केशव का बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है, इसीलिए राजनैतिक दाँव-पेच और कूटनीति मे जितने पारगत केशव हैं उतने हिन्दी के अन्य कवि नही। यही कारण है कि केशव के सवाद उनके सूक्ष्म-मनोविज्ञान पर आधारित हैं। व्यग इन सवादो की प्रमुख विशेषता है। केशव ने सवादो की योजना भी उन पात्रो के बीच की है जो व्यग पूर्ण बातचीत करने तथा राजनैतिक दाव-पेचो मे दक्ष हैं। जहाँ गम्भीर मनोवृत्तियो के चित्रण का प्रश्न है, केशव ने सवाद रखे ही नहीं है। यही कारण है कि रामचद्रिका मे मथरा केकई सवाद, केकई दशरथ सवाद, राम भरत सवाद है ही नही। परतु रावण-बाणासुर सवाद, राम परशुराम सवाद, सूर्पणखा-राम सवाद, सीता-रावण सवाद, रावण-अगद सवाद आदि जिन सवादो की योजना केशव ने की है वे बड़े स्वाभाविक और सजीव हैं। उसमे पात्रोचित शिष्टाचार का पूर्णतया निर्वाह है। तुलसी के मानस मे भगवान परशुराम को जिन्होने अपने काल से भी कराल कुठार के द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय रहित बनाया था, लक्ष्मण उसी प्रकार चिढ़ाते हैं जैसे किसी क्रोधी स्वभाव के वृद्ध को कोई बालक चिढ़ा रहा हो। इसी प्रकार रावण के दरबार मे पहुँच कर अगद अपनी मर्यादा को भूल जाता है और बड़ी असयत भाषा मे वार्त्तालाप करता है। इन्द्र, कुवेर, सूर्य चंद्र जिनके सेवक हैं उस रावण को भरे राज दरबार मे वह दाँत तोड़ने की धमकी देता है। वास्तव मे इन सवादो का यह अनौचित्य मानस मे खटकने वाली बात है। परतु रामचद्रिका के सवाद ऐसे नहीं हैं। राम परशुराम संवाद मे दोनो ओर से ही प्रारभ से लेकर अंत तक एक दूसरे की मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखा गया है। दोनो ही ओर से क्रोध का विकास उत्तर प्रत्युत्तर के क्रम द्वारा बड़ी उपयुक्त रीति से हुआ है। यही बात रावण-अगद सवाद मे

और रामचन्द्रिका के अन्य सवादो मे हैं। उत्तर प्र युत्तर के क्रम से बार्तालाप की गति को विविध दिशाओ मे इस सुन्दर रीति से मोडा गया है कि कृत्रिमता कहीं नाममात्र को भी नही आने पाई है।

संवादो की भाति पात्रो के चरित्र-चित्रण मे केशव अधिक सफल न हो सके। कारण भी स्पष्ट है। रामचद्रिका मे कथन का विकास अनियमित रूप से हुआ है। इसलिये पात्रो के चरित्र का विकास भी असंगति

चरित्र-चित्रण

पूर्ण है। यही नही कथा निर्वाह के आवश्यक प्रसगो को छोड़ देने के कारण पात्रो का चरित्र अपने उच्चस्तर से नीचे गिर गया। मथरा का प्रसग छोड़ देने मे रामचन्द्रिका की केकयी स्वार्थी विमाता के रूप मे हमारे सामने आती है। राम को अभी बन जाने की आज्ञा नही मिली फिर भी न जाने किस ओर से उन्हे समाचार मिल गया और वे बन को प्रस्थान कर देते हैं—

उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।
लगि तात मात तिय बंधु धाम॥

बन गमन के इस अवसर पर रामचन्द्रजी यह आवश्यक नही समझते कि वे अपने स्वजनो और माता-पिता से बिदा ले उनके चरण स्पर्श करे। यही नहीं आगे चलकर ये ही राम बेचारे विराध को सिर्फ इस अपराध पर कि उसकी सूरत से सीताजी भयभीत हो गई थी, अपने बाण का लक्ष्य बनाते हैं। कहीं-कही तो केशव ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दिव्य और पावन चरित्र को बड़ा विकृत कर दिया है। वे स्त्रैण पुरुष के रूप मे हमारे सामने आते है जिन्हें अपनी पत्नी की प्रसन्नता के लिए कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का का कुछ भी ध्यान नही रहता। बन यात्रा के अवसर पर रामचद्र जी अपने बल्कल वस्त्र के अचल से पखा झलते हुए सीताजी से मार्ग श्रम को दूर करते हैं—

मग कौ श्रम श्रीपति दूर करें, सिय को सुभ बाकल अंचल सौं।

और सीता जी है कि—

श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सौं॥

मार्ग में चलते समय मानस की जो सीता राम के पद चिह्नो पर अपने पैर नही रखती थी वही केशव की रामचद्रिका मे अपने पति से अपनी सेवा

करवाती है। वास्तव मे केशव के पात्र कोई उच्च आदर्श हमारे सामने नहीं रखते। वे केशव के समय मे राजदरबारो मे पलती हुई विविध मनोवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। केशव ने निश्चित रूप से अपने आश्रयदाता राजा इन्द्रजीत सिंह के जीवन दर्पण मे राम के चरित्र को देखने का प्रयत्न किया है। और फिर जिस कवि ने इन्द्रजीतसिह की प्रमुख गणिका प्रवीणराय को रमा और सरस्वती को कोटि में रखा है, उसके लिये सती साध्वी सीता का ऐसा अशोभनीय चरित्र प्रस्तुत करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव मे केशव के हृदय मे अपने इष्टदेव राम-सीता के प्रति कोई श्रद्धा और भक्ति नही है, और न उनकी प्रबन्ध रचना के सामने भक्ति और लोकधर्म का कोई आदर्श है। केवल पाडित्य प्रदर्शन के निमित्त उन्होने इस काव्य की रचना की है। पाडित्य प्रदर्शन के भार से भी उनके पात्रो का व्यक्तित्व दब गया है। कही-कही तो उन्होने अपने पात्रो के सम्बन्ध मे ऐसी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ दी हैं कि उनकी अनौचित्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैसे राम के लिये उल्लू और चोर की उपमा देना।

केशव के चरित्र-चित्रण के सबन्ध मे एक बात और उल्लेखनीय है। केशव के पात्र भी जयशकर प्रसाद के नाटकीय पात्रो की भाति दो रूपो मे हमारे सामने आते हैं। एक तो अपने निजी व्यक्तित्व के रूप मे दूसरे कवि द्वारा आरोपित व्यक्तित्व के रूप मे। कवि ने जिस व्यक्तित्व का आरोप अपने पात्रो पर किया है उसने सभी पात्रो को बाग्विलास प्रिय, व्यवहार कुशल, अलकार पडित और कूटनीतिज्ञ बना दिया है। रामचद्रिका मे सर्वत्र पात्रो का यही रूप अधिक स्पष्ट, अधिक उभरा हुआ है।

प्रकृति के क्षेत्र मे केशव का दृष्टि कोण अवश्य बहुत व्यापक है। केशव ने प्राय अपने सभी प्रमुख ग्रंथो मे किसी न किसी रूप में प्रकृति का उपयोग किया है। प्रकृति से उन्हे इतना प्रेम है कि कथावस्तु से कोई संबन्ध न होते हुये भी स्थल निकाल कर उन्होने प्रकृति वर्णन किया है। परन्तु केशव का अधिकाश प्रकृति वर्णन अन्य हिन्दी कवियो के समान परम्परागत है। केशव ने भी प्रकृति को मुख्य रूप से उद्दीपन रूप मे, अलकारो और उदाहरण रूप मे तथा वस्तु

प्रकृति वर्णन

परिगणन वाली शैली रूप में अपनाया है। कही-कही प्रकृति का संश्लिष्ट, बिम्ब ग्रहण कराने वाला, स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन भी मिलता है। उदाहरण के लिये केशव द्वारा चित्रित बर्षा ऋतु का चित्र देखिये—

चहूँ दिसा बादल दल नचै। उज्ज्वल कज्जल की रूचि रचै।
दिसि दिसि दमकति दामिनि बनी। चकचौंधति लोचन रुचि घनी॥
गाजत बरजत मनों मृदंग। चातक पिक गायक बहुरंग॥

परन्तु ऐसे स्थल केशव के काव्य मे बहुत कम हैं। कवि ने प्रकृति वर्णन के अवसर पर प्रायः पाडित्य प्रदर्शन की रुचि से प्रेरित होकर अप्रस्तुतो की कौतूहल पूर्ण योजना की है। काव्य चमत्कार और अलकार की इसी खीचा-तानी के कारण केशव का प्रकृति चित्रण स्वच्छ और सजीव नही है। अधि-काशतः प्रकृति चित्रण मे उन्होने केवल कवि-कर्म का पालन किया है। दडक बन जैसे सुरम्य प्राकृतिक स्थल का वर्णन करते हुए केशव जैसा कवि केवल अलकारिक भाषा मे विभिन्न वृक्षो का नाम गिनाकर ही समाप्त कर देता है। वेर उन्हे भयानक लगती है, और अर्क को देखकर उन्हें प्रलयकाल के अर्को (सूर्यो) की याद उठती है। अर्जुन, भीम आदि अम्लवेत के वृक्ष पाडवो की प्रतिमा के समान दृष्टिगोचर होते है। केशव को यह भी ध्यान नही रहता कि पॉडवो का जन्म कृष्ण के समय हुआ था, राम के समय नही। इसी प्रकार प्रातःकालीन सूर्योदय के सौदर्य का वर्णन करते हुए उसकी उपमा वे 'सोनित कलित कपाल' से देते हैं। षट ऋतुओ के वर्णन मे भी अलकार योजना का प्राधान्य है। समुद्र का वर्णन करते हुए वे ब्रह्म ज्ञान का निरूपण कर बैठते हैं। नदी तटो के सुन्दर दृश्य पाडित्य प्रदर्शन की चपेट मे सौदर्य विहीन बन गए हैं। सब कुछ मिलाकर केशव के प्रकृति चित्रण मे शब्दो की करामात और अलकारो की भरमार अधिक है, कवि सुलभ भावुकता और माधुर्य कम है। केशव का अनुराग प्रकृति की खुली गोद से न होकर राज-महलो के बाग-बगीचे और विलासता प्रधान उपादानो तक सीमित है।

केशव के काव्य सम्बन्धी अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भावो की गम्भीरता और मार्मिक स्थलो से अनुरुक्त होने वाली सहृदयता, उनके

काव्य में अधिक नहीं है। उन्होने कविता के कलापक्ष पर अधिक ध्यान दिया है। सूर और तुलसी की भाँति उनके काव्य की अन्तरात्मा

रस

अर्थात् भावपक्ष पूर्ण रूप से विकास को नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार केशव मूलतः अलकारवादी कवि हैं, रसवादी नहीं। इतना होते हुए भी केशव रस के सर्वोपरि महत्व को अस्वीकार न कर सके। अपने रसिक प्रिया ग्रन्थ मे उनका स्पष्ट कथन है—

ज्यों बिनु डीठि न शोभिये, लोचन लोल विशाल।
त्योंही केशव सकल कवि बिन वाणी न रसाल॥
ताते रुचि शुचि शोचि पचि कीजै सरस कवित्त।
केशव स्याम सुजान को, सुनत होइ वश चित्त॥

अर्थात् रस विहीन कविता ज्योति रहित नेत्रों के समान शोभा विहीन होती है। अतएव कवि को सरस कविता करनी चाहिए।" यद्यपि स्वय केशव अपनी इस शिक्षा का अनुसरण नही कर सके हैं तथापि अनेक स्थानो पर उन्होने विविध रसो की उत्कृष्ट व्यजना की है।

रस की दृष्टि से केशव प्रधानतः शृ गार और वीर रस के कवि हैं। वीर रस की व्यजना उनके सभी प्रबन्ध काव्यो मे बडी उत्कृष्ट बन पडी है। वीरोचित उत्साह के मार्मिक वर्णन मे वे अपना सानी नही रखते। शत्रुघ्न के बाणो से मूर्छित लव के लिये विलाप करती हुई सीता के प्रति कुश का कथन कितना उत्साहपूर्ण है—

रिपुहि मारि संहारि दल यम ते लेहुँ छुड़ाय।
लवहि मिलैहौ देखिहो माता तेरे पाँय॥

केशव के युद्ध वर्णन भी बड़े सजीव हैं। वास्तव मे इन भावो की अनुभूति का अवसर केशव को अवश्य मिला था। अपने आश्रयदाता के साथ अनेक युद्धो मे केशव ने स्वय भाग लिया था। यही कारण है कि केशव की वीर रस प्रधान कविता मे इतना वीरोचित ओज, उल्लास और प्रवाह है।

शृंगार रस की दृस्टि से 'रसिक प्रिया' कवि का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। शृ गार रस मे दोनों पक्षो सयोग और वियोग का उन्होने सागोपाग वर्णन किया है। शृ गार को उन्होने इतना अधिक महत्व दिया है कि अन्य रसो को

भी इसके अन्तर्गत लाने की उन्होने चेष्टा की है। यद्यपि अनेक स्थानो पर उनका यह प्रयत्न बड़ा हास्यास्पद है। रसिक प्रिया के मुक्तको मे कृष्ण तथा गोपियाँ आलम्बन रूप मे हैं। कृष्ण और गोपियो को लेकर केशव ने किसी भक्ति काव्य का सृजन नहीं किया वरन कृष्ण और गोपिकाओ को कामकला की विविध क्रीडाओ मे रत दिखलाते हुए घोर स्थूल एव एन्द्रिय श्रृंगार का चित्रण किया है। विद्यापति की भाँति उनका समस्त श्रृंगारिक काव्य भी मिलन, मान, अभिसार, रति आदि विविध भगिमाओ के बीच मे पला है। उनके नायक नायिका श्रृगार रसान्तर्गत सभी परिस्थितियो के बीच से गुजरे हैं और इन विभिन्न अवस्थाओ और परिस्थितियो के बीच यद्यपि केशव ने प्रेमी हृदय के भावो की गम्भीर और मार्मिक व्यजना की है, तथापि केशव का श्रृंगारी काव्य आदि से लेकर अन्त तक राधा, कृष्ण और गोपियो के एकान्त निष्ठ लीला विलास का चित्रण है। उसमे वासना की तीव्र गध और मर्यादा का नितान्त अभाव है। वृषभानु के निकट वाले भवन मे आग लगती है। समस्त व्रजवासी आग बुझाने के निमित्त दौड़कर वहाँ पहुँचते हैं। कृष्ण भी वहाँ जाते हैं परन्तु आग बुझाने के स्थान पर वे कितने महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करते दिखाई देते हैं। देखिए—

> ऐसे मे कुंवर कान्ह सारी सुक बाहिर के,
> राधिका जगाई और युवती जगाई कै।
> लोचन विशाल चारु चिबुक कपोल चूमि
> चंपे की-सी माला लाल लीन्ही उर लाइकै

राजदरबारो के विलासी वातावरण के बीच पलने वाले कवि के सामने लोक मगल भावना से शून्य प्रेम और श्रृगार का यही आदर्श रहा होगा। केशव की इसी मनोवृत्ति के कारण रामचन्द्रिका के नायक नायिका भी श्रृंगारी अधिक हैं। उन्होने राजा राम की दिनचर्या मे श्रृगार की ही विशद् रूप से योजना की है।

केशव का विप्रलम्भ श्रृंगार अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक और सजीव है। सीता के वियोग मे वियोगी राम का जो चित्र उन्होने प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही बड़ा भावपूर्ण और मर्मबेधी है। सीता का दारुण वियोग रामको

अर्थ-विक्षिप्त सा बना देता है। वे विलाप करते हुए बडे करुणापूर्ण शब्दो में सीता का पता पूछते हैं। चक्रवाक के जोड़ो को देखकर राम कहते हैं—हे चक्रवाक जब-जब तुम सीता के साथ-साथ हमे अवलोकते थे तब-तब तुम दुख का अनुभव करते थे। परन्तु अब हृदय से उस बैरभाव को निकाल कर हम पर कृपा करिये और सीता का पता बता दीजिये—

अवलोकत हे जबही जबही। दुख होत तुम्हे तबहीं तबहीं॥
वह बैर न चित्त कछू धरिए। सिय देहु बताय कृपा करिए॥

इसी प्रकार केशव ने कृष्ण विरह मे दग्ध विरहिणी गोपिकाओ का जो चित्र अङ्कित किया है वह विरह जनित हृदय की भाव-लहरियो मे डूबा हुआ है। उसमे विरहिणी के हृदय का सच्चा स्पन्दन है। कही-कही तो केशव विप्रलम्भ शृ गार के सम्राट सूरदास के निकट पहुच गए हैं। उनके विरह काव्य मे वैसी ही तन्मयता और भाव-विह्वलता है जो सूर के वियोग वर्णन मे है।

शृ गार और वीर के अतिरिक्त केशव ने करुण रस के बडे सवाक् चित्र खीचे हैं। लक्ष्मण के शक्ति लगनेपर तथा मेघनाथबध के अवसरपर केशव की लेखनी ने करुण रस मे डूब कर जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे पाठको की आँखो को तरल बनाने मे सर्वथा समर्थ हैं। युद्ध के प्रसगो मे भयानक और वीभत्स रसो की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। अन्य रसो का विधान केशव के काव्य में नाममात्र को है। यद्यपि राम चन्द्रिका, कवि प्रिया और विज्ञान गीता के अनेक स्थलो पर शान्त रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है।

अलकारो के सम्बन्ध मे केशव का दृष्टिकोण स्पष्ट ही है—'भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त'। इस प्रकार सस्कृत के दण्डी भामह आदि

अलंकार

अलकारवादी आचार्यो का अनुकरण कर केशव ने अलकारो को ही कविता की सच्ची शोभा माना है। यहाँ तक कि रस की अपेक्षा अलंकारो को उन्होने अपने काव्य मे प्रधानता दी है। यही कारण है कि अपनी समस्त कविता मे केशव ने पग-पग पर अलकारो का खूब चमत्कार दिखाया है। एक-एक छन्द मे अलकारो की लड़ी बाँध देना केशव की खूबी है। अलकारो से कवि को इतना मोह है कि इसके लिए उसने भाव, प्रसंग, और रस-परिपाक की कोई परवाह नही की। भाव-

पूर्ण मार्मिक स्थलो की उपेक्षा कर केवल बाग़-विलास और अलकारिक चमत्कार प्रदर्शन के लिए उन्होने ऐसे सदर्भहीन प्रसगो का वर्णन किया है। जो कथा प्रवाह की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है। केशव की इसी मनोवृत्ति के परिणाम स्वरूप राम को उल्लू और चोर की उपमा मिली तथा बालारुण को 'शोणित कलित कपाल की'। वास्तव मे शब्दो के खिलवाड़ और अलकार वैचित्र्य ने उनकी कविता के सहज सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। सीता की अग्नि परीक्षा के प्रसग मे केशव ने उत्प्रेक्षा, उपमा, सदेह की तो झडी लगादी पर इस अलकारिक आवेश मे उन्हे यह ध्यान नहीं रहा कि इस अवसर पर सीता, राम और लक्ष्मण के हृदय मे भावनाओ का कैसा ज्वार उमड़ रहा होगा। उनका कवि कर्म तो सीता के इस रूप की व्याख्या करता है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी,
कि संग्राम की भूमि मे चंडिका सी।
मनो रत्न सिहासनस्था सची है,
किधो रागिनी राग पूरे रची है॥

✓अलकार के व्यर्थ के बोझ से केशव का कवित्व दब सा गया है। उनकी कविता मे बाह्य चमक-दमक तो आ गई पर आत्मा का तेज उसमे नही रहा। अलंकारो की चकाचोध मे उसका निजी सौन्दर्य निष्प्रभ बन गया है। परन्तु जहा अलकारो के प्रति केशव का कठोर आग्रह नही है, जहाँ अलंकार योजना स्वाभाविक रूप में हुई है वहाँ केशव की कविता बड़ी हृदयग्राही और सरस है। दशरथ मरण के उपरान्त भरत जब महल में प्रवेश करते हैं तो माताओ को वे वृक्ष विहीन लताओ के समान निरालम्ब पाते हैं "मन्दिर मातु विलोक अकेली, ज्यो बिन वृक्ष बिराजत बेली।" इसी प्रकार हनुमानजी ने लका मे जाकर सीता जी को जिस रूप मे देखा है वह--"धरे एक बेनी मिली मैल सारी। मृनाली मनो पक ते काढि डारी।' पक से निकाल कर फेकी हुई मृणाली के समान सीता की दीनहीन अवस्था का कैसा हृदय ग्राही चित्रण है। वास्तव मे केशव यदि अलकारो और वाग्वैचित्र्य का मोह त्याग कर कविता करते तो वे कहीं अधिक सफल होते।

केशव ने जितने अधिक छन्दो का प्रयोग किया है उतने छन्दो का

प्रयोग केशव के पूर्ववर्त्ती अथवा परवर्त्ती हिन्दी साहित्य के किसी कवि की रचना मे आज तक नहीं दिखलाई देता।

छन्द

केशव के ग्रन्थो में मात्रिक और वार्णिक दोनो ही प्रकार के सभी छन्दो का प्रयोग हुआ है। उनकी रामचन्द्रिका तो छन्दो का एक प्रकार से अजायब घर है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि ने अपने इस प्रबध काव्य की रचना कवि समाज को छद शिक्षा देने के लिए की है। रामचन्द्रिका मे बड़ी शीघ्रता से छन्द परिवर्त्तन होता है। ऐसे स्थान वहुत ही कम हैं जहाँ एक ही छन्द का सात आठ बार लगातार प्रयोग हुआ है। इससे काव्य के कथा सौष्ठव को बड़ा आघात पहुंचा है।

केशव के छन्दो की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे सर्वथा रसानुकूल और भावानुकूल है। वीर रस की व्यजना मे अधिकतर छप्पय का प्रयोग हुआ है तथा शृङ्गार करुण और शात के रसोद्रेक मे बहुधा सवैया का प्रयोग है। इसी प्रकार सीता की खोज मे बानर समाज उछलता कूदता आगे बडता है तो बानरो की इसी गति के समान केशव के छन्द भी उछलते कूदते हुए आगे बढ़ते है।

चंड चरन छंडि धरनि मंडि गगन धावहीं।
तत्क्षण हुई दच्छिन दिसि लक्ष्यहिन पावही॥
धीर धरन वीर बरन सिंधु तट सुभावहीं।
नाम परम धाम धरम, राम करम गावहीं॥

केशव ने व्रज भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया है, परन्तु व्रजभाषा का जो ढला हुआ रूप सूर आदि अष्टछाप के कवियो मे प्राप्य है वह केशव की कविता मे नही मिलता। उनकी भाषा पर सस्कृत

भाषा

शब्दावली और बुन्देलखण्डी भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। इसका कारण यह है कि केशव बुंदेलखण्ड के निवासी थे और वे उस कुल में उत्पन्न हुए थे जिसके 'दास' भी भाषा बोलना नहीं जानते थे। सस्कृत मे बात करते थे अतएव केशव की भाषा पर सस्कृत और बुन्देलखण्डी भाषाओ का प्रभाव स्वाभाविक ही है। केशव के प्रत्येक ग्रन्थ मे सस्कृत शब्दो का तत्सम रूप मे बहुल प्रयोग हुआ है। सस्कृत शब्द ही नही

केशव ने संस्कृत विभक्तियो का भी प्रयोग किया है । कुछ अपने पाडित्य प्रदर्शन के लिए भी केशव ने सस्कृत का अधिक सहारा लिया है । 'रामचन्द्रिका' ग्रथ की भाषा पर सस्कृत का सर्वाधिक प्रभाव है । दो एक छन्दो की भाषा तो नितान्त सस्कृत ही है :—

रामचन्द्र पदपद्मं वृन्दारक वृन्दाभि वंदनीयम् ।
केशव मति भूतनया; लोचनं चंचरीकायते ॥

सस्कृत के साथ-साथ केशव ने बुन्देलखण्डी शब्दो का इतना अधिक प्रयोग किया है कि उनकी ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित कहना अधिक युक्ति संगत होगा । अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषा के शब्दो का प्रयोग भी केशव की प्रायः सभी रचनाओ मे हुआ है । अन्त्यानुप्रास तथा मात्रापूर्ति के लिए अन्य कवियो की भाँति केशव ने भी शब्दो का रूपान्तर किया है, जैसे 'समाय' के स्थान पर माई, साधु के स्थान साध, वेश्या के स्थान पर विस्वा । परन्तु ऐसे स्थान कम ही हैं । बख्यो, देयमान, मुचाकन, बालकर्त्ता आदि शब्द केशव ने स्वय गढे है । अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी उनकी रचनाओ में हुआ है । जैसे उनमान, बिबूचे, साथर आदि ।

माधुर्य ओज और प्रसाद आदि भाषा के तीनो गुण केशव की भाषा मे यथास्थान स्थित हैं । रसिक प्रिया ग्रन्थ के सभी छन्द माधुर्य गुण युक्त हैं और शृंगार रस के लिए यह अपेक्षित भी है । कहीं-कही तो केशव की माधुर्यमयी भाषा विद्यापति और नन्ददास की कोमलकात पदावली के निकट है । वीर, वीभत्स और रौद्ररस की स्थिति मे केशव की भाषा स्वाभाविक रूप से ओज प्रधान है । यद्यपि केशव की भाषा को अत्यन्त क्लिष्ट कहा जाता है, परन्तु यह तथ्य समीचीन नहीं है । रामचन्द्रिका और कविप्रिया के कुछ स्थलो को छोड़कर केशव की भाषा प्रसाद गुण पूर्ण हैं । सब कुछ मिलाकर केशव को अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है । केशव की भाषा के विषय में बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं जो लोग हिन्दी भाषा को भाषा ही नहीं समझते और कहते हैं कि हिन्दी के शब्दो मे मनोभाव प्रगट करने की शक्ति बहुत ही अल्प है, उनसे हमारा निवेदन है कि वे केशव के ग्रन्थ पढ़े और देखे कि इस

भाषा में क्या चमत्कार है। जिस भाषा वाले को अपनी भाषा की समृद्धि और पूर्णता का अहकार हो वह उस भाषा का सर्वोत्तम छन्द लेकर केशव के चुनिंदा छन्दो से मिलान करे तो मालूम हो जायगा कि उसकी भाषा हिन्दी भाषा के सामने तुच्छातितुच्छ है। क्या किसी भाषा का कवि अपने किसी छन्द के चार चार और पाच पाच तरह के अर्थ लगा सकता है। केशव की कविता मे ऐसे छन्द बहुत हैं जिनका अर्थ दो तीन तरह से होता है। इतना ही नहीं कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनका शब्दार्थ पॉच-पॉच तरह का होता है। इसी कठिनता के कारण कुछ लोग केशव को कम पढ़ते हैं। हमारी दृढ धारणा है कि केशव ने हिन्दी को महान गौरव प्रदान किया है। जिस प्रकार तुलसी अपनी सरलता और सूर अपनी गम्भीरता के हेतु सराहनीय हैं वैसे ही वरन् उससे भी बढ़कर केशव अपनी भाषा की परिपुष्टता के लिए प्रशंसनीय है।

आचार्यत्व

केशवदास निश्चय रूप से काव्यशास्त्र के प्रथमाचार्य और रीतिमार्ग के प्रवर्त्तक हैं। यद्यपि केशव से पूर्व रीति ग्रन्थो की रचनाओ का सूत्रपात हो चुका था, परन्तु वास्तविक रूप मे साहित्यशास्त्र को व्यवस्थित रूप देकर हिन्दी साहित्य मे रीतिकाव्य धारा का प्रवचन करने का श्रेय केशव को ही। केशव ने पहली बार काव्य के विभिन्न अङ्गो का शास्त्रीय ढग से विस्तृत विवेचन कर इस क्षेत्र मे पथ प्रदर्शन किया है। उनका आचार्यत्व परवर्ती साहित्यकारो के लिए आदर्श रहा है। सस्कृत के रीति ग्रन्थो से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी इस क्षेत्र में केशव ने अपनी मौलिकता का यथेष्ठ परिचय दिया है। सामान्य और विशिष्ट वर्गो मे अलकारो का विभाजन केशव की निजी कल्पना है। रस तथा नायक नायिका भेद विवेचन मे केशव ने मौलिकता का ध्यान रखा है। इन रीति विषयो को लेकर केशव ने बड़े ही ललित उदाहरण सामने रखे हैं। इस सम्बन्ध में प० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थो को चुनकर इकठ्ठा करे तो भी उनकी इतनी अधिक सख्या न होगी। वास्तव में आचार्यत्व की दृष्टि से केशव का स्थान हिन्दी साहित्य मे अप्रतिम है। उनका यह आचार्यत्व ही उनके कवि व्यक्तित्व पर छाया हुआ है। इसीलिये केशव के काव्य में कल्पनाओ की ऐसी उड़ान,

अलकारो का ऐसा चमत्कार पग-पग पर देखने को मिलता है। यह सत्य है कि इस चमत्कार वादिता ने उनके काव्य के सहज सौदर्य को ढक दिया है फिर भी केशव के पॉडित्य मे कुछ ऐसा जादू है, कि हमारा ध्यान उनके काव्य दोषो की ओर जाता ही नही। कविता के कलात्मक क्षेत्र मे वे महान हैं। इसीलिए हम हिन्दी साहित्य के 'सूर सूर तुलसी ससी' के बाद तीसरा स्थान 'उड़गन' के रूप मे केशवदास को देते हैं।

शब्दालकारो की अपेक्षा बिहारी के अर्थालकार अधिक सौन्दर्यशाली हैं। शब्दालकारो मे कवि की दृष्टि चमत्कार प्रिय अधिक है। इसीलिए शब्दालकार प्रधान दोहो से रस की अनुभूति नहीं होती। रचना चमत्कार पर ही दृष्टि अटक जाती है। अर्थालकारो मे बिहारी ने साम्यमूलक अलकारो विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, का अधिक सहारा लिया है। इन सब के बड़े सुन्दर उदाहरण सतसई से दिये जा सकते हैं।

बिहारी ने केवल दोहा जैसे छोटे छन्द में अपनी रचना की है। और इस लघु छन्द के माध्यम से ही बिहारी ने जिस कवित्व शक्ति का परिचय दिया, वैसा अन्य कवियो द्वारा बड़े-बड़े कवित्त और सवैयो द्वारा भी सम्भव न हो सका। इन छोटे से दोहो मे बिहारी ने विशाल भावो की सृष्टि की है और यथार्थ मे वे गागर मे सागर के समान हैं। दोहे के थोड़े से शब्दो मे ही अनेक अलकार अनेक भाव, अनेक व्यापार एक साथ गुथे हुए हैं फिर भी उन दोहो की गति का प्रवाह कहीं टूटने नहीं पाया है, और न कहीं कमल का सौन्दर्य स्खलित हो पाया है। सत्य तो यह है कि दोहो की समास पद्धति की कला मे बिहारी बहुत प्रवीण थे। उन्होने शब्दो को उसी प्रकार दोहो मे फिट किया है जैसे कोई कुशल जौहरी आभूषणो मे रत्न जड़ता है।

छंद

पिगल की कसौटी पर भी बिहारी के दोहे खरे उतरते हैं। कही भी उनके दोहे मे मात्राओ की न्यूनता और अधिकता नही है। त्रिकल, द्विकल और यति का ध्यान बिहारी ने बराबर रखा है। बिहारी के दोहे ध्वनि काव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और उनके सम्बन्ध मे कहा गया निम्न दोहा यथार्थ ही है :—

सतसैया के दोहरे, ज्यौं नाविक के तीर।
देखत मे छोटे लगे घाव करे गंभीर॥

दोहे जैसे छोटे छन्द मे बिहारी भावो को इतने सुन्दर ढग से अभिव्यक्त कर सके, इसका रहस्य यह है कि भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। उन जैसी ठोस, प्रौढ़, और चुस्त भाषा मे काव्य रचना करने वाला

भाषा और कोई कवि उत्पन्न ही नही हुआ। उनकी भाषा मे जो नपा-तुला शब्द चयन, और अल्प अक्षर होते हुए भी वृहद अर्थ को सॅभालने मे सर्वथा समर्थ वाक्य विन्यास है वह अन्यत्र कहा ? श्री विश्वनाथ मिश्र के शब्दो में "बिहारी को भाषा का पण्डित कहना चाहिए। घनानन्द-आदि दो एक कवियो की बात तो हम नहीं कह सकते, पर भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला भाषा पर वैसा ही अधिकार रखने वाला कोई मुक्तक रचनाकार नहीं दिखाई देता।"

इतना अवश्य है कि बिहारी की भाषा विशुद्ध ब्रज भाषा नही है। पूर्वी, बुन्देलखडी, खड़ी बोली और फारसी अरबी के शब्द उनकी भाषा मे प्रचुर मात्रा मे हैं। पर इससे भाषा की स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं हुई। भाव और विषय के अनुरूप उन्होने अपनी भाषा को गढ़ा है। नगर की नायिका के वर्णन मे उनकी शब्दावली और है तथा ग्रामीण नायिका का चित्रण उन्होने दूसरे प्रकार के शब्दो मे किया है। कही-कहीं बिहारी की भाषा मे लिंग विपर्यय मिलता है। एक ही शब्द कही पुलिग मे प्रयुक्त हुआ है कही स्त्री लिग में। पर केवल इस आधार पर व्याकरण की दृष्टि से बिहारी की भाषा अव्यवस्थित नही कही जा सकती। एकाध स्थानो को छोड़कर वह सर्वथा व्याकरण सम्मत है। बिहारी पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि उन्होने शब्दो की तोड़ मरोड़ बहुत अधिक की है। पर यह कथन सर्वथा पक्ष-पातपूर्ण और निराधार है। बिहारी की भाषामे अन्य कवियो की अपेक्षा शब्दो की तोड़ मरोड़ बहुत कम हुई है। दो एक स्थानो पर ही 'स्मर' के लिए 'समर' और 'कैकै' के स्थान 'ककै' शब्द मिलते हैं।

सस्कृत की भाँति ब्रजभाषा की प्रकृति समास बहुला नही है। यही कारण है कि जिन कवियों ने ब्रजभाषा को समास बहुल रूप दिया है उनकी भाषा मे सहज स्वाभाविक सौन्दर्य नही आने पाया। पर बिहारी के सम्बन्ध मे ऐसा नही है। दोहे जैसे छोटे छन्द मे अधिक भाव भरने के लिए बिहारी ने अनेक स्थानों पर सामाजिक पदावली का सहारा लिया है, पर इससे कहीं भाषा मे गतिरोध उत्पन्न नही हुआ है।

संक्षेप में बिहारी की भाषा कोमल, सरस तथा सवारी हुई साहित्यिक ब्रज-

भाषा है। अभिव्यजना की दृष्टि से वह अत्यन्त शक्तिशाली है। काव्य के क्षेत्र मे बिहारी को जो इतनी सफलता मिली है उसका बहुत कुछ श्रेय उनकी भाषा को है।

बिहारी की काव्य साधना मुक्तक काव्य की शैली को लेकर चली है। मुक्तक काव्यकार की दृष्टि से बिहारी कितने सफल हुए हैं, इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्न पक्तियाँ उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा "मुक्तक कविता मे जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहो में चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमे कोई सन्देह नही। मुक्तक मे प्रबध के समान रस की धारा नही रहती, जिसमे कथा प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न होजाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अङ्ग का प्रदर्शन नही होता बल्कि कोई एक रमणीय खड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणो के लिए मत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओ और व्यापारो का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हे अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि मे कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना मे सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी।"

शैली

भाव सामग्री की दृष्टि से बिहारी की भेट हिन्दी साहित्य को अल्प ही है, पर जो कुछ भी बिहारी ने हमें दिया है, उसका रूप बड़ा मोहन है। रीति-काल मे कला की समृद्धि पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी, बिहारी ने जैसे इस दिशा मे रीतिकाल का प्रतिनिधित्व किया है। उनके काव्य मे कला की सूक्ष्म कारीगरी दृष्टव्य है जैसे किसी महान शिल्पी ने बड़ी कुशलता के साथ किसी

हिन्दी साहित्य में स्थान

प्रस्तर खण्ड पर बेलबूटो का सूक्ष्म जड़ाव किया हो। बिहारी के इसी जड़ाव पर रसिक जन अब तक मुग्ध होते आए हैं और बिहारी की अनन्य लोकप्रियता का यही मूल कारण है।

हिन्दी काव्यधारा मे बिहारी का विशिष्ट स्थान है। उनकी सतसई शृंगारिक काल परम्परा की गौरवपूर्ण कड़ी है। शृंगार के मादक स्वर से हृदय को गुदगुदाने की जैसी इसमे शक्ति है वैसी अन्य किया काव्यकृत्ति मे नहीं। इस रूप मे उर्दू की जवाँदानी और फड़कते हुए साहित्य से हिन्दी का कोई कवि टक्कर ले सकता है तो वे बिहारी ही हैं। यह सत्य है कि उनके काव्य में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया। भावो का विराट और काव्य रूप उसमे नही मिलता। इसीलिए बिहारी, तुलसी सूर जैसे प्रथम श्रेणी के कवियो की कोटि मे तो नहीं आते पर अपने युग की वे श्रेष्ठतम विभूति थे, इसमें सन्देह नहीं।

———

देवदत्त

रीति काल के प्रतिनिधि कवियो में देव का स्थान अन्यतम है। वे एक साथ कवि और आचार्य दोनो हैं और इन दोनो ही रूपो मे उनका व्यक्तित्व सर्वोपरि है। आचार्यत्व की दृष्टि से वे केशव से भी बढ़कर के हैं और कवित्व शक्ति मे वे बिहारी से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। केशव और बिहारी दोनो मिलकर देव मे एकाकार हो उठे हैं। अपने इसी विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण देव अपने युग की समस्त प्रवृत्तियो का सफलता पूर्वक अवगाहन कर सके हैं। रीतिकाल की सारी पूर्णता और अपूर्णता उनके काव्य मे प्रतिबिंबित है। केशव ने जिस रीति परम्परा को हिन्दी साहित्य मे जन्म दिया, उत्तर मध्य कालीन लोकरुचि के विपाक स्वरूप साहित्य क्षेत्र मे शृंगार और काव्य कला की जो सहस्र मुखी धारा प्रस्फुटित हुई उसका सबसे अधिक शक्तिशाली और प्राणवान स्वर देव की काव्य-वीणा से निसृत हुआ है। रीतियुग की मान्यताओ को लेकर चले तो देव के काव्य की आत्मा अपने समकालीन सभी कवियो के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध और अधिक सतेज है।

जीवन परिचय

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त है। 'देव' तो इनका उपनाम है जिसका प्रयोग वे अपने काव्य मे किया करते थे। इटावा नगर मे स० १७३० को इस महाकवि का जन्म हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज (द्विवेदी) ब्राह्मण थे। कवि के पिता के विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। प्रासगिक प्रमाणो के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि देव के पिता का नाम पं० बिहारीलाल दुबे था।

देव कवि की शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार हुई इस सम्बन्ध मे कोई सामिग्री उपलब्ध नही है। अन्तर्साक्ष्य के अनुसार सोलह वर्षकी अवस्था मे ही इन्होने भाव-विलास जैसे सुन्दर लक्षण ग्रथ की रचना की थी—

शुभ सत्रह सै छियालीस चढ़त सोलही वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता भाव विलास सहर्ष॥

इससे देव की सहज काव्य प्रतिभा का परिचय मिलता है। भाव-विलास के उपरात उन्होने अष्टयाम की रचना की और इन दोनो ही ग्रन्थो को लेकर वे दिल्ली के शाहशाह औरगजेब के पुत्र आजमशाह की सेवा मे उपस्थित हुए। आजमशाह बड़े काव्य रसिक, साहित्य मर्मज्ञ और गुणीजन थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि बिहारी की सतसई का सुप्रसिद्ध आजमशाही क्रम इन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ था। देव की कविताओ ने उन्हे बड़ा प्रभावित किया और इसके लिए देव को पुरस्कृत भी किया। पर देव आजमशाह का राज्याश्रय अधिक न भोग सके। आजमशाह शीघ्र ही इस ससार से बिदा हो गए। इसके उपरान्त देव दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य के आश्रय मे रहे। भवानी विलास की रचना उन्होने यही की। राजा सीताराम शाहजहाँ के खजाँची थे। पर इनके आश्रय मे भी देव अधिक समय न बिता सके। यश और सम्पत्ति अर्जित करके वे इटावा लौट आए। यही उन्होने प्रेमतरग का प्रणयन किया और तभी शायद वे इटावा छोड़कर कुसमरा ग्राम चले गए थे।

देव के तीसरे आश्रयदाता फफूद के राजा कुशलसिह थे। इन्ही के आश्रय मे देव ने कुशल विलास की रचना की। यहाँ भी देव अधिक दिन तक न रह सके। कई वर्षो तक वे अभीष्ट सरक्षक की खोज मे फिरते रहे, पर कहीं भी उन्हें ऐसा आश्रय प्राप्त नही हुआ जहाँ रहकर वे स्थिर भाव से काव्य साधना कर सकते। इसी बीच उन्होने देशव्यापी एक दीर्घ यात्रा की। अन्त मे राजा भोगीलाल से उनकी भेट हुई। सम्भवतः राजा भोगीलाल ने ही देव की प्रतिभा का समुचित आदर किया। यही कारण है कि अपने आश्रयदाताओ मे सबसे अधिक प्रशसा देव द्वारा राजा भोगीलाल की ही की गई है। पर दुर्भाग्य ने देव का यहाँ भी पीछा नही छोड़ा। राजा भोगीलाल

की मृत्यु ने देव को अन्यत्र आश्रय प्राप्त करने के लिए विवश कर दिया।

इसके बाद देव इटावा के निकट ड्यौडियाखेरा के राजा मर्दनसिह और दिल्ली के रईस राजा सुजानमणि के आश्रय मे रहे और उन्होने प्रेमचन्द्रिका तथा सुजान विनोद का प्रणयन किया। पर इन दोनो स्थान पर भी वे अधिक दिन नहीं रहे और अपने ग्राम कुसमरा लौट आए। देव अब वृद्ध भी बहुत हो गए थे। जीवन के सघर्ष और मनोकूल राज्याश्रय के अभाव से देव वैराग्य भावनाओ की ओर झुके। देव शतक जैसे वैराग्य ग्रन्थ परक इसी अवस्था की रचनाएँ है।

देव के पास जीविका निर्वाह का अन्य कोई साधन तो था नही। फलतः राज्याश्रय प्राप्त करना उनके लिए आवश्यक था। काव्य द्वारा अर्जित सम्पत्ति जब तक काम आती रही देव अपने घर पर ही सरस्वती साधना मे रत रहे, पर उसके बीतने पर उन्हे पुनः किसी आश्रयदाता के आश्रय मे रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। अबकी बार देव के आश्रयदाता महमदी राज्य के अधिपति अकबर अली खाँ थे। ये देव के अन्तिम आश्रयदाता थे और इनको कवि ने अपनी समस्त रचनाओ का सार सगृहीत कर समर्पित किया था। इस समय कवि की आयु ६४ वर्ष की थी। इसके एक-दो वर्ष उपरान्त ही कवि की मृत्यु हो गई। किवदन्तियो के अनुसार देव भरतपुर नरेश जवाहरसिह जी के यहाँ भी गए थे तथा जीवन के अन्तिम दिनो मे उनका सम्बन्ध शायद अलवर नरेश से भी रहा था।

इस प्रकार देव का समस्त जीवन सघर्षो की एक दुखद और लम्बी कहानी है। उचित और मनोकूल राज्याश्रय के अभाव ने देव के लिए जीवन निर्वाह की समस्या को कठिन बना दिया था। फलतः अभीष्ट राज्याश्रय की प्राप्ति के लिए उन्हे जीवन पर्यन्त इधर-उधर भटकना पड़ा था। कोई भी उन्हें ऐसा गुणज्ञ राजा नही मिला जो उन्हे जीवन की आर्थिक समस्या से मुक्त बना स्थिरता पूर्वक काव्य साधना का अवसर देता।

देव को उनके हृदयानुकूल राजाश्रय प्राप्त न हो सका इसका एक कारण यह भी है कि देव बड़ी स्वाभिमानी प्रकृति के पुरुष थे। अन्य रीतिकालीन कवियो की भाँति उनमे वह व्यवहार कुशलता नहीं थी जो

व्यक्तित्व

समय और अवसर से समुचित लाभ उठा सके। वे बड़ी भावुक और कोमल प्रकृति के पुरुष थे। काव्य की असाधारण प्रतिभा से उनका व्यक्तित्व मडित था। तभी तो वे सोलहवे वर्ष की अल्पायु मे भाव-विलास जैसे ग्रन्थ की रचना कर सके। उनकी इस कवित्व-शक्ति पर मुग्ध होकर ही उनके जीवन काल मे लोग कहने लगे थे कि देव को सरस्वती सिद्ध है। किवदती है कि एक बार भरतपुर नरेश जवाहरसिह के दरबार मे गए। उस समय डीग के किले का निर्माण होरहा था। महाराज ने कवि से कुछ रचनाए सुनाने को कहा। देव ने उत्तर मे कहा कि महाराज इस समय सरस्वती कुछ कहने की आज्ञा नही देती। पर महाराज के बहुत अधिक बाध्य करने पर देव ने जो कुछ कहा उसका साराश यह था कि इस दुर्ग मे खोपड़ियाँ लटकती फिरेंगी। कहा जाता है कि देव का यह कथन अक्षरशः सत्य हुआ। इस किवदन्ती मे कहा तक सार है यह तो कुछ नही कहा जा सकता पर इतना अवश्य है कि देव वाक्सिद्ध कवि थे।

देव मे काव्य की लोकत्तर प्रतिभा ही नही थी, अध्ययन और अनुभव भी उनका बडा व्यापक था। साहित्य और काव्य शास्त्र मे उनकी गहरी पैठ थी। सस्कृत प्राकृत भाषाओ के पण्डित थे। वेदान्त और अन्य दर्शनो का भी उन्हें ज्ञान था। ज्योतिष और आयुर्वेद से भी वे परिचित थे। आकृति से वे अत्यन्त रूपवान थे। राजसी बेशभूषा उन्हे प्रिय थी और रसिकता उनके व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरी हुई थी।

रचनाएं

देव ने ८० वर्ष का कवि जीवन प्राप्त किया था, और इतने लम्बे समय मे उन्होने साहित्य की प्रचुर सामग्री का निर्माण भी किया था। शिवसिह सरोज के अनुसार देव कृत ७२ ग्रन्थ हैं। देव की रचनाओ को लेकर यह कथन कहाँ तक सत्य हैं, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता पर वर्त्तमान समय मे देव कृत कुल १८ ग्रन्थ ही प्राप्य हैं। १—भाव-विलास, २—अष्ट-याम, ३—भवानीविलास, ४—रसविलास, ५—प्रेमचद्रिका, ६ रागरत्नाकर, ७—सुजान विनोद, ८—जगदर्शन पचीसी, ९—आत्मदर्शन पचीसी, १०—तत्वदर्शन पचीसी, ११—प्रेम पचीसी, १२—शब्द रसायन, १३—सुख सागर

तरंग, १४—प्रेम तरग, १५—कुशलविलास, १६—जातिविलास, १७—देव चरित्र, १८—देवमाया प्रपच (नाटक) इनके अतिरिक्त शृ गार विलासिनी और शिवाष्टक ग्रन्थ भी देवकृत कहे जाते हैं ।

इनमे से भावविलास, भवानी विलास, कुशल विलास, रस विलास प्रेम चद्रिका शब्द रसायन तथा देवशतक (जगदर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, तत्वदर्शन पचीसी, प्रेम पचीसी) कवि की उत्कृष्ट कला कृतिया हैं। भाव विलास मे शृ गार रस का प्रतिपादन है । भवानी विलास तथा कुशलविलास, में नायिका भेद का विवेचन है । रस विलास मे जो कि जाति विलास का ही सशोधित और परवर्द्धित रूप हे नारी के शत-शत भेदो का वर्णन है । जाति विलास की रचना कवि ने देशव्यापी पर्यटन के उपरान्त की थी । इस पर्यटन मे कवि को देश के विविध भागो के नारी सौदर्य को निकट से देखने का अवसर मिला था । रस विलास इसी नारी सौन्दर्य के रस से अनुप्राणित है। प्रेमचद्रिका मे विशुद्ध प्रेम की गौरव गरिमा है। शब्द रसायन कवि का अत्यन्त प्रौढ रीतिग्रन्थ हैं । अन्य सभी कृतियो मे देव का कवि रूप प्राप्य है । परन्तु इस ग्रन्थ मे वे आचार्य रूप मे प्रगट हुए है । देवशतक कवि की वैराग्य और भक्ति सबन्धी भावनाओ से ओतप्रोत है । कवि की दार्शनिक अनुभूतियो की इसमे बड़ी मार्मिक व्यजना है ।

देव की रचनाओ से विदित होता है कि उनकी काव्य साधना, शृ गार आचार्यत्व और दर्शन की त्रिधाराओ मे प्रवाहित हुई है । शृ गारिकता और आचार्यत्व तो रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्तियाँ है ही, देव का

काव्य साधना

काव्य इसके अतिरिक्त वैराग्य भावना को भी लेकर चला है । शृ गार और रीति के क्षेत्र मे भी देव का कवि व्यक्तित्व बड़ा भव्य और विशाल है। शृ गार और रीति के रूप मे रीतियुगीन समस्त भाव भगिमाएँ देव के काव्य मे केन्द्रीभूत हो गई हैं । इस प्रकार देव की काव्य साधना का क्षेत्र अन्य रीति कालीन कवियो की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और गहन है। रीतिकाल की भाव चेतना को जैसा व्यापक रूप देव की कविता में मिला है वह तुलना से परे हैं ।

रीतिकाल की मूल प्रवृत्ति शृ गारिकता थी और रीतियुग के प्रतिनिधि कवि

होने के नाते देव के काव्य की समस्त चेतना भी इसी श्रृ गार रस मे डूबी हुई है। रीतिकालीन श्रृ गारिकता का क्या आदर्श और स्वरूप था, बिहारी के कवि रूप की विवेचना करते हुए पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। देव की वाणी ने ऐसे ही श्रृंगार की शत-शत रूपो मे व्यजना की है। देव का यह श्रृ गार वर्णन परम्परा निर्वाह के लिये कवि-कर्म पालन मात्र नही है, उसमे स्पष्टतः कवि की अनुभूतियो का प्रवल आग्रह है। यही कारण है कि देव के श्रृ गार मे कही भी हलकापन नहीं है। उसमे हृदय का आवेग भावो की तन्मयता और तरल रसाद्रता है। यही कारण है कि देव का श्रृंगार स्थूल और एन्द्रिय होते हुए भी अभिव्यक्ति के रूप में बड़ा भावपूर्ण और हृदय स्पर्शी है। उसमे शब्दो की क्रीडा और कला की कारीगरी तो नही है पर भावो की द्य ुति अवश्य है। बिहारी के श्रृंगार मे जहाँ कलापक्ष प्रबल है, देव के श्रृ गार मे यह स्थान भावपक्ष को मिला है।

श्रृ गार के सयोग और वियोग दोनो ही पक्षो का पूर्ण और व्यापक विवेचन देव की कविताओ मे दृष्टव्य है। सयोग श्रृङ्गार की केलि क्रीड़ा, मिलन, हास, परिहास, रूपवर्णन आदि विविध भाव भगिमाओ को लेकर कवि ने बड़ी व्यापक चित्रपटी प्रस्तुत की है। रीतिकाल के कवि होने के नाते देव का आग्रह भी सयोग सुख की व्यंजना की ओर अधिक है। इस-लिए उन्होने नायक नायिकाओ की रस केलि और सयोग सुख की विविध क्रीड़ाओ मे अपनी सारी रसिकता और भावुकता उड़ेल दी है। देव द्वारा व्यजित इस संयोग श्रृ गार के मानसिक और शारीरिक सुख के रग बड़े प्रखर हो उठे हैं। श्रृ गार के इस वर्णन मे छायावादी कवियो की भाति कोई मान-सिक छलना नही है और न हृदय की दबी हुई वासना को अप्राकृतिक रूप से प्रेम का अतीन्द्रिय रूप देने का प्रयत्न है। यहाँ तो सयोग सुख के बड़े सीधे और स्पष्ट चित्र हैं। हम उन्हें अश्लील, वीभत्स और कुरुचिपूर्ण नही कह सकते क्योकि इनका आधार दापत्य प्रेम हैं। गृहस्थी की चहारदीवारी के भीतर ही इस श्रृ गार की रस धार प्रवाहित हुई है। कवि ने दापत्य प्रेम मे ही श्रृ गार रस का पूर्ण परिपाक माना है—

तब हीं लौ श्रृङ्गार रसु जब लग दम्पति प्रेम।

उसकी दृष्टि मे स्वकीया का प्रेम ही सच्चा प्रेम है। परकीया प्रेम हेय हैं। ऐसे सच्चे प्रेम से रहित शृ गार, शृ गार नही शृ गाराभास मात्र है। इस प्रकार देव स्पष्टतः कामुकता और वासना मूलक प्रेम के विरोधी हैं। भारतीय सस्कृति के अनुकुल उनके प्रेम का आधार तो दाम्पत्य जीवन है। नव दम्पति की रस चेष्टाओ के माध्यम से लौकिक प्रेम के बड़े सुन्दर चित्र अंकित किए है। गौने जाती हुई नव-बधू को उसकी सखियाँ सीख देती हैं—

बोलियो बोल सदा हँस कोमल जे मन भावन के मन भाये।

तब नायिका के—

यो सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए।

कवि द्वारा यहा काम भावना के प्रथम उद्रेक का कितना सूक्ष्म वर्णन है। प्रेम के जो अ कुर मन मे उठे वे ही उरोजो पर छा गए। बास्तव मे मन के साथ शरीर का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि दोनो की चेतना एक साथ उत्पन्न हो जाती है।

इसके उपरान्त सयोग शृ गार के मिलन का पूर्ण चित्र देखिए :—

दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज
सेज के समीप छहरान्यो तम तोम से।
दूलहै दुराइ आली केलि के महल गई,
पेलि के पठाई वधू सरद के सोम सो।
अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु,
देव जोरु कै जनावै नव योवन के जोम को।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि,
उठी मे न आगि पघिलान्यो मम मोम सो॥

अपने इस सयोग वर्णन मे देव ने नायक नायिका के हास परिहास, और विहार के भी बड़े सश्लिष्ट चित्र दिए हैं। यद्यपि ऐसे स्थल सख्या मे अधिक नही है पर जो भी हैं वे बड़े सरस हैं। शृ गार के अन्तर्गत नायक नायिका के विविध हाव भाव और चेष्टाए भी होती हैं। देव ने इन सब के बड़े सवाक चित्र खीचे हैं। प्रेम मे पगी हुई नायिका का चित्र देखिए :—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसें भरि, आंसू भरि, कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव,
जकि जकि बकि बकि परत बई बई॥
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका मै
राधा मन मोहि मोहि मोहनमई भई॥

अब सयोग शृङ्गार का एक अङ्ग रह जाता है रूप चित्रण। रूप-चित्रण मे रीतिकालीन कवियो की वृत्ति रमी भी खूब है। यही कारण है कि रूप-चित्रण मे नख-निख वर्णन की परिपाटी रीतिकालीन कवियो मे रूढ हो गई थी। देव इस परम्परा से अछूते नही है। पर उनका रूप चित्रण नायक या नायिका के विविध अङ्ग प्रत्यगो को लेकर उपमानो की योजना मात्र नही है, उन्होने तो उन अगो मे तरगित चेतन सौंदर्य का रसपान किया है और अपनी वाणी से शतशत रूपो मे उसको अभिव्यक्त किया है। उनका रूप-सौदर्य नेत्रो को ही नही मन को भी सुख देने वाला है। इस प्रकार देव का सौदर्य चित्रण वस्तु परक न होकर भावना परक है। उसमे सौदर्य की गहन अनुभूतियो का भावुक प्रकाशन है। सौदर्य चित्रण के सभी तत्वो मे आत्म-तत्व की प्रधानता है। देव की सद्यः स्नाता का एक चित्र देखिए :—

पीतरंग सारी गोरे अङ्ग मिलि गई देव,
श्रीफल उरोज आभा आभासे अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बेदी बंदन वदन सोभा बिकसी॥
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिकसी।
नीबी उकसाय नैकु नैनन हँसाय,
हँसि ससिमुखी सकुचि सरोवर तै निकसी॥

प्रेम की एकनिष्ठता से रहित रसिकता और विलास परक शृंगार का

चित्रण करनेवाले कवियो के लिए वियोग की व्यथा व्यजना अग्राह्य ही थी। यही कारण था कि रीतिकालीन कवियों ने जिस सहज भावुकता से खडिता और मान आदि के प्रसगो में रग भरा है, उसका दशाश भी प्रवास जन्य विरह के वर्णन को प्रदान न कर सके। उनका वियोग वर्णन अनुभूतियो से अछूता केवल शब्दो की क्रीड़ा मात्र बनकर रह गया है। पर देव इस आरोप से बहुत कुछ बचे हुए हैं। विरह की गंभीर अवस्था का चित्रण भी उन्होने उसी सफलता से किया है जैसा कि खडिता और पूर्व राग के प्रसगो मे। विरह से दग्ध नायिका की विकलता कितनी तीव्रता के साथ व्यजित हुई है :—

वियोग वर्णन

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उटै ज्यो-ज्यो बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखी जन त्यौ सीत हूँ मे,
सौति के सराप तन, तापन तरफराति।
देव कहे साँसन ही अंसुवा सुखात मुख,
निकसे न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौट खाट पाटी लै लै ?
सूखे जल सफरी ज्यो सेज पै फरफराति ॥

विरह की यह अभिव्यक्ति अलकार के चमत्कार पर नही भावना की गम्भीरता और स्वाभाविकता पर आधारित है। इसमे सन्देह नहीं कि देव अपने जीवन में पीड़ा की गहन अनुभूतियो से परिचित थे। उनके वियोग-वर्णन को इन्हीं अनुभूतियो की सचाई का बल मिला है।

वियोग जनित मरण का चित्रण देव ने कितने कौशल से किया है। करुणा और व्यथा का कैसा आवेग है—

साँसन ही सो समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस, कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।

रीतिकालीन कवियो के सीमित काव्य क्षेत्र में प्रकृति चित्रण के लिए अधिक स्थान ही नही था। नारी सौन्दर्य पर जमी हुई उनकी दृष्टि प्रकृति की श्री सुषमा की ओर उन्मुख ही नहीं हो सकी। फलतः

प्रकृति-चित्रण शुद्ध प्रकृति चित्रण रीतिकाल मे नही मिलता। शृंगार रस की व्यजना मे अवश्य उद्दीपन रूप से प्रकृति का सहारा लिया गया है। देव ने इसी रीतिकालीन परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने सुजान विनोद और सुख सारग तरङ्ग मे षटऋतु और बारहमासे के रूप मे प्रकृति के सुन्दर चित्र दिये हैं। यद्यपि प्रकृति का यह चित्रण प्रधानतः उद्दीपन रूप में हुआ है पर कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ने इसे बडा प्रभावपूर्ण बना दिया है। कही-कही तो देव ने आधुनिक कवियो की भाति स्पष्टतः प्रकृतिका मानवीय करण किया है। प्रकृति के स्पंदन और उसकी चेतना को वाणी दी है। मानवीय क्रीड़ाओ की भाति प्रकृति की सहज सुलभ क्रीडाओ को अभिव्यक्ति दी है। नायक पवन की सुमन बेल, लताओं आदि नायिकाओ से रस केलि का चित्र देखिए—

आसन उदोत सकरुन ह्वै अरुन नैन।
तरुन तरुन तन तूमत फिरत है॥
कुंज कुंज केलि कै नबेली बाल बेलनि सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत है।
अम्ब कुल बहुल समीड़ि पीड़ि पाडरनि,
मल्लिकानि मीड़ि घन घूमत फिरत है।
द्रुमन द्रुमन दल दुमत मधुप देव,
सुमन सुमन मुख चूमत फिरत हैं॥

इस प्रकार देव के शृंगार का पाट बड़ा गहरा है। उसमे नायक नायिका के बाह्यरूप सौदर्य से लेकर उनके मन की अन्तर्दशाओ का यथार्थ प्रकाशन है। पर देव का काव्य यहीं तक सीमित नहीं है। उनका विचार क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसकी अनुभूति का धरातल बहुत गहरा है। भारत के विशाल पर्यटन ने इसको अनन्य बल दिया है। अन्तरग और बहिरग दोनो ही रूपो में मानवीय भावो के सुन्दर चित्र उन्होने प्रस्तुत किये हैं। राजप्रासादो से लेकर

गरीबो की झोपड़ियो तक उनकी कवि दृष्टि गई है। काश्मीर की सुन्दरी से लेकर गॉव की अल्हड़ युवती तक का चित्रण उन्होने एक रुचि से किया है। जीवन की सामान्य बातो को भी अपने काव्यकौशल से रग कर उन्होने अत्यत कलात्मक बना दिया है।

देव रीतिकाल के उन आचार्य कवियो मे है जिन्होने काव्य के समस्त अङ्गो का विवेचन किया है। इस विवेचन मे देव ने किसी मौलिकता का परिचय नही दिया। रीति ग्रथो के प्रतिपादन मे उन्होने जैसे सारा पाडित्य पूर्ववर्ती सस्कृत आचार्यो से उधार लिया है। उनका आचार्यत्व निश्चय ही भानुदत्त विश्वनाथ मम्मट आदि सस्कृत रीतिकारो का अनुकरणमात्र है। काव्य शास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तो के विवेचन मे भी देव असफल रहे हैं। कई स्थलो पर कवि प्रदत्त लक्षण अस्पष्ट और भ्रातिपूर्ण हैं। इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि रीति सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए जिस आलोचना शक्ति और विचार शक्ति की अपेक्षा होती है देव मे उसका अभाव है। इसीलिए देव का रीति साहित्य आलोचनात्मक न होकर वर्णनात्मक बन गया है।

दव का आचार्यत्व

आचार्यत्व की दृष्टि से देव का महत्त्व वास्तव मे रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा के कारण है। इस दृष्टि से देव केशव से भी आगे बढ गए हैं। रस सिद्धात का जैसा व्यापक और समर्थ विवेचन देव ने किया है, समूचे रीति साहित्य मे वह बेजोड़ है। देव मे जैसे सूक्ष्म और गहरी रस चेतना है, वह रीतिकाल के किसी अन्य आचार्य मे नहीं है।

श्रृंगार के रस सिद्ध कवि देव ने भारतीय दर्शन और अध्यात्म की मनोहर झॉकी प्रस्तुत की है। ससार की क्षणभगुरता, सासारिक माया जाल, तथा भगवद् प्रेम को लेकर उन्होने बहुत कुछ कहा है। पर इस रूप में देव, तुलसी, सूर, कबीर आदि भक्त कवियो की श्रेणी के भक्त कवि नहीं है। विराग की भावनाओ से अनुप्राणित जो तत्व चिंतन की रसधारा देव के काव्य मे प्रवाहित हुई है, उसकी ओर कवि की सहज प्रवृत्ति नही है। उनका यह विराग वस्तुतः अतिशय राग की प्रनिक्रिया स्वरूप था। राग के तीव्र उपभोग से थककर तथा

देव की वैराग्य भावना

जीवन के कटु सघर्षो से आहत होकर ही उनका हृदय विश्राति के लिए विरक्ति की ओर झुका था। पर देव का यह तत्त्वचितन बड़ा गम्भीर और भाव पूर्ण है इसमे सदेह नही। ससार की क्षणभगुरता का कितना करुण रूप है—

देव अदेव बली बलहीन चले गए मोह की हौस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते तहाँ हो बिलाने॥

पर फिर भी जीव सासारिक मोह मायाजाल मे उलझ कर विषय वासनाओ की मृग-मरीचिका मे भटकता फिरता है। इससे मुक्ति का एक ही मार्ग है, अपने भीतर अन्तर्निहित परमतत्व अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार। वेदाती के लिए तो इतना ही बहुत है पर भक्त के लिए अन्तिम स्थिति प्रेम की है। देव के लिए प्रेम ही जीवन का चरम ध्येय है। देव के तत्त्वचितन की चरम परिणित इसी प्रेम मे हुई है। देव की यह भक्ति भावना बड़ी उदार और सहज स्वाभाविक है। वह किसी सम्प्रदाय विशेष की छाप से मुक्त है।

भावरूप मे देव के काव्य की आत्मा जहाँ इतनी समृद्ध है, कला रूप में उसका शरीर भी अत्यन्त पुष्ट और सौष्ठव युक्त है। देव की अभिव्यंजना शक्ति से भावनाए जैसे साकार हो उठी है। वास्तव मे देव ने अपनी काव्यकला की तूलिका से भावानुभूतियो मे ऐसे रग भरे है, ऐसी रेखाओ और शब्द सकेतो की योजना की है, कि उनके मूर्त्तिभाव सजीव चित्र से खिच गए हैं। प्रियतम के प्रेम की उत्कठा मे प्रेमिका की उत्सुकता का चित्र देखिए :—

काव्यकला

आवन सुन्यो है मन भावन को भावती नै
आँखिन अनंद आँसू ढरकि ढरकि उठै।
देव दृग दौड़ दौरि जात द्वार देहरी लौं।
केहरि सी साँसै खरी खरकि खरकि उठै॥
टहलैं करति, टहले न हाथ पाँय रंग
महलै निहारि तनी तरकि तरकि उठै।
सरकि सरकि सारी दरकि दरकि आंगी
औचक उचौ है कुच फरकि फरकि उठैं॥

अलकार वास्तव में काव्य के सौन्दर्य प्रसाधन हैं। यही कारण है कि रीतिकालीन कवियो ने अपनी कविता कामिनी को अधिक से अधिक सौन्दर्य शालिनी बनाने के लिये अलङ्कारो की अनन्य सहायता ली है। रीतिकाल के साधारण कवियो ने तो अलकरण के रूढ़िगत प्रयोग किए हैं पर जो प्रतिभाशाली कवि हैं उन्होने अपनी नवोन्मेपनी कल्पना द्वारा अलकारो के क्षेत्र में बड़ी मौलिक उद्‌भावनाएँ की हैं। देव ऐसे ही प्रतिभाशाली कवि हैं। रूप चित्रण के प्रसग को लेकर कवि ने बड़ी रगीन उपमाएँ और सुन्दर रूपक प्रस्तुत किए हैं। नितप्रति के साधारण जीवन से इन अप्रस्तुत विधानो का चयन कर अभिव्यक्ति को सबल और रमणीय बनाने मे उनका उपयोग किया है। लाल के रूप रस मे डूबने वाले नेत्रो के लिये मधु रस मे डूबी हुई मधु मक्खियो की कल्पना कितनी रम्य कितनी मौलिक है—

अलङ्कार

देव कछू अपनो बसना रस लालच लाल चितै भई चेरी,
वेगि ही वूड़ि गई पंखियाँ अखियां मधु की मखियां भई मेरी।

इसी प्रकार अश्रुसिक्त मुख के लिये कितनी सुन्दर उपमा है—

बड़े बड़े नैननि सो आँसू भरि भरि ढरि।
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात॥

वास्तव मे देव की इस अलकरण शैली मे सूक्ष्म अनुभूतियो को ज्यो का त्यो पाठक के मन में उद्‌बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है। उपमा और रूपक ही नही देव की उत्प्रेक्षाएँ भी बड़ी सुन्दर है। नायिका की भौहो के लिये उसने कहा है—

"नारी हिये त्रिपुरारि बंधे सुनि हारि के मैन उतारि धरयौ धनु॥

देव के काव्य मे ऐसे ही सादृश्य मूलक अलकारो की प्रधानता है। चमत्कार तथा अतिशय मूलक अलकार मे भाव अधिक गतिशील नही है। कारण स्पष्ट है। देव रसवादी कवि है। इसीलिये केशव और बिहारी की भाति चमत्कार के चक्कर मे पड़ उन्होने रस की अवहेलना नही की। उनके अलकार रसोत्पत्ति मे सहायक रूप होकर आए हैं। यही कारण है कि उनके

अलकारो का सौन्दर्य हमारे मस्तिष्क को नहीं हृदय को स्पर्श करता है।

अपने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए देव को विरासत रूप मे ब्रज भाषा का बड़ा समृद्ध और प्रौढ़ रूप प्राप्त हुआ था। डा० नगेद्र के शब्दो में "सूर ने उसकी लिखित शक्तियो का विकास कर उसको अत्यन्त भाषा शैली छंद व्यापक बना दिया था। हितहरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद योजना को संस्कृत की शब्द कड़ियो से जड़ दिया था, बिहारी ने उसके समास गुण को पूर्ण विकास पर पहुँचा दिया था और मतिराम ने उसको सर्वथा स्वच्छ और परिष्कृत कर दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया।"

ब्रजभाषा की यह समृद्धि देव द्वारा उसकी विशुद्धता और स्वच्छता के रूपमें सम्पन्न नहीं हुई थी। देव ने तो उसकी काव्यसौष्ठव अलकरण अभिधा लक्षणा, व्यजना आदि शक्तियो के उपकरणो द्वारा श्री वृद्धि की थी। यही कारण है कि साहित्यिक होते हुए भी देव की ब्रजभाषा रसखान और घनानन्द की भाँति विशुद्ध न बन सकी और न मतिराम की भाँति स्वच्छ ही। व्याकरण की दृष्टि से वह अव्यवस्थित और सदोष है। स्थान-स्थान पर देव की भाषा में व्याकरण के नियमो का उल्लघन हुआ है। लिग सम्बन्धी दोष, क्रिया रूपो की गड़बडी, कारक चिह्नो का अभाव, वाक्य विन्यास का अव्यवस्थित रूप देव की भाषा मे खूब मिलता है। तुक और लय के लिए देव ने शब्दो को खूब तोड़ा-मरोड़ा भी है। इसीलिए सम्भवतः शुक्ल जी को देव के विषय मे कहना पडा "इनकी भाषा मे रसाद्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कही शब्द व्यय बहुत अधिक और अर्थ बहुत अल्प है। अक्षर मैत्री के ध्यान से इन्हे कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क-भड़क भिडाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकात और अनुप्रास के लिए ये कहीं-कहीं शब्दो को तोड़ते-मरोड़ते न थे, वाक्य को ही अविन्यास कर देते थे।"

शुक्ल जी का यह कथन बहुत अशो तक सत्य है, पर वह एकागी है। उन्होने स्वच्छता और शुद्धता का दृष्टिकोण लेकर देव की भाषा को परखा है, उसके सौष्ठव और उसके सौन्दर्य पर ध्यान नहीं दिया। वास्तव में काव्य की

भाषा को गद्य के नियमो से परखना समीचीन नही। काव्य भाषा का सही मूल्याकन तो उसके अभिव्यजना सौष्ठव की परीक्षा करना है। इस दृष्टि से यदि हम देव की भाषा को ले तो निश्चय ही उनके हाथो ब्रजभाषा पूर्ण समृद्धि को प्राप्त हुई है।

यहाँ देव की भाषा की कतिपय विशेषताओ पर थोड़ा प्रकाश डाल देना उचित ही होगा। देव की भाषा की प्रमुख विशेषता है उसकी पद योजना। छोटे-छोटे असमस्त पदो को देव ने भाषाका बड़ा कलात्मक गु थन किया है। वीप्सा के द्वारा गति और अनुप्रासो के माध्यम से मधुर झकार उसमें भरी है। उदाहरण के लिए—

बारि की बूँद चुवै चिलकै अलकै छबिकी छलकै उछलो सी।
अंचल भीने झकै झलकै पुलकै कुच कुन्द कदम्ब कलो सी॥

कहीं-कहीं तो देव की भाषा इतनी छविमयी है कि उसका शब्द-समूह सहज ही अर्थ व्यक्त कर उठता है—

भरि रही भनक बनक तालताननि की,
तनक तनक तामे झनक चुरीन की।

इसके साथ ही साथ देव ने लाक्षणिक प्रयोगो, प्रतीकात्मकता, उक्ति-वैचित्र्य, कहावतो और मुहावरो के सन्निवेश से भाषा के सौन्दर्य मे अपूर्व वृद्धि की है। उसका रूप बडा उज्ज्वल और कान्तिमान बन गया है। इससे स्पष्ट है कि देव को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। भावो को अभिव्यक्त करनेकी उनमें पूर्ण क्षमता थी। इसलिये प्रसगानुकूल उनमे सर्वत्र रूप परिवर्त्तन हुआ है। उनकी शृ गार से सिक्त भाषा बडी मधुर मसृण और झकार मय है। वैराग्य प्रधान कविता की भाषा गहन और गम्भीर है। रीति विवेचन की भाषा इतिवृत्तात्मक है। यही नही शृ गार के सयोग के पक्ष की भाषा जहाँ विषयानुकूल अधिक मधुसिक्त कोमल और स्निग्ध है, वियोग की अनुभूतियो को व्यक्त करने वाली भाषा तीखापन लिये गहन है।

यह तो हुई भाषा की बात, छन्द की दृष्टि से भी देव एक सफल कलाकार हैं। समूचे रीतियुग मे कवित्त, सवैयो का ही बहुलता से प्रचलन था।

और देव ने इन दोनो ही मुक्तक छन्दो मे अपनी भाव सामग्री प्रस्तुत की है। उनके भावो की वेगवान धारा इन दीर्घकाय छन्दो मे प्रवाहित भी खूब हुई है। भावो की भाँति ही देव के छन्द भी मसृणता और गति से ओत-प्रोत हैं। सगीत की मधुरता से अनुप्राणित हैं।

अब तक के विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि देव की काव्य साधना का क्षेत्र रीतियुग के अन्य कवियो की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

हिन्दी साहित्य मे देव का स्थान

रीति साहित्य को जितनी भाव सामग्री उनके काव्य मे देखने को मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। रीतिकालीन भाव और कला की सारी समृद्धि जैसे देव के साहित्य मे एक स्थान पर आ एकत्रित हुई हो। बिहारी आदि रीतिकालीन कवियो का काव्य कौशल जहाँ रीतियुग की भावभित्ति पर कला की सूक्ष्म पच्चीकारी तक ही सीमित रहा है, वहाँ देव ने इससे भी आगे बढ़कर रीतिकालीन भाव सौन्दर्य को अधिक स्पष्ट और मुखर बनाया है। इसमे सन्देह नहीं कि देव और बिहारी इन दो कवियो की कविता मे रीतिकाल अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

इन दोनो कवियो में कौन श्रेष्ठ है, इसके निर्णय को लेकर मिश्रबन्धु, पद्मसिह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि हिन्दी के प्रारम्भिक आलोचको मे अच्छी खींचतान हुई है। इसमे सन्देह नही कि लोक प्रियता की दृष्टि से देव बिहारी से बहुत पीछे हैं। बिहारी के जितने प्रशसक हैं उतने देव के नहीं। पर लोक प्रियता ही तो काव्य का सच्चा मूल्याकन नहीं है। इस दृष्टि से देव जैसे रससिद्ध कवि की तुलना मे बिहारी को अधिक महत्व देना उचित नहीं। बिहारी की कविता मे कला का आग्रह इतना अधिक है कि इसके लिए रस की उपेक्षा उनके लिए साधारण बात है। उनके काव्य मे वह रसाद्रता, तन्मयता और भावो का आवेग नहीं है जो पाठक को रस मग्न कर सके। उनके दोहे क्षणिक समय के लिए तो हृदय को गुनगुनाते हैं पर उनका प्रभाव स्थायी नहीं होता।

देव की स्थिति इसके पूर्णतः विपरीत है। उनकी कविता में भाव-चेतना

और रसाद्रता निश्चय ही अधिक है और हृदय को रसाद्र बनाने मे वह पूर्णतः समर्थ हे। देव की अनुभूति कही अधिक गहरी और सबल है। उनमे जो आवेग और तन्मयता है वह बिहारी मे नही। इसीलिए देव के काव्य की आत्मा बिहारी के क.व्य की आत्मा से कही अधिक समृद्ध है। भाव गाम्भीर्य और सबल अनुभूतियो की दृष्टि से रीति काल के अन्य प्रसिद्ध कवि मतिराम और पद्माकर भी देव के समक्ष नही टिक पाते। अनुभूति की सच्चाई और भाव चेतना की दृष्टि से घनानन्द अवश्य देव के समक्ष रखे जा सकते हैं, पर देव जैसा काव्य वैभव उनके भी पास नहीं है। इस प्रकार देव अपने समकालीन सभी कवियो से बड़े-चढ़े हैं और अपने युग मे उनका स्थान अन्यतम है।

नारी के मोहन अगो मे बेसुध, विभोर रीति युग का कवि वर्ग जब स्थूल और पार्थिव शृ गार की मादक स्वरलहरी का कल कूजन कर रहा था तब प्रेम का यह उन्मत्त गायक प्रेम की पीर से बिधे हृदय के अश्रु मोतियो को काव्य के सूत्र मे पिरो रहा था। अपने समकालीन कवियो की भाति उसकी कविता विलासी राजाओ के तुष्टीकरण तथा अलकारो की चमक-दमक और शब्दो की कला-बाजियो द्वारा चमत्कार प्रदर्शन के लिये नहीं थी। राधिका और कन्हाई उसके स्मरण के बहाने मात्र न थे और न काव्य रचना उसके जीवन निर्वाह की साधना थी। इसलिये यह कवि रीतिकाल की बँधी हुई लीक को छोड़कर उन्मुक्त काव्य के प्रशस्त राजमार्ग पर निर्द्वन्द्व भाव से विचरण कर सका। स्वच्छन्द गति से बढ़ते हुये अपनी एकात साधना पथ पर उसने विशुद्ध प्रेम के सूक्ष्म चेतना रस से अकुरित और पल्लवित हृदय में भाव प्रसून मुक्तभाव से लुटाए। रीतिकाल के समस्त रसिक कवियो के बीच उसे ही सच्चा प्रेमी हृदय प्राप्त हुआ था। उसकी काव्य चेतना को उसके युग की प्रवृत्तिया अपने सीमित क्षेत्र मे बाँध न सकीं वरन् उसने अपने युग से ऊपर उठकर काव्य के चिरतन सौदर्य की अभिव्यक्ति की।

जीवन-परिचय

हिन्दी के अन्य प्राचीन कवियो की भाति घनानन्द की जीवनी भी अज्ञान और भ्रातिपूर्ण है। घन आनन्द से सबन्धित जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं उनमे आनन्द, आनन्दघन और घनानन्द तीनो नाम मिलते हैं। फलतः ये तीनो ही नाम अब तक एक ही कवि के समझे जाते थे। पर आधुनिक खोजो ने यह स्पष्ट कर दिया

है कि तीनो नाम एक ही कवि के नही हैं। आनन्द कवि हिसारवासी थे और सवत् १६६० मे कोक मजरी की उन्होने रचना की थी। आनन्दघन और घनआनन्द वस्तुत एक ही कवि के नाम हैं। साहित्य मे जैन कवि आनन्दघन तथा एक नन्दगॉव वासी आनन्द घन का भी उल्लेख मिलता है। विद्वानो ने इन तीनो में अभेद करने का प्रयत्न किया पर यह समीचीन नही है। नद गाव वासी आनन्द घन चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे और उनका समय १६ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। जैनकवि आनन्दघन सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुये थे। कवि आनन्दघन या घनानद अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे हुए थे और जो मुहम्मदशाह रंगीले के समकालीन थे।

जनश्रुति है कि घनानन्द मुगल वश के विलासी वादशाह मुहम्मद शाह रगीले के मीरमु शी थे। बादशाह के दरबार की सुजान नामक वैश्या से इनका प्रेम था। घनान्द गाते बडा सुन्दर थे। सम्राट भी सगीत प्रिय थे; उन्हें जब घनान्द की इस विशेषता का पता चला तब दरबार मे उन्होने घनानन्द से सगीत सुनाने का अनुरोध किया। घनानद ने अपनी असमर्थता प्रगट की। एक दरबारी ने बादशाह के कान मे यह बात डाल दी कि सुजान के कहने पर ये अपना सगीत अवश्य सुनायेगे। तत्काल ही सुजान दरबार मे बुलाई गई। सुजान के अनुरोध से घनानन्द ने इतना तन्मय होकर गाया कि समस्त राज दरबार मत्रमुग्ध होगया। गाते समय घनानन्द का मुँह सुजान की ओर था और पीठ बादशाह की ओर। बादशाह इस अशिष्टता को सहन न कर सका। फलस्वरूप घनानन्द दिल्ली से निष्कासित कर दिये गए। उन्होने अपनी प्रेमिका सुजान से भी चलने को कहा पर उसने साथ न दिया। इससे घनानन्द के भावुक हृदय को बड़ी चोट पहुँची। जीवन से विरक्त होकर वे वृन्दावन चले आये और वहा निम्बार्क सप्रदाय में दीक्षित होकर राधाकृष्ण की भावना में तल्लीन हो गए। पर सुजान नाम उन्हे तब भी नहीं भूला। अपनी कविता में राधा और कृष्ण के लिये सुजान शब्द का व्यवहार किया।

लाला भगवान दीन ने अपनी खोज के अनुसार सुजान से सबन्धित घटना को भ्रामिक बताया है। उनके ही शब्दो मे ये दिली के रहने वाले भटनागर कायस्थ थे और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। जनश्रुति इनको अबुल फजल का

शिष्य भी बतलाती है। किसी छोटे से पद से बढते बढ़ते ये बादशाह मुहम्मद शाह के खास कलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) हो गये। जनश्रुति यह बतलाती है कि घन आनन्द को बचपन से ही रासलीला देखने का शौक था। बहुधा महीनो तक रासमण्डली के व्यय का भार अपने ऊपर लेकर दिल्ली मे रास-लीला करवाते थे और स्वय भी किसी लीला मे भाग लेते थे। इससे इनको हिन्दी भाषा के पद सीखने और सगीत का व्यसन लगा और आगे चलकर वह निपुणता दिखाई जिसकी सराहना आज भी भाषा विज्ञ करते हैं और अभी तक रासधारियो में इनके पद अद्यावधि पाये जाते है। इस रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीलाओ में लीन रहने के लिये दरबार और गृहस्थी से नाता तोड़ वृन्दावन चले आये और वहा किसी व्यास वश के साधु से दीक्षा ले ये किसी उपासना मे दृढ़ और मग्न हो गए।"

इन दोनो ही जनश्रुतियो मे कितना सत्य है, असदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पर इतना तो निर्विवाद ही है कि घनानन्द ने जीवन के अन्तिम दिनो में वृन्दावन वासी बन कृष्ण भक्ति मे अपना जीवन व्यतीत किया था। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे भी एक किवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि जब नादिरशाह ने मथुरा पर आक्रमण किया तब धनुलोलुप सिपाहियो से किसी ने कह दिया कि वृन्दाबन मे बादशाह का मीर मुंशी रहता है, उसके पास बहुत सा धन होगा। सिपाही घनानन्द के पास जा पहुँचे और जर, जर, जर अर्थात् धन, धन, धन लाओ चिल्लाने लगे। ससार से विरक्त घनानन्द के पास क्या रखा था। घनानन्दजी ने शब्द को उलट कर रज, रज, रज कहकर वृन्दाबन की तीन मुठ्ठी धूल उनके ऊपर डाल दी। नादिरशाह के सिपाही अत्यन्त क्रोधित हुए। उन्होने इनका हाथ काट डाला। कहा जाता है कि मृत्यु के अवसर पर रक्त से उन्होने निम्न कवित्त की रचना की थी—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को,

गहि गहि राखत ही दै दै सनमान को ॥
झूठी बतियान की पत्यानि तें उदास ह्वै,
अब ना घिरत घन आनंद निदान को ।
अधर लगे है आनि करिके पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो ले सुजान को ॥

इतिहास की दृष्टि से यह जनश्रुति भ्रान्तिपूर्ण है । मथुरा पर नादिरशाह का आक्रमण नहीं हुआ था । अहमदशाह अब्दाली ने अवश्य स० १८१३ और सं० १८१७ मे मथुरा पर आक्रमण किया था । कवि की मृत्यु इसी दूसरे आक्रमण मे हुई थी । इस प्रकार घनआनन्द का निधन संवत १८१७ है । इसका जन्म कब हुआ और ये वृन्दाबन कब पहुँचे इस सम्बन्ध मे कोई सामिग्री उपलब्ध नहीं है । हो सकता है कि इनका जन्म स० १७३० के आस पास हुआ हो ।

जीवनवृत्त की भाँति घनानन्द जी की रचनाओ के सम्बन्ध मे भी सभी सामिग्री असदिग्ध है । घनानन्द के नाम से अब तक लगभग चालीस कृतियाँ

रचनाएँ

ज्ञात हुई हैं । इनमे से कितनी कृतियाँ इस कवि की हैं, निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता । सम्भवतः सुजान सागर, कृपाकन्द, इश्कलता, सुजान रागमाला, प्रीति पावस, वियोगबेली, नेहसागर, प्रेम पत्रिका, बानी इनकी रचनाएँ हैं ।

रीतिकाल मे जन्म लेकर घनानन्द ने प्रेम, सौन्दर्य और शृ गार को अपना काव्य विषय तो बनाया पर उसका स्वरूप रीतिकालीन वातावरण और परम्परा से सर्वथा अछूता है । रीतिकाल की काव्य चेतना जहाँ

काव्य साधना

स्थूल शृ गार की बहिर्मुखी साधना से अनुप्राणित है, घनानन्द की रीतिमुक्त काव्य साधना अतीन्द्रिय शृंगार की अर्न्तमुखी चेतना रस मे डूबी हूई है । यही कारण है कि रीति वद्ध शृ गारिक कविताओं मे जहाँ भोग-विलास का उफान और इन्द्रिय सुख की तीव्र लिप्सा है, घनानन्द के काव्य मे त्याग, सयम और उत्सर्ग की भावनाओ से सँजोए हुए उदात्त प्रेम का गभीर प्रवाह, और प्रेम रस से बिधे हुए हृदय का आलोड़न विलोड़न है । उनकी कविता का मूल प्रेरक स्वर यश और अर्थ की

कामना न होकर अलौकिक प्रेम की वह गहन पीर है जिसने कि उन्हें रंगीले मुहम्मदशाह का राजदरवार छोड़कर ब्रज की धूल मे लौटने को विवश कर दिया था। इसीलिए घनानन्द की कविता ने शब्दों के साथ खिलवाड़ नहीं किया वरन् हृदय के अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति को कविता का माध्यम बनाया। फलतः घनानन्द चमत्कार वादी कवि न होकर हृदयवादी कवि थे। उनके काव्य मे कलापक्ष के स्थान पर भावपक्ष की प्रधानता है।

जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है, घनानन्द की काव्य चेतना मूलतः श्रृंगारिक है। यद्यपि घनानन्द विरक्त भाव से वृन्दावन वासी बन राधाकृष्ण की भक्ति मे भक्त जीवन व्यतीत करते थे, फिर भी हम उनको सूर तुलसी आदि भक्त कवियो की कोटि मे नही रख सकते। प्रेम के उन्मत्त गायक वे अवश्य थे, इसीलिए प्रेम के चरम रूप की गूढ़ातिगूढ़ व्यजना करने मे वे समर्थ हो सके। शुक्लजी ने इस सम्बन्ध मे उचित ही कहा है "प्रेमदशा की व्यजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ अन्तर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमे है वैसा हिन्दी के अन्य कवि मे नहीं।"

घनानन्द की यह प्रेम व्यजना आदि से लेकर अन्त तक भावना प्रधान है। उसमें हृदय का आधिपत्य है। बुद्धि तो बेचारी दासी बनकर आई है:—

रीझि सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।

यही कारण है कि प्रेम मार्ग के इस सच्चे साधक की कविता का मर्म पहिचानने के लिए हृदय की आँखे चाहिए :—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सुकहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिके सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखें सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहै ह्याँ प्रवीनन को मति जाति चकी।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

शारीरिकता और माँसलता से रहित प्रेम का यह निरूपण कवि ने निश्चय ही आत्मविभोर होकर किया है। इसीलिए उसमे प्रेम की बाह्य चेष्टाओं की वस्तु व्यंजना नहीं वरन् हृदय का सहज उल्लास है। प्रेम की अन्तर्वृत्तियो का सहज प्रकाशन है। वह साधना की उस उच्च भावभूमि पर

प्रतिष्ठित है जहा प्रेम के अतिरिक्त सब शून्य हैं। जहाँ प्राणो की समस्त चेतना बस प्रिय के प्रेम से बँधी हुई है :—

ऐकै आस एकै विश्वास प्रान गहै वास,
और पहिचान इन्हे रही काहू सों न है।

कवि की प्रेमी आत्मा का इस बात से कोई सम्बन्ध नही कि उसका प्रिय बदले में उससे प्रेम करता है कि नहीं। सच्चे प्रेम मे आदान प्रदान की यह वणिक वृत्ति कैसी ? वह तो निष्काम और निस्वार्थ प्रेम का अभिलाषी है।

मोहि तुम एक तुम्हे मो सम अनेक, आहि
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है।

ऐसे प्रियतम के लिए घनानन्द का प्रेमी हृदय दिन रात मग्न रहता है। भोर से लेकर साँझ तक और साँझ से लेकर भोर तक उसके नेत्र प्रियतम की प्रतीक्षा अपलक भाव से जोहते रहते थे। प्रियतम के क्षणिक दर्शन भी नहीं होने पाते क्योकि प्रेम का आधिक्य प्रेमाश्रुओ मे तरल होकर नेत्रो के सामने आवरण डाल देता है। फलतः वह प्रियतम के क्षणिक दर्शलाभ से भी बञ्चित हो जाता है :—

भोर ते साँझलों कानन ओर निहारति बाबरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लो तारनि ताकिवो तारनि सो इकतार न टारति॥
जो कहूँ भावतौ दीठि परै घन आनँद आंसुन ओसरि गारति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आंखिन के उर आरति॥

यही कारण है कि घनानन्द के इस अनन्य प्रेम के आगे मछली का प्रेम भी नगण्य हैं।

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति को रीति सु क्यो समुझै जड़ मीत के पानि परेको प्रमानै
या मन की जु दसा घन आनन्द जीव की जीवनि जान ही जाने।

प्रेम का यह प्रशस्त राजमार्ग बड़ा सीधा और सहज है। उसमे कोई कौशल और छल नहीं। घनानद ने स्पष्ट कहा:—

अति सूधो सनेह को मारग है जहां नैंकु समानय बांक नही ।
जहां सूधे चलें तजि आपुनपौ झिझके कपटीते निसोक नही ॥

ऐसे प्रेम मे उन प्रेम का ढोग भरने वाले नायकों की आवश्यकता नहीं जो रात्रि काल अन्य नायिका के साथ व्यतीत कर अपनी प्रेमिका से झूठे बहाने बनाने का कौशल करते हैं। यही नहीं सत और सूफी कवियो की भाति घन नन्द के प्रेम का स्वरूप रहस्यवाद के आवरण से नहीं ढका हुआ है। उसकी व्यजना सीधी और स्पष्ट है।

प्रेम के इसी उदात्त स्वरूप को घनानन्द ने अपने शृंगार वर्णन में ग्रहण किया है। इसीलिये उनके शृगार का सयोग शरीर सुख की कामना लिए हुए न होकर आत्म तृप्ति की भावना लिये हुए है। वह वस्तु परक न होकर भाव परक है। उनकी कविता सयोग शृगार की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को लेकर चली है। सयोग शृंगार की विविध रस चेष्टाओ की वस्तु व्यजना के स्थान पर उन्होंने प्रेमी हृदय की अन्तर्वृत्तियो को टटोला है और उसे अपनी वाणी के स्वर दिए हैं। होली के उत्सव, मार्ग मे नायक नायिका की भेंट और उनकी रमणीय चेष्टाओं को लेकर घनानद ने भी सयोग शृगार के विविध प्रसग जुटाए हैं, पर इन प्रसगो के बीच प्रेमी प्रेमिकाओ की मनोदशाओ और आन्तरिक भावनाओ का उन्होने चित्रण किया है।

प्रेम मे पगी हुई नव योवना नायिका लज्जा का मधुर आवरण धारण कर गृह मे किस प्रकार कामकाज करती है, अपने सौदर्य के गर्व के कारण पृथ्वी पर सीधे पैर भी नही रखती। हृदय तो उसका प्रियतम के पास है, इसीलिए बार-बार किसी बहाने से वह नायक के पास जाती है। प्रियतम के हृदय मे भी अपनी ऐसी प्रेमिका को निरख लाख-लाख प्रकार की अभिलाषाएँ जगती है :—

हरि नेह छकी तरुनाई के तेह सु गेह मे लाज सो काज करै।
मिसठानि चलै रसिया रहठानि त्यों आनिभटू अंखियान अरै ॥
घनआनन्द रूप गरूर भरी धरनी पर सूधे न पायें धरै।
पिय को हिय ताहि लखै अभिलाखनि लाखनि लाखिन भाँति भरै ॥

इसी प्रकार कृष्ण प्रेम मे तन्मय राधा के हृदय की अभिलाषा का चित्र कितना भावपूर्ण है :—

छवि सो छवीलो छैल आजु भरि याही गैल,
अति ही रंगीली भाँति औचक ही आयगौ।
चटक मटक भरी लटकि चलनि नीको
मृद मुसक्यान देखें मो मन बिकायगो।
प्रेम सो लपेटी कोऊ निपट अनूठी तान
मोतन चिताय गाय लोचन ढुरायगो॥
तब में रही हों घूमि भूमि जकि बावरी ह्वै,
सुर को तरंगनि में रंग बरसायगौ॥

शृंगार के सयोग पक्ष का बाह्यार्थ निरूपण भी कवि की रचनाओ में मिलता है, पर इसमे भी उसने बाहरी व्यापारो या चेष्टाओं को प्रधानता नही दी है। हृदय के उल्लास और तन्मयता को ही वाणी दी है। रूप वर्णन में भी कवि यही दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुआ है। रीति बद्ध कवियो की वाणी जहाॅ नारी के अङ्ग-प्रत्यङ्गो से लिपटकर उसका रूप रस पान करना चाहती है, वहाॅ इस कवि की वाणी ने उस रूप सौन्दर्य के हृदय पर पडने वाले प्रभाव की अभिव्यक्ति की है। कृष्ण के रूप सौन्दर्य को निहारते हुए कवि के नेत्रों की दशा इन पक्तियो मे देखिये—

छवि की नकाई एहो मोहन कन्हाई कछू,
बरनी न जाइ जो लुनाइ बरसत है॥
वारिध तरंग जैसे धुनि राग रंग जैसे,
प्रतिछिन अधिक उमंग सरसति है।
किधौं इन नैननि सराहो प्रान प्यारे,
रूप रेलहिं सकेलें तऊ दीठि तरसति हैं॥
ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनन्द सु ओप औरै
त्यौ त्यौ इन चाहनि मै चाह वरसति है।

घनानन्द का समस्त काव्य विरह व्यथा की घनी अनुभूतियो से सजोया

हुआ है। विरह ही उनके जीवन की सबसे बड़ी निधि है, और इसी विरह की सहस्रमुखी धारा प्रेम की पीर से भरे उनके हृदय से फूट पड़ी है। विरह घनानन्द को इतना प्रिय है कि शृङ्गार के सयोग पक्ष मे भी विरह को वे नहीं भूल पाते। इसीलिए संयोग के सुखद क्षण घनानन्द को नहीं रुचे। उनके प्रेम की अनन्यता और तीव्रता विरह व्यजना मे ही मुखरित हुई है। विरह के इस वर्णन मे घनानन्द के काव्य का स्वरूप बड़ा उदात्त है। रीति बद्ध कवियो की भाति वह शब्दो का तमाशा नहीं बना। न उसमें नायिका के पास शिशिर की रात्रियो मे भी सखियो द्वारा गीले वस्त्र पहन कर जाने की आवश्यकता है और न विरहिणी से ताप के जाड़े के दिनो में लुएँ ही चलती हैं। घनानन्द का विरह बाहर से बडा धीर और प्रशात है। उसमे जो कुछ भी वेग और हलचल है वह भीतर की है। इस प्रकार घनानन्द की वियोग व्यजना अन्तर्मुखी है। कवि की दृष्टि विरह की अन्तर्दशाओं की ओर अधिक है। विरह की इन्हीं गूढ़ अन्तर्दशाओ से घनानद का समस्त काव्य भरा पड़ा है।

वियोग वर्णन

विरह जनित वेदना से व्यथित विरहिणी की दारुण दशा को कवि ने अपने शब्दो मे किस सचाई के साथ बाँधा है। हृदय में उद्वेग का दाह है, आँखो में अश्रुओ का प्रवाह है, न सोना ही है, न जागना है। न रोना है, न हँसना है और अन्त मे न तो जीवन ही है और न मरण ही है:—

अन्तर उदेग दाह आंखिन प्रवाह आंसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है॥
सोइबो न जागिवो हो, हंसिवो न रोइबो हूँ,
खोय खोय आप ही मे चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनन्दघन,
विरह विषम दसा मूक लौं कहनि है॥
जीवन मरन, जीव मींच बिना बन्यो आम,
हाय कौन विधि रची यह नेही की रहनि है।

विरह के इन क्षणो में सयोग सुख की स्मृतियो मे डूबी हुई विरहिणी का हृदय इस बात से अत्यन्त व्याकुल है कि उसके प्रियतम कृष्ण संयोग सुखों

का रसास्वादन कर अब वियोग का दुख देकर न जाने कहा चले गये। जिस हृदय में उन्होने प्रेम का मादक रस उड़ेला था अब उसमे कठिन विरह की विष बेलि क्यो बो गए। ये मेरे प्राण भी कैसे है, जो उनके जाने पर मेरे पास ही रहे, उनके साथ लग न गए। विरह की इस दारुण दशा में मुझे अकेली छोड़ के न जाने वे कहाँ चले गए:—

तब है सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी,
सब सुख संग लै बिछोह दुख दै चले ॥
सींचे रसरंग अंग अंगनि अनग सौंपि,
अन्तर में बिषम बिषाद बेलि बो चले ।
क्यों धौ ये निगोड़े प्रान जान घन आनन्द के,
गौहन न लागे जब वे करि बिजै चले ॥
अति ही अधीर भई पीर-भीर घेरि लई,
हेली मन भावन अकेली मोहि कै चले ।

प्रिय सुख की ये स्मृतिया विरही के जीवन की निधि है। इसके अतिरिक्त उसके पास है ही क्या ? इन स्मृतियो की मधुर आग मे जलना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा सुख है। विरही हृदय मे अन्य कुछ अभिलाषा शेष नहीं है। बस वह इतना चाहती है कि उसका प्रिय सुखी रहे:—

इत बांट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजिए जू।
अब तौ सीस चलाय लई जु कछू मन भाई सु कीजए जू॥
घनआनन्द जीवन प्रान सुजान! तिहारियै बात निर्जीजिये जू।
नित नीके रहौ तुम्हैं चाह कहा पै असीस हमारियौ लीजिए जू

प्रेम मे कितनी अनन्यता है। नीचे की पक्तियो मे विरह का कितना मर्म-स्पर्शी चित्रण है। विरह साधना की कितनी उच्च भाव भूमि है। रात-दिन प्रियतम की बाट जोहते-जोहते जिसके नेत्र थक गए है। हृदय में अहर्निश उद्वेग की आग जला करती है। प्रिय की आराधना ही उसके जीवन की तपस्या है। जीवन से विरक्त बन केवल मात्र मिलन की आशा में ही उसके नाम का जप करना उसके जीवन की साधना है—

तेरी बाट हेरत हिराने और पिराने पथ,
थाके ये विकल नैना ताहि नपि नपि रे।
हिये मे उदेग आगि जागि रही राति द्यौस
तोहि को अराधौं साधौं तपि तपि रे॥
जान घन आनंद यों दुसह दुहेली दसा,
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीव ते भई उदास तऊ है मिलन आस,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे॥

घनानन्द के काव्य की समस्त चेतना विरह की ऐसी अन्यतम भावनाओं में डूबी हुई है। उनका विरह काव्य सर्वथा अनुभूति परक है। उसमे प्रेम की जो तीव्रता है, हृदय का जो आवेग है, आत्मा का जो आलोड़न-बिलोड़न है वह सब अनुभूति की गहनता से आवृत्त है। विरह की तीव्र व्यंजना ने कहीं कहीं फारसी प्रेम पद्धति का निरूपण ले लिया है जैसे—

पाती मधि छाती छत लिखिन लिखाये जाहि,
काती लै विरह घाती कीने जैसे हाल है।
आंगुरी बहकि तहीं पांगुरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल भाल हैं॥
जान प्यारे जौ अब दीजिए संदेसौ तौ अब,
आबा सम कीजिए जु कान तिहिं काल है।
नेह भीजी बाते रसना पै उर आंच लागै,
जागे घन आनंद ज्यों पुंजनि मसाल है॥

पर घनानन्द की विरह व्यंजना का यह रूप भी विरह की तीव्रता को प्रगट करता हुआ हमारी सवेदना को ही जाग्रत करता है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने घनानन्द की विरह व्यजना के लिए उचित ही कहा है—

"विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा। विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वे रीतिकाल तो क्या, सूर की कविता में भी दुर्लभता से मिलते हैं। रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुण्ठा के वातावरण मे घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है

और मन सहज ही यह मान लेता है कि दूसरो के लिए किराये पर आँसू बहाने वालो के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी ही पीड़ा से रो रहा है।"

भावो के स्निग्ध और स्वच्छ प्रवाह की भाँति घनानन्द का कला सौन्दर्य भी सहज और स्वाभाविक है। उसमे कृत्रिमता और आडम्बर नही, नैरार्गिक सौन्दर्य अवश्य है। हृदयवादी कवि घनानद ने काव्य के कलापक्ष को अधिक महत्व नहीं दिया। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए कला के विविध प्रसाधनो से अपने काव्य का शृंगार करना घनानन्द का ध्येय ही न था। हृदय में उद्बुद्ध भाव ही बिना किसी प्रयत्न और प्रयास के उत्कृष्ट काव्य का रूप ले बैठे हैं। इसीलिए घनानन्द के काव्य सौष्ठव मे मस्तिष्क का नहीं हृदय का योग है। वह हमारे मस्तिष्क को आकर्षित न कर हृदय को द्रवित करता है। प्रसगों के गूढ विधान, उक्तियो की उड़ान, कल्पनाओ की क्लिष्टता और शब्दों के व्यर्थाडम्बर से अछूती उनकी काव्य कला बड़ा शाँत और गम्भीर सौन्दर्य लिए हुए हमें उत्तेजित नहीं शान्ति प्रदान करती है।

काव्य सौन्दर्य

कवि की अभिव्यक्ति कला का सौन्दर्य; उनकी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य मे खूब निखरा है। अभिव्यजना की लाक्षणिक पद्धति के मर्म को घनानन्द ने ही भलीभाँति पहिचाना था। यही कारण है कि पुराने कवियो मे केवल घनानन्द के काव्य में ही लाक्षणिक सौन्दर्य की प्रचुरता है। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का कथन उद्धृत करना उचित ही होगा। "लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी के कवियो ने उसके भीतर कम ही पैर बढ़ाया है। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होने इस क्षेत्र मे अच्छी दौड़ लगाई है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी है, खेद है कि फिर वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्ध मे, अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्य धारा मे ही अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रगट हुई है।"

घनानन्द की इस लाक्षणिक पद्धति ने उनके भावोत्कर्षको बड़ा बल दिया

है। कहीं उन्होंने प्रेयसी के हृदय को विरह के बबडर मे नचते हुए पत्ते का रूप दिया है। कही उनके प्राणों ने पक्षी बनकर आशा के वृक्ष पर बसेरा किया है, तो कही उनके विरही जीवन के सारे सुख 'पखेरू' बनकर उड़ गए हैं। यही नहीं उनके प्रियतम की बान (स्वभाव) ने अब आलस्य ग्रहण कर लिया है—

अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आन निहोरत है।

घनानन्द के काव्य मे ऐसे लाक्षणिक प्रयोग बिखरे पड़े हैं।

उक्ति वैचित्र्य और वाग्वैदिग्ध्य के भी बड़े सुन्दर उदाहरण घनानन्द के काव्य से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस दिशा में बिहारी घनानन्द से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। विरोध मूलक उक्तिवैचित्र्य को किस सुन्दरता के साथ प्रदर्शित किया गया है—

झूठ की सचाई छाक्यो, त्यो हित कचाई पाक्यो,
ताके गुन गन घन आनंद कहा गनौ।

घनानन्द कहाँ तक अपने प्रिय के गुन का बखान करे, उनमें जो कुछ सचाई है वह उनका झूठ से भरा होना है और उनकी परिपक्वता उनका कच्चा पन है। इसी प्रकार जैसे तेल से भींगी बत्ती अग्नि के स्पर्श से जल उठती है उसी प्रकार प्रेम से पगी बाते जीभ पर आते ही विरहाग्नि के स्पर्श से जल उठती है—

नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै।

यहाँ 'नेह और बाते' का द्विअर्थक रूप कितना कलात्मक है। 'नेह भीजी' बाते अर्थात् प्रेम मे पगी बाते और तेल से भीगी बत्तियाँ।

भाव सौन्दर्य को अधिक स्पष्ट और तीव्रता के साथ प्रगट करने मैं अल-कारों का प्रयोग नितान्त अपेक्षित है। अलकारो के इस महत्व को स्वीकार

अलंकार

करते हुए घनानन्द ने रसोत्कर्ष के लिए उनका स्पष्टतः सहारा लिया है। पर कहीं भी उनके हृदयवादी कवि ने अलकारो की शोभा के बोझ से अपनी कविता कामिनी को ऐसी बोझिल भी नही बनाया जिसके कारण वे 'सूधे पाय' भी न रख सके। भावो के तीव्र वेग में अलकारो का सहज सौन्दर्य स्वतः ही

घुलमिल गया है। कवि को उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

अलंकारो मे विरोध मूलक और साम्य मूलक दोनो ही प्रकार के अलकारो का प्रयोग है पर प्रधानता उन्होने विरोध मूलक अलकारो को दी है। विरोधाभास के बड़े उत्कृष्ट उदाहरण घनानन्द के काव्य मे पग पग पर विद्यमान हैं। प्रेम के तीव्र आवेग को लाक्षणिक वक्रता के माध्यम से प्रगट करने के लिए विरोधाभास अलंकारो का प्रयोग स्वाभाविक भी है। कवि ने विरह व्यजना मे इसका अधिक सहारा लिया है। उदाहरण के लिए—

आस ही अकास मधि अवधि गुनै बढ़ाय,
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनौ खेल सो यहै।
निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप ओर
लाड़ले सुजान सो हुँदेली दसा को कहै।
अचिर जमई मोहि भई घनआनन्द यौं,
हाथ साथ लाग्यौ पै समीपन कहूँ लहै।
विरह समीर की झरोकनि अधीर, नेह—
नीर भीज्यो जीव तऊ गुड़ी लौं उड़यौ रहै॥

यहाँ रूपक, तीसरी विभावना और विरोधाभास अलकारो का कितना सुन्दर सामजस्य है। विरोधाभास का एक और सुन्दर उदाहरण देखिए। बादलो को देखकर अन्य अग्नि तो मन्द हो जाती है, पर आनन्द के घन कृष्ण को जब से देखा है प्रेमाग्नि और भी अधिक तीव्र होगई है :—

जे तो घट सोधौं पै न जाऊँ कहाँ आहि सो धों,
कोधों जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम को न धरे गात सारो परो ज्यों ज्यो जरै,
ढरै नैन नीर बीर हरै मति आह की।
जतन बुझै है सब जाकी झर आगे अब,
कबहूँ न दबै भारी भभक उमाह की।
जब तें निहारे घन-आनन्द सुजान प्यारे,
तबतें अनौखी आगि लागि रही चाह की॥

यहाँ व्यतिरेक और विरोधाभास का प्रयोग कितना फब रहा है।

इसके अतिरिक्त अर्थालङ्कारों मे कवि ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, यथासख्या असंगति, परिकराकु र आदि सभी अलङ्कारो के सौन्दर्य रस से अपनी कविता को अनुप्राणित किया है। शब्दालकारो में उनकी वृत्ति अनुप्रासो की ओर अधिक रमी है। श्लेष और यमक आदि चमत्कार प्रधान अलकारो की ओर उन्होने विशेष ध्यान नही दिया। कहीं-कहीं उनके उदाहरण भी मिलते हैं तो उनमें प्रयत्न न होकर स्वाभाविकता ही है।

घनानन्द ब्रजभाषा प्रवीण थे और भाषा पर उनका अनन्य अधिकार था। समूचे रीतिकाल मे वे ही ऐसे कवि हैं जिनके हाथो ब्रजभाषा को साहित्यिक और विशुद्ध रूप प्राप्त हुआ है। केशव, देव, बिहारी, आदि रीतिकालीन सभी प्रमुख कवियो की भाषा में शब्दों की तोड़ मरोड़ और व्याकरण की अव्यवस्था खूब मिलती है, पर घनानन्द की भाषा इन सबसे अछूती है। वह सर्वथा निर्दोष और स्वच्छ है। अन्य प्रान्तीय भाषाओ का मिश्रण उसमें बहुत कम है।

भाषा शैली और छन्द

घनानन्द जी की विशुद्ध ब्रजभाषा पूर्ण साहित्यिक भी है। भावो की भाँति उसका रूप बडा गम्भीर और सयत है। प्रसाद और माधुर्य गुण से वह पूर्णतः ओतप्रोत है और कवि के कोमल भावो को अभिव्यक्त करने में सर्वथा समर्थ है। अपनी अनूठी व्यजनाओ और लाक्षणिक प्रयोगो से कवि ने उसे अनन्य शक्ति प्रदान की है तथा उसे अधिक वैभव सपन्न बनाया है। कहावतो और मुहावरो के प्रयोग ने उसके सौन्दर्य को और भी निखारा है। उनकी भाषा का नाद सौन्दर्य तो अपूर्व ही है। कवित्त, सवैया आदि छन्दो के साँचे में ढली हुई उनकी भाषा बड़ी मस्तानी गति से चलती है। भाषा की नाद व्यंजना का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण लिया जा सकता है :—

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै अरि गौन वारि,
तोसों और कौन मनै ढरकोहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान घन—
आनन्द निधान सुखदान दुखयानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचान दै।

बिरह बिथा की मूरि आँखिन मे राखो पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा ! नैकु आनि दै ॥

भाषा की भाँति छन्दो पर भी घनानन्द का पूर्ण अधिकार था। सवैया, कवित्त, दोहा आदि छन्दो का विधान कवि ने प्रमुखता से किया हैं। अपनी वियोग वेलि मे अवश्य उन्होने विविध प्रकार के छन्दो की योजना की है। जिस प्रकार कवि की भाषा व्याकरण सम्मत है उसी प्रकार उसके छन्द भी पिगल की दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हैं।

अपनी काव्य साधना के बल पर प्रेम के इस महान गायक ने निश्चय ही हिन्दी काव्य साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। घनानन्द सच्चे कलाकार थे। उनके काव्य मे अभिव्यक्ति के फूल सहज रूप से खिले हैं। वे रीति काल के उन कवियो मे से नही है जिन्हे कविता कामिनी को सजाने सॅवारने मे अथक बौद्धिक श्रम करना पड़ा था। छन्दो के विधान मे, शब्दो की नाप-जोख में, कल्पनाओ की उड़ान में ही जिनकी काव्य-प्रतिभा अपना चमत्कार दिखाती थी। घनानन्द इन सब से अलग हृदय के कवि थे। फिर भी उनके काव्य में कलागत सौन्दर्य का मणि काचन सयोग है। भावपक्ष और कलापक्ष का अपूर्व समन्वय ही घनानन्द के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। अत मे प० विश्वनाथमिश्र के शब्दो मे "ये वस्तुतः प्रेम के पपीहे हैं। इनकी रचनाओ में वियोग की अन्तर्दशाओ, प्रेम की अनेकानेक अन्तर्वृत्तियों, रूप व्यापार के वैचित्र्यचित्रो, भाषा की व्यगोपमयी शक्तियो, विरोध की चमत्कारोत्पादक उक्तियो आदि का ऐसी गभीरता के साथ विधान किया है कि 'नेह की पीर' और 'हिय की आँखों' से देखने वाले ही इसे भली भाति समझ सकते हैं।"

उत्तर कालीन मध्य युग के भारतीय इतिहास में औरङ्गजेब का शासन-काल विप्लव, अशान्ति और घोर जन असन्तोष का कालिमापूर्ण परिच्छेद है। औरङ्गजेब की आर्थिक असहिष्णुता और राज्य मदान्धता ने निरीह हिन्दू जनता पर जो नृशस अत्याचार किए इतिहास के पृष्ठ उनसे रँगे हुए हैं। तलवार की नोक पर उसने बलात धर्म परिवर्तन के लिए हिन्दू जनता को बाध्य किया। उनके पवित्र धार्मिक स्थानोको विध्वस कर मस्जिदो का निर्माण कराया। जजिया लगाकर उनकी धार्मिक भावनाओ को ठेस पहुँचाई। उसके क्रूरतापूर्ण शासन के प्रतिकार मे जिन स्वाभिमानी आत्माओ ने विद्रोह किया औरङ्गजेब ने बड़ी नृशसता के साथ उसका प्रतिशोध लिया। नारनौल और मेवाड़ प्रदेश के सतनामी मतावलम्बियों का सामूहिक बध करवाया गया। सिख गुरु गोविन्दसिंह के दो किशोर बालको को जीवित दीवाल मे चिनवा दिया। लाखो हिन्दुत्व प्रेमी उसकी क्रोधाग्नि की आहुति बने। औरगजेब की इस पाशविकता और धर्मान्धता से चारो ओर भय, आतक और निराशा के भाव छा गए। जनता के संरक्षक जो हिन्दू नृपति थे उनमे इतना साहस न था कि औरगजेब का प्रतिरोध कर सके। उनका आत्मगौरव लुप्त हो चुका था और दिल्ली राज्य की छत्रछाया मे फलना-फूलना ही उन्हे अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता था। अपने कर्तव्य से परागमुख बन वे अकर्मण्य और विलासता पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। असहनीय दुख से पीड़ित जन समाज के आर्त स्वर की पहुँच उनके कानो तक नहीं थी। जन जीवन से परे उनका अपना अलग ससार था जहाँ केलि और विलास के, भोग और आनन्द के नित-

नवीन उपकरण जुटाए जाते थे। कवि वर्ग अष्टयाम के रूप मे उनकी विलास पूर्ण दिनचर्या का विधान करते थे। कविता के माध्यम से काम-क्रीड़ा के विविध कौतुको की व्यजना द्वारा उन्हे रिझाते थे। केसरि की कींच और गुलाल की गरद से आवृत्त उनकी कविता जन जीवन की भावनाओ और उसके आत्मस्पन्दन को स्वर दे ही कैसे सकती थी? शृगार रस की चेष्टाओ मे उलझी हुई वाणी को इसके लिए अवकाश ही नही था। अपने सच्चे उत्तरदायित्व से विमुख और लोक कल्याण के मूल आदर्श से रहित तत्कालीन कवि और राज समाज से यह आशा ही दुराशामात्र थी कि वह जनता के त्राण के लिए राष्ट्र मानस मे क्रान्ति के नव स्वर छेड़ता।

ऐसे समय मे शिवा के तेजस्वी व्यक्तित्व का उदय हुआ जिसने प्रवल स्वर मे औरंगजेब के अनाचारो और अत्याचारो को स्पष्ट चुनौती दी। पराजय और असफलता के आवरण मे मुँह छिपाए हिन्दुत्व को पुनः शक्ति और साहस का नव सम्बल दिया। उसकी सोई आत्म चेतना और गौरव को ठोकर मार कर जगाया। औरगजेब के अत्याचारो से पीडित हिन्दू समाज के त्राण के लिए, मन्दिर और वेदो की मर्यादा के लिए हिदू ललनाओ के सतीत्वकी रक्षा के लिए उन्हो ने तलवार उठाई और औरगजेब जैसी प्रबल हस्ती से खुलकर सघर्ष किया। उनके रूप मे राम और कृष्ण का वही कृतित्व एक बार पुनः प्रगट हुआ जिसने कि रावण और कस के अत्याचारों से भरत-भूमि का उद्धार किया था।

ऐसे शिवा के आश्रय मे जाग उठने वाले हिदुत्व के शौर्य और आत्म-गौरव को भूषण ने स्वर दिए। शिव ने जिस क्रान्ति का आवाहन किया भूषण की वाणी मे वही सहस्रमुखी होकर फूट पड़ी। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिए युग की शक्ति दो रूपों मे अवतरित हुई। उस शक्ति का पहला रूप शिवाजी थे, दूसरे कवि भूषण। पहिले ने तलवार का आश्रय लिया दूसरे ने वाणी का। दोनों के उस सम्मिलित रूप ने उस जन क्रान्ति का नेतृत्व किया जो हिदू जाति के उद्धार को लेकर अन्याय और अनाचारपूर्ण शासन के प्रतिरोध मे खड़ी हुई थी।

भूषण जन कवि थे। जन जीवन की नाड़ी को टटोल कर उसके स्पदन

को उन्होने अपनी कविता में व्यक्त किया था। जनता की पुकार को उन्होने अपनी वाणी दी। जन कल्याण के लिये उन्होने अपनी आवाज उठाई थी। वे उन कवियो मे से नही थे जिन्होने विलासी राजाओ की दूषित मनोवृत्ति के हाथ अपनी आत्मा को बेच दिया था। भूषण तो उन युग प्रवर्त्तक कवियो मे हैं जिन्होने अपने युग की साहित्य परम्परा का स्पष्ट विरोध करते हुए, विलासी राजदरबारों मे कामुक हाव भाव करने वाली कोमल कात कविता कामिनी को रणलक्ष्मी के रूप मे जनता के समक्ष ला खड़ा किया। औरगजेब के अत्याचारो की उन्होने कड़ी भर्त्सना की तथा स्वतत्रता के सच्चे उपासक शिवाजी तथा छत्रसाल के वीरोचित यशोगान द्वारा जन साधारण को अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने को प्रोत्साहित किया। उनके काव्य मे उनके युग की पुकार है और उनके शब्दो मे उनके देश की तत्कालीन आत्मा बोलती है। घोर शृ गारवादी युग मे भी उन्होने अपने निर्भीक हाथो से राष्ट्रीय जागरण का शखनाद किया था। इस प्रकार भूषण सच्चे अर्थों में हमारे राष्ट्रीय कवि थे।

यह बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है कि जनता के इस अमर कलाकार का जीवन अभी तक अन्धकार मे हैं। उनका यथार्थ नाम भी हमे विदित नही। उनके जन्म, मृत्यु परिवार तथा जीवन के विषय में

जीवन परिचय

निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भूषण के जीवन को लेकर जो कुछ अब तक प्रकाश मे आया वह संदिग्ध अवस्था में ही हैं।

अपनी कृति शिवराज भूषण मे अपना परिचय देते हुए कवि का कथन है "महाराज शिवाजी ने जब मुगलो पर विजय प्राप्त कर रामगढ़ मे राजधानी स्थापित की और इच्छित दान देकर समस्त ससार में सुयश फैलाया। उनके पास देश देशान्तरो से याचक गण आते थे। उनमे से एक कवि भी था जिसका नाम भूषण था। वह कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज दुबे ब्राह्मण श्री रत्नाकर जी का पुत्र था तथा यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर मे रहता था। उस ग्राम में बीरबल के समान महाबली राजा और कवि हुए थे तथा विश्वेश्वर महादेव के समान बिहारीश्वर महादेव का वहाँ मदिर था। हृदय राम के

पुत्र चित्रकूट पति सोलंकी नरेश रुद्रशाह ने 'कवि भूषण' की पदवी से सम्मानित किया। स० १७३० में उन्होने अपने ग्रथ शिवराज भूषण की समाप्ति की थी—

सुभ सत्रहसै तीस पर बुध सुदि तेरस मान।
भूषण सिव भूषण कियो, पढ़ियो सुनो सुजान॥

इसके अनुसार भूषण का जन्म स० १७३० से पूर्व ही होना चाहिये। मिश्र बन्धुओ ने इनका जन्म स० १६७१ माना है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे जन्म काल स० १६७० दिया है। पर शिवसिह सेंगर ने अपने शिवसिह सरोज मे भूषण का जन्म स० १७३१ माना है। उनके अनुसार भूषण महाराज शिवाजी के समकालीन न थे। उनका जन्म शिवाजी के मृत्यु के कुछ मास पश्चात् हुआ था। इसी का समर्थन करते हुये प० भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने अपने भूषण विमर्श मे अनेक प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भूषण शिवाजी के राजकवि न होकर उनके पुत्र शम्भाजी के राज कवि थे। उनके अनुसार भूषण कृत शिवाबावनी मे जो ऐतिहासिक विवरण मिलते हैं वे स० १७६६ वि० तक के हैं और शिवराज भूषण मे शिवाजी की मृत्यु (१७३०) तक के कथन पाए जाते हैं। जिन सोलकी नरेश हृदयराम के पुत्र रुद्रशाह ने उन्हे भूषण की पदवी दी थी उनका काल भी स० १७५० के बाद ही है। इस प्रकार दीक्षित जी के मतानुसार शिवराज भूषण की समाप्ति को लेकर रचा गया दोहा जाली है।

उन्होने यह भी सिद्ध किया है कि भूषण का असली नाम मनिराम था और उनका जन्म स्थान बनपुर है। स० १७५२ के पश्चात् वे बनपुर छोड़ कर त्रिविक्रमपुर जा बसे थे। भूषण के साथ चितामणि और मतिराम भी थे। इस सम्बन्ध मे दीक्षित जी ने मतिराम के पती कवि बिहारीलाल कृत, 'विक्रम सतसई' की रत्न चद्रिका टीका के अन्तर्साक्ष्य का आधार लिया है। उन्होंने चितामणि को भूषण का सहोदर माना है, पर मतिराम को केवल समकालीन कवि ही ठहराया है। उनके अनुसार भूषण के भाई चितामणि वे नही है जिन्होने कवि कुल कल्पतरु की रचना की है। ये चितामणि दूसरे हैं और उनका रचनाकाल स० १७५० वि० से प्रारम्भ होता है।

वास्तव मे भूषण शिवाजी के समकालीन थे अथवा नही, यह उलझन का विषय है। यदि हम दीक्षित जी की बात मान भी ले तो यह बात समझ मे नही आती कि सम्भाजी का राजकवि होकर भूषण ने शिवाजी के ही यश वर्णन मे अपने ग्रन्थ की क्यो समाप्ति कर दी। अपने आश्रयदाता के नाम का उल्लेख मात्र तक क्यो नही किया। फिर शिवाजी के राज्याभिषेक जैसी महत्वपूर्ण घटना (स० १७३१) का उल्लेख शिवराज भूषण में न देखकर यह ही अनुमान किया जा सकता है कि ग्रथ की समाप्ति स० १७३० में ही हुई होगी। सभवतः उनका जन्म स० १६९२ और १७०० के बीच मे हुआ हो।

बाल्यकाल से ही भूषण बड़ी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र प्रकृति के पुरुष थे। घर पर ही शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त भूषण आश्रयदाताओं की खोज मे निकले। अपने आश्रयदाताओ के विषय मे भूषण शिवराज भूषण में लिखते हैं—

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाऊ सिरी नगरै कि कवित्त बनाए।
बाँधव जाहु कि जाहु अमेरि कि जोधपुरै कि चित्तौरहि धाए।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै कि दिलीसहु पै किन जाहु बुलाए।
भूषन गाय फिरौ महि मे बनि है चित्त चाह सिवाहि रिझाए॥

इससे स्पष्ट है कि भूषण मोरग, कुमाऊ, श्रीनगर, रीवा, आमेर, जोधपुर चित्तौर, बीजपुर, गोलकुण्डा, दिल्ली आदि राजदरबारो मे गए थे, पर उनके चित्त की चाहना शिवाजी को ही रिझाकर पूर्ण हुई थी। यह बात नहीं कि भूषण को अन्यत्र आदर सम्मान प्राप्त न हुआ हो। वे जहाँ भी गए उन्हें यथेष्ठ सम्मान प्राप्त हुआ, पर शिवाजी का यशस्वी व्यक्तित्व ही उन्हे अधिक प्रभावित कर सका और उनका यश वर्णन ही उन्होंने फिर अपनी काव्य साधना का लक्ष्य बनाया। इसके अतिरिक्त भूषण बूदी नरेश राजा बुधसिह मेड़् नरेश अनिरुद्धसिह असोभर नरेश भगवतराय खीची तथा पन्ना नरेश छत्रसाल के राजदरबार मे गए थे। तत्कालीन नृपति समाज मे भूषण का कितना मान था यह इसी से विदित होता है कि भूषण के राजदरबार में आने पर स्वय छत्रसाल ने उनकी पालकी से अपना कधा लगाया था। औरङ्गजेब

के पोते जहाँदारशाह ने उन्हें दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया था। सोलकी नरेश ने उन्हें कवि भूषण की पदवी प्रदान की और यह उपाधि इतनी लोक प्रचलित हुई कि कवि का वास्तविक नाम ही लुप्त होगया।

इन आश्रयदाताओं को लेकर भूषण ने देशव्यापी भ्रमण किया था उनके इस भ्रमण का उद्देश्य विभिन्न राजदरबारो मे आदर और सम्मान प्राप्त करना न था वरन् औरङ्गजेब के विरुद्ध एकता के सूत्र मे भारतीय राजाओं को आबद्ध कर उन्हें शिवाजी के आदर्श पर चलने के लिए प्रेरित करना था।

ऐसी किवदन्ती है कि भूषण औरंगजेब के दरबार मे अपने भाई चिन्तामणि के साथ गए थे। वहाँ उन्होने 'किबले के ठोर' बाप बादशाह शाहजहाँ आदि कवित्त सुनाकर औरंगजेब की कटु आलोचना की थी। पर यह किवदन्ती समीचीन नहीं है। काव्य और कला से उपेक्षा रखने वाला अरसिक औरंगजेब भूषण की रचनाएँ सुने यह बात कुछ जँचती नहीं।

भूषण और शिवाजी की भेंट भी एक मनोरजक घटना है। अपनी दक्षिण यात्रा के समय भूषण रामगढ़ पहुँच कर एक देवालय मे ठहरे हुए थे। वहीं उनकी शिवाजी से भेंट हुई थी। शिवाजी उस समय साधारण वेशभूषा मे थे। भूषण उन्हें पहिचान न सके। बातचीत के प्रसग मे भूषण ने रामगढ़ आने का अपना प्रयोजन बतलाया। कवि जानकर शिवाजी ने भूषण से कुछ काव्य रचना सुनाने का आग्रह किया। भूषण ने शिवाजी के शौर्य वर्णन मे ५२ छन्द सुनाए। शिवाजी की इच्छा और कवित्त सुनने की हुई। तब भूषण ने कहा अब महाराजा शिवाजी के लिए भी हम कुछ रख छोड़े, या सब तुम्हें ही सुनादे। इस पर शिवाजी शात होगए और उन्होंने भूषण को राजदरबार में आने को कहा। दूसरे दिन शिवाजी जब राजदरबार मे पहुँचे तब उन्होने अपने पूर्व परिचित पुरुष को ही सिहासन पर बैठे देखा तो भूषण चकित हुये शिवाजी ने बड़े आदर और सम्मान के साथ उन्हे अपने पास बुलाया और कहा मैंने कल निश्चय किया था कि जितने छन्द आप मुझे सुनाएगे उसी सख्या के अनुसार मैं आपको पुरस्कार प्रदान करूगा। फलतः भूषण ५२ गांव, ५२ हाथी, ५२ लक्ष मुद्राएँ और ५२ शिरोपाव से पुरस्कृत हुए। वे शिवाजी के राजदरबार मे रहने लगे।

कुछ काल पश्चात् भूषण अपने निवास स्थान त्रिविक्रमपुर लौट आए। समय-समय पर वे शिवाजी के राज दरबार में जाते रहते थे। शिवाजी की मृत्यु के अनन्तर वे उनके पुत्र सम्भाजी के दरबार मे भी गये थे। अन्य राज दरबारो मे भी वे जाते रहते थे। स० १७७२ के लगभग यह कवि राष्ट्र को जीवन की सुधा देकर स्वर्गधाम की ओर प्रस्थान कर गया।

रचनाएँ

भूषण की जीवनी की भाति ही भूषण की रचनाएँ अंधकार में हैं। शिव सिह सरोज के अनुसार भूषण के चार ग्रथ है। १—शिवराज भूषण, २—हजारा, ३—भूषण उल्लास, ४—दूषण उल्लास पर इनमे से शिवराज भूषण ही उपलब्ध है। अन्य ग्रन्थो का अभी तक पता नही लगा है। इसके अतिरिक्त शिवाबावनी और छत्रसाल दसक भी भूषण की रचना कृति हैं। पर ये ग्रथ स्वतत्र न होकर कवि की समय-समय पर रची गई स्फुट कविताओ का सग्रह मात्र हैं। ऐसा कहा जाता है कि शिवाबावनी के ५२ छन्द वे ही हैं जिन्हे भूषण ने देवालय मे शिवाजी को सुनाए थे।

शिवराज भूषण अलङ्कार ग्रन्थ हैं। अलकारो का दोहो मे लक्षण देकर कवित्त सवैयो मे उदाहरण दिए गए हैं? इन उदाहरणो का विषय शिवाजी के जीवन की प्रमुख घटनाएं, विजय, उनका शौर्य प्रभुत्व, आतक यश, दान आदि का वर्णन है।

काव्य-साधना

भूषण की काव्य साधना रीतिकाल की सीमित परम्पराओ मे सिमिट कर नही चली और शृंगार के उस साहित्यिक युग मे उन्होने वीर रस की अजस्र धारा प्रवाहित की। वीर केसरी शिवाजी और छत्रसाल का यशोगान उनके काव्य का विषय बना और शत-शत रूपो मे उनकी वाणी ने उसको प्रगट किया। हो सकता है कि अपने काव्य जीवन के प्रारम्भ मे भूषण ने शृंगार रस प्रधान कविताओ की रचना की हो जैसा कि डा० बड़थ्वाल ने अपने एक निबध 'भूषण की शृगारी कविता' मे उनके कुछ शृगारी छन्दो की चर्चा की है, पर भूषण की समस्त काव्य चेतना तो हिन्दुत्व के त्राणक चरित्रों की यशो-गंगा में नहाकर पवित्र बन गई है। भूषण ने स्पष्ट कहा है :—

भूषण यो कलि के कविराजन राजन के गुण गाय हिरानी।
पुण्य चरित्र सिवा सरजे सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

ऐसे ही पुण्य चरित्र की यश सुरभि से भूषण का काव्य सुवासित है। शिवाजी उनके वीर काव्य के नायक हैं। उनका शौर्य और पराक्रम, औरङ्ग-जेब के नृशस अत्याचारो के प्रतिरोध का उत्साह, उनका हिन्दुत्व प्रेम, पीड़ित और दुखी जनसमाज के उद्धार की भावना, इन्हीं सब वीरोचित आदर्श भाव-भगिमाओ के बीच भूषण के काव्य का सृजन हुआ है। तत्कालीन राजनीति के कोलाहल पूर्ण युग में, अशात और विप्लव से भरे उस समय में, औरग-जेबी शासन की पीड़ा से भरे बातावरण में, जन समाज के दुखो का अवसान इसी बात मे था कि जन-सरक्षक हिन्दू नृपति नर-केसरी शिवाजी और छत्र-साल के आदर्श को अपनाते। यही उस युग का सत्य था और इसी युग सत्य को स्वीकार करती हुई उनकी वाणी इस देश की धरती पर गूँजी थी। भूषण की काव्य सर्जना का यही आधार फलक है।

शिवाजी के वीर चरित्र को लेकर भूषण ने वीररस की बड़ी सशक्त व्यजना की है। शिवाजी के शौर्य और युद्ध वर्णन मे वीर रस जैसे मूर्त्तिमान हो उठा है। काव्य की प्रत्येक पक्ति ओज और दर्प से भरी हुई है। भूषण ने अपने काव्य की रचना भावविभोर होकर की है और इसीलिये वीर भावो को उद्‌बुद्ध करने की उनमें अनन्य शक्ति है। उनकी रचनाओ को पढ़कर भुजाएँ फड़क उठती है, हृदय रोमाचित हो उठता है। सचमुच भूषण के इस वीर रस प्रधान काव्य मे इतना वेग है, इतनी तीव्रता है इतनी तिलमिलाहट है, इतनी स्फूर्ति है कि बरबस वह अपने प्रवाह में हमे बहा ले जाता है।

वीर रस की व्यंजना मे शिवाजी आश्रय हैं। औरगजेब आलम्बन हैं। उत्साह स्थायी भाव है। इनके बीच उनके हृदय का उल्लास, शत्रु के प्रति उग्रता और वीरोचित गर्व विविध सचारी भाव हैं। वीर रस पूर्ण एक ऐसा चित्र देखिए:—

उमड़ि कुड़ाल में खवासखान आए भनि,
भूषन त्यों धाए शिवराज पूर मन के।
सुनि मरदाने बाजे हय हिहनाने धारे,

मूंछे तरराने मुख बीर धीर जन के ॥
एकैं कहैं मार मार सम्हरि समर एकैं,
म्लेच्छ गिरैं मार बीच बेसम्हर तन के।
कुण्डन के ऊपर कड़ा के उठैं ठौर-ठौर,
जीरन के ऊपर खड़ा के खड़गन के ॥

युद्ध वीर के अतिरिक्त दयावीर, दानवीर और धर्मवीर के रूप में भी भूषण ने शिवाजी का चित्रण किया हैः—

(दयावीर)

जाहि पास जात सो तौ राखि न सकत याते,
तेरे पास अचल सुप्रीति नाधियतु है।
भूषन भनत सिवराज तब कित्ति सम,
और की न कित्ति कहिबे को कांधियतु है ॥
इन्द्र को अनुज तैं उपेंद्र अवतार यातें,
तेरो बाहु बल ले सलाह साधियतु है।
पाय तर आय नित निडर बसाइबे को,
कोटि बांधियतु मानो पाग बांधियतु है ॥

(दानवीर)

सहज सलील सील जलद से नील डील ,
पव्यय से पील देत नहिं अकुलात है ।
भूषन भनत महाराज सिवराज देत,
कँचन को ढेरु सो सुमेरु सो लखातु है ॥
सरजा सवाई कासो करि कविताई तब,
हाथ की बड़ाई कौ बखान करि जात है।
जाको जस टंक सातो दीप नवखण्ड महि—
मण्डल की कहा ब्रह्मण्ड ना समात है।

(धर्मवीर)

राखी हिन्दुआनी हिन्दुआन को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।

राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा मे धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में ॥
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तब सुनी मे।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दावि कै दिवाल राखी दुनी में।

वीर रस भूषण को इतना प्रिय है कि इसके अन्तर्गत ही उन्होंने शृंगार हास्य, अद्भुत आदि रसो की सृष्टि की है। वीररस के अन्तर्गत शृंगार का चित्र देखिए—

मेचक कवच साजि बाहन बयार वाजि,
गाढ़े दल गाजि उठे दीरघ दुखन के ।
भूषन भनत समसेरे सोई दामिनी हैं,
महामद कामिनी के मान के कदन है ॥
पैदरि बलाका धुरवान की पताका गहे,
घेरियत चहुँ ओर सूने ही सदन में।
न करु निरादर पियासों मिलु सादर ये,
आए वीर बादर बहादुर मदन के ॥

हर प्रकार हास्य रस का बड़ा सुन्दर उदाहरण है:—

मारि मारि पात साही खाक साही कीनी जिन,
छीन लीन छिति हद सब सरदारे की।
खिसि गई सेखी फिसि गई सूरताई सबै,
हिस गई हिम्मति ही हियते हजारे की ॥
भूषन भनत भारी धौसा की धुकार बाजै,
गरजत मेघ ज्यो बरात चढ़े भारे की।
दूल्हौ शिवराज भयौ दच्छनी दमाकदार,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की ॥

वीर रस के अन्तर्गत अन्य रसों के विधान की यह प्रवृत्ति हमें वीरगाथा कालीन कवियो में खूब मिलती है। भूषण भी इस रूप मे उनके अनुगामी

बने हैं । वीर रस के सहायक रौद्र, वीभत्स और करुण रसो का बड़ा ही सुन्दर परिपाक भूषण के काव्य मे हुआ है । शिवाजी के शौर्य, उनके रण चातुर्य, भयभीत शत्रुओ और उनकी पत्नियो के सजीव चित्रण मे भूषण ने अनन्य सफलता प्राप्त की है ।

युद्ध वर्णन मे भूषण का मन खूब रमा है । युद्ध के उत्साह से पगी हुई सेनाओ का रण प्रस्थान, गर्जन करते हुए युद्ध वाद्य, रण क्षेत्र के बीच तलवारो के घात प्रतिघात, वीरो का शौर्य और कायरो की भयभीत मुद्राएँ युद्ध के इन सब दृश्यो को लेकर भूषण ने बड़े ओजस्वी काव्य की सर्जना की है । रण के लिये प्रस्थान करती हुई सेना का रूप देखिए—

साजि चतुरंग वीर रंग मे तुरग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं ।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं ॥
गेल फैल खैल भैल खलक मे गैल गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उसलत है ।
तारासो तरनि धूरि धारा मे लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यो हलत है ॥

और फिर इस सेना का रणक्षेत्र के बीच रण कौशल देखिए :—

छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हू की ओट मे ।
ताही समय सिवराज हुकुम के हल्ला कियो,
दावा बाँधि पर हला वीर भट जोट मे ।
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति लगिहै इहाँ जाकी भट जोट मे ।
ताव दै दै मुँछन कंगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दैदै कूदि परे कोट मे ।

जिस प्रकार श्रृंगार रस के कवियो ने नायिका के रूप रस पान से न अघाने वाले नेत्रों को लेकर मौलिक उद्भावनाए की है उसी प्रकार भूषण ने

रण लक्ष्मी का अरि मुंडो से शृंगार करने वाली नायक शिवाजी और छत्र-साल की तेग तलवार को लेकर वीर रस पूर्ण भावो की अभिव्यक्ति की है—

निकसत म्यान ते मयूखें प्रलै भान की सी,
फारे तम तोम से गयन्दन के जाल को।
लागति लपटि कंठ वैरिन के नागिन सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन की माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लो बखान करौ तेरी करवाल को?
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेउ देति काल को।

भूषण ने इन युद्ध वर्णनो मे अर्थ की अपेक्षा ध्वनि को अधिक महत्व दिया है। बातावरण की प्रभावोत्पादकता को तीव्रतम रूप देने के लिए शब्द विधान पर अधिक जोर दिया गया है। इस रूप में भूषण ने स्पष्टतः चारण कवियो की परम्परा का पालन किया है। फिर भी भूषण की कविता में प्राण है। वह कृत्रिम न होकर वीररस की नैसर्गिकता से अभिभूत है। अनुभूति की सचाई उसमे घुली-मिली है।

यही कारण है कि भूषण द्वारा वर्णित शिवाजी का यशगान अतिशयोक्ति पूर्ण और झूठा नहीं जान पड़ता। उसमे झूठी प्रशसा की गंध न होकर सचाई और ईमानदारी की सुगन्ध है। अन्य कवियों द्वारा जो अपने राजाओं का स्तुतिगान किया गया है वह चाटुकारिता से पूर्ण हो सकता है, पर भूषण को हम चाटुकार कवि नही कह सकते। धन और यश के लोभ से उन्होने अपनी वाणी का घृणित सौदा नहीं किया। इसके लिए तो रीतिकाल के अन्य कवि बहुत थे। इन कवियो ने जिन राजाओ का यशगान किया है वे प्रशसा और गौरव के अधिकारी न थे। प्रशसा और गौरव के सच्चे अधिकारी शिवाजी ही थे जिनके आश्रय मे भूषण का हिन्दुत्व प्रेम कविता के रूप मे फल फूल सका। शिवाजी के अतिरिक्त अन्य जिन आश्रयदाताओ की प्रशंसा भूषण ने की है वे भी सब इस गौरव के अधिकारी थे। वे भी सच्चे अर्थों मे शूरवीर

और आत्माभिमानी थे। उनकी भुजाएं भी राष्ट्र के उत्थान में सन्नद्ध थीं। शिवाजी और अन्य आश्रयदाताओं की प्रशंसा के मूल मे भूषण का हिन्दुत्व प्रेम ही निहित है और यही हिन्दुत्व प्रेम भूषण के काव्य का मूल प्रेरक स्वर है।

अपने नायक के यश चित्रण में भूषण की प्रतिभा बेजोड़ है। नायक के यश और पराक्रम की जैसी अनूठी व्यंजना भूषण ने की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके नायक शिवाजी अवतारी पुरुष हैं। भूषण के लिए उनका वैसा ही महत्व है जैसा कि तुलसी के लिए राम और सूर के लिए कृष्ण का। भूषण ने स्पष्ट कहा है :—

दशरथ जू के राम भै, वसुदेव के गोपाल।
सोई प्रगट साहि के, श्री शिवराज भुआल॥

हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का शत्रु औरंगजेब भूषण के काव्य का प्रतिनायक है। किसी रावण और कंस से वह कम नहीं है। भूषण ने उसके उत्कर्ष का भी चित्रण किया है पर इससे नायक की गुरुता का ही बोध होता है। जितना प्रतिनायक बली, और शक्तिमान होगा नायक का चरित्र उतना ही उदात्त होगा। भूषण इस रहस्य से भली भाँति अवगत हैं, इसीलिए उनका यश वर्णन बड़ा उत्कृष्ट बन पड़ा है।

भूषण ने केवल अपने नायक के चरित्र का ही यशगान नहीं किया उससे संबन्धित ऐतिहासिक घटनाओं को भी अपने काव्य के स्वरो में बाँधा है। शिवाजी के विविध आक्रमण, मुस्लिम सेना नायकों से उनका युद्ध, अनेक दुर्गों पर उनकी विजय आदि इतिहास की अनेक बातो को भूषण के काव्य में स्थान मिला है। वह जो कुछ है अपने वास्तविक रूप में हैं। भूषण ने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं मिलाया है।

भूषण रीतिकालीन प्रवृत्तियो की सर्वथा उपेक्षा न कर सके। उनकी काव्य कला पर रीतियुग का स्पष्ट प्रभाव है। केशव, देव आदि रीतिकाल के प्रमुख कवि और आचार्य दोनो ही थे। भूषण ने भी इस

भूषण का आचार्यत्व

परम्परा का पालन किया है। वे भी कवि और आचार्य

और अलंकार योजना दोनो ही हैं। उनकी प्रतिनिधि काव्य कृति शिवराज भूषण अलकार ग्रथ हैं। संस्कृत के रीति ग्रन्थों के आधार पर उसका प्रणयन किया गया है। अलकारो के लक्षण दोहों में दिए गए हैं, तथा उदाहरण के लिए कवित्त, सवैयो का प्रयोग किया गया है। इनका काव्य-विषय नायक का यश चित्रण ही है। रीति कवियो की भाति उन्होंने नखसिख, नायिकाभेद को अपना काव्य विषय नहीं बनाया। इसी रूप में भूषण अपने समकालीन कवियों से भिन्न हैं। उनके काव्य की अभिव्यक्ति तो रीतिकालीन शैली में हुई पर उसकी भाव सामिग्री मान्यताओं को लेकर चली हैं। इस प्रकार भूषण के काव्य का शरीर तो वही था पर उसकी आत्मा भिन्न थी।

परन्तु भूषण के काव्य का शारारिक सौन्दर्य सम्यक रूप से प्रस्फुटित नहीं हुआ है। रीतिकालीन शैली को अपनाते हुए भी भूषण कला के सौन्दर्य से अपने काव्य को अभिभूत न कर सके। केशव का सा पाडित्य, बिहारी की भाँति कला का सूक्ष्म जडाव, देव जैसे मजमून, घनानद के से लाक्षणिक प्रयोग उनके पास थे ही नहीं, उक्ति वैचित्र्य, वागवैदिग्ध्य, अर्थ गाम्भीर्य, और रमणीय कल्पना तत्व का उनके काव्य में एक प्रकार से अभाव ही है। भाव सामिग्री की विविधता भी उनके काव्य में नहीं है। एक ही भाव शब्दो के कुछ हेर फेर के साथ बार-बार दुहराया गया है। मुक्तक छन्द होते हुए भी काव्य की शैली अनेक स्थानो पर वर्णनात्मक हैं, और उसका स्वरूप इतिवृत्तात्मक बन गया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से भी उन्हें सफलता नही मिली। अलंकार शास्त्र की दृष्टि से उनकी अलकार योजना में अनेक दोष हें। उदाहरण लक्षणो के अनुसार ठीक नहीं हैं। स्वयं लक्षण ही अधूरे और भ्राति पूर्ण हैं। भूषण वास्तव मे रीति ग्रन्थ का प्रतिपादन करते हुए अधिक गहराई मे नहीं पैठे थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने रीति शैली का सहारा लिया था। उनका प्रधान उद्देश्य शिवाजी का चरित्र चित्रण था, रीतिग्रथ प्रतिपादन नही। फलतः उनकी अलकार योजना साध्य न होकर साधन मात्र है। यही कारण है कि अलकार शास्त्र की दृष्टि से सदोष होते हुए भी उनकी

अलंकार योजना सर्वथा स्वाभाविक है। उसमे प्रयत्न कम, प्राकृतिकता अधिक है। इसीलिए अलकार भावोत्कर्ष मे सहायक सिद्ध हुए हैं। शब्दालकारो में लाटानुप्रास, यमक आदि अलकारो का विधान भूषण ने बड़े कौशल से किया है। ये अलकार रसोत्कर्ष में सहायक होते हुए, प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करते हुए काव्य के स्वरूप को बडा रमणीक बनाते हैं, उनके यमक का एक प्रसिद्ध उदाहरण है :—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती हैं।
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलाती ते वे विजन डुलाती हैं।
भूषण भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं।

अर्थालंकारो में भी भूषण ने व्याजस्तुति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा आदि अलंकारो का बड़ा सुन्दर विधान किया है। एक ही छन्द मे उन्होने कहीं-कहीं तो उत्प्रेक्षा और उपमा आदि अलकारो की लड़ी गूँथ दी है।

भूषण ने भी तत्कालीन युग की काव्य भाषा ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। वे पहिले कवि हैं जिन्होने ब्रजभाषा जैसी कोमलकात

भाषा

भाषा मे उत्कृष्ट वीर काव्य की रचना की है। उनकी रचनाओ से यह भली भॉति स्पष्ट है कि ब्रजभाषा केवल कोमल भावो को वहन करने मे ही समर्थ नही है, शौर्य और दर्प के परुष भावो की अभिव्यक्ति भी उसमे भली भॉति की जा सकती है।

वीररस की व्यजना के कारण भूषण की भाषा का स्वरूप बड़ा ओजमय है। ब्रजभाषा की सहज मधुरता और कोमलता उसमें नहीं है। उसका शब्द-विधान युद्ध के क्रिया-कलापो की भॉति ही परुष और वेगवान है। साहित्यिकता और विशुद्धता की दृष्टि से भाषा का विशेष महत्व नहीं है। व्याकरण

की अव्यवस्था, शब्दो की तोड़-मरोड़, वाक्य-विन्यास की गड़बड़ी, भूषण की रचनाओ मे स्थान-स्थान पर देखी जा सकती हैं। मॉची, चिजी, भटी, बहुन्ने, बरगी आदि मराठी शब्दो का उन्होने खुलकर प्रयोग किया है। अरबी फारसी के शब्द तो प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। बहुत से शब्द तो तत्सम रूप मे ग्रहण किए गये हैं। प्राकृत और अपभ्र श के शब्द प्रयोगो ने भाषा को क्लिष्ट रूप दे दिया है। इस प्रकार भूषण की भाषा खिचड़ी भाषा है। भाषा का परिष्कृत और प्राजल रूप उसमे नही है। इतना होने पर भी भाषा का प्रवाह और उसकी गति बड़ी सशक्त है। वीररस के भावो को व्यक्त करती हुई बरसाती नदी की भॉति उनकी भाषा उमड़ती हुई चलती है। उसके इस प्रवाह मे उसके सारे दोष बह जाते हैं।

अपनी इस भाषा मे भूषण ने लोकोक्तियो और मुहावरो का वडा सफल प्रयोग किया है—सौ-सौ चूहे खाय बिलारी बैठी तप के, तारे सम तारे मुँदि गए तुरकिन के, भूलिगयो आपनी उचाई लख बेह की, आदि मुहावरों और लोकोक्तियों ने उनकी भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाया है।

भूषण के काव्य के बाह्य अवयव चाहे पुष्ट और सौष्ठव युक्त न हो, पर उसकी आत्मा बड़ी तेजवान है। राष्ट्र कल्याण की आदर्श भावनाओ से वह सॅजोई हुई है। इन्हीं आदर्श भावनाओ को व्यक्त करती हुई भूषण की कविता में इतना तीव्र वेग है कि हमारी दृष्टि उसके कलात्मक सौन्दर्य पर उठती ही नहीं। कवि के हृदय से निकली हुई वीरकाव्य की रसवन्ती धारा सीधे हमारे हृदय में रस सचार करती हैं। कला का बाह्य सौन्दर्य उसे अपेक्षित ही नहीं है।

भूषण के काव्य का सच्चा महत्व तो उनकी राष्ट्रीयता मे निहित है। वे शत प्रति-शत हमारे राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिकता और जातीयता के आवरण से ढकने का प्रयत्न किया गया हैं।

भूषण राष्ट्रीय कवि है

आक्षेप करने वालो का कथन है कि भूषण ने अपने जातीय प्रेम के कारण मुस्लिम समाज के विरोध मे विद्वेष की भावना जगाकर अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का परिचय दिया है। आखिर मुस्लिमजन तो राष्ट्र के

अग हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे भूषण राष्ट्रीय कवि न होकर साम्प्रदायिक और जातीय कवि हैं।

भूषण के विषय मे ऐसा कथन नितान्त भ्रममूलक ही है। इस रूप में उनके काव्य की भावभूमि को आधुनिक परिस्थितियों से परखने की चेष्टा की गई है। आज के युग में निश्चय ही हमारी राष्ट्रीयता का स्वरूप व्यापक है। हिन्दुओं की भाँति मुस्लिम भी राष्ट्र के अङ्ग हैं। पर भूषण के युग मे ऐसी बात न थी। तभी तो मुगल शहंशाह औरगजेब के हाथों हिन्दू सभ्यता और सस्कृति पर प्रहार किए गए। उनके साथ विजित और विजेता के रूप में भेद-भाव की नीति बरती गई। ऐसी परिस्थितियों मे भूषण शात न रह सके। पीड़ित जन-समाज के पक्ष में, अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार मे, उनकी वाणी के प्रबल स्वर गूँज उठे। निराश हिन्दू जनता मे आशा का संचार करने के लिए उन्होने निर्गुण सगुण उपासना और भक्ति का आश्रय नहीं लिया। जब मन्दिर टूट रहे हो, वेदों की मर्यादा जारही हो, वलात् धर्म परिवर्तन हो रहा हो तब हाथ पर हाथ रख भक्ति से क्या प्रयोजन? तब तो तलवार हाथ में लेकर मदान्ध शासन के अत्याचारों और अनाचारों से जूझने का समय था। भूषण ने ऐसी ही जनक्रान्ति का आवाहन किया। जो उनकी इस क्रान्ति के सूत्रधार बने उसका भूषण ने गुण गान किया।

मुसलमानों से भूषण को जातीय द्वेष न था। उन्होने स्पष्ट शब्दों में अकबर, हुमायूँ और औरङ्गजेब के पोते जहाँदारशाह की प्रशसा की है। उनकी उदार नीति और हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की भावना को सराहा है।—

सतयुग त्रेता औ द्वापर कलियुग माँहि,
आदि भयो नाहीं भूप तिनहूँ ते अगरी।
अकबर बब्बर हुमाऊँ शाह सासन सो,
स्नेह ते सुधारी हेम हीरन ते सगरी॥

भूषण को तो औरङ्गजेब की अन्यापूर्ण नीति से विरोध था। वह भी इसलिए कि औरङ्गजेब की नीति राष्ट्र-हित में अमगलरूप थी। उससे देश मे अराजकता और अव्यवस्था फैली हुई थी। राष्ट्र कल्याण की इस पुनीत भावना को ध्यान मे रखते हुए भूषण ने अपने राष्ट्रीय साहित्य की सर्जना की थी।

इतना अवश्य है कि भूषण का राष्ट्रीय काव्य अधिक व्यापक नहीं। अत्याचार और अनाचार से पीड़ित जन जीवन का उसमें इतना चित्रण नही है जितना कि शिवा, छत्रसाल आदि नर-केसरियो के यशस्वी जीवन का। उसमे देश की तत्कालीन आत्मा की पीड़ा, अकुलाहट और तिलमिलाहट अधिक नहीं है, हाँ संघर्ष के लिए उत्साह और दृढ़ता की शक्ति उसमें अवश्य है। सब कुछ मिलाकर भूषण का काव्य बड़ा स्फूर्तिवान है। वह हमारे राष्ट्र की अमर धरोहर है।

सन् १८५७ की असफल जन क्रान्ति के पश्चात् भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अग बन गया और भारत भूमि पर अँग्रेजी शासन के साथ-साथ एक नई सस्कृति ने प्रवेश किया। भारतीय इतिहास के इस युगान्तर घटना चक्र ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की समस्त दिशाओ मे आमूल परिवर्त्तन किए। पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति तथा उन्नीसवीं शताब्दी के नए ज्ञान-विज्ञान ने हमें नई दृष्टि दी। इस नई दृष्टि के आलोक मे हमे जीवन के अनेक अपरिचित पहलुओ के दर्शन हुए और हमने अपने आपको नवीन परिस्थितियो और बातावरण से अभिभूत पाया। इन परिस्थितियो ने हमारे दृष्टिकोण को अधिक व्यापक और प्रगतिशीलता प्रदान की। इस प्रकार सामतवादी व्यवस्था की रूढ़ियो, अन्धविश्वासो और संकुचित परपराओ मे सिमटी हुई हमारी चेतना अपने तग दायरे से बाहर झाकने के लिये विवश हुई। धर्म और समाज संबधी सुधार, नारी स्वाधीनता, देशभक्ति, व्यापक राष्ट्रीयता, पारस्परिक सभ्यता, अस्पर्शता निवारण आदि अनेक नवीन मान्यताओ को स्वीकार करते हुए और बहुत सी बाते पीछे छोड़ते हुए हम आगे बढ़ने लगे, यद्यपि नए और पुराने के मोहद्वंद से हमारी गति में स्थिरता नहीं आ पाई थी। हम निश्चित ही एक सक्राति काल से गुजर रहे थे।

अग्रेजो के आगमन से सबसे अधिक विषमता हमारे आर्थिक जीवन मे व्याप्त हुई। अग्रेजो की कुटिल औद्योगिक नीति से देश का समृद्धि पूर्ण आर्थिक ढाचा टूटने लगा। हमारे सभी उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे चौपट होगए। जिस भारतीय वैभव और ऐश्वर्य की कहानियाँ यूरोप के मानस मे आकर्षण के

रगीन सपने बुना करती थी, वही भारतीय धन अब इङ्गलैड की धरती पर बरसने लगा। इगलैड की शोषक प्रवृत्ति से एक क्षय रोगी की भाति भारत, दिन-प्रतिदिन निस्तेज और निष्प्राण बनता जा रहा था।

अग्रेजो की शासन व्यवस्था ने हमारे राष्ट्रीय जीवन मे भी महत्वपूर्ण हेर-फेर किए। पचायतो के टूटने से गॉवो का स्वावलम्वी जीवन उजड़ रहा था। उन्हें न्याय के लिये नगर की अदालतो की शरण लेनी पड़ती थी जहॉ उनके धन, समय और सरल जीवन का खुले हाथ शोषण होता था। जमीदारी व्यवस्था को जन्म देकर अग्रेजो ने गावो मे अपने दलाल नियुक्त किए, जो एक ओर तो ग्रामीण जनो का शोषण करते थे, दूसरी ओर अँग्रेज प्रभुओ की सेवा चाकरी को अपना जीवन गौरव समझते थे। इस वर्ग से ही मिलता-जुलता एक वर्ग उस समुदाय का था जिन्हे अपनी शिक्षा-दीक्षा मे भली भाति दीक्षित कर अग्रेजो ने शरीर और मन सभी से अपना दास बना लिया था। जो अपने को भारतीय कहते हुए सकोच अनुभव करते थे तथा गोराग प्रभुओ का राज्य उनके लिये ईश्वर की देन था जिसका हृदय जैसे उनके कल्याण के लिये ही हुआ था।

पर जो दूरदर्शी और गहरी समझ के लोग थे उनकी निगाहो से अग्रेजो का असली रूप छिप न सका। अग्रेजो की साम्राज्य वादी लिप्सा के कुत्सित रूप को वे भॉप गए। फलतः इस नए शासन के विरुद्ध व्यापक असतोष की आग धीरे-धीरे ऐसे सच्चे भारत प्रेमियो के हृदय मे सुलग रही थी। ऐसे लोगो से अपनी दुर्बलता भी छिपी नहीं रही। उन्होंने देखा कि छुआ-छूत, विधवा-विवाह निषेध, बाल-विवाह,वृद्ध-विवाह दहेज कुलीनता का ढोग आदि सामाजिक कुरीतियॉ, धार्मिक अन्धविश्वास और ढकोसले हिन्दू मुसलिम वैमनस्य, अशिक्षा, आदि बुराइयॉ हमारे कल्याण मार्ग मे दीवाल बनकर खड़ी हैं। इनको हटाए बिना सच्ची उन्नति असभव है।

इस प्रकार अपने उस सक्राति काल मे देश अनेक नई समस्याओ के ऊहा-पोह मे डूब उतर रहा था। सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक सभी क्षेत्रो में राष्ट्रीय चेतना नया स्वरूप गढ़ रही थी। फलतः यह अवश्यभावी ही था कि देश का साहित्यिक जीवन इन गति विधियो से प्रभावित होता। पर अब तक

का जो साहित्य था वह सामंत राजदरबारो की कुत्सित मनोवृत्तियो का प्रकाशन मात्र था। सामती व्यवस्था के ह्रासोन्मुख जीवन के गीत गाने वाले वाणी-पुत्र जन-जीवन की व्यापक अनुभूतियो के दिव्य स्वर न छेड़ सके। शृ गार और रीति के सीमित क्षेत्र मे इस कवि वर्ग ने कला का भव्य रंग महल तो खड़ा किया पर लोक जीवन के व्यापक सौन्दर्य से उसे अनुप्राणित न कर सका। उनके काव्य मे जन मानस को प्रफुल्लित करने वाला सद्यः सुमनो का उन्मुक्त सौरभ न था, वरन् इत्र की शीशी मे बन्द बिलासता की तीव्रता गन्ध से भरी खुशबू थी जो एक विशिष्ट वर्ग को तुष्ट करने के लिये थी। काव्य की इस परपरा को भी उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते अपना रूप बदलना पड़ा। नवीन परिस्थितियो के साँचे मे ढलती हुई राष्ट्रीय चेतना की नवीन भगिमाओ के आग्रह से उसे शृङ्गार और रीति की तंग गलियो से निकलकर दिगदिगत व्यापी जन-जीवन के प्रशस्त मार्ग पर उन्मुक्त वन्यनिर्झर की भाति सचरण करने के लिये विवश होना पड़ा।

इन नवीन परिस्थितियो से टकराकर हिन्दी साहित्य की परम्परा मे एक और क्रातकारी परिवर्तन हुआ। अब तक मानवीय भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम काव्य ही था। नाटक, उपन्यास, कथा, निबन्ध आदि साहित्य की अन्य विधाएँ हिन्दी साहित्य ससार के लिये सर्वथा नई वस्तुएँ थीं। पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क से साहित्य के ये नवीन द्वार भी खुले। उसकी शक्ति के अज्ञात स्रोत फूट निकले। इस प्रकार १८३३ के लगभग जब हिन्दी साहित्य ने आधुनिक काल में अपना चरण रखा था तब सबसे महत्वपूर्ण बात उसके नए जीवन के लिये गद्य युग का प्रादुर्भाव थी।

आधुनिक युग में आकर हिन्दी साहित्य ने जैसे अपना नया जन्म धारण किया। आधुनिक साहित्य का यह अभिजात रूप अपने पूर्व रूपो से अनेक बातो मे भिन्न था। वह अब अधिक साधन सम्पन्न, व्यापक और प्रगतिशील था। उसके पास नया जीवन दर्शन और नयी भाव सम्पदा थी। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, काव्य आदि साहित्य विधाओ के रूप में भाव और विचारों की अभिव्यक्ति के अनेक शक्ति साधन उसमें अभिहित थे। पर सबसे महत्वपूर्ण बात उसके लिए थी नयी युग चेतना के गुरुतर उत्तर-

दायित्व को वहन करने की, जो विजातीय सभ्यता और सस्कृति के सपर्क तथा उन्नीसवीं शताब्दी के नए ज्ञान-विज्ञान से उद्‌बुद्ध हो रही थी। फलतः साहित्य के क्षेत्र मे ऐसे युग पुरुष की अपेक्षा थी जो साहित्य की शिराओ मे इस नए जीवन दर्शन की रसधार प्रवाहित कर सके। जिसके वरद् हस्त तले आधुनिक युग का शैशव पल्लवित और पुष्पित होकर नये युग की नयी मान्यताओ, नयी भावनाओ, नये विचारो का उन्मुक्त सौरभ लोक जीवन की व्यापक भावभूमि पर बिखेर सके। जिसके अप्रतिम व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य की समस्त बिखरी शक्तियाँ संगठित होकर नवीन परिस्थितियो के बीच सुदृढ़ मार्ग का सृजन कर सकें। कहना न होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप मे ऐसा ही युग पुरुष साहित्य जगत मे अवतीर्ण हुआ, जिसने कि अपनी साहित्य साधना से इस नयी साहित्य क्रान्ति का सृजन और पोषण किया। एक ममता मई माता के समान उन्होने अपने अमित स्नेह और वात्सल्य से पूरित अपना जीवन रस मिलाकर साहित्य के विविध अङ्गो को परिपुष्ट किया। पिता बनकर नये युग के इस साहित्य शिशु को उँगली पकड़कर चलना सिखाया। गुरु के रूप मे भविष्य के लिए उसकी भावभूमि को अधिक दृढ और उज्ज्वल बनाते हुए नई भावनाओ और अवदात आदर्शों का दिव्य आलोक उसे प्रदान किया।

इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के घराने मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था। इन्हीं अमीचन्द ने धन के प्रलोभन से क्लाइव के साथ मिलकर बगाल के नबाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था। पर काम निकल जाने के बाद क्लाइब ने अमीचन्द को साफ अँगूठा बतला दिया। क्लाइब की इस धोखेबाजी ने अमीचन्द को पागल बना दिया और इस घटना के दो वर्ष पश्चात ही उनकी मृत्यु हो गई। अमीचन्द के पुत्र फतेहचन्द कलकत्ता से काशी आ बसे इन्हीं के प्रपौत्र गोपालचन्द्र के घर ९ सितम्बर १८५० को पार्वती देवी की कोख से इस विभूति ने जन्म लिया।

जीवन परिचय

पिता गोपालचन्द्र ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। प्रतिदिन पाँच भक्ति पद बनाए बिना तो वे भोजन ही नही करते थे। गिरधरदास उपनाम से वे कविता

करते थे। हिन्दी का पुराना नाटक 'नहुष' इन्होंने ही लिखा था। जब भारतेन्दु दस वर्ष की अल्पायु के बालक थे तभी इनकी मृत्यु हो गई थी। इससे पूर्व भारतेन्दु मातृ-स्नेह से भी वञ्चित हो चुके थे। तब भारतेन्दु की आयु केवल पाँच वर्ष की थी।

इस प्रकार बाल्यकाल से ही माता पिता के स्नेह से वचित हरिश्चन्द्र ने अपने जीवन मे प्रवेश किया। प्रारम्भ से ही वे बड़े प्रतिभा सम्पन्न और होन-हार बालक थे। सात वर्ष की अवस्था मे ही उन्होंने निम्न दोहे की रचनाकर अपने पिता को विस्मित कर दिया था—

लै ब्यौड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
वाणासुर के सेन को हनन लगे भगवान॥

प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा भारतेन्दु की घर पर हुई। राजा शिवप्रसाद इनके शिक्षक रहे थे। यहीं उन्होंने सस्कृत और फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त किया। पिता की मृत्यु के उपरात इन्हे क्वीस कालेज मे प्रविष्ठ कराया गया, पर स्वच्छन्द प्रकृति के हरिश्चन्द्र को कालेज की पढाई लिखाई अधिक रुचिकर नहीं हुई, फलतः कालेज का अध्ययन कुछ ही काल तक चल सका। तेरह वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री श्रीमती मन्नोदेवी से बड़े समारोह के साथ हुआ था। इससे भारतेन्दु के दो पुत्र एक पुत्री हुई। पुत्रो का बचपन मे ही निधन हो गया। पुत्री जीवित रही। जब भारतेन्दु की आयु १५ वर्ष की थी तभी उन्होंने सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की।

इस यात्रा मे भारतेन्दु का परिचय बगाल के नवोदित साहित्य से हुआ। तत्कालीन बगाल साहित्य मे अनेक नए परिवर्त्तन हो रहे थे। नवीन जीवन दर्शन से प्रसूत विविध अङ्गो का निर्माण हो रहा था। भारतेदु ने अपनी हिंदी भाषा को इस बगला के समक्ष बहुत निर्धन पाया। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया कि हिन्दी के उन्नयन के लिए महती साधना अपेक्षित है। घर आकर भारतेन्दु इसी साधना मे रत होगए। जब उनकी आयु सत्रह वर्ष की थी तब उन्होंने 'कवि वचन सुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली। पहिले तो पत्रिका कविताओ से भरी रहती थी पर बाद मे इसमे गद्य लेख भी प्रकाशित होने

लगे। सन् १८७३ मे उन्होने दूसरी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' निकाली जो कुछ काल उपरान्त 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के रूप में परिवर्त्तित होगई।

सरस्वती की अर्चना मे इस प्रकार धन लुटाते देख भारतेन्दु के भाई गोकुलचन्द्र उनसे अलग होगए। हरिश्चन्द्रजी को हिस्से मे कई गॉव, मकान, दूकानें, जमीन और खेत मिले। अब भारतेन्दु पर किसी प्रकार का बधन भी न था। वे मुक्त भाव से अपनी अतुल धनराशि को व्यय करते हुए साहित्य-सर्जना में लीन हो गए। अनेक साहित्यिक सस्थाओ, क्लबो और पुस्तकालयो को उन्होंने जन्म दिया। काशी का हरिश्चन्द्र इएटर कालेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है। इसके साथ ही साथ भारतेन्दु सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेते थे। सन् १८७२ मे खानदेश के बाढ़ पीढ़ितो के लिए उन्होने अपनी व्यक्तिगत सहायता के अलावा काशी मे घूम-घूम कर चन्दा किया था। १८८२ मे जो शिक्षा कमीशन बैठा उसके एक सदस्य भारतेन्दु भी थे।

इस बीच भारतेन्दु ने कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज, आगरा, बुलन्दशहर की यात्रा की। इन यात्राओं ने उनके अनुभव और ज्ञान को व्यापक रूप दिया। हिन्दी वर्द्धिनी सभा द्वारा निर्मंत्रित होकर वे प्रयाग आए थे जहॉ उन्होने हिन्दी की उन्नति पर अपना एक महत्वपूर्ण पद्य बद्ध भाषण दिया। सार्वजनिक कार्यों मे महत्व-पूर्ण भाग लेते हुए हरिश्चन्द्र सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ऐनी-विसेट, कर्नल आलकाट प्रभृति ख्याति प्राप्त व्यक्तियो के सपर्क मे आए। जन जीवन में वे अत्यधिक लोकप्रिय थे इसीलिए उस काल के साहित्य प्रेमियो की ओर से उन्हे भारतेदु की पदवी से सुशोभित किया गया था। वे कुछ दिन तक आनरेरी मजिस्ट्रैट भी रहे थे और बाद मे म्यूनिस्पल कमिश्नर बनाए गए थे।

जीवन के अन्तिम दिनो मे उन्होने उदयपुर बलिया आदि प्रदेशो की यात्रा की। बलिया से लौटने के उपरान्त पारवारिक चिन्ताओ, और अनन्तर कार्य भार ने उनके स्वास्थ्य को जर्जर कर दिया था। उनकी अतुल धनराशि उनके जीवन काल मे ही क्षय होगई थी। थोड़े ही दिनो मे उन पर काफी ऋण होगया था। भारतेदु का जर्जर शरीर यह सब कुछ सहन न कर सका और ६ जनवरी १८८५ को केवल मात्र ३४ वर्ष चार महीने की अवस्था मे

यह महापुरुष अपनी दिव्य प्रभा से साहित्य जगत को प्रभासित करता हुआ हमारे वीच से चला गया।

भारतेन्दु का आकर्षक व्यक्तित्व बड़ा मनो मुग्धकारी था। उनका इकहरा शरीर, लम्बा कद, गोल चेहरा, प्रशास्त ललाट और उन पर बलखाती काली कुंचित लटें, सुडौल नासिका, भरी हुई चिबुक, धनुषाकार भौहें, व्यक्तित्व की इन आकर्षक भंगिमाओ ने निश्चय ही उन्हें 'कलिकाल के कन्हैया' का रूप प्रदान किया था।

व्यक्तित्व

उनके व्यक्तित्व का बहिरङ्ग जितना सुन्दर था अन्तरंग उससे भी अधिक सौन्दर्य मयी था। उन जैसे पर दुख कातर और उदाराशय प्राणी बिरले ही होते हैं। दीन-दुखी और असहाय जनो की सहायता करने में वे सदैव तत्पर रहते थे। इसके लिए उन्होने अपनी अपार धन राशि को मुक्त हस्त से लुटाया था। उन्होने प्रतिज्ञा की थी कि इस धन ने मेरे पूर्वजो को खाया है मैं इसे खाऊँगा। इस रूप में जैसे भारतेन्दु ने अपने पूर्वजो के पाप का प्रायश्चित किया हो। निर्धन होने पर उन्हें सिर्फ यही दुख था कि अब वे दुखी-जनों की सहायता नहीं कर सकते। काशी मे भारतेन्दु के दान की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

सदैव से राज भक्त रहते आये परिवार में जन्म लेकर भी भारन्दु कट्टर देशभक्त थे। उनकी रचनाएँ इस बात की ज्वलत प्रतीक हैं। उन्होंने देश में फैली हुई निर्धनता, अशिक्षा भुखमरी को देखा था। अँग्रेजो की शोषण प्रवृत्ति उनसे छिपी न थी। अपने साहित्य में उन्होने इन सबकी खरी आलोचना की है। जो राजभक्त थे, अंग्रेजो की सेवा-चाकरी में लगे रहते थे, उनको खरी खोटी सुनाने से भी भारतेन्दु नही चूके। यह उस समय की बाते हैं जब राष्ट्रीय काग्रेस का जन्म नहीं हुआ था। अपनी देशभक्ति की प्रवृत्तियो के कारण भारतेन्दु अग्रेजी राज्य के कोप भाजन भी बने थे।

भारतेन्दु बड़े प्रगतिशील और उदार विचारो के पुरुष थे। धार्मिक अन्धविश्वासो, सामाजिक कुरीतियों और ढकोसलो से उन्हें चिढ़ थी। बचपन में ही एक बार जब इनके पिता तर्पण कर रहे थे तब भारतेन्दु ने प्रश्न किया, 'बाबूजी पानी में पानी डालने से क्या लाभ ?' भारतेन्दु की इसी प्रवृत्ति ने उन्हें सुधारक का रूप दिया। नारी स्वाधीनता, हिन्दू-मुसलिम एकता, अस्प-

श्यंता निवारण, आदि समाज सुधार विषयो के वे समर्थक थे। सामाजिक कुरीतियों का वे सदैव विरोध करते रहते थे। अन्ध-विश्वासो की आलोचना करने से उन्हें 'क्रिस्तान' की उपाधि मिली थी।

ऐसे देश भक्ति और सुधार प्रवृत्ति के भारतेन्दु बड़ी स्वच्छन्द और आत्मा भिमानी प्रकृति के पुरुष थे। उनके मनमौजी और अलमस्त स्वभाव को किसी का बन्धन स्वीकार न था। अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण वे सामाजिक ढकोसलों पर इतनी कड़ी चोटे कर सके। उनके आत्माभिमान ने उन्हें देश-भक्त बनाया। उनमें झूठे अहंकार की तनिक भी मात्रा नहीं थी। इसके विपरीत वे बड़े मिलन सार थे। जो कोई उनसे मिलता उसे वे अपना बना लेते थे। चारित्रिक दृढ़ता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। मृत्यु के समय उन्होंने अपना सारा ऋण अदा करके 'सत्य हरिश्चद्र नाटक' की "चद्र टरै......" पक्तियो को अपने लिए अक्षरशः चरितार्थ कर दिया था। यद्यपि भारतेन्दु का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था पर भारतेन्दु का जीवन सदैव हसता मुस्कराता ही बीता था। अमीराना ठाठबाट से रहना वे पसन्द करते थे। उनके समस्त जीवन में हास्य और विनोद प्रियता घुली-मिली थी। बचपन में ही वे अ धेरी गलियो में फास्फोरस के चित्र बनाकर लोगो को डराया करते थे। होली के अवसरो पर उनकी हास्य प्रियता देखने योग्य थी। 'एप्रिल फूल्सडे' पर तो उनका विनोद समस्त काशी को ही पागल बना देता था। भारतेन्दु की यह हास्य रुचि उनकी रचनाओ में खूब निखरी है।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता तो उनकी विलक्षण और बौद्धिक प्रतिभा है। अपनी इसी प्रतिभा के कारण अपने स्वाध्याय के बल पर उन्होने बीस-पच्चीस भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया था। वे इन भाषाओ मे रचना भी करते थे। स्मरण शक्ति भारतेदु की बहुत तीव्र थी। एक बार जो उनकी निगाहों के नीचे आजाता वह फिर विस्मृत नहीं होता था। अध्यवसायी वे इतने थे कि सार्वजनिक कार्यों मे प्रमुख रूप से भाग लेते हुए भी केवल दस वर्ष के साहित्यक जीवन मे इतने विशाल और व्यापक साहित्य की रचनाकर सके। डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दो मे वे 'राइटिग मशीन थे।' उनके अध्ययन का क्षेत्र बड़ा विशाल था। फारसी, सस्कृत, अङ्गरेजी, बगला

साहित्य का उन्होने विशद् अध्ययन किया था। शेक्सपीयर, कालिदास उनके प्रिय कवि थे। उनके पास एक विशाल पुस्तकालय था जिसकी कीमत एक लाख रुपए से कम न थी।

इसी कारण भारतेन्दु साहित्य के क्षेत्र मे बहुमुखी प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। वे एक साथ पत्रकार निबधकार, नाटककार आलोचक, उपन्यासकार और कवि थे। वे निश्चय ही आधुनिक युग के जन्म-दाता और पोषण कर्त्ता थे। साहित्यक नेता के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। वे साहित्यक ही नहीं थे साहित्य सङ्गठन कर्त्ता थे। उनकी प्रेरणा से अनेको ने हिन्दी भाषा की कलम पकड़ी थी। साहित्य अनुरागियो का भारतेन्दु के दरबार में सदैव जमघट लगा रहता था। उनका सम्पूर्ण जीवन जैसे साहित्य के लिए समर्पित हो गया था।

भारतेन्दु का यह व्यक्तित्व इन्द्र धनुष की भाति विविधता लिये हुए था। वे अपने सभी रूपो मे महान थे। देश समाज और साहित्य के लिये उन्होने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पित कर दिया था। वे इसी के लिये जिए और इसके लिए उनका सम्पूर्ण जीवन इसी त्याग की निर्धूम शिखा का ज्योतिर्मान स्वरूप है। दस बर्षो मे ही उन्होने जो कुछ कर दिखलाया वह विश्व के बौद्धिक क्षेत्र के लिए ईर्ष्या का विषय है। इसीलिए उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की, यदि ईश्वर की भाति अभिनन्दना की जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। जैसा कि भारन्दु के समकालीन लेखक राधाचरण गोस्वामी का कथन है उनके लेख ग्रन्थ हमको वेदवाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामो में वे आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिये आदर्श थी।

भारतेन्दु की रचनाएँ बड़े विशाल परिमाण में हैं। साहित्य, धर्म, इतिहास आदि वाङ्गमय पर लिखे गए उनके ग्रन्थो की सख्या लगभग दो सौ अड़तीस है। साहित्य सृजन की वास्तव मे भारतेन्दु में अद्भुत क्षमता थी, और साहित्य के सभी क्षेत्रो में अपनी रचनाओ का प्रणयन कर हिन्दी भाषा को अन्य समृद्ध शाली भाषाओ के बीच गौरव पूर्ण पद पर अभिषिक्त करने की

रचनाएं

उन्होने अपूर्व चेष्टा की। भारतेन्दु की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं:—

नाटक—भारतेन्दु की सबसे महत्वपूर्ण देन उनका नाट्य साहित्य है। उनके मौलिक नाटको की संख्या नौ है (१) सत्य हरिश्चन्द्र। (२) चन्द्रावली। (३) भारत दुर्दशा। (४) नीलदेवी। (५) अंधेर नगरी (६) वैदिकी हिसा-हिसा न भवति। (७) विषस्य विषमौषधम्। (८) सती प्रताप। (९) प्रेम योगिनी।

उनके अनूदित नाटक आठ हैं। सस्कृत से अनुवादित मुद्राराक्षस, धनजय विजय, रत्नावली नाटिका प्राकृत भाषा से कर्पूर मजरी, बंगला से विद्या सुन्दर, भारत जननी, पाखण्ड बिडम्बन, अ ग्रेजी से शेक्सपीयर के प्रसिद्ध उपन्यास (Merchant of venice) का अनुवाद दुर्लभ बन्धु नाम से किया है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने 'नवमल्लिका' और 'मृच्छकटिक' नाटकों की रचना का भी प्रयास किया था किन्तु वे अपूर्ण रचना ही रहीं।

कथा साहित्य—भारतेन्दु हरिचन्द्र नाटककार ही नहीं हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार भी थे। उनका 'पूर्ण प्रकाश चन्द्र प्रभा' हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'रामलीला', 'हमीर हठ' राजसिह, एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती', 'सुलोचना, मदालसोपाख्यान, शीलवती, सावित्री चरित, इस क्षेत्र में उनकी अन्य कृतियाँ हैं।

निबन्ध—अपने उत्कृष्ट निबन्धो द्वारा भारतेन्दु ने हिन्दी की निबध परम्परा को भी जन्म दिया था। उन्होने राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्य तथा सम-सामयिक विषयो पर उत्कृष्ट निबन्धो की रचना की थी। इङ्गलैंड और भारतवर्ष, 'भारतवर्ष के सुधार के क्या उपाय हैं' हम मूर्त्ति पूजक है, वैष्णवता और भारतवर्ष, स्वर्ग मे विचार सभा, सबै जाति गोपाल की, बसन्त पूजा, पाँचवें पैगम्बर, मित्रता, खुशी, अपव्यय, सूर्योदय आदि उनके प्रसिद्ध निबध हैं। जयदेव, सूर, बंग भाषा कविता और नाटक विषय पर निबन्ध लिखकर भारतेन्दु ने हिन्दी के आलोचना साहित्य को भी जन्म दिया है।

पत्र-पत्रिकाएँ—भारतेन्दु सफल पत्रकार भी थे। इन पत्र-पत्रिकाओ ने हिन्दी भाषा के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योग दान दिया है। भारतेन्दू द्वारा

सपादित कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र चंद्रिका, बाल-बोधिनी, पत्र-पत्रिकाएँ उल्लेखनीय है।

इतिहास—साहित्य विषय में ही नहीं ज्ञान के अन्य क्षेत्र मे भी भारतेन्दु की प्रतिभा कितनी गहरी थी यह उनके ऐतिहासिक ग्रन्थो से विदित है। रामायण का समय, दिल्ली दरबार दर्पण, काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास उनकी कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृतियाँ हैं।

काव्य—उनका साहित्य साधना का बहुत बड़ा अ श उनकी काव्य कृतियो मे निहित है। भारतेन्दु कृत काव्य रचनाओ की सख्या लगभग ६० है। भक्त-सर्वस्व तन्मय लीला, दान लीला, प्रेम तरङ्ग, प्रेम-प्रलाप, रास-सग्रह, कृष्ण चरित्र उनके भक्ति सबन्धी काव्य है। सतसई सृंगार, प्रेम माधुरी, होली मधु मुकुल उनकी शृ गार प्रधान रचनाएँ है। भारत वीरत्व विजय की विजय-वैजयती, सुमनाजलि, उनकी राष्ट्रीय कविताओ का संग्रह है। बन्दर सभा, बकरी का विलाप हास्य-व्यंग प्रधान काव्य कृतिया हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपनी रचनाओ द्वारा साहित्य के सभी अगो को परिपुष्ट बनाया है।

भारतेन्दु की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनकी साहित्य साधना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। रीतिकालीन ह्रासोन्मुख साहित्यक परम्परा के निस्तेज और

साहित्य साधना

निष्प्राण जीवन दर्शन को अधिक प्राणवान बनाने और उसमे चतुर्दिक विकास के लिए ऐसे भव्य अनुष्ठान की आवश्यकता भी थी। भारतेन्दु के समय हिन्दी साहित्य की अवस्था बड़ी दयनीय थी। जनता से उसका सम्बन्ध टूट चुका था। फलतः भारतेन्दु के समय लोकजीवन मे जो नई हलचल होरही थी उसको स्वर देने में ऐसा साहित्य सर्वथा असमर्थ था। भारतेन्दु ने पहली बार इस दृष्टि से उसे सक्षम बनाया। उन्होंने कविता के रूप को परिष्कृत कर उसे अधिक चेतना, अधिक प्राणवान, अधिक प्रगतिशील बनाया। नाटक, उपन्यास निबंध, आदि साहित्य शक्तियों का शिलान्यास किया। उनकी इस समस्त साहित्य साधना का मूल प्रेरक स्वर भारत का नवोत्थान, भावी भारतीय स्वाधीनता संग्राम के लिए जन-जागरण और नवीन जनवा.ी सस्कृति का

निर्माण था । अपनी पुरातन सस्कृति से प्रेरणा की शक्ति लेकर उन्होने भविष्य के लिए मार्ग स्थिर किया और स्वय उसके पथ-प्रदर्शक बने । जब उन्होने यह भव्य अनुष्ठान प्रारम्भ किया था तब वे अकेले थे । जिस साहित्य के मार्ग पर वे चले थे उस पर उनके ही चरण चिन्ह पहली बार अंकित हुये थे । फलतः साहित्य स्रष्टा के रूप मे भारतेन्दु सर्वथा मौलिक थे । उन्होने जो कुछ हमे दिया वह उनके स्वतन्त्र्य चिन्तन का फल था । उनकी इस साहित्य साधना ने हिन्दी भाषा के इतिहास मे नए युग को जन्म दिया जो भारतेन्दु काल से विख्यात है ।

भारतेन्दु कवि और लेखक दोनो ही रूपो में हमारे सामने आते हैं । दोनो ही क्षेत्रो ने उनका व्यक्तित्व बहुत महान है । वे हिन्दी गद्य साहित्य के जन्म दाता कहे जाते हैं ।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी गद्य साहित्य मे रचनाएँ तो होती थीं पर वे प्रयोग मात्र ही थी । उन्हे निश्चित और स्थिर रूप नहीं प्राप्त हुआ था । उत्कृष्ट गद्य रचनाओं का तो हिन्दी में अभाव ही था । उनकी पहुँच जनता तक न थी । दूसरे शब्दो में हिन्दी का यह अङ्ग अपना मार्ग बनाने के लिए कुछ-कुछ क्रियाशील तो था पर मार्ग में चलने के लिये न तो उसमें गति ही थी और न उचित पथ-प्रदर्शन ही उसे प्राप्त था । भारतेन्दु ने अपनी पत्रकार कला और निबन्ध रचनाओ द्वारा उसे यह गति और पथ-प्रदर्शन दिया । इस प्रकार हिन्दी साहित्य के व्यापक अभाव को उन्होने दूर किया । उनकी कवि वचन सुधा और हरिश्चन्द्र मेगजीन परवर्त्ती पत्रकारो के लिये आदर्श बनी । उन्होने पत्रकार कला मे ही नहीं वरन् उन्होने देश के साहित्यिक और सास्कृतिक जागरण को वाणी दी । हरिश्चद्रपत्रिका से साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति, पुरातत्व, आलोचना, नाटक, कविता, हास्य, विनोद सभी विषय सबधित थे । इन समस्त साहित्यिक और सास्कृतिक पद्धतियो को एक ही जगह केन्द्रित करने की पद्धति का जो रूप इस पत्रिका ने चलाया उसका अनुकरण बाद के अधिकाश हिन्दी पत्रो ने किया । भारतेन्दु की पत्रकार कला का कितना मान था बालमुकुन्द गुप्त के ही शब्दो में देखिए "यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय

निबन्ध और पत्रकार

बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित लेखो ने लोगो के जी मे ऐसी जगह कर ली थी कि 'कवि वचन सुधा' के हर नम्बर के लिये लोगो को टकटकी लगाए रहना पड़ता था।"

भारतेन्दु की पत्रकार कला ने उनके निबन्ध साहित्य को जन्म दिया। उनकी यह निबन्ध कला अँग्रेजी साहित्य की नकल नहीं थी। वह उनकी अपनी चीज थी। उसमे अँग्रेजी निबन्धकारो की भाति रोमाटिक तत्वो की प्रधानता न होकर देश की सम-सामयिक राजनैतिक और सामाजिक बिषयो पर बड़े चुटीले व्यंग्य थे। डा० रामबिलास शर्मा के शब्दो में" सामाजिक संघर्ष से बचकर काल्पनिक समाधान ढूँढ़ने के लिए तो ये निबन्ध लिखे ही नहीं गए। व्यग और हास्य इनके प्राण हैं। देश की उन्नति इनका उद्देश्य है। लेखक की जिन्दादिली, भविष्य में विश्वास और देश प्रेम की इन पर छाप हैं। हिन्दी में श्लेष पैदा करने की खूबी से यहाँ भरपूर फायदा उठाया गया है। पाठक से बातचीत करने की सी सरलता और मित्रता का भाव इनमें झलकता है। साथ ही गभीर मुद्रावालो के लिये "हरीचद नगद दमाद अभिमानी के" वाली चुनौती भी शब्दो की ओट से दिखाई दे जाती है। कल्पना को जहाँ मुक्त आकाश में पख फैलाने की सुविधा है, भाषा रस और अलकार लेखक के पीछे हाथ बाधकर चलते है। ××× ×इस निबन्ध कला पर हम उचित गर्व कर सकते हैं। इस कला में यथार्थ वाद का रग है, कल्पना की उड़ान है, करुणा का स्वर है, तीखा व्यग और ठेठ कटुक्तियाँ भी हैं, भारतेन्दु के निबध मानो हिन्दी जनता के चरित्र की सभी खूबियों के सबसे अच्छे चित्र हैं।" इसमे सदेह नहीं कि भारतेन्दु के निबन्ध साहित्य ने हिन्दी साहित्य के स्तर को ऊँचा उठाने, हिन्दी भाषा को अधिक व्यापक और जनप्रिय बनाने में अपूर्व योगदान दिया है। भारतेन्दु के ही निबधो से प्रेरणा प्राप्त कर बालकृष्ण भट्ट प्रताप, नारायण मिश्र, बालमुकुद गुप्त, राधाचरण गोस्वामी के हाथों हिदी के निबध साहित्य का विकास हुआ।

"पूर्ण प्रकाश चन्द्र प्रभा 'भारतेन्दु का अपूर्ण नहीं पूर्ण उपन्यास है। तिलिस्म की भूल-भुलैयों से आवृत जनता के सस्ते मनोरजन के लिए न होकर यह उपन्यास सामाजिक है जिसका कथानक विवाह जैसी

उपन्यासकार और आलोचक

सामाजिक समस्या को लेकर चला है। उपन्यास की नायिका चन्द्रप्रभा अपने जिस प्रेमी पूर्ण प्रकाश से विवाह करना चाहती है वह सर्व गुण सम्पन्न होते हुए भी कुलीन नही है। फलतः नायिका के पिता उसका विवाह ढूंढ़िराज जैसे रोगी और वृद्ध से करने को प्रस्तुत हो जाते हैं जिसकी पहले ही बारह शादियां हो चुकी हैं। विवाह का कारण यह है कि ढूंढ़िराज कुलीन है और दहेज कम लेगा। पर माता के प्रयत्न से उसका विवाह अपने प्रेमी से हो जाता है और ढूंढ़िराज हाथ मलता रह जाता है। इस प्रकार हिन्दी का यह पहला उपन्यास समाज-सुधार के पुनीत आदर्श को लेकर चला है उसमे दहेज और कुलीनता और वृद्ध विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियो पर करारी चोटे हैं तथा विवाह जैसी महत्व-पूर्ण समस्या का समाधान है। उसमे हमारे लिए एक नया नन्देश हैं। "पूर्ण प्रकाशचद्र प्रभा हिन्दी के यथार्थवादी कथा साहित्य की पहली कडी है। वह प्रेमचन्द के अभ्युदय से पहले की प्रत्यूषवेला है। उसका महत्व कथा साहित्य ही नहीं, समूची भारतीय सस्कृति के लिए है।" (डा० रामविलास शर्मा)

भारतेन्दु उपन्यासकार ही नही आलोचक भी है यह उनके 'नाटक' नामक निबध से सर्वथा स्पष्ट है। नाट्यशास्त्र पर अब तक लिखे गए हिन्दी निबधो में इसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण हैं। क्योकि यह भारतेन्दु के नाट्यकला सबंधी विशद् अध्ययन का ही प्रसाद नहीं है वरन् 'नाटक' सम्बन्धी उनके स्वय का अनुभव भी उसमें घुल मिल गया है। इसके साथ ही साथ हिन्दी मे व्यग-पूर्ण समालोचनाओ को जन्म देने वाले भी भारतेन्दु ही हैं। 'नाटक' निबन्ध मे अनुवादों के भद्दे रूप पर लिखते हुए उन्होने जिस व्यगपूर्ण शैली को अपनाया है वह इस बात को स्पष्ट करती है।

भारतेन्दु के गद्य साहित्य का सबसे भव्य रूप हमे उनके नाटको मे मिलता है। वे हिन्दी नाट्य साहित्य के शिलान्यासकार हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा अपने वास्तविक रूप मे उनसे ही प्रारम्भ होती हैं। अपने मौलिक अनूदित और रूपातरित नाटकों का प्रणयन कर जहाॅ उन्होने एक ओर हिन्दी मे स्वतत्र

नाटककार

नाट्यकला का निर्माण किया है वहाँ परवर्त्ती नाट्य साधना का उचित पथ प्रदर्शन भी किया है।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी मे नाटक थे ही नहीं जब कि बगला आदि अन्य प्रातीय भाषाओ मे उच्च कोटि के नाट्यसाहित्य का निर्माण हो रहा था। पारसी नाटक कम्पनियो ने हिन्दी रगमच की बड़ी दुर्दशा कर रखी थी। सभ्य और शिक्षित जनसमाज मे इनके द्वारा अभिनीत नाटक निकृष्ट समझे जाते थे। भारतेन्दु इसे सहन नही कर सके। अपने नाटको द्वारा हिन्दी रगमंच के सास्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने की अभिलाषा उनमे बलवती हुई। उन्होने अंग्रेजी रगमंच से अभिनीत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अंग्रेजी रूपातर देखा था। बगला के कई नाटको से भी वे परिचित हुए। तत्कालीन युग की परिस्थितियो ने भी भारतेन्दु को नाट्य साहित्य के निर्माण की ओर प्रेरित किया। क्योकि जनता के वास्तविक स्वरूप को नाटकीय पात्रो के माध्यम से उनकी आँखो के सामने रखना इन सब बातो से प्रभावित होकर भारतेन्दु ने हिन्दी में स्वतत्र नाट्यसाहित्य के निर्माण का बीडा उठाया। इससे पूर्व उन्होने सस्कृत और पाश्चात्य नाट्य-शैली का विशद् अध्ययन किया और उनसे सार ग्रहण कर नाट्यकला के सम्बन्ध मे अपने स्वतत्र सिद्धान्त स्थिर किए। उनके 'नाटक' सम्बन्धी निबध से यह बात भली भाँति स्पष्ट है। उन्होंने न तो सस्कृत नाट्यशैली का अधानुकरण किया और न बॅगला नाटककारो की भाँति पश्चिम के नाट्य-सिद्धांतों का ही पालन किया। वे समन्वयात्मक बुद्धि लेकर अवतरित हुए। उन्होने अपने युग अपनी परिस्थितियो के अनुरूप अपनी नाट्य-शैली के स्वरूप को गढ़ा। उन्होने भारतीय नाट्यशास्त्र के अनेक अप्रचलित और अप्रयुक्त नियमो का परित्याग कर दिया। जैसे विष्कंभक, प्रवेशक, अङ्कावतार अङ्क मुख आदि। पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के अनुकरण पर उन्होंने दुखात नाटक भी लिखे। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार रगमंच पर युद्ध हत्या, सैन्य सचालन, आलिगन चुम्बन आदि दृश्यों का विधान वर्जित है, पर भारतेन्दु ने अपने अनेक नाटकों मे स्पष्ट रूप से इन नियमो की अवहेलना की है। फिर भी भारतेन्दु द्वारा प्रणीत नाट्यकला के सम्बन्ध मे यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उनकी रचना शैली मे बाह्यरूप से तो परिवर्त्तन हुए पर

उसकी आत्मा भारतीय ही बनी रही। क्योकि अन्तंद्वंद जो पाश्चात्य नाट्य-शैली का मुख्य तत्व है, ये नाटक ग्रहण न कर सके। इसके अतिरिक्त इन नाटको मे रस और आदर्श पात्रो के निर्माण को प्रधानता दी गई जो सस्कृत नाटको के मूल आधार हैं। संक्षेप मे भारतेन्दु के नाटको की रचना पद्धति के सम्बन्ध मे हम इतना कह सकते हैं कि वह प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं और नवीन होते हुए भी प्राचीन है।

कथावस्तु—यहा भारतेन्दु की नाट्य-शैली के मुख्य अगो पर विचार करना उचित ही होगा। कथावस्तु के कथन मे भारतेन्दु के व्यक्तिगत जीवन की छाया है। उनकी भक्ति, प्रेम, देश भक्ति और समाज सुधार की भावनाएँ बड़ी स्पष्टता के साथ उसमे मुखरित हुई हैं। इसके लिए भारतेन्दु ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय कथानक चुने हे और अपने इस चुनाव मे उन्होने मौलिकता प्रदर्शितकी है। पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानो को अपनी कल्पना के योग से उन्होने नवीन रूप दिया है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' चन्द्रावली, और नीलदेवी नाटक इसके उदाहरण हैं। इन नाटको मे भारतेन्दु ने अपनी कल्पना शक्ति के बल पर ही नई परिस्थिति, बातावरण और पात्रो का निर्माण किया है। देशभक्ति और समाजसुधार के लिए उन्होने प्रायः प्रतीकात्मक कथानक अपनाए है। प्रतीको की ओट से उन्होने अग्रेज भक्तो, देश-द्रोहियो, पाखडियो धर्म ढोगियो पर करारी चोटे की हैं। भारत दुर्दशा, उनका प्रतीकात्मक नाटक है।

कथावस्तु मे भारतेन्दु ने निश्चय ही बडा व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। कथानको के कथन मे उनकी दृष्टि देशभक्त देशद्रोही शिक्षित-अशिक्षित निर्धन-अमीर, पुराण-इतिहास, धर्म-राजनीति-समाज, आदि सभी क्षेत्रो की ओर गई है। उनके सभी कथानक बड़े सरस प्रभावपूर्ण और मनोरंजक हैं। कथावस्तु में कही भी दुरूहता नही हैं। प्रसाद की भाँति प्रासगिक कथावस्तु और घटना आधिक्य से कथानक जटिल नहीं बनने पाया। कथानक सीधे-सादे ढंग से अङ्को, दृश्यो, गर्भाको से गुजरता हुआ फलागम तक पहुँचता है। कथानक की परिस्थितियो मे बाह्य द्वंद का अभाव है। फिर भी घटना चक्र में

कही शैथिल्य नही है। नाटककार ने सर्वत्र कथानक मे ही रोचकता को बनाए रखा है।

चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु ने अपने पात्रो की योजना सभी वर्गो से की है। यद्यपि मुख्य पात्र उच्चवर्ग जैसे राजवश या समाज के शिक्षित अथवा प्रतिष्ठित वर्ग से सबध रखते हैं। पात्रो मे नायक नायिका का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहता है। वे प्रारम्भ से ही असाधारण और ऊँचे उठे हुए होते है। घटना चक्र के अनुसार उनके आदर्श चरित्र मे विकास नहीं होता। वे एक से ही रहते हैं। नाटको के अन्य पात्रों के विषय मे भी यही बात है। वे नाटक के प्रारम्भ मे अपने जिस चरित्र को प्रगट करते हैं, अत तक वैसे ही बने रहते हैं। उनके चरित्र मे परिवर्तन नही होना। फलतः नाटको की चरित्र-चित्रण योजना मे बहिद्वद और अन्तर्द्वन्द का अभाव है। इसके अतिरिक्त पात्रो का चरित्र बहुमुखीन होकर एकाकी है। वे एक निश्चित आदर्शो या विशिष्ट वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते है। जिन निश्चित आदर्शो पर वे नाटक के प्रारम्भ में कदम रखते हैं अन्त तक उन्हीं पर चलते हैं। इस प्रकार पात्रो का पूर्ण व्यक्तित्व नहीं उभर पाता। चरित्र-चित्रण की शैली मे भारतेन्दु ने पूर्ण रूप से सस्कृत नाट्यशैली का अनुकरण किया है।

कथोपकथन—भारतेन्दु के नाटको मे कथोपकथन बड़े सजीव और सफल बन पड़े हैं। वे कथानक को नाटकीय और गतिशील बनाने, पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ के प्रगट करने, उनके मनोवेगो और भावो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे सर्वथा समर्थ हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है भारतेन्दु के सभी पात्र विशिष्ट वर्गो का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उनका कथोपकथन भी उन्हीं विशिष्ट आदर्शो और वर्गगत भावनाओ के अनुरूप होता है। सभी पात्र अपने वर्ग की मर्यादा के अनुकूल बात करते हैं। पागल पात्र पागलो का सा ही प्रलाप करता है और पण्डित ज्ञान की बाते करता है। सत्य तो यह है कि भारतेन्दु स्वय बातचीत की कला मे निपुण थे। सभी वर्ग के व्यक्तियों से वे परिचित थे। इसीलिए उनके कथोपकथनों का सजीव और प्रभावपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। भारतेन्दु के ये कथोपकथन प्रायः दो तीन पात्रो तक ही सीमित रहते हैं। कथोपकथन के अतिरिक्त वे स्वगत कथन तथा व्याख्या-

त्मक और विश्लेषणात्मक वर्णन का भी आश्रय लेते हैं ।

देशकाल योजना—भारतेन्दु के नाटको ने अपने युग का सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया है । उनके युग की सभी समस्याओ को उनके नाटको मे वाणी मिली है । देश की तत्कालीन, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक अवस्था के वह सजीव चित्र भारतेन्दु ने अकित किए हैं । तत्कालीन जीवन के सुख दुःख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन और भावी आकाक्षाए सभी उनके नाटको में साकार हो उठी है । वैदिकी हिसा-हिसा न भवति, विषस्य विषमौषधम, भारत जननी, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी इस दृष्टि से उनके महत्वपूर्ण नाटक हैं । अपने चारो ओर के जीवन को वे अपने इन नाटको मे समेट कर चले हैं और तत्कालीन युग का कोई पहलू उनकी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि से बचा नहीं है । सत्य तो यह है कि उनकी रचनाओ के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास सहज ही लिखा जा सकता है । उन्होने तत्कालीन आचार विचार और वेशभूषा का भी चित्रण किया है । कहीं-कहीं उनकी रचनाओ मे कालगत दोष आ गए हैं । जैसे कि सत्य हरिश्चन्द्र के काल मे गगा वर्णन करना जब कि गगा राजा हरिश्चन्द्र के बहुत काल उपरात काशी मे प्रगट हुई थी । इसी प्रकार प्राचीन पात्रो को आधुनिक वेशभूषा मे चित्रित किया है ।

अभिनय—भारतेन्दु को अभिनय से बड़ा प्रेम था और वे स्वय कुशल अभिनेता थे । इसलिए यह स्वाभाविक था कि भारतेन्दु अपने नाटको को अभिनेय बनाते । इनके रगमच का सास्कृतिक स्तर बहुत नीचा था । उनके नाटक शिष्ट समाज मे अभिनेय योग्य न थे । अपने नाटको द्वारा भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमच का पुनर्द्धार किया । उन्होने ऐसे नाटकों की रचना की जो शिष्ट समाज में अभिनीत हो सके । दुख है कि उनके जीवनकाल मे उनके समस्त नाटकों का अभिनय न हो सका, जिससे कि वे अपनी अभिनय कला की त्रुटियो से पूर्णतः परिचित न बन सके । इसीलिए भारतेन्दु के नाटको मे अभिनय सम्बन्धी गुणो के साथ दोष भी पाए जाते हैं । फिर भी नाटको के कार्य व्यापारो के अधिक व्यापक न न होने से, पात्रो के अधिक जमघट और भीड़-भाड़ न होने से, दृश्यो में अद्भुत और विलक्षण बातो के अभाव से,

क्लिष्ट और अव्यावहारिक भाषा के बचाव से उनके नाटक थोड़ी काट-छाट के पश्चात सरलतापूर्व शिष्ट रगमच पर अभिनीत हो सकते हैं।

रस—इस योजना की दृष्टि से भी भारतेन्दु सफल नाटकार हैं। उनके नाटको मे नवरसो का तो सुन्दर विधान है ही इसके अतिरिक्त उन्होने भक्ति-प्रेम, सख्य वात्सल्य और आनद इन चार रसो की अवतारणा की है और अपने नाटको मे इन रसो का सुन्दर परिपाक किया है। हास्य रस उनकी सभी रचनाओ में खूब निखरा है।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाटक हमारे सास्कृतिक जीवन की अमूल्य धरोहर हैं। उसमे पुरातन की प्रेरणा, वर्तमान का सघर्ष और भविष्य का सुखद सदेश है। नाटको के माध्यम से उन्होने हमारी बिखरी हुई शक्तियो और कविताओ को सगठित किया है। उनके सभी नाटक राष्ट्र के नवोत्थान की व्यापक आधार भूमि लिए हुए हैं। उस आधार भूमि का हमारे सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

काव्य साधना

भारतेन्दु से पूर्ववर्त्ती काव्य साहित्य सन्तो की कुटिया से निकलकर राज-दरबारों मे पहुँच गया था। उसकी गति कुण्ठित हो गई थी और लोक जीवन से उसका संबन्ध विच्छेद हो गया था। भारतेन्दु ने हिन्दी काव्य को उसकी इस अधोगति से उबारा। उन्होने जहा एक ओर काव्य को भक्ति की पावन सुधा से अनुरजित किया दूसरी ओर उन्होने काव्य को हमारे जीवन के समक्ष ला खड़ा किया। काव्य के क्षेत्र मे उन्होने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। अपनी काव्य साधना मे जहाँ उन्होने एक ओर पुरानी परम्पराओ को ग्रहण किया वहीं दूसरी ओर नवीन परम्पराओ को भी जन्म दिया। एक ओर सूर, कबीर, मीरा, देव, पद्माकर, आदि प्राचीन भक्त और रीतिकालीन कवियों की पंक्ति मे बैठकर ललित पद और मुक्तक छन्दो का सृजन किया वहीं दूसरी ओर लोक कवियो का सहगामी बन लावनी और मुकरियाँ लिखी है। रोमांटिक कविताओ के साथ-साथ सामाजिक उन्नति और देशभक्ति की रचनाए प्रस्तुत की। उर्दू शैली पर जहा गजले लिखी वहीं ब्रजभाषा खड़ीबोली आदि के

नवीन-नवीन छन्दो में विविध प्रकार की कविताओ को हमारे सामने रखा। इस प्रकार भारतेन्दु के काव्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत विविधता लिए हुए है। हम उनकी समस्त रचनाओं का विभाजन मोटे तौर पर निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

मध्ययुगीन भक्ति प्रधान रचनाएं—भारतेन्दु व्यक्तिगत रूप से उसी बल्लभ समुदाय के अनुयायी हैं जिसमे सूर आदि अष्टछाप के कवि दीक्षित हुए थे। इस प्रकार भारतेन्दु की भक्ति पुष्टिमार्गीय है। फलतः भारतेन्दु का भाव क्षेत्र वही है जो सूर नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियो का है। राधा और कृष्ण की अनन्त भक्ति के रूप मे उन्होने इन्हीं भक्त कवियो के आदर्श को अपनाया है। इन भक्त कवियो की भॉति उनकी भी यही अभिलाषा थी—

ब्रज के लता-पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पायन की रज जामै सिर भीजै॥

उनकी इन भक्ति प्रधान रचनाओ मे विनय, बाललीला, सख्य, और दाम्पत्य प्रेम से सम्बन्धित सभी प्रकार के पद मिलते हैं। सूर ने जहॉ केवल कृष्ण की बाललीला को अपने काव्य का आधार बनाया है भारतेन्दु ने वहॉ राधारानी के बाल्यकाल को अपने पदो में चित्रित किया है। राधा कृष्ण के प्रेम, मान, विरह, विरह की समस्त दिशाए और इष्टदेव कृष्ण के प्रति दैन्य से भरा अपना आत्म निवेदन इन सभी भाव भगिमाओ से भारतेन्दु का भक्ति काव्य सजोया हुआ है। अपने इन गीतो मे भारतेन्दु सूर से बहुत अधिक प्रभावित है। भारतेन्दु के अनेक पद सूर के पदो के साथ बिठाए जा सकते हैं। उनमें बहुत कुछ भाव और शैलीगत साम्य है। आत्म निवेदन मे भारतेन्दु का जो अक्खड़ रूप देखने को मिलता है उस पर बहुत कुछ सूर की ही छाया है।

उनकी भक्ति पद्धति मे कही-कहीं सूफियो का स्वर भी सुनाई पड़ता है और कहीं उन्होने कबीर आदि सत कवियो की भाति प्रेमोन्माद के गीत गाए हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु सम्प्रदाय गत होते हुए भी किसी नियम या बंधन से परे थे। उनकी भक्ति रसधारा स्वच्छद रूप से गतिशील हुई है।

भारतेन्दु के इन भक्ति सम्बन्धी पदो मे शुद्ध गीतशैली के सभी तत्व पाए जाते हैं। वैयक्तिकता की अभिव्यजना ने उन्हें बड़ा उत्कृष्ट रूप प्रदान किया है। कही-कही तो ये रचनाए लोक गीतो का रूप ले बैठी हैं। सब कुछ मिलाकर भारतेन्दु का भक्ति काव्य बड़ा पुष्ट है। उन्होने पुनः एक बार रीतकालीन कलुष वासना की बालुका से दबी कृष्ण भक्ति काव्य की अतः सलिला को जीवित किया है। इस क्षेत्र मे उन्होने परम्पराओ का पालन नहीं किया वरन् अनन्य वैष्णव होने के नाते राधा कृष्ण के प्रति अपनी आसक्ति के भावो को इन पदो मे उड़ेल दिया है।

रीतिकालीन शृङ्गार प्रधान रचनाएं—भक्त होने के साथ साथ भारतेन्दु रसिक भी थे, फलतः रीतिकाल के अनुकरण पर उन्होने कवित्त और सवैयो मे शृ गारिक रचनाए की थीं। पर ये कवित्त और सवैये किसी परम्परा के फलन न होकर कवि की अनुभूति से भरे हुए है। उनमे जड़ता न होकर प्राणो का स्पदन है। रीतिकालीन स्वच्छन्दप्रेम मार्गीय कवि घनानन्द, बोधा, ठाकुर की भाति उसमे शब्दो का क्रीड़ाकौतुक न होकर हृदय की गूढ़ अन्तर्दशाओ का उद्घाटन है। इन पक्तियो मे हृदय की कैसी रसाद्रता, भाव-विह्वलता और अनुभूति की तीव्रता है—

> **देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तोहि यातें,**
> **जौन जौन लोक जे है तहीं पछतायगे।**
> **बिना प्रान प्यारे, भए दरस तिहारे हाय,**
> **देखि लीजो आंखे ये खुली ही रह जायगी।**

इसी खुली ही 'रहि जायगी' मे कैसी लाक्षणिक वक्रता है, जैसे घनानंद का कवि अपनी पूरी प्रतिभा के साथ इसमे उतर आया हो।

इन कविताओ का मुख्य आधार राधा कृष्ण प्रेम वर्णन है, पर यहाँ राधा कृष्ण स्मरण के बहाने मात्र नहीं है, वरन् राधा कृष्ण के प्रति कवि की अनन्य भक्ति को ही स्वर प्रदान करते हुए इस प्रेम की व्यजना हुई है। राधा कृष्ण की ओट मे रीतिकालीन कवियों की भाति कुत्सित मनोवृत्तियों के प्रकाशन का ध्येय उनका न था, वरन् जिस राधारानी के गुलाम थे और जिस कृष्ण के वे सखा थे उनके स्वाभाविक प्रेम की व्यजना में उन्हो ने

अपनी अनुभूति के स्वर मिलाए थे। इसलिए भारतेन्दु का यह काव्य रीतिकाल का पिष्टपेषण मात्र नहीं है। उसमे नवीनता सजीवता और मौलिकता है।

नए युग की देश-भक्ति और समाज सुधारप्रधान रचनाएँ—सेठ अमीचंद के राज भक्त घराने में जन्म लेकर भारतेन्दु ने देशभक्ति का बाना धारण किया था। उनकी आँखो के सामने अँग्रेज उनके प्यारे देश को लूट रहे थे। उनकी शिक्षा दीक्षा भारतीय बुद्धिजीवियो को मानसिक गुलाम बना रही थी। उनकी कुटिल नीति हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य की दरारे डालकर राष्ट्रीय जीवन की जड़ो को गुलाम बना रही थी। बड़े-बड़े राजा रईस और नबाब राजभक्त बनकर अग्रेजी शासन को मजबूत बना रहे थे। यह सब होते हुए भी भारतीय जीवन बड़ी अधोगति दशा में था। सन् १८५७ की असफल जन-क्राति ने एक व्यापक भय, आतक और निराशा के बीज जन-मानस में बो दिये थे। राष्ट्र की शिराओ मे न स्फूर्ति थी न चेतना। ऊँचे उठने का उत्साह भारतवासी खो चुके थे। अनेक कुरीतियो, रूढ़ियो और बुराइयो ने उनके पाँवो को जकड़ रखा था।

भारतेन्दु यह सब कुछ देखकर शात न रह सके। अंग्रेजो की शोषण नीति का पर्दाफाश करने के लिये, राजभक्तो की स्वार्थ लोलुपता की भर्त्सना के लिये भारत के प्राणो मे नए जीवन का सचार करने के लिये, देश की सुप्त चेतना को जगाने के लिये राष्ट्र के जन-मानस में आशा और विश्वास का आलोक देने के लिये, कुरीतियो, रूढ़ियो और बुराइयो के विध्वश के लिये वे कटिवद्ध हो गए। अपनी साहित्य साधना द्वारा उन्होने इस जन-क्रात का आवाहन किया। देश प्रेम और देश के नवोत्थान की अजस्त्र-धारा उनके हृदय से फूट पड़ी। साहित्य इसका माध्यम बना और इसका सबसे स्पष्ट स्वर उनके काव्य में मुखरित हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु का यह नवीनोन्मुखी काव्य देश के नव-जागरण नव आकाक्षाओ और नव-चेतना की भाव सपदा को लेकर चला।

भारत की तत्कालीन अवस्था का यथार्थ चित्र खीचते हुए कवि कहता है—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।।
ताहू पै महंगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईसा देत हा हारी।।
रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारत की इस दुर्दशा के लिये कवि ने आसू ही नही गिराए उसने देश-वासियो को कर्मठता, उत्साह और जागरण का मत्र दिया—

लहौ सुख सब विधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखो तजि आलस की फांसी।।
अपनो देश धरम कुल समझहु छोड़ि वृत्ति निजदासी।

इसी प्रकार सामाजिक दोषो पर कबीर की भाति भारतेन्दु ने कटु प्रहार किये हैं। ऐसा ही एक उदाहरण है—

जाति अनेक करी नीच और ऊँच बतायो।
खानपान संबन्ध सबनि सो बरजि छुड़ायो।।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल धीरज मारयो
विधवा विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।।

इस रूप में भारतेन्दु कवि ही नहीं समाज सुधारक भी थे।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने लोक साहित्य का भी सृजन किया है। उन्होंने खयाल, लावनी, ठुमरी, और नौटकी के गीतो की रचना की है, तथा विविध त्यौहार विवाह और अन्य सामाजिक उत्सवो पर गाए जाने वाले गीतो की भी रचना की है।

प्रकृति चित्रण के क्षेत्र में भारतेन्दु अधिक सफल न हो सके। उनके काव्य मे प्रकृति के बाह्य रूप का वर्णन मात्र है। प्रकृति के अन्तस्तल में बैठ कर उसकी श्री सुषमा को वे वाणी न दे सके।

प्रकृति-चित्रण

उन्होने प्रकृति के स्पन्दन को, मानवीय क्रियाओ की भाति उसकी धडकन को नही पहिचाना। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक मे उन्होने काशी की जिस गगा का वर्णन किया है, उसमे उसकी नैसर्गिक सुषमा कम, कवि कौशल अधिक है।

फिर भी भारतेन्दु के प्रकृति चित्रण का एक दृष्टि से बड़ा महत्व था। हिन्दी में अब तक जो प्रकृति चित्रण होता था, वह उद्दीपन मात्र था। कवि गण इस ओर ध्यान ही नही देते थे। भारतेन्दु ने पहली वार इस उपेक्षित अङ्ग को अपनाया। उनके सामने कोई आदर्श नहीं था। भारतेन्दु ने अपने ढग से प्रकृति का चित्रण किया। भारतेन्दु के हाथो में प्रकृति-चित्रण का रूप इतिवृतात्मक था, पर आगे जाकर छायावादी युग मे यही प्रकृति-चित्रण काव्य क्षेत्र का सबसे बड़ा वैभव बन गया।

भारतेन्दु के काव्य मे नवरसो का सुन्दर परिपाक हुआ है। हास्यरस जिसका स्थान अब तक हिन्दी साहित्य में नगण्य था, भारतेन्दु के हाथो वह अपनी पूर्ण सम्पन्नता को प्राप्त हुआ। भारतेन्दु से

रस योजना

पूर्व हास्य रस की ऐसी उत्कृष्ट योजना नहीं मिलती। उनके नाटको में वीर, भयानक, रौद्र, और करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ हैं। शात रस भक्ति परक गीतो और आत्म ग्लानि के पदो में प्रस्फुटित हुआ हैं।

श्रृङ्गार भारतेन्दु का सबसे प्रिय रस है। राधाकृष्ण भक्ति-प्रधान रचनायों में श्रृङ्गार का स्वर बड़ा उदात्त है। वह मीरा और सूर की कोटि मे रखा जा सकता है। उसमें प्रेम की अनन्यता का तीव्र प्रकाशन है। कवि का भक्ति विभोर हृदय उसमें मूर्त्तिमान हो उठा है।

उनकी रीतिकालीन रचनाओ में लौकिक शृगार की अभिव्यक्ति हुई है। सयोग और वियोग श्रृङ्गार के विविध प्रसगो को लेकर भारतेन्दु ने रसराज की व्यापक चित्रपटी प्रस्तुत की है। सयोग और वियोग की इस रगस्थली मे हमें खडिता, कृष्णाभिसारिका, वासकसज्जा, आगत यौवना, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा,, परकीया नायिकाओ के चित्र मिलते हैं। नायक-नायिकाओ की सयोग क्रीड़ाओ उनके हास परिहास, छेड़-छाड़, हावभाव और रस चेष्टाओ को लेकर भी

भारतेन्दु ने बहुत कुछ कहा है। सयोग के सुखद क्षणो का एक चित्र देखिए-

आजु सिंगार कै केलि के मन्दिर बैठि न साथ मे कोऊ सहेली।
धाय कै चूमैं कबों प्रतिबिंब कबौं कहै आपुहि प्रेम पहेली।
अंक आपुने आपे लगैं 'हरिचन्दजू' सी करै आपु नवेली।
प्रीतम के सुख मे पिय मैं भई आएते लाज के जान्यो अकेली॥

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने नखसिख वर्णन, रूप चित्रण सुरति, विपरीत रति आदि के चित्रण द्वारा सयोग शृंगार को व्यापक रूप दिया है। ऐसे वर्णन प्रायः परम्परायुक्त हैं। उनमें कोई नवीनता और मौलिक उद्भावना नहीं है। कुछ मे शब्दो की क्रीड़ा मात्र है और कुछ में रीतिशास्त्र का स्पष्टतः सहारा लिया है।

सयोग शृङ्गार की अपेक्षा भारतेन्दु का वियोग वर्णन अधिक नैसर्गिक है। चन्द्रावली में उन्होने वियोग का जो रूप हमारे सामने रखा है वह बड़ा भावपूर्ण और मर्म वेधी है :—

बलि साँवलो सूरत मोहनी मूरत, आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातकसी मरे प्यासी परीं, इन्हें पानिपरूप सुधा कबौं प्याइए।
पीत पटै बिजुरी से कबो, हरिचंद 'जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहूँ कबहूँ आइकै आनंद के घन, नेह को मेह पिया बरसाइए॥

वियोग के ऐसे वर्णनो में शब्दो की उछल कूद नहीं है, वरन् अनुभूतियों की तीव्रता और भावो की गम्भीरता है। वह हमारे लिए तमाशा बनकर नहीं रह जाती, हमारे हृदय की सवेदना को जगाती है। वियोग वर्णन के अनेक चित्र भारतेन्दु की रचनाओ से लिए जा सकते हैं। नीचे की पक्तियो में विरह से दग्ध नायिका का कितना करुण चित्र है :—

छरी सी छकीसी जड़भई जकी सी धर
हरी सी बिकी सी सो तो सब ही धरी रहे।
बोले तें न बौले द्दग खोले ना हिडोले बैठि,
एकटक देखे सो खिलौना सी धरी रहे।
'हरिचन्द' ओरों घबरात समुझाए हाय
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।

याद आए सखिन रोवावै दुख कहि-कहि
तौ लौं सुख पावै जौलौं मुरछि परी रहै ॥

अपने इस वियोग वर्णन मे निश्चय ही भारतेन्दु घनानन्द की परम्परा के कवि हैं।

भारतेन्दु सच्चे अर्थों में कवि थे। कल्पना, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, व्यापक संवेदना, अनुभूति की तीव्रता और कुशल अभिव्यजना शक्ति आदि जो गुण कवि के लिए अपेक्षित हैं वे सब भारतेन्दु में विद्यमान हैं।

कला सौन्दर्य अपनी इसी अप्रतिम काव्य प्रतिभा के बल पर भारतेन्दु भावनाओं के व्यापक क्षेत्र मे सचरण कर सके, और उनका काव्य इतना बहुमुखी रूप ले सका। इतना अवश्य है कि उनकी चतुर्दिक काव्य भूमि मे नवीन भावनाओ की तो विपुल राशि है, पर कला की सुषमा उतनी नहीं है। उनकी भक्ति परक और शृङ्गार रचनाओ में उनके काव्य का कलागत सौन्दर्य अधिक शोभा के साथ उभरा है। ये रचनाएं ही कलागत सौदर्य की दृष्टि से भारतेन्दु की प्रतिनिधि रचनाए हैं। अन्य रचनाए काव्य सौष्ठव और कला-सौदर्य से रहित है। वे उपदेशात्मक, वर्णनात्मक और इतिवृतात्मक हैं। उनके भावो का रूप तो बड़ा उदात्त है पर उनकी अभि-व्यक्ति शुष्क, सीधी सादी और बिना कोई रमणीयता लिए हुये है। फिर भी उनकी शृङ्गारिक रचनाओ मे उनकी उत्कृष्ट काव्यकला का रूप सहज ही आँका जा सकता है। उसमें निश्चय ही भावो की अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिक, लाक्षणिकतापूर्ण और सरस है। उसमे हमें सच्चे काव्य का आनन्द प्राप्त होता है। नीचे की पक्तियो में यौवन के देहली पर प्रथम चरण रखने वाली नायिका के हाव-भावो की कितनी मधुर व्यजना है :—

सिसुताई अजौंन गई तन ते तउ जोवन जोति बटोरै लगी।
सुनिके चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौह मरोरे लगीं॥
बचि सासु जेठानिन सौं पिय ते दुरि घूँघट मे दृग जौरे लगी।
दुतही उलही सब अंगनतें दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी॥

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु की अभिव्यजना शक्ति कितनी बढ़ी चढ़ी

थी। नीचे हम अभिव्यजना के प्रमुख प्रसाधन अलकारो पर विचार करेगे।

समन्वयवादी हरिश्चन्द्र की कविता मे अलकारो और भावो का सुन्दर समन्वय है। अपनी रचनाओ द्वारा उन्होने अलकारों के बोझ से दबी रीतिकालीन काव्य को मुक्त कर उसके प्रकृत रूप को सामने

अलंकार योजना

रखा। फलतः भारतेदु के काव्य में रस का आग्रह अधिक है, अलकारो को उनके सहायक का ही पद मिला है। शब्दालकारो की अपेक्षा भारतेदु ने अर्थालकारो को प्रधानता दी है। इनमे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अलकारो का उन्होने विशद प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, उदाहरण, सदेह, अतिशयोक्ति, दृष्टॉत, परिकर, व्याज स्तुति भी उनके प्रिय अलकार है।

उनके रूपकालकार का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए :—

नैन लाल कुसुम पलास से रहे है फूलि,
फूल मालगरें बन झालरिसो लाई है।
भंवर गुंजार हरि नाम को उचार तिमि,
कोकिला सों कुहुकि वियोग राग गाई है॥
'हरिचंद' तजि पतझार घर बार सवै,
बौरी बनि दौरि चारु पौन एकी धाई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत के हिमंत अन्त,
तेरी प्रेम जोगिनी बसत बनि आई है॥

अलङ्कारो का ऐसा सहज सौदर्य भारतेदु के काव्य मे पग-पग पर दर्शनीय है।

केशव के बाद हिन्दी काव्यधारा में छन्दो का ऐसा बाहुल्य भारतेंदु की रचना में ही दृष्टव्य है। उन्होने केवल हिन्दी के ही नहीं उर्दू, सस्कृत बगला भाषा के छदो को भी स्थान दिया है। उन्होने सस्कृत

छंद

के बसततिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी और अनुष्टप छन्दो का विधान किया है। चौपाई, चौपई, सार, छप्पय, रोला, सोरठा कुंडलिया, ताटंक, सरसी, गीता, कवित्त, घनाक्षरी, सवैया आदि हिन्दी के सभी मात्रिक और वर्णिक छदो का कुशलता पूर्वक प्रयोग किया है। उन

कवियो की भॉति पद रचना भी की है। उनकी कविताओ मे बगला के 'पयार' नामक वर्णिक छंद भी मिलता है। उर्दू के रेखता और गजल को भी उन्होने अपनाया है। इसके अतिरिक्त भारतेंदु ने कजली, ठुमरी, लावनी विरहा, मलार, पुकारी, चेती आदि छंदो का व्यवहार कर कवि साहित्य की सृष्टि की है।

छन्दो के इस विधान मे भारतेन्दु ने अपने समय की प्रचलित काव्य शैलियो का ही निर्वाह नहीं किया वरन् स्वय भी नए प्रयोग किये। छंदो और काव्य शैली की पुरातन विरासत को भी ग्रहण किया। इसीलिये विद्यापति और कबीर, तुलसी, सूर, केशव, मीरा, घनानद, बिहारी, देव, घनानद, मतिराम, पद्माकर आदि पूर्ववर्त्ती प्रमुख हिन्दी कवियो की शैलियॉ भारतेन्दु की काव्य रचनाओं में मिलती हैं। वस्तुतः काव्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु की दृष्टि दो युगो पर थी प्राचीन और नवीन। इन दोनो ही युगो की शैलियॉ आकर भारतेन्दु के काव्य मे घुल-मिल गई हैं। इस प्रकार भारतेन्दु अपने काव्य मे हिन्दी साहित्य की सभी विभूतियॉ समेटे हुए हैं।

भारतेन्दु की साधना साहित्य के दो कूलो को स्पर्श करती हैं। वे कवि और लेखक दोनो रूपो मे ही हमारे सामने आते हैं। इन दोनो रूपो मे वे हमारे युग-प्रवर्त्तक कलाकर थे। उनकी भाषा शैली से यह बात भली-भाति स्पष्ट हो जाती है।

भाषा

काव्य रचनाओ में भारतेन्दु ने ब्रज भाषा को अपनाया। यद्यपि खड़ी बोली में की गई रचनाओ की सख्या भी कम नहीं हैं, पर साहित्य दृष्टि से वे विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। कवि की कविताओ का सच्चा साहित्यक सौदर्य उनकी ब्रज भाषा की रचनाओ मे निहित है।

भारतेन्दु काल तक सूर, देव बिहारी, घनानद, मतिराम और पद्माकर जैसे महारथियो के हाथो ब्रजभाषा बड़ी साहित्यिक, परिमार्जित और शक्ति सम्पन्न बन चुकी थी। सब प्रकार के प्रकाशन करने की उसमें अपूर्व क्षमता थी। भारतेन्दु ऐसी ब्रज भाषा के मोह को न छोड़ सके। फलतः कविता की भाषा भारतेन्दु ने ब्रजभाषा स्वीकार की। इतना अवश्य था कि उनके काव्य मे ब्रज भाषा को नया बल मिला। उन्होने उसके सहज प्रकृति रूप के दर्शन

कराए। उनके समय तक कवि गण ब्रजभाषा के परपरागत रूप को अपनाते चले आते थे। फलतः अनेक अप्रचलित शब्द जो साधारण जनसमाज की भाषा में से उठ गए थे पर काव्य की दृष्टि से रूढ़ि बने हुए थे उनका प्रयोग ऐसे कवियो की रचनाओ मे निस्सकोच होता था। भारतेन्दु ने ऐसे शब्दो को अपनी रचनाओं मे स्थान न देकर भाषा को अधिक व्यावहारिक, चलता हुआ और परिमार्जित रूप दिया। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण भारतेन्दु की भाषा कही अव्यस्थित, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध नहीं होने पाई। उन्होंने तोड़-मरोड़ की प्रणाली से शब्दो को कहीं विकृत रूप प्रदान नही किया और न मनगढन्त शब्दो से ही उसे भरा। उनकी भाषा की रस-धार सर्वथा स्वच्छ और स्वाभाविक रूप से प्रवाहित हुई। भारतेन्दु के जीवन काल मे ही उनके कवित्त सवैये जो इतने सर्व प्रिय हो गए थे उसका प्रमुख श्रेय उनकी भाषा को ही है।

सभी प्रकार के भाव प्रकाशन की क्षमता भारतेन्दु मे है। भावो के अनुकूल चुने हुए शब्दो की सुव्यवस्थित पदावली उनकी रचनाओ मे पेक्षणीय है। प्रसाद और माधुर्य उनकी भाषा के प्रधान गुण है। लोकोक्तियो और मुहावरो के सफल प्रयोगो ने उनकी भाषा के सौन्दर्य मे अपूर्व अभिवृद्धि की है। सक्षेप मे कहे तो भारतेन्दु की भाषा बड़ी नैसर्गिक, रसाद्र और भावपूर्ण है। उसमे तन्मयता, सार्थकता और स्वाभाविकता का सहज समावेश है।

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु का युगान्तर रूप गद्य के क्षेत्र में आविर्भूत हुआ है। उनसे पूर्व खडी बोली गद्य निर्विवाद रूप से गद्य के लिए स्वीकार तो की जा चुकी थी, पर उसका रूप सर्वथा अस्थिर था। उसमे एक रूपता न थी और भाषा को लेकर नए-नए प्रयोग हो रहे थे। खड़ी बोली को शिक्षित समाज में आदर और सम्मान भी न मिला था क्योंकि उदूं और अंग्रेजी भाषा की तुलना मे उसे विचार प्रकाशन के लिये हीन समझा जाता था। ऐसी खड़ी बोली को भारतेन्दु ने सहारा दिया और अपनी रचनाओ द्वारा उसे शक्ति सम्पन्न सबल और स्थिर बनाया। गद्य भाषा को निश्चित रूप देकर हिन्दी गद्य-परम्परा का प्रवर्त्तन किया। सन् १८७३ ई० में जब उनकी हरि-

गद्य-शैली

चन्द्र मैगजीन का प्रथम अङ्क प्रकाशित हुआ तब हिन्दी नई चाल मे ढली ।

भारतेन्दु के समय खड़ी बोली को लेकर राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मणसिह के बीच खींचातानी चल रही थी । राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द उर्दू बहुल खड़ी बोली के पक्षपाती थे । वे चाहते थे कि अरबी फारसी शब्दो के प्रयोग द्वारा हिन्दी गद्य लेखक अपनी भाषा पर 'पालिश' करे । पर दूसरे लेखक भाषा को ऐसा रूप प्रदान करने को प्रस्तुत न थे । भाषा के उर्दू बहुल रूप की प्रतिक्रिया मे राजा लक्ष्मणसिह विशुद्ध खड़ी बोली का रूप लेकर सामने आये । उन्होंने अपनी भाषा में किसी भी प्रकार के विरोधी शब्दो का बहिष्कार किया और सस्कृत की तत्सम शब्दावली का उसे आधार दिया ।

पर खड़ी बोली के स्वस्थ विकास के लिये ये दोनो दिशाएँ उपयुक्त न थी । दोनो ही मार्ग खड़ी बोली को कृत्रिम और अव्यावहारिक बनाते थे । ऐसे समय भारतेन्दु की गद्य-रचनाओ का उदय हुआ । उसमे जिस गद्य के दर्शन हुये उसमे खड़ी बोली के सहज और प्रकृत रूप का उसमे प्रथम उन्मेष था । परवर्त्ती गद्य-लेखको के लिए भारतेन्दु की यही नई भाषा आदर्श बनी ।

भारतेन्दु ने किसी नई भाषा को जन्म नही दिया । वरन् जन-समाज मे जो खड़ी बोली का प्रचलित रूप था उसे ही साहित्यिक रूप प्रदान किया । उनकी इस साहित्यिक खड़ी बोली मे सस्कृत के तत्सम शब्दो के स्थान पर तद्भव शब्दो को रखा । जन-समाज मे प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दो का प्रयोग किया, और जहाँ बिचारो की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे शब्द न मिले वहाँ संस्कृत शब्दो का सहारा लिया गया । यही भारतेन्दु की नई भाषा नीति थी । यही रूप लेकर सन १८७३ मे हिन्दी नई चाल मे ढली ।

अपने 'हिन्दी भाषा' निबन्ध मे भारतेंदु ने गद्य की विभिन्न शैलियो के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । उसमे से एक शैली संस्कृत बहुल है, दूसरी मे सस्कृत के शब्द अल्प मात्रा मे हैं, तीसरी शुद्ध हिन्दी है । यह फारसी अरबी से नहीं, सस्कृत से भी शुद्ध है । चौथी शैली मे फारसी अरबी शब्द बहुत हैं ।

इन शैलियो पर मत देते हुए भारतेंदु ने लिखा है—

हम इस स्थान पर वाद नही किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिये पर हॉ मुझ से कोई अनुमति पूछे तो मै यह कहूँगा कि नम्बर दो और तीन लिखने योग्य हैं। भारतेदु की शुद्ध हिन्दी का नमूना इस प्रकार है:—

पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए, क्या उस देश मे बरसात नहीं होती या किसी सौत के फद मे पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहॉ (तो) वह प्यार की बाते कहॉ एक सङ्ग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मै कहॉ जाऊॅ कैसी करू मेरी तो ऐसी मुॅह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊॅ। कुछ इधर-उधर की बातो ही से जी बहलाऊॅ।'

भारतेदु ऐसी भाषा का आदर्श लेकर चले। सस्कृत, फारसी और हिन्दी का व्यावहारिक रूप उन्होने अपनी रचनाओं मे रखा। ऐसे शब्द व्यवहार के क्षेत्र मे यदि कुछ विकृत अवस्था मे भी प्राप्त थे तो वे अपने इसी रूपी में व्यवहृत हुए। उनके कफन कलेजा, भले मानस, हिया, गुनी, लच्छन, जोतसी जोबन, सिंगार आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। ऐसे तद्भव रूप के प्रयोग से भारतेंदु की भाषा मे बड़ा माधुर्य, लचीलापन और प्रवाह आ गया है। ब्रजभाषा की भाति खड़ी बोली को अधिक से अधिक मधुर और सरस बनाने के लिए ही उन्होने शृंगार की अपेक्षा सिगार शब्द का प्रयोग किया है। उन्होने जिन विदेशी शब्दो को ग्रहण किया है उन पर हिन्दी का रग चढ़ा दिया है। कर्ण कटु शब्दो को मधुर बनाया है। जहॉ तक बन पड़ा है कोमल और मधुर शब्दो का प्रयोग किया है। लोक प्रचलित कहावतो, मुहावरो का खुलकर सहारा लिया है। इन्ही सब कारणो से भारतेदु की भाषा में अपूर्व स्निग्धता, नैसर्गिकता और सरसता है। छोटे-छोटे वाक्य और गठी हुई शब्दावली ने उसमे अपूर्व शक्ति भर दी है।

भारतेदु की भाषा की इन विशेषताओ के साथ-साथ उस पर पडिताऊपन की भी कुछ छाया है। जैसे हुई के स्थान पर भई का प्रयोग, कहलाते के लिये कहाते का प्रयोग, वह के स्थान पर सो का प्रयोग उनकी भाषा में खूब मिलते हैं। व्याकरण सबन्धी भूले भी उनकी रचनाओं मे देखी जा सकती है। इस प्रकार भारतेदु के हाथो हिन्दी गद्य को स्थिर रूप तो मिला पर वह परिष्कृत

न हो सका । यह कार्य आगे जाकर बाबू महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सपन्न हुआ । कुछ भी हो, भाषा के क्षेत्र मे भारतेंदु का कार्य भी कम महत्वपूर्ण न था डा० राम विलास शर्मा के शब्दो मे "भाषा के परिष्कार की दृष्टि से भारतेंदु के गद्य मे बहुत सी खामिया थी, लेकिन उनका युगान्तर कारी काम यह था कि उन्होने बोलचाल की भाषा की प्रकृति पहिचानी । उसकी मिठास को साहित्य में जगह दी । उस भाषा को सभी तरह से साहित्य का समर्थ माध्यम बनाया ।"

अपनी ऐसी भाषा के माध्यम से भारतेंदु ने इतिहास, समाज, राजनीति, साहित्य आदि विषयो पर प्रचुर मात्रा मे साहित्य रचना की थी । फलतः भाव और विकारो की दृष्टि से उनका साहित्य विविधता मयी हैं । भाव और विचारो के अनुकूल ही भारतेन्दु ने विविध शैलियो का प्रयोग किया है । मोटे तौर पर भारतेंदु का शैली विधान निम्न रूपो मे देखा जा सकता है—

१—परिचयात्मक या इतिवृतात्मक शैली—जहाँ विषय का सीधा सादा प्रतिपादन करना होता है भारतेन्दु ने ऐसी शैली का सहारा लिया है । इतिहास आदि विषयो के प्रति-पादन मे हमे इस शैली के दर्शन होते हैं । इसमे वाक्य कहीं छोटे, कही लम्बे सरल और प्रसाद गुण युक्त हे । सस्कृत, फारसी, अरबी भाषाओ के व्यावहारिक शब्दो का प्रयोग हैं । जहाँ विषय के वर्णन में भावुकता का योग है वहाँ तो शैली सरस बन गई है, पर जहाँ विषय प्रतिपादन सीधे सादे ढग से हुआ है शैली मे नीरसता है उनकी इस शैली का उदाहरण है—

"जब हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु ने इसी शरीर से स्वर्ग जाने के हेतु वशिष्ठजी से कहा तो उन्होने उत्तर दिया कि वह अशक्य काम हमसे न होगा। तब त्रिशकु वशिष्ठ के सौ पुत्रो के पास गया और जब उनसे भी कोरा जबाब पाया तब कहा कि तुम्हारे पिता और तुम लोगो ने हमारी इच्छा पूर्ण नहीं की और हमको कोरा जबाब दिया इससे अब हम दूसरा पुरोहित करते हैं ।

२–गवेषणात्मक शैली–भारतेन्दु के साहित्यक निबन्धो मे हमे इस शैली के दर्शन होते हैं । गवेषणात्मक ऐतिहासिक निबधो मे भी यह शैली पाई जाती है । इसमे भाषा अपेक्षाकृत संस्कृत प्रधान है । भाषा का व्यावहारिक

रूप उसमे नहीं है । उसमे न सरसता है न प्रवाह, वह जन-समाज के लिए न होकर विद्वत् समाज के लिए है । उनकी इस प्रकार की शैली का उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"प्राचीन समय में सस्कृत भाषा मे महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तात अथवा कवि प्रौढ़ोक्ति सभूत किवा लोकाचार संघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलबन करके नाटक प्रभृति दशविधि रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उप रूपक लिपिवद्ध होकर सहृदय सभासद लोगो की तात्कालिक रुचि अनुसार उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्य काव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्च पदाभिषिक्त लोगो की नाट्यशाला मे अभिनीत होते थे ।

३—भावात्मक शैली—भारतेन्दु की यही प्रतिनिधि शैली है । हृदय के मनोभावो दुख, क्रोध, स्नेह आदि का चित्रण इस शैली मे हुआ है । वाक्य विन्यास बड़ा प्रवाह पूर्ण सरस सरल और स्पष्ट है । वाक्य छोटे-छोटे और कोमल तथा मधुर शब्दो से गुम्फित हैं । उनके नाटको विशेषतः चन्द्रावली, भारत दुर्दशा मे यह शैली पाई जाती है । उदाहरण के लिए :—

"मै अपने इन मनोरथो को किसको सुनाऊ और अपनी उमगे कैसे निकालू । प्यारे, रात छोटी है और स्वॉग बहुत है । जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा । हाय मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नही । रात दिन रोते ही बीतते हैं । कोई बात पूछने वाला नही क्योकि ससार मे जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर की ही बात देखते हैं । हाय मैं तो अपने पराए सब से बुरी बनकर बेकाम होगई ।"

४—हास्य प्रधान व्यंगात्मक शैली—भारतेन्दु इसी शैली के हिन्दी मे जन्मदाता है । समाज के पाखण्डो ढकोसलो और देश विरोधियो पर करारी चोटें करने के लिए भारतेन्दु ने इस शैली के अस्त्र को अपनाया है । उनके बाद गद्य क्षेत्र मे यह शैली बहुत लोकप्रिय हुई । भाषा की जिन्दादिली इस शैली मे देखते ही बनती है । हास्य की ऐसी अद्भुत छटा, व्यंगो की ऐसी बौछार भाषा की ऐसी सशक्तता अन्यत्र नहीं मिलती है । उनकी इस शैली का रूप निम्न उदाहरण मे देखा जा सकता है । तत्कालीन गवर्नरजनरल के काशी मे हुए दरबार का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :—

"वाह वाह दरबार क्या था 'कठपुतली का तमाशा' या बल्ले मारो की 'कवायद' थी या बन्दरो का नाच था, या किसी पाप का फल भुगतना था 'फौजदारी की सजा थी ।'

सक्षेप मे भारतेदु की शैली सर्वथा विषय, भाव और पात्रो के अनुकूल है। उस पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

भारतेदु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य मे नवयुग के सृष्टा है। हिन्दी मे उन्होने जिस साहित्यिक परम्परा का शिलान्यास किया, परवर्त्ती साहित्य का भव्य प्रासाद उसी पर टिका हुआ है। अपने चौतीस वर्ष के

भारतेन्दु और हिन्दी साहित्य

थोड़े समय मे वे इतना सब कुछ कर सके उसका कारण उनकी विलक्षण प्रतिभा और हिन्दी के लिए अपूर्व त्याग साधना थी। उन्होने हिन्दी के उन्नयन और उत्थान के लिए अपने जीवन का प्रत्येक क्षण, अपनी अतुल धन राशि का प्रत्येक कण, और अपनी प्रतिभा का प्रत्येक अश उसे अर्पित कर दिया। वे महान साधक थे और उन्होने तिल तिल जलकर साहित्य साधना के मन्दिर को प्रकाशमान किया था। उन्होने अधोगति के मार्ग मे पड़े हुए देश को, समाज को, साहित्य को उँगली पकड़ कर ऊपर उठाया और प्रगति की स्वस्थ भूमि पर ला खड़ा किया। इस महान अनुष्ठान के लिए उन्होने कविता, कहानी, नाटक, निबध आदि साहित्य के सभी साधनो का पूर्णतम उपयोग किया।

हिन्दी भाषा के लिए तो भारतेन्दु जैसे ईश्वरीय वरदान थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उस युग मे जब कि उर्दू का बोलबाला और अङ्गरेजी की धाक थी। हिन्दी गँवारो की भाषा समझी जाती थी। शिक्षण सस्थाओ मे और राजकीय कार्यों मे उसका पूर्णतः बहिष्कार किया जा चुका था। ऐसे समय में भारतेन्दु ने हिन्दी को उबार लिया। भारती के इस सच्चे सपूत ने हिन्दी के आँसू पोछे, उसे उससे छिने अधिकार दिलाए। हिन्दी उस युग मे राजभाषा न बन सकी पर वह जनता की भाषा बन गई। भारतेदु ने हिन्दी भाषा का संदेश जन-जन के हृदयो तक पहुँचाया। भारतेदु के माध्यम से जनता का सहयोग पाकर हिन्दी भाषा समृद्धि के सोपानो पर चढ़ती गई। अग्रेजी और

उर्दू की दीवालें उसके आगे ढह गईं और आज तो हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है। भारत राष्ट्र की हिंदी की यह देन भारतेंदु की है। इसीलिए—

जबलौं भारत भूमि मध्य आरज कुल बासा।
जबलौं गुन आगरो धर्म माँहि आरज विश्वासा॥
जबलौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जबलौं आरज बानी के आरज अभिमानी।
तबलौं यह तुम्हरौ नाम थिर चिरजीवी रहि है अटल।
नित चन्द सूर सुमरिहै हरिचन्दहु सज्जन सकल।

———

श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' आधुनिक काल मे प्राचीन कवि हैं। बीसवीं शताब्दी के कोलाहल मे मध्य युगीन काव्य धारा के दबे हुए स्वर रत्नाकर की काव्य वीणा की झकार मे पुनः गूँज उठे हैं। "उन्होने हमे पहले के सुने पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का सधान किया (नन्ददुलारे बाजपेयी)।" रत्नाकर नवयुग के उस कवि वर्ग में न थे जिन्होने खड़ीबोली के माध्यम से नई भावनाओ के स्वर छेड़े थे। रत्नाकर जी इन सबसे परे पुरानी लीक पर चलने वाले कवि थे। सूर और तुलसी जैसे भक्त कवियो की भाति पौराणिक आख्यानो को उन्होने अपने काव्य का विषय बनाया तथा रीतिकाल की अभिव्यजना कला का उसे कलेवर दिया। इस प्रकार प्राचीनता के धरातल पर उन्होने अपने काव्य प्रासाद का निर्माण किया। वे अपने काव्य मे मध्ययुगीय काव्य परम्परा की समस्त विभूत समेट कर चले। भक्ति युग की भाव सम्पदा और रीत युग की कला समृद्धि उनकी रचनाओ मे एकाकार हो उठी है। इस तरह रत्नाकर जी का काव्य मौलिक न होकर भी अपूर्व है। मध्ययुगीन काव्यधारा की उसमे वास्तविक अनुकृति है। इतना अवश्य है कि रत्नाकर जी तुलसी और सूर के समान भक्त कवि न थे और न रीतिकालीन कवियो की भाति शृ गारी कवि। वे भक्तो और शृंगारियो के बीच की कड़ी के रूप मे प्रगट हुए हैं। एक शब्द मे वे हमारे अतिम 'क्लासिक' कवि हैं।

काशी के प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल मे रत्नाकरजी का जन्म भाद्रपद शुक्ला

पचमी, स० १६२३ को हुआ था। उनके पूर्वज मुगल शासन काल में उच्च-पदो पर प्रतिष्ठित थे। रत्नाकर जी के पितामह सेठ तुलाराम मुगल सम्राट जहादरशाह के दरबार मे थे। सम्राट के साथ वे एक बार काशी आए और तब से यहीं रहने लगे।

जीवन-परिचय

रत्नाकर जी की प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा काशी मे हुई। पिता पुरषोत्तम-दास फारसी उर्दू के विद्वान थे। उन दिनो उर्दू फारसी का बोल-बाला था फलतः रत्नाकर जी की शिक्षा का श्रीगणेश फारसी भाषा से हुआ। काशी के क्वीस कालेज से उन्होने फारसी लेकर बी० ए० किया। एम० ए० मे भी आपने फारसी विषय ही लिया पर कुछ कारणो वश आप परीक्षा मे न बैठ सके। विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के उपरान्त रत्नाकरजी अवागढ़ मे कोष-निरीक्षक के पद पर नियुक्त हो गए। परन्तु जलवायु अनुकूल न होने के दो वर्ष पश्चात् ही उन्होने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और वे पुनःकाशी लौट आए।

सन् १६०२ में वे अयोध्या नरेश सर प्रताप नारायण सिह के प्राइवेट सेक्रेटरी बने। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वे स्वर्गीय महारानी के निजी मत्री रहे और जीवन पर्यन्त तक इसी पद पर कार्य करते रहे। इसी पद पर रहकर वे साहित्य साधना भी करते रहे। सवत १६८६ को रत्नाकर जी का देहान्त हो गया।

रत्नाकर जी बाल्यकाल से भावुक और प्रतिभावान बालक थे। वे कवि हृदय लेकर उत्पन्न हुए थे। बाल्यकाल से ही उन्होने अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था। रत्नाकर जी के पिता फारसी और उर्दू के ही विद्वान न थे, हिन्दी काव्यानुरागी भी थे। उनके घर हिन्दी कवियो का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिचद्र उनके घनिष्ठ मित्रो मे से थे। रत्नाकर जी भी इन काव्य गोष्ठियो मे सम्मिलित हुआ करते थे। उनकी सहज काव्य प्रतिभा समुचित वातावरण पाकर पुष्पित और पल्लवित हुई। बचपन में उनकी काव्य प्रतिभा से प्रभावित होकर भारतेंदु हरिचद्रजी ने कहा था यह

लड़का कभी अच्छा कवि होगा। आगे जाकर भारतेन्दु का यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

साहित्यकार के रूप मे रत्नाकर जी ने अपने जीवन मे ही अनन्य लोक-प्रियता प्राप्त करली थी। सन् १८९३ ई० में आपने काशी से 'साहित्य-सुधा निधि' मासिक-पत्र का प्रकाशन प्रारभ किया। हिन्दी भाषा राजकीय कार्यालयो में स्थान प्राप्त करे इसके लिए भी आपने आन्दोलन किया। इस सबध मे जो डैपूटेशन तत्कालीन लाट महोदय से मिला था उसके सदस्यो में से रत्नाकर जी भी थे। रत्नाकर जी सन् १९२२ में कलकत्ता हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी थे। हिन्दी की गण्यमान्य सस्था काशी नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना में आपका प्रमुख हाथ था। काशी कवि समाज की स्थापना भी आपकी प्रेरणा से हुई थी। तत्कालीन युग के समस्त साहित्यकारो से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। सभी रत्नाकर जी का बड़ा आदर करते थे। उनकी मृत्यु पर सुधा सपादक ने लिखा था "देव कोप से आज हिदी मा का रत्नाकर ही लुट गया और तमिस्र से आज सारा हिदी साहित्य ससार आवृत्त हो उठा है। माँ का हृदय एकाएक धैर्य का बाँध तोड़कर पुकार उठा हैं—

इकते एक सुन्दर छुटे, रतन सही सो पीर।
पर विधि रत्नाकर लुटे, केहि विधि धारो धीर।।

ऐसे थे रत्नाकर जी और उनका महिमामय जीवन।

व्यक्तित्व

रत्नाकर जी विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। वे हिंदी उर्दू अंग्रेजी के तो विद्वान थे ही संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बगला, और पंजाबी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। वे केवल कवि ही न थे, उच्चकोटि के पत्रकार, टीकाकार और गद्य-लेखक भी थे। साहित्य शास्त्र, पुराण दर्शन, इतिहास तथा हिंदी के प्राचीन कवियों को लेकर उनका अध्ययन बड़ा गहन और व्यापक था। रत्नाकर साहित्यिक नहीं सगीतज्ञ भी थे। मृदग, तबला सितार, वायलन सभी वाद्य यन्त्रो की कला में आप प्रवीण थे। उनकी रचनाओ मे संगीत की जो अपूर्व माधुरी बही है वह इसी का प्रतिफलन है। संगीत के अतिरिक्त वे वैद्यक ज्योतिष, गणित विज्ञान, योग दर्शन, रसायन-

शास्त्र, सभी के ज्ञाता थे। उनकी यह विज्ञता उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर प्रस्फुटित हुई है।

ऐसे रत्नाकर जी बड़े कोमल और मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे। उनका रहन-सहन पुरानी चाल के रईसों के ढङ्ग का था। वे नित-प्रति व्यायाम करते थे। फलतः उनका शरीर बड़ा सुडौल और व्यक्तित्व आकर्षक था। इत्र का उन्हें बड़ा शौक था और वे मौसम के अनुसार इत्र बदला करते थे। व्यावहारिक जीवन में पक्के सनातन धर्मी थे। फिर भी धार्मिक अनुदारता उनमें नाम मात्र को भी न थी। भारतीय संस्कृति के वे कट्टर पुजारी थे। उनके रहन-सहन आचार-विचार सभी पर भारतीय संस्कृति छाप थी। बी० ए० तक आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने पर भी रत्नाकर जी में पाश्चात्य सभ्यता के संस्कार लेश मात्र को भी न पनप सके थे।

वास्तव में रत्नाकर जी का व्यक्तित्व बड़ा सरल और आडम्बर हीन था। अपने संपर्क मे आने वाले व्यक्ति को वे अनायास ही प्रभावित कर लेते थे। वे बड़े हँसमुख और विनोदी भाव के व्यक्ति थे। स्मरण शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी। पूर्ववर्त्ती कवियो की सहस्रों रचनाएँ उन्हें कंठाग्र थीं। रत्नाकरजी आत्माभिमानी भी बहुत थे पर उनमे झूठा गर्व न था। उनका यही व्यक्तित्व उनके काव्य में मुखरित हुआ है।

रत्नाकरजी ने अनेक रूपो मे साहित्य ससार की महान सेवा की है। अब तक हिंदी साहित्य में वे कवि रूप में ही विख्यात हैं पर कवि के साथ-साथ वे उत्कृष्ट गद्य लेखक भी थे। इसमे सदेह नहीं। विविध संस्थाओं के सभापति पद से दिए गये उनके भाषण, उनके द्वारा सम्पादित पुस्तकों की भूमिका, तथा विविध साहित्य, इतिहास पुरातत्त्व विषयो पर सरस्वती में प्रकाशित उनके लेखों का सग्रह किया जाय तो वह एक उत्कृष्ट गद्य रचना का रूप ले सकता है, इसमें संदेह नहीं। उसमें उनकी गद्य शैली का जो प्रौढ़ और व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है, वह उस युग की गद्य रचनाओं मे बहुत कम दिखाई पड़ता है।

रचनाएँ

गद्य रचनाओं के साथ-साथ रत्नाकरजी की अनुवाद और संपादित की हुई रचनाओं का विशेष महत्व है। उन्होने अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार पोप

के काव्य ग्रंथ Essay on Criticism का 'समालोचनादर्श' नाम से पद्यानुवाद किया। उनके इस अनुवाद में भी काव्य का सा आनन्द है। संपादन के क्षेत्र मे भी रत्नाकर जी का कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। सर्वप्रथम उन्होने 'सुधासर' नाम से प्राचीन कवियो के श्रृङ्गार रसात्मक कवित्त, सवैयों का संपादन किया। इसके बाद उन्होने चद्रशेखर बाजपेयी कृत 'नखसिख', हमीर हठ तथा केशवकृत 'नखसिख' का सम्पादन किया। पर उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस दिशा मे बिहारी रत्नाकर की टीका थी। बिहारी सतसई को लेकर अब तक लगभग चालीस टीकाओ का निर्माण हो चुका है पर 'बिहारी रत्नाकर' इन सब टीकाओ मे सर्वश्रेष्ठ है। यह टीका रत्नाकर जी को अपने युग का सर्वश्रेष्ठ टीकाकार प्रमाणित करती है। जीवन के अन्तिम वर्षों में रत्नाकरजी सूर सागर का सम्पादन भी कर रहे थे, पर दुर्दैव से वह पूर्ण न हो सका और रत्नाकर जी हमें छोड़ कर चल बसे।

काव्य के क्षेत्र में 'हिंडोला' रत्नाकर जी की प्रथम कृति है। सवत् १६५१ में इसकी रचना हुई थी। यह कवि का प्रबध काव्य है। इसमें रत्नाकरजी ने वर्षा ऋतु में राधा-कृष्ण के झूला झूलने का वर्णन किया है, अतः अन्त तक इसमें संयोग श्रृङ्गार का प्राधान्य है। इसके उपरान्त उन्होने सत्य हरिश्चन्द्र की कथा को लेकर 'हरिश्चंद्र' खडकाव्य का प्रणयन किया। इसका कथानक भारतेन्दु हरिश्चंद्र कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' से बहुत कुछ साम्य रखता है। समस्त ग्रथ रोला छदो में समाप्त हुआ है। काशी नगरी का वर्णन करते हुए उन्होने रोला छदो में 'कल काशी' कृति की भी रचना की पर वह अपूर्ण ही रह गई। प्रबंध काव्य के क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण रचना गगावतरण है। सन् १६२१ मे उन्होने इसकी रचना प्रारम्भ की थी। इसमे कवि ने सुरलोक से काशी तक गगा के अवतरण की सम्पूर्ण कथा को रोला छंदों मे वर्णित किया है।

'उद्धवशतक' रत्नाकर जी की काव्य साधना का गौरव स्तूप है। इसमें वे भक्तिकालीन कवियो की भावुकता, तथा रीतिकालीन कवियो की कलात्मकता लेकर उपस्थित हुए हैं, यह काव्यग्रंथ प्रबध और मुक्तक दोनो ही हैं। इसका प्रत्येक छद स्वतत्र भी है और एक विशेष घटना सूत्र में बद्ध भी है। इसमें

कृष्ण काव्य की चिर प्रचलित परम्परा भ्रमरगीत की कथा का वर्णन है फलतः रचना वियोग-शृ गार प्रधान है। रत्नाकर जी की समस्त कृतियो मे ही उत्कृष्ट-तम रचना है।

इसके अतिरिक्त शृ गार लहरी, तथा प्रकीर्ण पद्यावली रत्नाकर जी की समस्या पूर्ति के लिए रचे गए मुक्तको का सग्रह हैं। ये सब शृंगार प्रधान रचनाए हैं। गगाविष्णु लहरी भी मुक्तक काव्य हैं। ये कवि की भक्ति भावना से ओतप्रोत रचनाए हैं।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने वीराष्टक और रत्नाष्टक कृतियो के रूप में लगभग तीस अष्टकों का प्रणयन किया है।

रत्नाकर जी का व्यक्तित्व उनकी काव्यसाधना मे स्पष्टरूप से मुखरित हुआ है। इसीलिए बीसवी शताब्दी के कवि होकर भी वे प्राचीनता के पोषक रहे।

काव्य साधना

पुराने खेवे के कवि बनकर उन्होने प्राचीन काव्य परम्परा की भाव सम्पदा को, उसी की भाषा और अभिव्यंजना शैली के माध्यम से वाणी प्रदान की हैं। इस प्रकार रत्नाकर को अपने काव्य की सर्जना के लिए प्राचीन काव्य की अतुल पू जी धरोहर रूप में प्राप्त हुई है। इसका उपयोग भी उन्होंने भरपूर किया है। रत्नाकर जी की कविता के आदर्श सूर, नन्ददास, तुलसी आदि भक्त कवि रहे हैं। सूर और नन्ददास की भ्रमरगीत परम्परा के वे गोरवपूर्ण स्तम्भ हैं और तुलसी की भॉति उन्होने पौराणिक कथाओं को काव्य का आवरण दिया है। किन्तु उनकी अभिव्यंजना शैली सूर, नन्ददास और तुलसी का आदर्श लेकर नहीं चली। यहॉ उन्होने स्पष्ट रूप से रीतिकालीन शैली का आधार लिया है। वैसी ही अलकरण शैली, वैसा ही कवित्त सवैया आदि छन्दो का विधान, वैसा ही उक्ति वैचित्र्य। इस क्षेत्र मे देव, बिहारी, घनानन्द प्रभृति कवि उनके काव्य की प्रेरणा स्रोत बने हैं। रत्नाकरजी ने स्पष्ट ही कहा है :—

नन्ददास देव घन आनन्द बिहारी सम,
सुकवि बनावन की तुम्हे सुधि ध्याऊँ मैं।

अपनी अनन्य प्रतिभा के वल पर रत्नाकर इन अभिनन्दनीय कवियो की कोटि मे पहुँच ही नहीं गए अपितु अनेक दृष्टियों से वे उनसे भी आगे निकल

गए हैं। सत्य तो यह है कि काव्य परम्परा की ऐसी लम्बी विरासत अन्य किसी कवि को प्राप्त ही नहीं हुई। इस विरासत के वे सच्चे अधिकारी भी थे। रत्नाकर की सबसे बडी मौलिकता इस बात मे है कि उन्होने उन विषयो को जिन पर पहले बहुत कुछ कहा और सुना जा चुका था, इस प्रकार हमारे सामने रखा कि वे पुराने होते हुए भी नये जान पडते हैं। अपनी मौलिक सूझ बूझ से कवि ने उन पर ऐसी पालिश की है कि उसकी नई चमक में उसका पुरानापन छिप गया है।

प्राचीन हिन्दी काव्य की स्वर्ण राशि पर रीझा हुआ यह कवि आधुनिक प्रवृत्तियो के बीच आँख मूदकर चला ऐसा नहीं कहा जा सकता। रत्नाकर के युग मे देशभक्ति, समाज सुधार आदि विषयो के जो नए स्वर छोड़े जा रहे थे उनकी गूँज रत्नाकर जी के कानो तक भी पहुंची। फलतः नये युग की इन प्रवृत्तियो पर भी रत्नाकर जी ने काव्य रचना की। इन पक्तियो में अंग्रेजी शासन को खरी खोटी सुनाते हुए उन्होने गाँधी जी के तेजस्वी व्यक्तित्व को कितनी स्पष्टता के साथ चित्रित किया है :—

जानि बल पौरुष विहीन दल दीन भयौ,
आपने बिगाने हूँ कटाई जाति काँधी है।
कहे रत्नाकर यों मति गति साधी मची,
जाको क्राँति वेग सो असांति महा आँधी है।
कुटिल कुचारी के निगरिन मुखारी पर,
बक्र चाहि चक्र चरखे की फाल बाँधी है।
ग्रसित गुरंड ग्राह आरत अथाह परे,
भारत गयन्द कौ गुविद भयों गाँधी है॥

इतना अवश्य है कि रत्नाकर जी राजभक्तो की कड़ी भर्त्सना करते हुए भारतीय नवजागरण के अधिक गीत न गा सके। इसका एक कारण भी था। रत्नाकर जी अयोध्या नरेश के आश्रित थे जिन्हें कि अंग्रेजी राजभक्ति का बाना धारण करना पडता था। फलतः इस दिशा मे रत्नाकर जी की भावनाए कुंठित ही रहीं। वे अधिक स्पष्ट और अधिक तीव्र न हो सकी। लेकिन उनके जीवन

की परिस्थितियाँ इन भावनाओ को दबा न सकी । वे दूसरे रूप में प्रस्फुटित हुई, और वह रूप था भारत के प्राचीन अतीत का गौरवगान । स्वतन्त्रता के ज्योतिर्मय पु ज महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, रानी लक्ष्मीबाई को लेकर अपने वीराष्टक मे उन्होंने जो वीर प्रशस्तियाँ लिखी हैं, वे कवि की राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हृदय की ज्वलत प्रतीक हैं । ऐसी प्रशस्तियाँ थोड़ी हैं पर जो भी हैं बड़ी महत्वपूर्ण हैं । वे हिन्दी की वीरकाव्य परपरा में कवि को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं ।

प्रबध और मुक्तक इन दोनो ही रूपो मे कवि की काव्य साधना का आलोक विकीर्ण हुआ है । उनकी हरिश्चन्द्र, गगावतरण और हिंडोला प्रभृति प्रबध रचनाओ का ब्रजभाषा काव्य में ऐतिहासिक महत्व है । क्योंकि ब्रज-भाषा में मुक्तक रचनाओ की तो प्रचुरता रही है पर प्रबन्ध रचना इनी गिनी हैं । अपनी प्रबध रचनाओ द्वारा रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा साहित्य के एक निश्चित अभाव की पूर्त्ति की है, इसमे सन्देह नहीं ।

रत्नाकरजी की प्रबन्ध कृतिया खड काव्य का रूप लेकर आई हैं । साहित्य दर्पणकार पण्डित विश्वनाथ ने खड काव्य का लक्षण देते हुए लिखा है :-

तत्तु घटना प्राधान्यात् खंडकाव्यमिति स्मृतम्

अर्थात् खड काव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर चलता है । उसमें किसी महापुरुष के जीवन के एक पहलू अथवा तत्संबधी घटना पर प्रकाश डाला जाता है । इसमें एक ही छन्द का व्यवहार होता है । खण्ड-काव्य की उक्त कसौटी पर रत्नाकर जी की प्रबध कृतियो के मूल्याकण द्वारा निसकोच रूप से उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की जा सकती है ।

हिंडोला कवि की प्रथम प्रबन्ध रचना है । इसमे राधा-कृष्ण के झूला-झूलने का आकर्षण वर्णन है । फलतः कथा की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का विशेष महत्व नहीं है । उसका सच्चा महत्व वस्तुतः ब्रज की वर्षा कालीन प्राकृतिक सुषुमा के चित्रण मे, पुराण ज्ञान और दार्शनिक विचारो के प्रति-पादन में तथा राधाकृष्ण परक सयोग शृङ्गार की रसीली व्यजना मे निहित है । खड काव्य की दृष्टि से कवि की यह प्रौढ़ कृति नही है और न इसमें कवि का पूर्ण विकास ही हुआ है ।

कवि का दूसरा खण्डकाव्य इतिहास प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चद्र की लोक-विश्रुत कथा को लेकर चला है। यह कथा इतनी लोक प्रचलित है कि कथानक की दृष्टि से इसमे किसी प्रकार की मौलिक उद्भावना के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसे खडकाव्यो की सच्ची सफलता वस्तुतः काव्यकौशल और भावो की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति पर निर्भर है। इस दृष्टि से रत्नाकर जी का यह खण्डकाव्य निश्चय ही बड़ा उत्कृष्ट बन पड़ा है। काव्यो की कथा चार सर्गो मे पूर्ण हुई है और समस्त रचना मे केवल रौला छन्द का ही विधान है। प्रबन्ध रचना होने के कारण काव्य यद्यपि वर्णनात्मक है फिर भी उसमें रोचकता सर्वत्र बनी हुई है। कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति ने कथा के मार्मिक स्थलो को खूब परखा है और भाव-विभोर होकर उनका चित्रण किया है। काव्य का जो परम साध्य भाव-व्यजना है, अनेक साधनो की सहायता से कवि ने वहाँ तक पहुंचने की चेष्टा की है। भावो को अनुभूति गम्य बनाने के लिये कवि ने उनका बड़ा यथार्थ चित्रण किया है।

'गंगावतरण' मे कवि की यह प्रबन्ध प्रतिभा पूर्ण वैभव को प्राप्त हुई है। प्रबन्ध रचना के क्षेत्र मे यह कविता ही नहीं व्रजभाषा का उत्कृष्ट तम ग्रन्थ हैं। भावपक्ष और कलापक्ष का जैसा सुन्दर समन्वय इसमे दृष्टव्य है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'गंगावतरण' विशुद्ध पौराणिक आख्यान है, और इसका कथानक मूलतः बाल्मीकि रामायण पर टिका हुआ है। गगावतरण' के प्राक्कथन मे कवि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया हैं कि महारानी अध्योया ने उन्हे उपयुक्त कथानक को काव्यमय रूप प्रदान करने का आदेश दिया था। रत्नाकर जी ने अपने काव्य मे पौराणिकता का रग बनाये रखने के लिये बाल्मीकि रामायण के कथानक को स्थूल रूप में स्वीकार तो किया पर कथा की अभिव्यजना मे उन्होने अपनी भावुकता से काम लिया है।

गगावतरण की कथा १३ सर्गो मे विभक्त है। इसकी रचना भी कवि ने अपने प्रिय छद रोला मे ही की है। प्रायः सभी रसो का इस काव्य मे सुन्दर परिपाक है। कथा के नायक राजा भगीरथ धीरोदत्त नायक हैं। वे लोक-विश्रुत, दूरदर्शी तथा कर्मठ हैं। नायक तथा अन्य पात्रो के चरित्र-चित्रण मे

कवि ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। भाषा, भाव, रस की दृष्टि से यह कृति बड़ी महत्व पूर्ण है।

कवि के काव्य गौरव की श्री सम्पन्नता से मण्डित 'उद्धवशतक' की अमर कृति की गणना भी प्रबन्ध रचना के क्षेत्र मे की जाती है। यद्यपि इसका प्रत्येक छन्द अपने आप मे पूर्ण होने के कारण मुक्तक काव्य की विशेषताओ से युक्त हैं। अपने बाल्यकाल में ही रत्नाकर जी ने भ्रमर गीत से प्रसग को लेकर कुछ पदो की रचना की थी। रत्नाकर जी जैसे मध्य-युगीन मनोवृत्ति के कवि के भ्रमर-गीत प्रसग के प्रति ऐसा तीव्र आग्रह होना स्वाभाविक भी हैं। हिन्दी काव्य साहित्य में श्री [illegible] एक छोटे से प्रसग को लेकर भ्रमरगीत के रूप मे विशाल साहित्य का निर्माण किया गया है। भ्रमरगीत काव्य परम्परा के आदि कवि सूर ने इस प्रसग के माध्यम से गोपियो के वियोगजनित हृदय के जैसे यथार्थ चित्र खीचे, निर्गुण मत पर सगुण साधना के जो प्रहार किये वे अपूर्व थे। सूर के बाद जैसे भ्रमरगीत के प्रसग को लेकर कुछ शेष रहा ही नहीं। पर परवर्त्ती कवियो को भ्रमरगीत का यह प्रसङ्ग इतना आकर्षक प्रतीत हुआ कि राधाकृष्ण के प्रेम को अपने हृदय की वाणी देने वाले सभी कवियो ने भ्रमरगीत को लेकर कुछ न कुछ अवश्य कहा। यहाँ तक कि आधुनिक युग में नए भाव-शिल्प से भ्रमरगीत काव्य की मूर्ति को नया रूप में गढ़ा गया। सत्यनारायण कविरत्न ने उसे राष्ट्रीयता का बाना पहिनाया। हरिऔध और गुप्त जी ने मानवता परक नए दृष्टिकोणो की उसे सामान्य भूमि प्रदान की। पर रत्नाकर जी ने अपने इन समकालीन कवियो की मान्यताओ को अस्वीकार करते हुए मध्ययुग की भावभूमि मे ही संचरण किया। उनका भ्रमरगीत सूरदास और नंददास का आदर्श लेकर चला। यद्यपि उसकी अभिव्यजना शैली पर रीतिकाल का स्पष्ट प्रभाव है। रीतियुग के सर्वाधिक लोकप्रिय छद घनाक्षरी सवैये मे उनके काव्य की समाप्ति हुई है। कवि की अलंकरणमयी रुचि, सूक्तिप्रियता, ऊहात्मकता, सभी पर रीतियुग की छाया है। इस प्रकार उनके भ्रमरगीत की आत्मा तो भक्ति कालीन है, पर उसका शरीर रीतिकालीन है। आधुनिकता की छाप उस पर तनिक भी नहीं है।

भ्रमरगीत परम्परा और रत्नाकर

आधुनिकता के नाम पर इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी रचना आधुनिक काल में हुई है।

प्राचीनता की इस अनुकृति मे रत्नाकर ने अपने को कुछ रूपो मे भिन्न भी रखा है। सूर नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियो ने उद्धव के ब्रज जाने से पूर्व कृष्ण की आतुरता का चित्रण नही किया। उनमे एकागी प्रेम का प्रदर्शन है। पर उद्धव शतक मे कृष्ण भी गोपियो के विरह से व्याकुल है। रत्नाकर जी के भ्रमर गीत की दूसरी विशेषता यह है कि उद्धव शतक मे गोपियाँ उद्धव को मधुप नाम से सम्बोधित तो करती हैं पर उसमे न तो सूर की भाति भ्रमर की प्रधानता ही है और न नन्ददास की भाति भ्रमर का विधिवत प्रवेश ही कराया गया है। अन्य सब बातो मे कवि ने प्राचीनता का ही अनुसरण किया है।

रत्नाकर के भ्रमर गीत की आत्मा सूर की अपेक्षा नन्ददास के अधिक निकट है। उसकी गोपियाँ सूर की भाति भोली न होकर बड़ी बुद्धि प्रवीण और तर्क मयी हैं। वे अपने प्रबल तर्कों से उद्धव के ज्ञान की धज्जियाँ उडा देती हैं। उद्धव के ज्ञान का अहकार गोपियो के तीव्र प्रेम-प्रवाह मे बह जाता है। वे भी ब्रज की धूल को अपने अङ्गो से लगाकर ज्ञानयोगी की अपेक्षा प्रेम योगी का रूप बना मथुरा लौट जाते हैं। हास्य और व्यंग मे भी रत्नाकर की गोपियाँ नन्द और सूर की गोपियो से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। पर रत्नाकर जी के ये व्यग कोरे व्यग नही हैं। उनमे गोपियो ने अपने हृदय की समस्त भाव विह्वलता को और कृष्ण भक्ति के सिद्धान्तो को साकार कर दिया है। सूर और नन्द की भाति रत्नाकरजी की भक्ति भावना भी पुष्टिमार्गीय है। उद्धवशतक के उद्धव अद्वैतवाद के प्रतीक है, और गोपियाँ द्वैतवाद की भूमि पर स्थिति हैं। नन्ददास के भ्रमर गीत की भाति बल्कि उससे भी बढ़कर रत्नाकर के भ्रमर गीत मे कथा की रोचकता है। कथा का पर्यावसान बड़ी नाटकीय शैली मे हुआ है। अभिनयात्मक तथा कथोपकथन प्रधान होने से कथा बड़ी हृदयग्राही हो गई है। भावो की अभिव्यक्ति बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से प्रस्तुत की गई है। सम्पूर्ण काव्य मे वियोग शृंगार का हृदय स्पर्शी चित्रण है। वियोग जनित मार्मिक अनुभूतियो का सफल चित्रण कवि ने किया है। पर

इसकी अभिव्यजना शैली पर ` ` ` ` मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप अंकित है । उद्धव शतक का कोई भी छन्द ऐसा नही हैं जिसमे कवि का उक्ति चमत्कार न हो । कही-कही तो कवि की चमत्कार प्रियता ने रस की अवहेलना की है । वस्तुत कवि की यह कृति रसमय कम, सूक्तिमय अधिक है ।

यह तो हुई कवि की प्रबन्ध रचनाओ की बात, मुक्तक के क्षेत्र मे कवि ने शृगार लहरी, प्रकीर्ण पद्यावली, गगाविष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक प्रभृति कृतियो का प्रणयन किया है । मुक्तक रचनाओ मे जिन गुणो की अपेक्षा होती है वे सब कवि के इन मुक्तको में विद्यमान हैं । कवि का रीतिकालीन रूप अपनी इन मुक्तक रचनाओ मे खूब निखरा है । रीतिकाल की समस्त विशेषताएँ इनमे प्रतिबिम्बित हैं । जीवन की छोटी-छोटी भगिमाओ को लेकर कवि ने बड़े सवाक चित्र खीचे हैं । इसमे सन्देह नही कि रत्नाकरजी प्रबन्धकार होने के साथ-साथ सफल मुक्तककार भी हैं ।

रत्नाकरजी की रचनाओ से जैसा कि स्पष्ट है, उन्होने नव रसो का सुन्दर परिपाक किया है । फिर भी शृगार और वीर उनके सर्वाधिक प्रिय रस हैं, इनमे भी शृंगार मे उनकी वृत्ति अधिक रमी है ।

रस योजना

वैसे तो शृगार रस का चित्रण कवि की प्रत्येक रचना में हुआ है, फिर भी हिडोला, शृंगार लहरी और उद्धव शतक कृतियाँ अधिक महत्वपूर्ण है । हिंडोला और शृंगार लहरी मे सयोग शृगार की प्रधानता है, उद्धव शतक विप्रलम्भ शृगार की रसधारा मे डूबा हुआ है । शृगार रस की योजना में कवि रीतिकाल से स्पष्टतः प्रभावित है । राधाकृष्ण को लेकर उसने उसी लौकिक शृंगार को वाणी दी है जिसकी चेतनारस मे सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य आपादमस्तक निमग्न है । उसके राधाकृष्ण सूर की भाँति अपार्थिव न होकर रीतिकालीन कवियो की भाँति मानवीय हैं । इसीलिए रत्नाकर के काव्य में भक्ति की तल्लीनता न होकर रीतिकालीन कवियो की सी रसिकता है । फिर भी इस शृंगार के बड़े आकर्षक और कलात्मक चित्र हमें कवि ने दिए है । इस प्रिय-मिलन के औत्सुक्य, उत्कण्ठा, अभिलाषा से लेकर मिलन, दर्शन, स्पर्श, सलाप और सभोग तक के सभी प्रसगो से सयोग शृगार की भावभूमि को व्यापक रूप प्रदान किया

है। सयोग शृंगार मे नायक नायिकाओ के मन की विविध दशाओ, उनके कायिक व्यापारो, रस चेष्टाओ और हाव-भावो की बडी रसीली व्यजना कवि ने की है। आतरिक हर्ष से अनुप्राणित, कृत्रिम झुँझलाहट का प्रदर्शन करने वाली नायिका का कितना भावपूर्ण चित्र है—

गूंथन गुपाल बैठे बैनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुज माँहि सुख पाइ के।
कहै रतनाकर संवारि निरवारि बार,
बार बार विवश बिलोकत बिकाइ कै॥
लाइ उर लेते कबौं फेरि गहि छोर लखे,
ऐसे रही ख्यालनि मे लालन लुभाइकै।
कान्ह गति जानि के सुजान मन मोद मानि,
करत कहा है कह्यौ मुरि मुरि मुसकाइ कै॥

रीतिकालीन कवियो की भाँति रत्नाकर का रूप चित्रण भी बड़ा कलात्मक है। उसमे सौदर्य की गरिमा नही स्निग्धता अधिक है। उसमें सौदर्य का सहज स्वाभाविक उल्लास है, देव की भाँति तीव्रता और गहनता नही है। नीचे की पक्तियो से यह बात भली भाति स्पष्ट है :—

जगर मगर ज्योति जागति जवाहिर की,
पाइ प्रतिबिंब ओप आनन उजारी की।
छवि रतनाकर की तरल तरंगनि पै,
मानो जगा जोति होति स्वच्छ सुधाधारी की॥
संग मे सखीगन के जोवन उमंग भरी,
निरखति सोभा हाट बाट की तयारी की।
जित जित जाति वृषभानु की दुलारी फबी,
तित तित जाति दबी दीपति दिबारी की॥

राधा के इस सौंदर्य को कवि के शब्द सौदर्य ने और भी द्विगुणित कर दिया है इसमे सन्देह नही।

रीतिकालीन साहित्य मे घनानन्द को छोड़कर विरह की उत्कृष्ट व्यजना

नही मिलती है। इसीलिए रत्नाकर ने उद्धवशतक के रूप में भक्तिकालीन कवियो का आदर्श लेकर विरह की मार्मिक व्यंजना की है।

वियोग वर्णन उद्धव-शतक की गोपियाँ विरह की सजीव मूर्तियाँ हैं। सजीव मूर्तियाँ हैं यही बात उनके लिए दुखदायी हैं, क्योकि यदि जड़ होती तो सम्भवतः उन्हे विरह की ऐसी दारुण व्यथा मे नहीं दहना पड़ता। उद्धवशतक की पंक्ति पक्ति मे विरहिणी गोपियो का कृष्ण के अनन्य प्रेम और उनके विरह मे स्नात हृदय झाक रहा है। उद्धवशतक के षड़ ऋतु वर्णन में विरहिणियो की जिस दारुण दशा का चित्रण है, वह शब्दकौतुक मात्र ही नही उसमे विरह की अनन्य गम्भीरता और मार्मिकता है। उद्धवशतक के वियोग वर्णन मे एक ओर विशेषता है। जहाँ अन्य कवियो की नायिका ही विरह से दग्ध रहती है, नायक उससे अछूता रहता है, वहाँ रत्नाकर जी ने नायक कृष्ण को भी वियोग से व्यथित बताया है। इस प्रकार रत्नाकर जी का वियोग वर्णन अन्य कवियो की भाति एकांगी नही है।

उद्धवशतक मे ही नहीं अन्य रचनाओ मे भी कवि ने वियोग शृ गार के बड़े मर्म स्पर्शी चित्र अङ्कित किए हैं। विरह से व्यथित उन्मादिनी नायिका का कितना सजीव रूप इन पक्तियो मे उभर उठा है।

टरें हूँ न हेरे दृग फेरे हूँ न फेरे दृग,
बेकल सो वा गुन उधेरति बुनति है।
कहै रतनाकर मगन मन ही मन मे,
जानै कहा आनि मन गौरि के गुनति है।
होति थिर कबहूँ छनेक फिरि एकाएक,
भाँतनि अनेक सीस कबहूँ धुनति है।
घालि गयो जबतै कन्हैया नेह काननि मै,
तब तै न नैकु कछू काहू की सुनति है॥

रत्नाकर जी का विप्रलभ शृङ्गार कहीं-कही उनकी चमत्कार प्रियता, अलकारिता, और शब्दो की करामात से अपना स्वाभाविक सौदर्य खो बैठा है। खडिता, मानदूती प्रयोग आदि के चित्रण मे उन्होने रीतिशास्त्र का स्पष्टतः सहारा भी लिया है, और वे परम्परा भुक्त हैं। उनके वियोग वर्णन

पर उर्दू फारसी शैली का भी प्रभाव है। पर सब कुछ मिलाकर उनकी शृङ्गार व्यजना का यह अङ्ग बड़ा कलात्मक और भावपूर्ण है।

वीररस

शृङ्गार के मधुर गीत गाने वाले इस कवि की वाणी ने वीर रस की ओज भरी हुँकार भी भरी है। वीराष्टक के कवित्तो और गगावतरण के अनेक स्थलो पर यह हुंकार स्पष्टतः प्रतिध्वनित है। इस प्रकार प्रबध और मुक्तक दोनो ही क्षेत्रो मे उन्होने वीर रस की अजस्र धारा प्रवाहित की है। वीररस की इस व्यजना को, कवि ने मन के भावो, शारीरिक मुद्राओ, शौर्यपूर्ण क्रिया व्यापारो, और वीररस पूर्ण वातावरण का चित्रण कर सभी प्रकार से पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। राजा धृतराष्ट्र के राजदरबार मे श्रीकृष्ण की यह वीर मूर्ति कितनी सजीव है। भाव-प्रेरित मुद्राओ और कायिक चेष्टाओ की कितनी स्पष्ट व्यजना है :

त्रिकुटी तनेनी जुटी भृकुटी बिराजैं बक्र,
तोले संख चक्र कर डोले थरकत है।
कहै रतनाकर त्यो रोब की तरग भरे,
रोधित उमंग अंग-अंग फरकत है।
कर्न दुरजोधन दुसासन कौ मान कहा,
प्रान इनके तो पांसुरी मै खरकत है।
भीषम औ द्रोनहूँ सौ बनत न डारे डीठि
नीठि हूँ निहारे नैन तारे तरकत है।

वीर रस के सहायक रौद्र और भयानक रस का भी कवि ने सफलता पूर्वक चित्रण किया है। इसके साथ-साथ वात्सल्य, करुण, शान्त वीभत्स आदि रसो की उत्कृष्ट व्यजना रत्नाकर जी की रचनाओ मे द्रष्टव्य हैं। प्रबन्धकार रत्नाकर जी के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे इतने रसो का विधान अपने काव्य मे इस कौशल के साथ कर सके।

रत्नाकर जी भाव लोक के कुशल चितेरे है। विभिन्न परिस्थितियो के बीच मानव हृदय मे कौन से भाव उत्पन्न होते हैं, रत्नाकर की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से वे छिपे नहीं रहते। वे कुशल चित्रकार की

भाव व्यंजना भाति अपनी काव्य तूलिका से उन भावो का चित्रांकन करते हैं। वे परिस्थिति प्रकृति और हृदय को ऐसी मर्मज्ञता से टटोलते हैं कि उनका सहज स्वाभाविक रूप बड़े मनोवैज्ञानिक और सजीव रूप मे मूर्तिमान हो उठता है। उद्धव के ब्रज पहुचने पर जब गोपियो को ज्ञात होता है कि कोई उनके प्रिय कृष्ण का संदेश लेकर आया, तब नीचे की पक्तियो मे कवि ने सीधे सादे शब्द सकेतो से उनके हृदय को उनकी अवस्था के चित्र को एक दूर खड़े फोटोग्राफर की भाति उतार कर रख दिया है:—

> उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
> पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी।
> हम को लिख्यो है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
> हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगी॥

मन में जैसे भाव उठते हैं, हमारी भाव मुद्राएँ, हमारी चेष्टाएँ भी वैसी बन जाती हैं। रत्नाकरजी इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भली-भाति परिचित हैं। गंगा आगमन के समय भयभीत सुर सुन्दरियो की चेष्टाओ का इसीलिए वे सजीव चित्राकण कर सके हैं—

> सुर सुन्दरी ससंक बंक दीरघ द्दग कीने।
> लगीं मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने॥

रत्नाकर जी की भाव व्यजना की सबसे बड़ी शक्ति वास्तव मे उसकी लाक्षणिक सौंदर्य, उसकी रस भरी सूक्तियाँ, उसकी नवनवोन्मेष शालिनी कल्पनाएँ और चित्रोपमता है। विविध अनुभूतियो के चित्रण मे कवि ने बड़ी रमणीय और मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। लाक्षणिक शक्ति का बल पाकर कवि का यह कल्पना सौन्दर्य और भी निखर उठा है। उद्धव शतक काव्य की प्रत्येक पक्ति इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। निश्चय ही रत्नाकर शब्दो की कारामात में और कला के सूक्ष्म जड़ाव मे किसी रीतिकालीन कवि से कम नही है।

रत्नाकर की काव्य प्रतिभा अलंकार योजना मे खूब खिली है। भावो को

सरकार रूप देने मे तथा वस्तु के रूप, गुण, क्रिया व्यापारो को मूर्तिमान बनाने मे उन्होने अलकारो का खूब उपयोग किया

अलंकार योजना है। मध्य कालीन कवियो से प्रभावित कवि के लिये अधिक अलंकार प्रिय होना स्वाभाविक भी है। पर रत्नाकर ने रीतिकालीन कवियों की भाति अलकारो को अनावश्यक महत्व नहीं दिया। उन्होने सर्वत्र अलकारो की मर्यादा का ध्यान रखा है। उनकी कविता अलकारो के लिये नही वरन अलंकार कविता के लिये थे। फलतः कवि की कविता कही भी अलकार भाराक्रात नही हुई। कविता के नैसर्गिक सौन्दर्य का विकास सहज और स्वाभाविक है। अलकारो के प्रयोग से वह निखर उठा है। कहीं-कही तो कवि ने स्वाभाविकता को ही अलकार के साँचे मे ढाल दिया है। जिन अलंकारो को लेकर अन्य कवियो ने बड़े अस्वाभाविक चित्र गढ़े हैं, उन्हीं अलकारो मे अपनी नवनवोन्मेषशालनी कल्पना सौन्दर्य का पुट देकर बड़े रमणीय काव्य की सृष्टि की है।

रत्नाकर जी अपने युग के सबसे अधिक अलकार प्रिय कवि हैं। उनकी रचना का प्रत्येक छन्द अलकारो की सुषमा से सम्पन्न है। उनके युग के अन्य किसी कवि ने सभवतः उनके बराबर अलकारो का प्रयोग किया ही नहीं। रत्नाकरजी का अत्यन्त प्रिय अलकार साग रूपक है। साग रूपक का जैसा सफल निरूपण उनके हाथो हुआ है वैसा हिदी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। उद्धव शतक का यह साँग रूपक कितना सागोपाँग है—

> राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सो,
> प्रेम रत्नाकर हिये यो उमगत है ॥
> त्यौं ही विरहातप प्रचण्ड सो उमंडि अति,
> ऊरध उसाँस की झकोर यो जगत है ।
> केवट विचार को विचारौ पचि हारि जात,
> होत गुनपाल ततकाल नभ गत है ॥
> करत गम्भीर धीर लंगर न काज कछू,
> मन को जहाज डगि डूबन लगत है ।

रत्नाकर जी के काव्य से एक नहीं अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते

हैं। रूपक अलकार ही नहीं रत्नाकर जी के काव्य मे सभी प्रमुख अलकारो की ऐसी ही चमत्कार पूर्ण, पर भावमयी योजना है। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि शब्दालकारो, उपमा उत्प्रेक्षा, विभावना, प्रतीप, व्यतिरेक, ब्याज स्तुति, स्मरण आदि अर्थालकारो का सौन्दर्य देखना हो तो रत्नाकर जी की के काव्य को छोड़कर वह भला कहाँ प्राप्त होगा ?

छन्द

अलकारो की भाति ही छन्द योजना मे रत्नाकर जी सिद्ध हस्त हैं। पिगल शास्त्र के रत्नाकर जी पण्डित थे, और उन्होने अपने इस ज्ञान से इस क्षेत्र मे खूब लाभ उठाया है। उनके सभी छंद विषयानुकूल है, और काव्य का सच्चा आनन्द प्रदान करने वाले हैं। सगीत के माधुर्य से वे अनुप्राणित हैं और उनकी गति निश्चय ही बड़ी मस्तानी है। अपनी शृगार और वीर रस प्रधान रचनाओ मे कवि ने कवित्त छन्द का प्रयोग किया है। प्रबन्ध रचनाओ में रोला उनका प्रिय छन्द रहा है। रोला छन्द के रत्नाकर एक प्रकार से सम्राट है। इस छन्द के माध्यम से उन्होने सभी रसो का सुन्दर उद्रेक किया है। इसके अतिरिक्त, दोहा, छप्पय, कुण्डलियाँ, उल्लाला और सवैया छन्दो में भी कवि ने अपनी रचनाओं का विधान किया है।

प्रकृति चित्रण

रत्नाकर जी के काव्य मे प्रकृति के मनोरम चित्रो की कमी नही है। उन्होने प्रकृति का उद्दीपन रूप मे ही चित्रण नही किया वरन उसे आलम्बन रूप मे भी ग्रहण किया है। उनकी हिडोला कृति ऋतु सम्बन्धी अष्टक और गगावतरण के प्राकृतिक स्थलों का वर्णन इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वर्षा ऋतु का नीचे की पक्तियो मे कैसा सश्लिष्ट चित्रण है—

छाई सुभ सुखमा सुहाई रितु पावस की,
पूरब मे पश्चिम मे उत्तर उदीची मे।
कहै रतनाकर कदम्ब पुलके है बन,
लरजे लवंग लता ललित बगीची मे॥
अवनि अकास मे अपूरब मची है धूम,
भूमि से रहे है रुचि सुरस उलीची मे।

हिरकि रही है इत मोर सो मयूरी उत,
थिरक रही है बिज्जु बादर दरीची मे ॥

यद्यपि कहीं-कहीं रत्नाकर जी का प्रकृति चित्रण अलकार प्रधान और कवि की चमत्कार प्रियता का द्योतकमात्र बनकर रह गया है, फिर भी ऐसे स्थल अधिक नही हैं। उनका प्रकृति चित्रण अपनी सहज सुषमा को लिए हुए है। इतना अवश्य है कि उन्होने अपने प्रकृति चित्रण मे अपने पूर्ववर्त्ती सभी कवियो की शैली को अपनाया है। सस्कृत कवियो के समान उसे आलम्बन रूप दिया है, तथा मध्ययुगीन हिन्दी कवियो की भाँति उद्दीपन रूप मे, अलकार योजना मे सहायक रूप मे तथा उपदेशात्मक सकेतो के रूप मे भी अपनाया है। हाँ, छायावादी कवियो की भाँति उसे मानवीय रूप अवश्य नहीं प्रदान किया।

भाषा और शैली

खड़ी बोली के युग मे ब्रजभाषा को अपनाकर अपनी कविता का स्वर-सधान करना रत्नाकर जी जैसे साहसी का काम था। जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ़ प्रतिभा और देश व्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खड़ी बोली को अपना सौभाग्य सौप कर विवश पडी हो, उस माननी को सात्वना देने के लिए किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी। ब्रज की वह सभ्य सुन्दरी जब ग्रामीण और अनुपयोगी कही जा रही हो, तब उसके रोष-दीप्त मुख के अश्रु मुक्ताओ को सॅभालने के लिए बहुत बडी सहानुभूति अपेक्षित है (नन्ददुलारे वाजपेयी)। यह सहानुभूति ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी रत्नाकर के रोम-रोम मे बिधी हुई थी। इसीलिए रत्नाकर को पाकर ब्रजभाषा कृतकृत्य हो गई। उसकी टिमटिमाती लौ उसके स्नेह स्पर्श से पुनः निर्धूम प्रकाश से प्रज्ज्वलित हो उठी।

ब्रजभाषा पर रत्नाकर जी का कितना व्यापक अधिकार था यह उनकी रचनाओ के अनुशीलन से भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। ब्रजभाषा के बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन्होने रत्नाकर की भाँति उसकी प्रकृति को वास्तविक रूप में परखा हो। यही कारण है कि रत्नाकर जी सस्कृति की पदावली को इतनी सुघड़ता के साथ ब्रजभाषा मे गूॅथ सके हैं। उन्होने अन्य बोलियो के शब्दो

को ब्रजभाषा के साँचे में इस प्रकार ढाल दिया है कि 'गमकावत, अजगुतहाई, पराना शब्दो का प्रयोग कहीं अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। ब्रजभाषा कहीं भी अपना निजत्व नही खोती। सत्य तो यह है कि रत्नाकर जी की भाषा बड़ी प्रौढ शुद्ध और साहित्यक थी। ब्रजभाषा के सभी गुण उसमें पूर्णता के साथ विद्यमान हैं।

रत्नाकर जी की भाषा की सबसे बडी विशेषता कहावतो, मुहावरो का प्रचुर और सफल प्रयोग है। इससे उनकी भाषा में अपूर्व लाक्षणिक सौदर्य का समावेश हुआ है तथा भाव-व्यजना को बड़ा प्रवाह मिला है। कहावतो और मुहावरो के प्रयोग ने रत्नाकर जी की भाषा को बडा सजीव और आकर्षक बना दिया है। आँखो का पानी गिरना, जिन्दगी से हाथ धोना, आँख खुलना, मन लेना, आँखे दिखाना, अन्धे के आगे रोना अपना दीदा खोना, होम करते हाथ जलना, घोड़े बेचकर सो रहना आदि अनेक लोकोक्तियाँ और मुहावरे उनकी रचनाओ मे बिखरे पड़े हैं।

ब्रजभाषा का स्वाभाविक माधुर्य उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। यद्यपि गगावतरण की अनेक पक्तियो मे सस्कृत की समासात पदावली के कारण भाषा बहुत बोझिल हो गई है, फिर भी उसने अपने माधुर्य को नहीं खोया है। उन्होने अधिकार पूर्ण कौशल से सस्कृत के तत्सम शब्दो को ब्रज-भाषा में ढाल लिया है। रत्नाकर जी की भाषा सर्वत्र भावानुकूल है। शृंगार के चित्रण मे जहाँ कोमल है, वहीं वीररस के भावो में बहती हुई परुष बन गई है।

रत्नाकर जी की भाषा की सबसे बडी विशेषता उसका टकसालीपन, व्याकरण के नियमो से उसका अनुशासित और परिष्कृत रूप है। जिस प्रकार द्विवेदी जी ने अपने प्रयत्न से खड़ी बोली को व्याकरण सम्मत एव साहित्यिक रूप प्रदान किया था उसी प्रकार रत्नाकर जी ने भाषा का शुद्ध और परिष्कृत रूप हिन्दी जगत के समक्ष प्रस्तुत किया था।

रत्नाकरजी के काव्य विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि वे काव्य के क्षेत्र में अन्यतम प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। भाव, भाषा, छुन्द, शैली सभी दृष्टियो से वे रीतिकाल के बड़े से बड़े कवि की टक्कर के कवि हैं। यह सत्य

है कि वे अपने युग के नवीन जीवन दर्शन और नूतन सस्कृति का स्पर्श न कर सके, पर इस दृष्टि से उनका महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं किया जा सकता। अपने समय के सभी कवियो मे चाहे वह ब्रजभाषा के हो अथवा खड़ीबोली के, काव्य और कला की दृष्टि से रत्नाकरजी का स्थान सर्वोपरि है। उन जैसी रससिक्त कला की सूक्ष्म पच्चीकारी के समक्ष द्विवेदी युग का इतिवृत्तात्मक खड़ी बोली काव्य तो शिशु सा जान पड़ता है। यही कारण है कि नये युग के उन्मेष में जब पुरातन के विरुद्ध तीव्र आदोलन की क्रान्ति छिड़ी तब भी रत्नाकरजी के काव्य ने अपनी महत्ता, अपने आकर्षण को बनाए रखा है। नये युग के कोलाहल मे भी उनके पुरातन का सगीत बड़ा प्रबल, बड़ा स्पष्ट और बड़ा मधुर है। इसमें सन्देह नही कि यदि आधुनिक हिन्दी का कोई कवि प्राचीन पन्थ पर चलने का साहस कर सफल मनोरथ हो सका है तो वे रत्नाकर जी हैं।

———

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतेन्दु की मार्ग विधायक शक्ति ने जिस साहित्य क्रॉति का सृजन किया उसके पोषण का उत्तरदायित्व प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ग्रहण किया। साहित्य-क्षितिज पर हिन्दी की इस अप्रतिम विभूति के उदय होते ही आधुनिक साहित्य की वह प्रथम उन्मेष वेला आलोक भरे प्रभात मे बदल गई। हिन्दी भाषा और साहित्य के लोक में द्विवेदी जी का आगमन वस्तुतः एक युगातर कारी घटना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की असमय मृत्यु से हिन्दी के उत्कर्षोन्मुख जीवन मे जो शैथिल्य भर गया था, द्विवेदी को पाकर उसने पुनः नव्य स्फूर्ति और गतिशील चेतना का रूप लिया। द्विवेदी जी मानों हिन्दी साहित्य कानन के ऋतुराज बसंत थे। उनके आगमन पर नए भाव प्रसून खिल उठे, नई विचार कलिकाएं प्रस्फुटित हुई, साहित्य विटपो से नई शाखाए फूट पड़ीं और वे नई चेतना की हरीभरी कोपलो से लद गईं। समस्त साहित्य कानन अनेक कवि-कोकिलो के मधुर स्वर से गूंज उठा। उसमें नए जीवन, नए प्राणो का सचार हुआ। हिन्दी साहित्य अब स्थिर और दृढ़ कदमो के साथ निश्चित आदर्शों और निश्चित ध्येय का सम्बल लेकर विकास की ठोस राह पर अपने नायक के पीछे चलने लगा।

अपने नायकत्व में द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अभाव की पूर्ति की। जिस खड़ी बोली के माध्यम से नवयुग के साहित्य की प्राचीरे खडित की जा रही थी, गद्य की भूमि पर तो उसका अधिकार होगया था पर

काव्य के क्षेत्र मे ब्रजभाषा उसे यह अधिकार सौपने को प्रस्तुत न थी। खड़ी बोली के किशोर व्यक्तित्व मे अभी इतनी शक्ति भी नही आ पाई थी कि वह ब्रजभाषा जैसी विभूति सपन्न साहित्यिक भाषा को उसके गौरवमय पद से विलग कर स्वय वह स्थान ग्रहण करे। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को यह क्षमता और शक्ति प्रदान कर उसके अधिकार पक्ष का जोरदार समर्थन किया। फल यह हुआ कि खड़ी बोली साहित्य के सपूर्ण अङ्गों की सम्राज्ञी बन गई। द्विवेदी जी के हस्तक्षेप से बेचारी ब्रजभाषा को साहित्यिक क्षेत्र से अलग हठ जाना पड़ा। द्विवेदी जी की कुशल साहित्य नीति के कारण खड़ी बोली का भण्डार भी अमूल्य काव्य कृतियो की शोभा से सपन्न होने लगा। द्विवेदी जी स्वय कवि नहीं थे, पर वे युगातकारी सूत्रधार अवश्य थे। उनकी प्रेरक शक्ति ने हमे मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', प० रामनरेश त्रिपाठी, [illegible]. श्रीधर पाठक, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही जैसे कवि प्रदान किए। भाव, भाषा, छन्द सभी में द्विवेदी जी उनके पथ प्रदर्शक बने। इसीलिए इस युग की काव्यधारा पर द्विवेदीजी के व्यक्तित्व, उनकी रुचि उनकी मान्यताओं की स्पष्ट छाप है।

गद्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का यह नायकत्व और भी प्रबल है। द्विवेदी जी से पूर्व गद्य की भाषा स्थिर तो बन गई पर वह प्राजल परिष्कृत और व्याकरण सम्मत रूप न ले सकी। उनके पूर्ववर्ती सभी गद्य लेखको की रच-नाएँ व्याकरण की भद्दी भूलो से भरी रहती थी। विरामादि चिह्नो का अशुद्ध प्रयोग किया जाता था था। वाक्य विन्यास पर अ ग्रेजी शैली का अवाछनीय प्रभाव पड़ रहा था। साहित्य के स्वस्थ निर्माण के लिये भाषा की इन त्रुटियो का सुधार आवश्यक था। द्विवेदी जी इस दिशा में आगे बढ़े। उन्होने खडी बोली को उसकी कमजोरियो से अवगत कराया, उन्हें दूर करने का मार्ग सुझाया, और वे स्वयं ही इसके मार्ग दर्शक बने। उन्होने अपने युग के गद्य लेखको को शुद्ध, प्राजल और व्याकरण सम्मत भाषा लिखने की प्रेरणा दी और अपनी रचनाओ द्वारा उनके सम्मुख भाषा का आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होने भाषा व्यजक शक्ति को बढाकर सभी प्रकार के साहित्य निर्माण के लिये उसको

सक्षम बनाया। उनकी प्रेरणा से नाटक, उपन्यास, निबन्ध आलोचना आदि के सभी अङ्गो का अद्भुत विकास हुआ। नाटक मे जयशंकर प्रसाद, उपन्यास मे प्रेमचन्द और निबन्ध तथा आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल जैसी प्रतिभाएँ अवतीर्ण हुईं। इस प्रकार द्विवेदी जी की छत्रछाया मे आधुनिक साहित्य हर दृष्टि से फूला, उसका चौमुखी विकास हुआ, समृद्धि के उच्च मानो का उसने स्पर्श किया।

तत्कालीन साहित्य ससार की स्वच्छन्द मनोवृत्तियो को अनुशासित करने के लिये जैसी कर्मठता और प्रतिभा अपेक्षित थी द्विवेदी जी मे वह कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसीलिए बीस वर्ष के लम्बे समय तक अपने युग की समस्त साहित्यिक गति विधियो के केन्द्र बिन्दु बन उन्होने बड़े अनुशासन के साथ हिन्दी साहित्योत्थान के कार्य का सचालन किया। पत्रकार, निबन्धकार आलोचक, कवि, शिक्षक हिन्दी भाषा प्रचारक, गद्य पद्य परिष्कारक रूप में उनका साहित्यिक जीवन सतत् क्रिया शील रहा। हिन्दी ससार उससे इतना प्रभावित हुआ कि द्विवेदी जी का यह साहित्य साधना काल 'द्विवेदी युग' के नाम से साहित्य के इतिहास मे प्रख्यात है।

रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में आचार्य प्रवर पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म वैशाख शुक्ल ४, सवत् १६२१ को हुआ था। पिता

जीवन परिचय

रामसहाय ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में थे। सन १८५७ की जन-क्रान्ति मे उन्होने भी विद्रोहियो का साथ दिया। विद्रोह की समाप्ति पर वे बम्बई जाकर नौकरी करने लगे। उन्हे महावीर का इष्ट था। इसीलिए उन्होने अपने पुत्र का नाम महावीर सहाय रक्खा। जन्म के आध घण्टे पश्चात् ही उन्होने बालक की जिह्वा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अङ्कित किया। कुछ बड़े होने पर बालक महावीर सहाय अपने गाँव की पाठशाला मे प्रविष्ट हुए। हिन्दी, उर्दू गणित की प्रारम्भिक शिक्षा उन्होने यहीं से प्राप्त की। अपने चाचा की सहायता से दुर्गा सप्तशती, विष्णु सहस्र नाम, महूर्त चितामणि और अमर कोष के कुछ अंश कठाग्र कर लिए। पाठशाला की शिक्षा समाप्त होने पर जो प्रमाण-पत्र बालक को मिला उसमें उसका नाम महावीर प्रसाद था। यही

नाम आगे चलकर स्थायी बन गया।

आगे की अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए महावीर प्रसाद रायबरेली के जिला स्कूल में प्रविष्ट हुए। घर की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण होने से तेरह वर्ष की आयु के इस बालक को प्रतिदिन आटा-दाल पीठपर लादकर अपने गॉव से स्कूल तक अठारह कोस पैदल जाना पड़ता था। इस स्कूल मे सस्कृत न होने से महावीर प्रसाद को वैकल्पिक विषय फारसी का अध्ययन करना पड़ा। कुछ समय उपरान्त यह स्कूल ही टूट गया और द्विवेदी जी उन्नाव चले आए। पर यहाँ उनका जी नहीं लगा। इसी बीच उनका विवाह हो गया। वे अपने पिता के पास बम्बई चले गये। वहीं उन्होंने सस्कृत, गुजराती, अँग्रेजी, मराठी का थोड़ा सा अभ्यास किया। उनके पडौस मे रेलवे के अनेक क्लर्क रहते थे। द्विवेदी जी ने भी उन जैसा ही बनने के लिये रेलवे में नौकरी करली पर बम्बई में उनका चित्त नहीं रमा। वे पुनः अपने गॉव चले आए। भाग्य उन्हें अजमेर खीच ले गया। वहाँ भी १५) मासिक पर रेलवे में नौकरी करली। इन पन्द्रह रुपयो में से वे ५) घर भेजते थे, ५) से अपना खर्च चलाते थे और ५) मे एक गृह-शिक्षक रखकर विद्याध्ययन करते थे। सरस्वती साधना के प्रति इस महाव्रती की प्रारम्भ से ही कितनी रुचि और कितनी श्रद्धा थी।

अजमेर से द्विवेदी जी पुनः बम्बई आ गए और तार का कार्य सीख कर जी० आई० पी० रेलवे मे सिग्नलर बन गए। इसी पद पर उन्नति करते-करते वे माल बाबू, स्टेशन मास्टर बन गए। तदुपरात झाँसी आकर टेलीग्राफ इन्सपेक्टर नियुक्त हुए। उनकी कार्य कुशलता से उनके अधिकारी गण बडे प्रसन्न थे। फलतः द्विवेदी जी शीघ्र ही डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिटेंडेट के आफिस मे चीफ क्लर्क बन गए। इस पद पर रह कर द्विवेदी जी को बहुत कार्य करना पड़ता था। सुपरिटेंडेंट महोदय का भी सारा कार्य वे ही सभालते थे। बहुत दिनो तक द्विवेदी जी अपने अधिकारी की इस अनीति को सहन करते रहे। पर अधिक दिन तक उनका आत्मसम्मान इसकी गवाही न दे सका। द्विवेदीजी ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और वे १५०) मासिक की भरी पूरी नौकरी पर लात मार कर कानपुर चले आये और फिर उन्होने सरस्वती के सम्पादन

का का भार अपने कधो पर लिया। द्विवेदी जी के जीवन का यह मोड़ हिंदी के लिये ऐतिहासिक घटना थी। हिन्दी का परम सौभाग्य था कि उसके सपूत ने लक्ष्मी का क्षीरसागर छोड़कर सरस्वती की कुटिया में निवास किया। जिस दिन द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक बने हिन्दी के इतिहास मे नए युग का सूत्रपात हुआ।

सत्रह वर्ष तक द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक रहे। सपादन काल में उन्हे शक्ति से अधिक परिश्रम करना पड़ता था। इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। सन् १६२० में सम्पादन कार्य से अवकाश ग्रहण वे गॉव चले आए। यहॉ कुछ दिनो सरपच रहे। जीवन के अन्तिम दिनो में वे रोग ग्रस्त हो गए। रोग निवारण के लिये बहुत चिकित्सा की गई, पर सब प्रयत्न निष्फल हुए। सन् १६३८ ई० की २१ दिसम्बर को हिन्दी साहित्य का यह महारथी साहित्य ससार को विलखता छोड़ स्वर्ग प्रयाण कर गया।

द्विवेदी का यह सम्पूर्ण जीवन सतत् साधना से गढ़ा राजकीय सेवा, सार्वजनिक सेवा और साहित्य सेवा का जीवन था। राजकीय सेवा में रहकर वे एक साधारण से पद से उन्नति करते-करते कितने ऊॅचे पहुंच गए यह स्पष्ट ही है। सार्वजनिक सेवा भरा जीवन भी उनका कम महत्व पूर्ण नहीं था। रेलवे मे नौकरी करते हुये उन्होने सैकड़ों लोगों की जीविका लगवा दी थी। गावो की दशा सुधारने के लिये वे सदैव उद्योगशील रहे। उनके ही प्रयत्न से ग्राम्य पचायत कानून पास हुआ, और वे अपने गॉव के सर्व प्रथम सरपंच चुने गये। उन्होने अपने गाव में डाकघर, प्राइमरी स्कूल, पशुशाला, औषधिशाला खुलवाई। गाव के सभी लोग उनसे बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते थे। द्विवेदीजी भी उनके सुख दुख मे सदैव भागी बनते थे।

पर उनका साहित्यिक जीवन इन सबसे महत्वपूर्ण था। अपने अध्यवसाय से उन्होने हिन्दी, सस्कृत, अंग्रेजी ही नहीं बगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, फारसी, भाषाओ का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। रेलवे में काम करते हुये वे 'सरस्वती' पत्रिका में नियमित रूप से लिखते थे। सरस्वती के सम्पादक बनने पर उन्होने हिन्दी के उन्नयन में जो योगदान दिया वह स्पष्ट ही है। इस कार्य भार से अवकाश ग्रहण करने पर भी साहित्य ससार से उनका सम्पर्क

बना रहा। यद्यपि द्विवेदीजी का पारिवारिक जीवन सुखी नही था, आर्थिक चिन्ताओ से वे मुक्त नहीं थे, स्वास्थ्य भी उनका ठीक नही रहता था, फिर भी इन सब कठिनाइयों का सहर्ष स्वागत करते हुये वे साहित्य साधना मे सतत रत रहे। उनकी इस साहित्य सेवा का हिन्दी प्रेमियो ने हृदय खोलकर स्वागत भी किया। सं० १९८८ मे काशी नागरी प्रचारणी सभा ने हिन्दी का सर्व प्रथम आचार्य मान कर उन्हे सम्मान प्रदान किया। सं० १९९० मे उन्हे अभिनन्दन ग्रथ भेट किया गया। इसी वर्ष डा० गगा नाथ झा के सभापतित्व मे 'द्विवेदी मेले' का आयोजन किया गया। इतना अधिक सम्मान अब तक हिन्दी के किसी लेखक को प्राप्त नहीं हुआ था। जब द्विवेदी जी गाव मे रहते थे सभी साहित्य प्रेमी उनके दर्शनो के लिये आते थे।

भरा पूरा डील डौल, रोबदार चेहरा जिस पर केसरी की सी बिखरी हुई घनी मूँछे, तेजस्विता से भरी आँखे, प्रशस्त ललाट इन सबने द्विवेदी जी के बाह्य व्यक्तित्व को विशिष्ट रूप से गढ़ा था। उनके इस तेजस्वी, व्यक्तित्व पर सयम अनुशासन और गम्भीरता की स्पष्ट छाप थी। अन्दर से भी वे इतने ही कर्मठ दृढ़ और आत्म विश्वासी थे। आत्म सम्मान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। यह इसी का परिणाम था कि द्विवेदी जी १५०) की रेलवी नौकरी को ठुकरा कर २३) मासिक वृत्ति पर सम्पादक बने। उनके इसी आत्म विश्वास और आत्म सम्मान ने उन्हे बड़ा खरा और स्पष्ट वादी बनाया। सत्य बात कहने मे उन्हें तनिक भी हिचक नहीं थी। अनुचित बात को वे तनिक भी सहन नही कर सकते थे। अपने इस गुण के कारण लोगो को द्विवेदी बड़े कठोर और उग्र जान पड़ते थे। पर वास्तव मे द्विवेदी जी चाटुकारिता, आडम्बर, और कपटाचार के प्रति कठोर थे। व्यर्थ का आडम्बर चाहे वह किसी व्यक्ति, चरित्र, आचार-विचार, वेश-भूषा, वाणी, साहित्य से संबध रखता हो, द्विवेदी जी को तनिक भी रुचिकर न था। द्विवेदी जी स्वय बड़ा सीधा सादा और सरल जीवन व्यतीत करते थे। उनके मन, वचन और कार्य मे अभिन्नता थी। जो कुछ उनके मन में होता वही उनके बचनो और कार्यो मे प्रगट होता।

व्यक्तित्व

वैसे द्विवेदी जी बड़े सहृदय और सरल थे। गुणी जनो का बड़ा आदर

सम्मान करते। उनकी सी गुण ग्राहकता विरलो मे ही मिलती है। लोगो की बुराइयो की जितनी वे आलोचना करते थे, उससे कही अधिक गुणों की प्रशसा करते थे। अपनी सच्ची आलोचना से भी वे प्रसन्न होते थे। उनकी सरलता उनकी हास्य और विनोद प्रियता मे देखी जाती है। वास्तव में द्विवेदी जी गम्भीर होते हुए भी शुष्क नही थे। द्विवेदी जी की गम्भीरता वास्तव मे उनकी अनुशासन प्रियता मे थी। अव्यवस्था और अशुद्धता उन्हे तनिक भी पसन्द नही थी। उनका दैनिक जीवन बड़ा नियमत और सयमित था। अनेक वस्तुओ से भरा रहने पर भी उनका कमरा बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से सजा हुआ रहता था। प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्थान पर रखी जाती थी। वे अपने कमरे के सामान और पुस्तको की सफाई अपने हाथो से करते थे। अकर्मण्यता उच्छृंखलता और लापरवाही से उन्हे बड़ी चिढ़ थी। आलसी और प्रमादी लोग सदैव उनकी भर्त्सना के पात्र बने रहते थे। अपने इसी गुण के कारण द्विवेदी जी ने जो भी कार्य हाथ मे लिया, पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ उसे पूरा किया। उनके इसी दृढ़, कर्मठ और अनुशासित लौह व्यक्तित्व ने उनकी साधना मे इतना तेज, इतनी स्फूर्ति, इतना जीवन भर दिया था कि वे अपने समय की अव्यवस्थित, उच्छृखल और स्वच्छन्द साहित्य धारा को मर्यादा और अनुशासन की समस्याओ मे बॉध सके।

द्विवेदी जी की साहित्य सेवा का क्षेत्र कितना व्यापक था इसका अनुमान उनकी रचनाओ से भली भाति लगाया जा सकता है। उन्होने इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, पुरातत्व, समाज शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, काव्य, सभी विषयो पर लिखा है। उनके छोटे बड़े ग्रन्थो की सख्या कुल मिलाकर ८१ है। उन्होने बालकों के लिये, तरुणों के लिये, महिलाओ के लिए, साधारण जनो के लिए, विद्वत समाज के लिए ग्रन्थ रचना की और हिन्दी साहित्य के भण्डार को सभी प्रकार से वैभव पूर्ण बनाने की चेष्टा की। उनके मौलिक और अनूदित ग्रथ इस प्रकार है:—

रचनाएँ

पद्य—अनूदित (१) विनय विनोद (२) विहार वाटिका, (३) गगा लहरी, (४) ऋतु तरंगिणी (५) कुमार सम्भव सार, (६) सोहागरात।

मौलिक (१) देवी स्तुति शतक (२) नागरी (३) काव्य मजूषा, (४) कविता कलाप (५) काव्य कुब्जली व्रतम् (६) समाचार पत्र सम्पादक स्तवः ।

गद्यः—अनुवाद (१) कामिनी विलास (२) अमृत लहरी, (३) बेकन विचार रत्नावली (४) शिक्षा (५) हिन्दी महाभारत (६) जल चिकित्सा (७) वेणी सहार (८) कुमार सम्भव (६) मेघदूत (१०) किरातार्जुनीय (११) प्राचीन पण्डित और कवि ।

मौलिक—(१) तरुणोपदेश (२) नैषध चरित चर्चा (३) हिन्दी कालिदास की समालोचना (४) वैज्ञानिक कोष (५) नाट्यशास्त्र (६) हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (७) सम्पति शास्त्र (८) कालिदास की निरकुशता (६) कौटिल्य कुठार (१०) अवध के किसानो की बरबादी ।

इसके अतिरिक्त उन्होने कानपुर जिले का भूगोल, शिक्षा सरोज, बाल बोध, हिन्दी की पहली किताब आदि स्कूल की रीडरे भी तैयार की। बनिता विलास, औद्योगिकी, चरित चर्चा, लेखाजलि, विचार विमर्श, साहित्य सीकर, रसज्ञ रजन, साहित्यालाप, गोविन्द कीर्त्तन, महिलामोद, विज्ञान वार्त्ता, आलोचनाजलि, पुरावृत्त सकलन, आत्म निवेदन, विज्ञविनोद, प्राचीन चिह्न, पुरातत्व प्रसग, सकलन आदि कृतियो मे उनके सरस्वती मे प्रकाशित लेखो का संग्रह है ।

द्विवेदी जी अपने युग की समस्त साहित्यक प्रवृत्तियो के केन्द्र थे । फलतः हिन्दी के चौमुखी विकास के लिए उनको साधना ने साहित्य के सभी उपकरणो का उपयोग किया है । वे एक साथ कवि, आलोचक, निबन्ध लेखक, पत्रकार, साहित्य परिष्कार कर्त्ता और साहित्य शिक्षक तो थे ही कवि और गद्य लेखक निर्माता भी थे । इन सभी रूपो मे उनकी साहित्य सेवा बड़ी श्लाघनीय है । नीचे हम उनकी साहित्य साधना के विविध रूपो पर प्रकाश डालेगे ।

साहित्य साधना

सच्चे अर्थों में द्विवेदी जी की साहित्य साधना का वास्तविक आधार उनकी पत्र कारिता है । द्विवेदी जी हिन्दी के महान पत्रकार थे और इस रूप मे उन्होने हिन्दी भाषा के प्रसार और उन्नयन मे जो

पत्रकार कार्य किया वह अभूतपूर्व है । सरस्वती सम्पादन का भार जिस दिन उनके कन्धो पर पड़ा हिन्दी ससार ने भी अपनी बागडोर उनके हाथो में सोप दी । वस्तुतः द्विवेदी जी के सरस्वती सम्पादक का इतिहास ही हिन्दी साहित्य का इतिहास है ।

सन् १६०३ ई० मे द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक बने । उनके सम्पादकत्व मे जो पहला अङ्क प्रकाशित हुआ वह अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण था । सरस्वती के प्रथम अङ्क के साथ हिन्दी मे सच्ची पत्रकारिता का जन्म हुआ । पत्रिका मे विषयो की अनेक रूपता थी । सम्पादकीय टिप्पणियाँ, बाल और महिलोपयोगी रचनाएं, सम सामयिक विषयो पर लेख, साहित्य समाचार, पुस्तक परीक्षा, चित्रो का चित्र परिचय आदि सभी दृष्टियो से उसके कलेवर को शोभा सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया गया । समय की आवश्यकताओ और जन आकॉक्षाओ को पहिचान कर उन्होने इतिहास, पुरातत्व, जीवन चरित, समालोचना, काव्य, उपन्यास, कहानी, दर्शन, विज्ञान, नाटक, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयो पर रोचक सामिग्री पत्रिका के पाठकों को प्रदान की । और ऐसे समय मे जबकि हिन्दी पत्रो की कोई बूझ नहीं थी, द्विवेदी जी की 'सरस्वती' जन समाज के गले का हार बन गई ।

अपने पत्रकार जीवन में द्विवेदी जी का सबसे महत्व पूर्ण कार्य था हिन्दी के अनेक नए लेखको को प्रकाश मे लाना । इन नवोदित साहित्यकारो के लेखो का उचित सशोधन करके वे अपने पत्र मे स्थान देते । सशोधन के कार्य में उन्हे अथक परिश्रम करना पड़ता था पर हिन्दी की सेवा में रत द्विवेदी जी को दूसरी चिता न थी । किस प्रकार हिन्दी साहित्य का भंडार अधिक से अधिक लेखको की विविध विषयो पर प्रणीत रचनाओ द्वारा पुष्ट बने उन्हें अहर्निशि यही धुन लगी रहती थी । अपने इस पुण्य कार्य मे द्विवेदी जी को अन्यान्य सफलता भी मिली । उन्होने केवल देश के ही नहीं विदेशो से भी हिन्दी लेखको को ढू ढ़ निकाला । उनकी 'सरस्वती' के लिए अमेरिका से सत्यदेव भोलादत्त पाडे और रामकुमार खेमका, इगलैंड से सत निहालसिह सुन्दरलाल, कृष्णकुमार माथुर तथा फ्रास से बेनीप्रसाद शुक्ल अपती रचनाएँ प्रेषित करते थे । रामचन्द शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, कामताप्रसाद गुरु, विश-

म्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, गगानाथ झा, लक्ष्मी धर बाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, गोपाल शरणसिंह प्रभृति कवि और लेखको का तो सरस्वती से घनिष्ठ सबन्ध था ही।

द्विवेदी जी की पत्रकारिता का लक्ष्य था, खड़ी बोली काव्य का स्वस्थ निर्माण, गद्य का परिष्कार, हिंदी भाषा का प्रसार, हिन्दी कवियो की मनोभूमि का विकास, हिन्दी साहित्य की विविध शक्तियो का पोषण। पत्रकार रूप में द्विवेदी जी अपने इस महान कार्य मे कहाँ तक सफल मनोरथ हुए अगले पृष्ठो से यह बात भली भाति स्पष्ट है।

अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये पत्रकार द्विवेदी जी ने आलोचक का बाना धारण किया। इस रूप मे जहाँ उन्होने हिन्दी की आलोचना परिपाटी को गति दी वहीं अनेक दिशाओं में हिन्दी साहित्य का सस्कार कर उसे समृद्ध बनाया। उनके आलोचना साहित्य का निर्माण हिन्दी की परिस्थितियों और आवश्यकताओ के अनुसार हुआ है। सस्कृत आचार्यों की भाति छद अलकार रस सबन्धी सिद्धान्त निरूपण मे बौद्धिक श्रम करना उन्हें अभीष्ट न था। उन्होने नाट्य कला से अनभिज्ञ नाटककारो और 'गुलाबकावली' और 'इन्द्र सभा' मे रुचि रखने वाले दर्शको के लिए, 'नाट्य शास्त्र' तथा कवियो और लेखको को सच्चे साहित्य का स्वरूप निर्देशन के लिये 'नायिका भेद, कवि और कविता, आधुनिक कविता, सपादको, समालोचको तथा लेखको का कर्त्तव्य प्रभृति विषयो को लेकर रसज्ञ रंजन की रचना की। इन लेखो मे स्थान-स्थान पर शास्त्रीय आलोचना का प्रतिपादन करते हुये उनका आचार्यत्व रूप बड़ा स्पष्ट है। उनकी सैद्धान्तिक आलोचनाएँ किसी प्रकार के बाद या खडन-मडन की प्रवृत्ति से ग्रसित नही हैं। उनमे सीधे सादे ढंग से सिद्धान्तो के रूप मे द्विवेदीजी की निजी साहित्य मान्यताएँप्रतिपादित हुई हैं।

आलोचक

यह तो हुई आचार्य पद्धति की समालोचना की बात, द्विवेदी जी ने आलोचना के क्षेत्र मे टीका पद्धति को भी अपनाया है। 'नैषध चरित' और 'विक्रमाकदेव चरित' संस्कृत ग्रन्थो की उन्होने टीका रूप मे परिचयात्मक आलोचना की। इसमे उन्होने संस्कृत टीकाकारो की भाँति पदगत अर्थ का

गुण-दोष विवेचन किया। आलोचना के क्षेत्र मे उन्होने खण्डन-मण्डन की शास्त्रार्थ पद्धति को भी अपनाया। ऐसी आलोचनाओ मे विषय का प्रतिपादन करते हुए उनका पाडित्य और तार्किक बल देखते ही बनता है। 'भाषा और व्याकरण' 'भद्दी कविता', 'कालिदास की निरकुशता', उनके ऐसे ही लेख हैं। यही नही, हिन्दी साहित्य की गति के विरोधी तत्त्वो का परिहार करने के लिए उन्होने भाषा बद्ध व्याकरण जैसी दोष मूलक आलोचना कृतियो का भी प्रणयन किया। इस प्रकार द्विवेदी जी ने आलोचना क्षेत्र मे सस्कृत और हिन्दी मे प्रचलित सभी आलोचना पद्धतियो का सहारा लिया।

अपनी इन आलोचनाओ मे यद्यपि द्विवेदी जी ने कोई ठोस साहित्य हमें प्रदान नही किया, फिर भी युग निर्माण की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है। उनका आलोचना साहित्य उनके युग के अनुरूप था। उस युग मे आलोचना के गम्भीर और व्यापक रूप को ग्रहण करने वाला ही कोई नही था फलतः द्विवेदी जी की आलोचनाओ ने छोटे-छोटे निबन्ध और सरल पुस्तिकाओ का रूप लिया। दूसरे अपने युग की साहित्यिक अव्यवस्था, अनिश्चितता और उच्छृङ्खलता के कूड़े-करकट को साफ करने के लिए उनकी आलोचना ने बजाय समीक्षात्मक और सैद्धान्तिक होने के सहारक रूप को अधिक ग्रहण किया। तीसरे द्विवेदी जी के समक्ष आलोचना का कोई परम्परागत आदर्श भी नहीं था। उन्होने युग के अनुरूप अपने आलोचना साहित्य का आदर्श स्वय ग्रहण किया। इसीलिए द्विवेदी जी का आलोचनात्मक रूप भाषा सुधार, रुचि परिष्कार, दोष परिहार और लेखन निर्माण तक ही सीमित रहा है।

वास्तव में आलोचक महावीर प्रसाद द्विवेदी का मूल्याकन उनकी कृतियो के आधार पर नहीं किया जा सकता। डा० उदयभानुसिह के शब्दो में "उन्होने आलोचना को तप के रूप मे स्वीकार किया। उनकी सहारात्मक समीक्षाओ ने लेखको को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी साहित्य की ईहत्ता और इयत्ता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की। साहित्यिक जगत मे जागृति उत्पन्न की, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर मननीय ठोस ग्रन्थों की रचना हो सकी। उनकी सर्जनात्मक समर्थक आलोचनाओ ने मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारो का निर्माण किया

जिनके यशःसौरभ से हिन्दी संसार सुवासित है। ··· ·· ···सच तो यह है कि द्विवेदी जैसा युग निर्माता आलोचक हिन्दी साहित्य मे कोई नही हुआ।

आलोचना के क्षेत्र मे अपने युग की आवश्यकताओ को ध्यान मे रख जो दृष्टिकोण द्विवेदी जी ने अपनाया उनका निबन्ध साहित्य भी वही आदर्श लेकर चला। यही कारण है कि द्विवेदी जी आत्माभिव्यजक और उच्च साहित्यिक तथा कलात्मक निबधों का सृजन कर सके। पर हिन्दी भाषा के प्रसार पाठको की रुचि परिष्कार और ज्ञान वर्द्धन के लिए उन्होने विविध विषयो पर अनेक निबन्धो की रचना की। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्ध आठ भागो मे विभाजित किए जा सकते हैं—साहित्य, जीवन चरित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग-शिल्प, भाषा, अध्यात्म। साहित्यिक निबन्ध विशेषतः कवि लेखक परिचय, ग्रन्थ परिचय, समालोचना, शास्त्रीय विवेचन, सामाजिक साहित्य को लेकर लिखे गए हैं। शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्ध वर्णनात्मक, भावात्मक और चितनात्मक हैं। मनोविज्ञान, अध्यात्म और साहित्य पर लिखे गए निबन्धो मे चितन और विचार की प्रधानता है। विषय की भॉति इनकी शैली मे भी गम्भीरता है। उनके आत्मा, ज्ञान, कविता, नाट्यशास्त्र, प्रतिभा ऐसे ही निबन्ध हैं। ऐसे निबन्धो मे उनका आलोचक रूप अधिक उभरा है। चितनात्मक निबन्धो मे जहॉ मस्तिष्क का योग है, भावात्मक निबन्धो मे हृदय का योग है। उनमे लेखक की सहज अनुभूतियो का मार्मिक प्रकाशन है। 'अनुमोदन का अत' 'सपादक की विदाई' ऐसे ही निबध हैं। इन निबन्धो मे वस्तुतः कविता का सा माधुर्य है। द्विवेदी जी के वर्णनात्मक निबध चार प्रकार के हैं—वस्तुवर्णनात्मक, कथात्मक, आत्म कथात्मक और चरित्रात्मक। इनमे उनके चरित्रात्मक निबध का विशेष महत्त्व है। द्विवेदी जी ने पहले-पहल ऐसे निबधो की परम्परा को हिन्दी साहित्य मे जन्म दिया। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने आवश्यकतानुसार व्यंगात्मक, चित्रात्मक वक्तृतात्मक और सलापात्मक निबधो की भी सृष्टि की।

निबन्ध लेखक

यहॉ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि द्विवेदी जी पहले पत्रकार थे बाद मे लेखक और आलोचक। पत्रकार के रूप मे ही उन्होने निबधो की अवता-

रणा की। स्वतन्त्र रूप से उनकी निबन्धकारिता विकसित न हो सकी। उनके अधिकतर निबध समसामायिक विषयो पर ही हैं। शुद्ध कलात्मक दृष्टि से वे हमे उच्चकोटि का स्थायी निबध साहित्य न दे सके। पर इस दृष्टि से द्विवेदी जी के निबध साहित्य को परखना अनुचित होगा। उनके निबध उनके युग की समस्याओ का समाधान लेकर आए हैं। यदि द्विवेदी जी ऐसे निवंध न लिखते तो वे अपने युग के साथ अन्याय करते। वे उच्चकोटि के निबधकार तो बन जाते पर युग प्रवर्तक साहित्यकार न बन पाते। इसी दृष्टि से द्विवेदी जी के निबध साहित्य का महत्त्व है। वे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को न मानकर उपयोगितावाद को स्वीकार करते हुए चले हैं। फिर भी द्विवेदी जी के कुछ निबध, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, साहित्य की महत्ता, प्रतिभा, कालिदास का स्थिति काल, कालिदास के मेघदूत का रहस्य, हिन्दी साहित्य की अमूल्य और स्थायी धरोहर हैं।

द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य मे उस समय लिखना प्रारम्भ किया जब हिन्दी भाषा व्याकरण की अराजकता से आक्रान्त थी। चातुर्यता, सौन्दर्यता, जिन्हो,

भाषा शैली और भाषा सुधार

निरदई, वरणन, हुवा, उस्के, प्रतिकूल, पूँछिगई आदि व्याकरण विरोधी शब्दो का और 'उसको उसके पिता के मरने का समाचार मिला', 'अपना हित-साधन', 'दुष्टता सूचित करना चाहिए' आदि गलत और अव्यवस्थित वाक्य-विन्यास का प्रयोग गद्य रचनाओ मे निधड़क भाव से होता था। हिन्दी के लेखक जैसा मन में आता वैसा लिखते। भाषा की शुद्धता, प्राजलता और व्याकरण की मर्यादा का उनके सामने न तो कोई आदर्श था और न उन्हें इसकी परवाह ही थी। इस प्रकार निरकुश लेखकों की कलम बेलगाम घोड़ो की भॉति साहित्य क्षेत्र मे सरपट दौड़ने लगी। द्विवेदी जी भाषा की शुद्धता और व्याकरण के नियमो की मर्यादा का आदर्श लेकर भाषा क्षेत्र मे उतरे। लेखको की मनमानी उन जैसा अनुशासन प्रिय सहन नहीं कर सका। हिन्दी भाषा की यह अराजकता और दुर्दशा उनसे देखी नहीं गई। फलतः हिन्दी साहित्य वाटिका को रम्य और स्वच्छ बनाने के लिए एक कुशल माली की भॉति उसके घास फूस को काट छॉट कर साफ किया।

उन्होंने अपने लेखों मे सदोष रचनाओ की तीव्र आलोचना की, सम्पादक पद से लेखको की रचनाओ का संशोधन किया, कवि और लेखको को उनके दोषो से अवगत कराया, तथा शुद्ध भाषा लिखने के लिए उन्है प्रेरित किया। द्विवेदी जी के लौह व्यक्तित्व ने अव्यवस्था मे व्यवस्था उत्पन्न की। उनके साधु प्रयत्न से हिन्दी गद्य की धारा मर्यादा और अनुशासन के उपकूलो में होकर बही।

द्विवेदी जी का यह भाषा सुधार केवल आलोचना और उपदेश कर्म तक सीमित नहीं रहा, उन्होने स्वयं अपनी रचनाओ दारा लेखको के समक्ष साधु-भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये। प्रारम्भ मे स्वय द्विवेदी जी का गद्य व्याकरण की दृष्टि से सदोष, अव्यवस्थित और विश्रङ्खल था। उस पर बगला, मराठी अग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओ के वाक्य विन्यास का प्रभाव था। समुझा, दृष्टी, कीशोरी, प्राणीयों, कारुणिक, यकदम, पहचान, बेचने, दुखदाई, निरदई, आदि अशुद्ध शब्दो का प्रयोग, उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे स्थान-स्थान पर हुआ है। व्याकरण के अनुसार वाक्य रचना भी सदोष होती थी। आघात सहन करना पड़ते हैं, बाण छूटने ही चाहते है। इसी प्रकार पूर्व कालिक क्रियायो, वचनो, लिगों, उपसर्ग, प्रत्यय, विभक्ति सभी की त्रुटियाँ उनमें विद्यमान थीं। इसीलिए उनकी रचनाओ मे असत्य को निर्णय करके चेष्टा न करना चाहिए, जाने को तुझे निषेध नहीं करता, आदि वाक्य मिलते हैं। उन्होने कहीं दम्पत्ति को दम्पत्यका, विद्वता के स्थान पर विद्वानता, हस्तक्षेप के स्थान पर हस्ताक्षेप शब्दो की सृष्टि की है। विरामादि चिह्नो का प्रयोग भी अशुद्ध है। कहावतो तथा मुहावरो की स्थिति भी त्रुटिपूर्ण है। वाक्य में शब्दो का क्रम भी ठीक नहीं है अनेक स्थलो पर वह बास्तविक अर्थ के स्थान पर अन्य अर्थ का द्योतक है। उनकी इस रचना मे शैली की दृष्टि से पुनरावृत्ति, शिथिलता, जटिलता और अर्थहीनता भी कम नही है। द्विवेदी जी अपनी भाषा की इन त्रुटियो से अनजान न बने रहे। उन्होने अपनी भाषा को पहले सुधारा तब दूसरों को भाषा सुधार की प्रेरणा दी। इसके बाद द्विवेदी जी का गद्य त्रुटि पूर्ण और अव्यवस्थित न रहा। व्याकरण के नियमों का उन्होंने विरामादि चिन्हो के प्रयोग मे, शब्दो के विधान मे, वाक्यो की गठन में,

पूर्णतः ध्यान रखा। उन्होने स्वय अपने गद्य को प्राजल, परिष्कृत और साहित्यिक रूप प्रदान किया और हिन्दी गद्य को भी उसी साँचे मे ढाला।

भाषा के सम्बन्ध मे द्विवेदी जी का दृष्टिकोण बडा उदार और प्रगतिशील था। वे न तो सस्कृत बहुल भाषा के पक्षपाती थे और न उर्दू फारसी और अप्रचलित हिन्दी शब्दो से लदी भाषा के। वे भाव और विषय के अनुकूल भाषा का विधान चाहते थे। उनका शब्द सग्रह स्थान की उपयुक्तता के अनुकूल होता था। जनसाधारण से सबन्धित जो उनके वर्णनात्मक लेख होते थे उसमे भाषा सीधी और सरल होती थी। अँग्रेजी और फारसी के प्रचलित शब्दो का वे निसकोच प्रयोग करते थे। उनके चिंतन प्रधान लेखो मे अवश्य संस्कृत के तत्सम शब्दो की प्रधानता रहती थी पर शब्द और वाक्य रचना हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप ही थी। कही भी उर्दू या अङ्गरेजी ढग का वाक्य विन्यास न था। उनकी भाषा का वाक्य विन्यास बड़ा दृढ़ और अधिक व्यंजक शक्ति लिए हुए होता था। छोटे-छोटे वाक्यो मे बल तथा चमत्कार उत्पन्न कर गूढ से गूढ विषयो की स्पष्ट अभिव्यजना करना द्विवेदी जी खूब जानते थे। इसीलिए द्विवेदीजी के विचार प्रधान लेखो मे गम्भीरता होते हुए भी बड़ा प्रवाह और जिन्दादिली रहती थी।

द्विवेदी जी की यह भाषा वर्णनात्मक, व्यगात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, वक्तृतात्मक और संलापात्मक शैलियो मे प्रगट हुई है। उनकी वर्णनात्मक शैली का रूप बड़ा सरल और व्यवहारोपयोगी है। इस शैली मे उन्होंने साधारण जन समाज के लिए इतिहास, भूगोल, यात्रा, जीवन चरित सम्बन्धी लेख लिखे हैं। विषय के अनुकूल इसमे उन्होने सस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू शब्दो का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए :—

"बार्ड साहब कई साल से अपने बगीचे मे देख रहे थे कि एक नियत समय पर बहुत सी मक्खिया इतनी अधिक हो जाती हैं कि इनसे बगीचे के प्रायः सभी पेड़ पौधे ढक जाते हैं। बार्ड साहब इनकी बढ़ती पर बड़े चकित हुए।"

द्विवेदी जी की व्यंगात्मक शैली की भाषा भी बड़ी व्यावहारिक होती थी। उसमे शब्द विधान सरल और वाक्य छोटे-छोटे पर बड़े शक्तिशाली

होते थे। शैली मे बडी सजीवता, प्रवाह होता था। मुहावरो के प्रयोग से शैली मे भी भाव व्यंजक शक्ति में और भी बल आजाता था। उदाहरण के लिए:-

"इस म्यूनिस्पैलिटी के चेयरमेन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमेन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचाशाह है। बापदादे की कमाई का लाखो रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमेन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियो से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहे।"

द्विवेदी जी की विचारात्मक शैली गभीर, संयत और कुछ संस्कृत बहुल है। व्यंगात्मक शैली की भाँति उसमें उछल कूद नहीं हैं। भाव और विषय के वह सर्वथा उपयुक्त है। आडम्बर उसमे तनिक भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए :—"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार रोग हैं। उनका सम्बन्ध केवल मन से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। प्रतिभा मे मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं, विक्षिप्ता मे भी यही दशा होती है।"

द्विवेदी जी की भावात्मक शैली बडी मर्मस्पर्शी, सरस, तीव्र प्रवाह वाली, मधुर और कोमल कात पदावली से युक्त है। कही-कही उसमे अलकारो की रमणीय छटा दर्शनीय होती है। विषय के अनुकूल उसमे कही-कही कविता का सा आनन्द मिलता है और कही वह बडी ओजपूर्ण होती है। उसमे जटिलता, शिथिलता, कटुता तनिक भी नही होती। उदाहरण के लिए :—

सब तरह के भावो को प्रगट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नही रखती तो वह रूपवती भिखारिण की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माँ को निःसहाय और निर्धन दशा मे छोड कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रुषा मे रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य, या आस्ताब ही कर सकता है।"

उनकी वक्तृतात्मक शैली में बरसाती नदी का सा उफान है। एक ही भाव को अनेक वाक्यो मे दुहराने मे भाव व्यजना मे बडा बल आगया है। भाषा सर्वथा आडम्बरहीन, और दीर्घ समस्त पदावली से रहित है। "जो मनुष्य अपनी संतति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नही रखते,

अथवा जानबूझकर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं, पुत्रोत्पादन का अधिकार नही, उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।"

द्विवेदी जी ने अपनी तरुणाई मे 'सुहागरात' और इसके बाद भी अनेक काव्य ग्रन्थो की रचना की थी। देशभक्ति का पाठ पढ़ाने के लिए, सामाजिक कुरीतियो की धज्जियाँ उड़ाने के लिए रीतिकालीन की अति शृङ्गारिकता से विद्रोह करने के लिए, खड़ी बोली को पद्य का माध्यम बनाने के लिए, कान्यकुब्ज समाज सम्पादक वर्ग पर तीखे व्यंगों की बौछार करने के लिये उनके कवि रूप का जन्म हुआ। पर द्विवेदी जी के कविरूप का महत्व इन विविध विषयो तक ही सीमित हैं। वैसे काव्य कला की दृष्टि से उनकी सभी कविताएं कोरी तुक बन्दी मात्र हैं। उनमे न भावो की उत्कृष्ट व्यंजना है, न कल्पना का रमणीय सौदर्य। न भाषा का प्रवाह है न शैली का चमत्कार। वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो गद्य को बलात् पद्य मे रूपातर किया जा रहा हो। नीचे की पंक्तियो से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

द्विवेदी जी का कवि रूप

उच्छिष्ट रूक्ष अरु नीरस अन्न खैहौं।
चाँडालिन बिमुख बाहर मूँदि जैहौं॥
गाजि प्रदान निशिवासर नित्य पैहौं।
हा हन्त दुखमय जीवन यों बितैहौं॥

अपनी कविताओ के विषय मे द्विवेदी जी ने स्वय कहा है "कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझे हमे तो एक तरह दुस्साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञात और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया था पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनाधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही बन्द कर दिया। द्विवेदी जी का यह कथन कोरी विनम्रता ही नहीं है सत्यता भी है। वास्तव में उनकी कविताओ का सौदर्य काव्यमूलक न होकर जीवन मूलक है। ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से उनका महत्व है।

साहित्य स्रष्टा से अधिक द्विवेदी जी युग विधायक की प्रतिभा और शक्ति लेकर अवतीर्ण हुए थे। वे उच्चकोटि के निबधकार और आलोचक न थे, काव्य

के क्षेत्र मे उन्हे अधिक सफलता न मिली। नाटक उपन्यास आदि साहित्य का भी उन्होने सृजन नही किया। पर उनकी छत्रछाया में हिन्दी साहित्य के ये विविध अङ्ग खूब फले फूले और समृद्धि को प्राप्त हुए। भारतेन्दु युग के अधूरे कार्य को उन्होने पूर्णता दी। उनका युग हिन्दी की बहुमुखी उन्नति का युग था। द्विवेदी जी ने अपने इस युग का सृजन किया, पोषण किया और सफल नेतृत्व किया। हिन्दी के इतिहासकारो ने द्विवेदी युग के रूप मे इसे स्वीकार किया। हिन्दी मे द्विवेदी युग संवत् १६५० से लेकर १६८२ तक चलता है। इस युग मे हिन्दी साहित्य का जो निर्माण हुआ उसका समस्त श्रेय द्विवेदी जी को ही है।

द्विवेदी युग से पूर्ववर्त्ती काव्यधारा में युग के नए जीवन दर्शन को प्रवेश तो मिला पर उसको समग्र रूप से ग्रहण नहीं किया जा सका। आधुनिक काव्य की आत्मा अभी तक रीतिकालीन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो से आच्छन्न थी। स्वयं भारतेन्दु इस प्रभाव से न बच सके। काव्य का माध्यम भी ब्रजभाषा ही थी। काव्य के इस क्षेत्र में द्विवेदी जी युगातर रूप लेकर आए। सब से पहिले उन्होने खड़ी बौली को काव्य भाषा के आसन पर अभिषिक्त कराया। यह द्विवेदी जी के ही प्रयत्नों का प्रसाद था कि नाथूराम शकर, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालशरणसिह, श्रीधर 'पाठक' 'सनेही', आदि हिन्दी के प्रमुख कवि जो पहिले ब्रजभाषा मे रचना करते थे, खड़ी बोली मे कविता करने लगे। काव्य के माध्यम को लेकर ब्रजभाषा और खड़ी बोली मे बड़ा द्वद चला पर अन्त मे विजयश्री खड़ी बोली को ही प्राप्त हुई। आज यह खडी बोली काव्य का माध्यम ही नही हमारी राजभाषा और राष्ट्रभापा भी है।

भाषा के साथ-साथ द्विवेदीजी ने काव्य की मूल चेतना मे परिवर्तन किया। रीतिकाल की शृ गारिकता से मुक्त करने तथा युग के नए जीवन दर्शन को वाणी देने के लिए द्विवेदी जी ने अपने 'कवि कर्त्तव्य' लेख द्वारा तत्कालीन युग के कवियो को समय और समाज की रुचि के अनुसार मार्ग सुझाया। द्विवेदी जी की सबसे बड़ी महत्ता इस बात में थी कि तत्कालीन कवि समाज द्वारा काव्य सबन्धी उनके आदर्श, उनकी मान्यताए गृहीत हुई। द्विवेदी जी ने कवियो

को नायक-नायिका, अलकार शृङ्गार, समस्यापूर्ति की काव्य परम्परा से ऊपर उठकर देश, समाज, प्रकृति, मानव जीवन संबन्धी स्वतत्र कविताओं की तथा आदर्श चरित्रो को लेकर प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रेरणा दी। यही प्रेरणा उस युग की काव्य धारा का मूलक प्रेरक स्वर रही। भारत गौरव गान राष्ट्र प्रेम, समाज सुधार, भारतीय सस्कृति का पुनरुत्थान आदि को लेकर बड़े उत्कृष्ट गीतो और प्रबन्ध काव्यो की रचना की गई। खड़ी बोली के उत्कृष्ट खड काव्य और महाकाव्यो की रचना इसी युग मे हुई। प्रारम्भ मे इस द्विवेदी युगीन काव्य का रूप बड़ा इतिवृत्तात्मक, भाव व्यंजना बड़ी स्थूल, उपदेश पूर्ण और कला सौन्दर्य विहीन थी। पर शनैः शनैः उसका रूप निखरता गया। काव्य का यह नवल अंकुर विकास को प्राप्त होता हुआ पल्लवित और पुष्पित हुआ। उसने हमे साकेत, प्रियप्रवास, पंचवटी, जयद्रथ बध, पथिक, जैसे प्रबन्ध प्रसून भेंट मे दिये जिनकी सुरभि से आज भी हिन्दी साहित्य सुवासित है। श्रीधर पाठक, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, गोपाल शरण सिह, नाथूराम शंकर, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त इसी युग की अभूत पूर्व देन हैं। काव्य की मौलिक प्रतिभा को लेकर ये कवि हिन्दी क्षेत्र मे उतरे थे, पर भाव भाषा, छन्द सभी रूपो में शिक्षक बनकर उनकी प्रतिभा को निखारने का श्रेय द्विवेदी जी को ही है।

द्विवेदी युग का सबसे महत्व पूर्ण कार्य कथा साहित्य के क्षेत्र में हुआ। अब तक हिन्दी का कथा साहित्य तिलिस्म की भूल भुलैयो में चक्कर काट रहा था। द्विवेदी युग मे साहित्य का यह अंग अपने घेरे को तोड़कर जन-जीवन के यथार्थ धरातल पर आ खड़ा हुआ। वास्तविक जगत और मानव जीवन के प्रकृति रूप को उसने ग्रहण किया। द्विवेदी जी की प्रेरणा से काव्य में जो विषय परिवर्त्तन हुआ, कथा साहित्य भी उसी मार्ग पर गतिशील हुआ। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द, विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन, जयशकर प्रसाद जैसे शक्तिशाली लेखको का आविर्भाव हुआ। उपन्यासो की भाति नाटक साहित्य मे अनेक मौलिक परिवर्त्तन हुए। चटपटे और मनोरंजक नाटको के स्थान पर प्रसाद के 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ',

'राज्यश्री' जैसे नाटक प्रकाश मे आए। इतना अवश्य है कि उपन्यास साहित्य की भाति नाट्य साहित्य का निर्माण अधिक तेजी से न हो सका। इसका भी एक कारण है। प० महावीर द्विवेदी ने 'नाट्य शास्त्र' पुस्तक लिखने के अतिरिक्त इस दिशा मे विशेष प्रयत्न नहीं किया। हिन्दी साहित्य को नया रूप देने के लिये उन्होने काव्य को अधिक महत्व पूर्ण समझा था और इसी ओर उनका विशेष झुकाव रहा था।

द्विवेदी युग मे निबन्ध और आलोचना साहित्य का वास्तविक विकास हुआ। ~~द्विवेदी युग से पूर्व निबन्ध थे ही नही~~। साधारण पाठको के मन को अनुरंजित करने के लिये चटपटी और हास्य प्रधान गद्य रचनाएँ अवश्य की जाती थीं। विषय का गम्भीर प्रतिपादन उनमे नहीं होता था। बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र के बाद तो इस क्षेत्र मे कोई साहित्यकार दृष्टिगोचर ही नहीं होता था पर द्विवेदी युग मे निबन्ध साहित्य की गति को अनन्य बल मिला। भावात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक सभी प्रकार की शैलियो मे विविध विषयो पर उच्चकोटि मे कलात्मक निबन्धो की सृष्टि की गई। बालमुकुन्द गुप्त, अध्यापक पूर्ण सिह, श्याम सुन्दरदास, रामचद शुक्ल के निबन्ध तो आज भी अपना जोड़ नहीं रखते। वे हिन्दी की नहीं विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

द्विवेदी युग मे पहली बार आलोचना साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना के रूप मे कवि समीक्षा की ओर हिन्दी के साहित्यकार प्रवृत हुए। आलोचना अब कवि या लेखक की कृतियो के गुण दोष परिचय और खडन मडन की प्रणाली तक ही सीमित नहीं रही, वरन् कवि या लेखक के दृष्टिकोण को हृदयगम कर उसकी कृतियों की विशद और गम्भीर समीक्षाए प्रस्तुत की गई हैं। सूर, तुलसी, जायसी पर की गई रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। साहित्यालोचन के रूप मे बाबू श्यामसुन्दरदास का महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रन्थ इसी युग में प्रकाशित हुआ।

गद्य क्षेत्र मे द्विवेदी जी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भाषा सुधार और भाषा-सचार का था। पिछले पृष्ठो मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार

उन्होने अपनी तीव्र आलोचना और लौह व्यक्तित्व से हिन्दी लेखको को शुद्ध गद्य रचना के लिए वाध्य किया। यहा उसकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं। इतना अवश्य है कि अपने इस श्लाघनीय प्रयत्न से उन्होने गद्य की तुतलाहट दूर कर भावव्यजन के लिए उसे अधिक सक्षम, अधिक शक्तिशाली बनाया।

इस प्रकार द्विवेदी जी और उनके युग ने हिन्दी साहित्य का कायाकल्प किया। उसके उन्नयन और प्रसार मे व्यापक योग दिया। उसके सभी अङ्गो को विकसित ही नहीं बलवान और पुष्ट भी बनाया। द्विवेदी जी का युग द्विवेदी जी से अभिन्न है। अपनी कृतियो से अधिक द्विवेदी जी अपने युग के साहित्य मे अधिक स्पष्ट हैं। इस युग के सभी साहित्यकार उनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे प्रभावित हैं। बीस बर्षो तक हिन्दी साहित्य द्विवेदीजी के सरक्षण मे पला है। तब तक हिन्दी साहित्य बालिग न होकर किशोर ही था। अभि-भावक द्विवेदी ने इस किशोर को किसी भी रूप मे गलत राह पर न चलने दिया, उसके किसी भी अङ्ग को रुग्ण और निर्बल नही बनने दिया। अन्तरग और बहिरग दोनो रूपो मे उसका सर्वाङ्गीण विकास किया। हिन्दी और उसके साहित्य के लिए द्विवेदी जी का यही स्तुत्य कार्य है।

खड़ी बोली काव्य का समृद्ध रूप पहिले पहल 'हरिऔध' जी की काव्य साधना के माध्यम से प्रगट हुआ है। उनके काव्य ने ही सर्वप्रथम खड़ी बोली के ऐश्वर्यमय युग की सुखद सूचना दी। इस प्रकार हरिऔध जी का आधुनिक काव्यधारा मे गौरवपूर्ण स्थान है। उन्होने एक ओर जहा खड़ी बोली को काव्य का साहित्यिक रूप प्रदान किया वही दूसरी ओर अपनी कृतियो द्वारा उसे सम्पन्न बनाया। उनका प्रियप्रवास खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। उनके मुक्तको से हिन्दी काव्य साहित्य को नई दिशा मिली है। 'छायावाद' के रूप मे द्विवेदी युग की जो भावात्मक और कलात्मक परिणिति हुई है, उसकी पृष्ठ भूमि के निर्माण का श्रेय बहुत कुछ हरिऔध जी को भी है। हरिऔध जी की ही रचनाओ मे पहले-पहल आधुनिक हिन्दी के काव्य-सौंदर्य का निखार हुआ है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और नीरसता शनैः-शनैः विकसित होती हुई किस प्रकार सरसता और कलात्मकता को प्राप्त हुई, हरिऔध जी की रचनाओ से यह भलीभॉति स्पष्ट हुआ है। इस प्रकार आधुनिक काव्य साहित्य के प्रमुख कर्णधार इस कवि की काव्य साधना का ऐतिहासिक महत्त्व है।

इस महाकवि का जन्म बैशाख कृष्णपक्ष की तृतीया को सं० १८२२ मे मे निजामाबाद जिला आजमगढ़ मे हुआ था। हरिऔध जी के पूर्वजो का

जीवन परिचय

दिल्ली के मुगल दरबार में बड़ा आदर सम्मान था। मुगल सम्राट जहॉगीर के समय एक कायस्थ परिवार सम्राट का कोपभाजन बना। हरिऔध जी के पूर्व-

पुरुष प० काशीनाथ ने उन्हे अपना सगोत्र बताकर अपने घर में आश्रय दिया और उनकी प्राण रक्षा की। कुछ दिनो उपरान्त वे दिल्ली छोड़कर निजामाबाद चले आए। यहाँ उन्होने गुरु नानक की शिक्षाओ से प्रभावित होकर सिक्ख धर्म मे दीक्षा ले ली। इस प्रकार यह सनाढ्य परिवार सिक्ख बन गया।

हरिऔध जी के पिता प० भोलासिह अधिक पढ़े-लिखे न थे। परिवार की स्थिति भी साधारण थी। माता सम्पूर्णादेवी अवश्य विदुषी महिला थीं। वे बालक अयोध्यासिह से सुखसागर पढवाया करती थी। श्रीकृष्ण का ब्रज से प्रयाण का प्रसग उन्हें बड़ा प्रिय था। उसे सुनकर उनके नेत्रो में अखिल अश्रु धारा प्रवाहित होती थी। बालक के हृदय मे कृष्ण भक्ति का बीजाकुर यही से हुआ। माता के इन आसुओ को उसने अपने हृदय मे सहेज कर रखा और एक दिन उसकी महान कृति प्रिय-प्रवास मे वे फूट पड़े।

पाँच वर्ष की अवस्था मे हरिऔध जी का विद्यारम्भ उनके चाचा पं० ब्रह्मासिह द्वारा करवाया गया। प० ब्रह्मासिह निःसन्तान थे। अपने भतीजो पर उनका अनन्य प्रेम था। वे केवल ज्योतिष के ही नहीं अन्य अनेक विषयो के भी ज्ञाता थे। श्रीमद्भागवत उनका प्रिय ग्रन्थ था। बालक हरिऔध भी अपने चाचा के साथ भागवत का बड़े प्रेम और लगन के साथ पाठ किया करते थे। सात वर्ष की अवस्था में हरिऔध जी स्थानीय तहसीली स्कूल मे प्रविष्ठ हुए। वे मिडिल की परीक्षा मे सम्मान सहित उत्तीर्ण हुए और फलस्वरूप उन्हे छात्र-वृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वे काशी के क्वींस कालेज मे अध्ययन के लिए भेजे गये, पर स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वे न पढ़ सके और घर लौट आए। यहीं उन्होने उर्दू, सस्कृत, फारसी का अध्ययन किया। तदनन्तर वे निजामाबाद के तहसीली स्कूल मे अध्यापक हो गए। इस पद पर कार्य करते हुए उन्होने नार्मल परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। इसी बीच उनका विवाह अनन्त कुमारी देवी से हो गया। बन्दोबस्त के समय में वे अध्यापन कार्य छोड़कर कानूनगो बन गये। कुछ ही काल उपरान्त वे अपनी प्रतिभा और कार्य कुशलता के बल पर रजिस्ट्रार कानूनगो, सदर नायब कानूनगो और सदर कानूनगो बन गये। चौतीस वर्षो तक इन पदो पर सफलता पूर्वक कार्य करते हुए उन्होने अवकाश ग्रहण किया, पर साहित्य साधना

में वे सतत रत रहे। इसी बीच काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग मे सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता थी। हरिऔध जी ने अवैतनिक रूप से इस पद के लिए सहर्ष अपनी सेवाएँ देना स्वीकार कर लिया। सन् १६४१ तक वे इस पद पर कार्य करते रहे। तदुपरात वे घर लौट आए। आजमगढ को उन्होने अपना स्थायी निवास स्थान बनाया। यही हिन्दी के इस महान कलाकार का ६ मार्च सन् १६४७ को स्वर्गवास हुआ।

हरिऔध जी बड़ी शान्त, सरल और साधु प्रकृति के व्यक्ति थे। उनके आचार-विचार, वेष-भूषा सभी से सरलता, सौम्यता और शान्ति टपकती थी। हरिऔध जी बड़े मिलनसार थे। छोटे से छोटे व्यक्ति के साथ बड़े प्रेम पूर्वक भेंट करते। दूसरो की सहायता मे वे सदैव तत्पर रहा करते थे। उनके स्वभाव मे कही भी कृत्रिमता नही थी। सदर कानूनगो जैसा उच्च पद पाकर भी उनमें गर्व की भावना लेशमात्र भी न थी। भारतीय सस्कृति के पुरातन आदर्शों में भक्ति और आस्था रखते हुए भी हरिऔध जी बड़े उदार और प्रगतिशील विचारो के थे। देश, समाज और सस्कृति के प्रति सर्वत्र उन्होने सुधारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। राष्ट्रीय आन्दोलनो मे सक्रिय भाग न लेते हुए भी भारत के मुक्ति आन्दोलनो मे उनकी गहरी निष्ठा थी।

हरिऔध जी का जीवन वास्तव मे ऋषियो का सा जीवन था। उनका दुबला-पतला शरीर, घनी श्वेत दाढ़ी और चेहरे की सौम्यता इसका स्पष्ट प्रतीक हैं। उनके जीवन मे तनिक चाचल्य न था। हास-परिहास मे वे भाग लेते थे पर बहुत कम। एकान्त जीवन ही उन्हे अधिक प्रिय था। पत्नी के देहावसान से तो उनके जीवन मे और भी गम्भीरता आ गई थी। इतना होते हुए भी हरिऔध जी बड़े सरस और रसिक जीव थे। कवि सुलभ सहज भावुकता उनमे कूट-कूट कर भरी हुई थी। सगीत से उन्हे अनन्य प्रेम था।

हरिऔध जी के जीवन पर उनके धार्मिक गुरु बाबा सुमेरसिह का गहरा प्रभाव पडा। उनके यहाँ सत्संग मे हरिऔध जी भाग लेते और वहाँ सूर, कबीर, नानक, दादू आदि सन्तो की पवित्र वाणी तथा कवियो की कविताओ का रसास्वादन किया करते थे। बाबा सुमेरसिह भी स्वय कवि थे। वे 'हरि सुमेर' उपनाम से कविता करते थे। इस प्रकार वे हरिऔध जी के धार्मिक गुरु

ही नही साहित्यिक गुरु भी थे। उनसे प्रभावित होकर हरिऔधजी भी समस्या पूर्ति परक कविता किया करते थे। शनैः शनैः उनकी यही काव्य प्रतिभा विकास को प्राप्त हुई और आज वे हमारी आधुनिक काव्य धारा के प्रमुख कर्णधार हैं।

रचनाएँ

हरिऔध जी केवल कवि ही नहीं सफल उपन्यासकार और गद्य-लेखक भी हैं। उनकी रचनाओ से यह बात भलीभाँति स्पष्ट है।

प्रबन्ध काव्य—(१) प्रिय प्रवास, (२) वैदेही वनवास।

मुक्तक काव्य संग्रह—(१) चोखे चौपदे, (२) चुभते चौपदे, (३) बोलचाल, (४) रस कलस, (५) पद्य प्रसून, (६) कल्पलता, (७) पारिजात, (८) ऋतु मुकुर, (९) काव्योपवन, (१०) प्रेमपुष्पोहार, (११) प्रेम प्रपच, (१२) प्रेमाम्बु प्रस्रवण, (१३) प्रेमाम्बु प्रवाह, (१४) प्रेमाम्बु वारिधि। इसके अतिरिक्त 'आधुनिक कवि भाग ५' मे उनकी स्फुट कविताओ का सग्रह हुआ है।

उपन्यास—(१) ठेठ हिन्दी का ठाठ, (२) अधखिला फूल।

आलोचनात्मक—(१) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, (२) कबीर वचनावली की आलोचना।

अनूदित—'बेनिस का बाँका' तथा 'रिपवान विकल' (उपन्यास), नीति निबन्ध (निबन्धो का सग्रह), उपदेश कुसुम (पद्य सग्रह)।

हरिऔध जी के कवि जीवन ने नये युग की काव्यधारा के तीन उपकूलो का स्पर्श किया है। उनके काव्य जीवन का शैशव काल भारतेन्दु युग की मान्यताओ को लेकर चला है। द्विवेदी युग मे जब हिन्दी काव्य चेतना ने अपना नवल रूप गढ़ा तब हरिऔध जी ने भी द्विवेदी युगीन काव्य प्रतिमा के इस निर्माण मे अपना योग दान दिया। द्विवेदी युग की सध्या बेला में उनकी काव्य साधना ने पुनः नया मोड़ लिया। उसमे हमे छायावादी भाव-चेतना के प्रथम सकेत मिले। इस प्रकार रत्नाकर जी की भाँति हरिऔध जी की काव्य साधना मे एक रूपता नही है। वे एक मार्ग पर स्थिर होकर नहीं चले। समय और युग की प्रवृत्तियो के अनुसार उन्होने एक मार्ग छोड़कर

काव्य साधना

दूसरा मार्ग ग्रहण किया है। अपनी आधुनिक कवि की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है—"समय को देखना चाहिए, लोगो के तेवर पहिचानने चाहिए। सोचना चाहिए कि हवा कैसी चल रही है, किधर जा रही है। दुनिया का रग क्या है, देशवाले क्या चाहते हैं? लोगों की तबियत कैसी हो गई है, नई उमग वालो को क्या पसद है, उनका झुकाव किस ओर है? जो हवा को देख कर पाल नहीं तानता उसका बेड़ा पार नही होता।" हवा के ऐसे ही रुख को पहिचानकर हरिऔध जी ने अपने काव्य-पोत के पाल ताने हैं। इस प्रकार हरिऔध जी एक साथ भारतेन्दु कालीन, द्विवेदी युगीन और द्विवेदी युगोत्तर काल के कवि हैं। हमे उनकी रचनाओ मे उनके युग की आधुनिकतम भाव-चेतना का रूप रस मिलता है। इस प्रकार हरिऔध जी हिन्दी के वे कवि हैं जिन्होंने अपने युग की परम्पराओ और मान्यताओ को सचाई और ईमानदारी के साथ निबाहा है। हरिऔधजी की इन भिन्न प्रतीत होती हुई त्रिकाव्यधारा की मूल चेतना एक ही है। आदि से अत तक हरिऔधजी की काव्य साधना का एक ही मूल प्रेरक स्वर रहा है और वह है उनका बुद्धिवादी युग के नये जीवन-दर्शन से उद्‌बुद्ध शुद्ध मानववादी दृष्टिकोण, जो आज भी प्रगतिशील विचार-धारा के तटो को छूता है। उन्होंने हिन्दी काव्य की पुरानी भाव सम्पदा को नवीन बौद्धिक जगत मे ला खडा किया है और आधुनिकतम प्रगतिशील भावनाओ से उसका शृगार किया है। उनका रस कलस, उनका प्रिय प्रवास उनके चौपदे इस बात के ज्वलत प्रतीक हैं।

हरिऔध जी की काव्य-साधना का यह विविधतामय रूप भाषा और शैली की दृष्टि से भी द्रष्टव्य है। वे खड़ी बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि हैं। इसके साथ ही साथ बोलचाल की भाषा के वे अमर कलाकार हैं। शैली की दृष्टि से मुक्तक और प्रबन्धकार दोनो ही हैं। इस प्रकार हरिऔध जी की काव्य साधना का क्षेत्र बडा व्यापक है। वह हमारे आधुनिक काव्य की धूपछाँह से खेलता हुआ चलता है। इसीलिए हरिऔधजी की इस साधना मे अनेक उतार-चढ़ाव हैं। कही वह भावो के सोपान पर चढ़ी है, कहीं भाषा के जाल मे उलझी है। कहीं उसने भाव और भाषा दोनो ही की रम्य उपत्यका मे बिहार किया है।

हरिऔधजी की काव्य साधना का प्रारम्भ उनकी ब्रजभाषा की रचनाओं से होता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों मे श्रीकृष्ण की भक्ति परक रचनाएँ मिलती हैं। पर इस क्षेत्र में उनकी सबसे प्रौढ और कलात्मक कृति 'रसकलस है। यह सचमुच रसराज शृंगार का कलस ही है, जैसे इसमे रीतिकाल की शृंगार सुधा का ही कुशलता से सचय किया गया हो। रीति ग्रथ वास्तव मे हरिऔध जी का रीतिग्रथ ही है। रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार इसमे नायिकाभेद, अलकार आदि रीति विषयों का निरूपण किया गया है। निरूपण शैली भी पुरातन परिपाटी को लेकर चली है। इस प्रकार रस कलस के रूप मे हरिऔध जी ने हिन्दी साहित्य के एक बहुत चिर-परिचित विषय को हमारे सामने रखा इसमे सन्देह नहीं पर इसके साथ-साथ यह भी निसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि रस कलस रीतिकालीन साहित्य का पिष्टपेष्टण मात्र नही है। कवि की मौलिक उद्भावनाओं ने इस रूढ़िबद्ध काव्य परम्परा मे भी अपूर्व क्रान्ति की सृष्टि की है। केशव, देव, बिहारी आदिकी खण्डिता अभिसारिका मुग्धा, प्रौढ़ा, नायिका हरिऔध जी के रस कलस में लोक-सेविका, देश प्रेमिका, धर्म प्रेमिका और परिवार प्रेमिका बन जाती है। नायिकाओं की इस मौलिक उद्भावना के पीछे नए युग का बुद्धिवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण कितना प्रबल है। रस कलस की मौलिक उद्भावनाओं के छींटे से जैसे रीति साहित्य की कलुषित आत्मा अपने कलक को धोकर पवित्र हो उठी हो। रीति साहित्य मे हरिऔध जी के इस श्रेष्ठ रीति ग्रन्थ का इसीलिए विशिष्ट स्थान है।

भाव और कला दोनो ही दृष्टियो से यह ग्रन्थ बड़ा महत्वपूर्ण है। ब्रज भाषा का माधुर्य, रस का उत्कर्ष और अभिव्यजना का सहज सौन्दर्य देखते ही बनता है। केवल शारीरिक चेष्टाओं को ही नहीं हृदय जनित मनोभावो का भी बड़ी कुशलता से उन्होने चित्रण किया है। उनकी इस रचना मे नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण का आधार रीति कालीन कवियो की भाति शारीरिकता प्रधान ही नहीं है, वरन् मानसिक भी है। इसीलिये हरिऔध जी का रस निरूपण स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है। नायिका वर्णन के साथ-साथ हरिऔधजी का ऋतु वर्णन भी बड़ा सरस और सुन्दर बन पड़ा है।

द्विवेदी युग के प्रभाव से हरिऔध जी ने ब्रज भाषा से नाता तोड़ खड़ी बोली को अपनाया। प्रारम्भ मे उन्होने बोल-चाल की ठेठ खडी बोली को लेकर उर्दू छन्दो मे रचना की। तदुपरान्त उन्होने द्विवेदी जी की प्रेरणा से सस्कृत छन्दो और सस्कृत की समास पदावली का सहारा लेते हुए अपने महा-काव्य प्रियप्रवास की रचना की। 'प्रियप्रवास' कवि के काव्य का गौरव स्तूप है। यही अकेली रचना कवि को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे अमर बनाने को पर्याप्त है। हिन्दी की प्रबन्धकाव्य परम्परा मे उसका बड़ा गौरव पूर्ण स्थान है।

तुलसी के रामचरित मानस के पश्चात जिसकी रचना १६ वी शताब्दी मे हुई थी, १६ वी शताब्दी के अन्त तक कोई भी उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य नहीं रचा गया। बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे खडी बोली के कवियो का ध्यान हिन्दी साहित्य के इस महती अभाव की ओर आकृष्ट हुआ। इस ओर सबसे पहला कदम उठाने का श्रेय निर्विवाद रूप से अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध को है। उन्होने अपने महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' की रचना उस समय की थी जब कि खड़ी बोली मे उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थो का नितान्त अभाव था। जो कुछ थे वे भी मौलिक न होकर अनुवाद मात्र थे। हरिऔध जी का यह महाकाव्य खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इसे हम द्विवेदी युग का प्रति-निधि महाकाव्य कह सकते है क्योकि इसमे द्विवेदी युगीन इतिवृतात्मक शैली और स्थूल भाव आधार का पूर्ण प्रतिपादन है। इस रूप मे हरिऔध जी द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि है।

प्रिय प्रवास खड़ी बोली के शैशव काल की रचना है। फलतः 'प्रिय-प्रवास' मे महाकाव्य की उच्च मनोभूमि को ढूँढना अपेक्षित न होगा। तुलसी के 'रामचरित मानस' और जायसी के 'पद्मावत' की भाति न तो उसमे उत्कृष्ट प्रबन्ध सौष्ठव ही है और न भाव और अभिव्यजना शक्ति का प्रौढत्व। किंतु इससे प्रियप्रवास के महाकाव्यत्व मे कोई अन्तर नही आता। खड़ी बोली मे जबकि मौलिक ग्रन्थो का सर्वथा अभाव था, ऐसी दशा मे 'प्रियप्रवास' की रचना अभिनन्दनीय और श्लाघनीय है।

'प्रिय प्रवास' का कथानक चिर परिचित ब्रजनन्दन श्रीकृष्ण के पावन

जीवन चरित्र से अनुरजित है। श्री कृष्ण अहर्निश ब्रजभूमि की सहायता और सेवा मे रत रहते हैं। इसीलिए ब्रजलोक जीवन के वे प्राण हैं। एक दिन ऐसा आता है कि कर्त्तव्य वश कस के निमन्त्रण पर अक्रूर के साथ उन्हें मथुरा गमन करना पड़ता है। वहाँ की राजनीति और लोकव्यापी व्यापारो मे वे इतने उलझ जाते हैं कि पुनः ब्रज लौटकर नही आते। कृष्ण विरह मे माता यशोदा, पिता नन्द, प्रेमिका राधा और समस्त ब्रज वासी-गण वेदना से व्यथित हैं। जब उद्धव श्रीकृष्ण का सदेश लेकर ब्रज आते हैं तो सभी आसुओ के उमड़ते जल प्रवाह के बीच अपनी व्यथा भरी कथा को सुनाते हैं और सौ सौ प्रकार से श्रीकृष्ण के लोक सेवी और उदात्त जीवन का बखान करते हैं। काव्य की नायिका और श्री कृष्ण की प्रेमिका राधा अन्त मे कृष्ण जीवन के पावन आदर्श को पाकर लोक सेविका बन जाती है। वह अपने श्रीकृष्ण को समस्त विश्व मे देखती है। फलतः उसका कृष्ण प्रेम विश्व प्रेम मे परिणित हो जाता है। लोक हित की वेदी पर वह अपने स्वार्थों का बलिदान कर देती है। यही इस महाकाव्य का महान सदेश है, और इसकी अभिव्यजना मे कवि निस्संदेह रूप से सफल हुआ है।

श्रीकृष्ण के जीवन से सबन्धित इस चिर-परिचित कथानक को कवि ने पूर्णतया नए रूप मे हमारे सामने रखा है। कथानक की हर भगिमा को कवि ने नए दृष्टिकोण से आँका है और उस पर आधुनिक युग की बौद्धिकता की स्पष्ट छाप अकित की है। काव्य के नायक श्री कृष्ण सूर की भाति लोकरजक न होकर सूर की भाति लोक रक्षक है। उनके जीवन द्वारा आर्य जाति को समाज सेवा, स्वार्थ त्याग, विश्व प्रेम, परोपकार, देश सेवा जैसी आदर्श भावनाओ और उदात्त वृत्तियो का सदेश दिया गया है। उनके कृष्ण प्रेमी कृष्ण न होकर लोक सग्रही, परोपकारी और समाजसेवी हैं। उनकी राधा मे प्रेम के स्थान पर कर्त्तव्य भावना की प्रधानता है। वह त्याग, साधना और विश्व प्रेम की मूर्त्तिमान मूर्त्ति है। प्रियप्रवास मे नवधा भक्ति का विधान भी आत्मोत्सर्ग, और लोक सेवा की उदात्त भूमि पर किया गया है। इस प्रकार 'अष्टछाप' के कृष्ण और राधा, हरिऔध के प्रियप्रवास मे बदल कर आधुनिक हो गए हैं। सत्य तो यह है कि 'प्रिय प्रवास' का कलेवर प्राचीनता से बना है,

पर उसकी आत्मा आधुनिक है।

बीसवी शताब्दी की बुद्धिवादी विचारधारा से प्रभावित होकर हरिऔधजी ने कृष्ण की अलौकिक घटनाओ को बड़ी कुशलता के साथ लौकिक रूप दिया है। जन-श्रुति के अनुसार कृष्ण ने उँगली पर गोवर्धन पर्वत उठाया था परन्तु प्रिय प्रवास के अनुसारः—

'लख अपार प्रसार गिरीन्द्र मे ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र को।
समस्त लोग लगे कहने उसे, रख लिया उंगली पर श्याम ने।।

अर्थात् कृष्ण ने लोगो की रक्षा इस तत्परता से की मानो उन्होने पर्वत को उगली पर उठा लिया हो।

कालिदास के मेघदूत की भाति ही हरिऔध जी ने भी अपने महाकाव्य मे 'पवन दूती' की उद्भावना की है। विरहिणी राधा पवन को दूत बनाकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के पास भेजती है। इस प्रसग में राधा के विरही हृदय से निकले हुए उद्गार कितने मार्मिक और प्रेम की उदात्त भाव भूमि को स्पर्श करते हैं:—

जाते जाते अगर पथ मे क्लांत कोई दिखावे।
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियो को मिटाना।
धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्गन्धो से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना।।

मानव हृदय की ऐसी व्यापक अनुभूतियो के सवाक् चित्रो से 'प्रियप्रवास' भरा पड़ा है। उसमे प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, प्रणय, कर्त्तव्य, भावना आदि सभी वृतियो के पूर्ण चित्र हैं। करुण रस का महाकाव्य मे बडा सफल उद्रेक हुआ है। यशोदा के चरित्र द्वारा कवि ने करुणा और वात्सल्य का जो टीस और कसक भरा चित्र खीचा है, उसे पढ़कर कवि की पंक्तियो के साथ हृदय रो उठता है। प्रकृति वर्णन भी प्रसगानुकूल हैं। काव्य के पात्रो की आतरिक प्रवृत्ति के अनुकूल बाह्य प्रकृति का चित्रण भी हुआ है। 'प्रियप्रवास' की भाषा सस्कृत गर्भित है। कही-कही तो सस्कृत के अपरिचित शब्दो के प्रयोग से भाषा अत्यन्त क्लिष्ट बन गई हैं। फिर भी काव्य की भाषा में सगीत, माधुर्य और ललित्य पूर्ण रूप से विद्यमान है। 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य की

सबसे बड़ी विशेषता सस्कृत के अतुकात वर्णिक छन्दो का खडी बोली में प्रथम बार सफल प्रयोग है। इनके प्रयोग से खड़ी बोली के भाषा और भाव शरीर और प्राण सभी के सौदर्य मे वृद्धि हुई हैं।

प्रियप्रवास की भाति 'वैदही बनवास' हरिऔध जी की दूसरी प्रबन्ध कृति है। प्रियप्रवास जहाँ श्रीकृष्ण के मथुरा गमन से संबधित है, वहाँ 'वेदही बनवास' सीता के बनवास की मामिक कथा को लेकर चला है। प्रिय प्रवास की भाति ही इस कृति मे भी कवि ने लोक सेवा के पुनीत आदर्श को प्रतिष्ठित किया है। लोक सेवा के ही लिये राम अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय पत्नी सीता का त्याग करते है। इस ग्रन्थ में भी बुद्धिवाद का पर्याप्त प्रभाव है। इसमें राम और सीता को उनके पूर्ववर्त्ती रूपो से कहीं अधिक मानवीय रूप दिया है। इस सबंध में हरिऔध जी ने स्वय लिखा है "सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रन्थ की रचना हुई है, अतएव इसे बोध गम्य और बुद्धि सगत बनाने की चेष्टा की गई है। इस मे असभव घटनाओं और व्यापारो का वर्णन नही मिलेगा।" यही कारण है कि वैदही बनवास मे गाधीवादी शाति और अहिसा का समर्थन है। ब्रिटिश साम्राज्य की दमन-नीति और अहिसात्मक प्रवृत्तियो का विरोध है। उसमें भौतिकवाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद की पुकार है। द्विवेदी युग के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य है। इस प्रकार विचारो की उदात्तता और सास्कृतिकता के कारण इस ग्रन्थ का खड़ी बोली की प्रबन्ध कृतियो मे विशेष स्थान है।

अपने चुभते चौपदे और चोखे चौपदे में हरिऔध जी पूर्णतः नव्य और मौलिक रूप लेकर हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। इस क्षेत्र के हरिऔध जी बेजोड़ कलाकार हैं। सीधी-सादी बोलचाल की भाषा मे उन्होने जिस काव्य की सृष्टि की है वह हर दृष्टि से अपूर्व है। छोटे-छोटे वाक्यो में बोलचाल के शब्दो से उन्होने जो भावो के रग भरे हैं, बिना किसी कलात्मक आवरण के भी वे बड़े मोहक हैं। इन चौपदो की सरस सूक्तियो का चमत्कार और मुहावरो की क्रीड़ा देखते ही बनती हैं। मुहावरो को जैसे इन चौपदो में केशव के अलकारो की भाति साधन न होकर साध्य बनाया है। रचना की हर पक्ति पर मुहावरो का आधिपत्य है। इन चौपदों का जो कुछ भी कला-

त्मक सौन्दर्य है वह इनके मुहावरो की पगति मे है। भावाभिव्यक्ति मे जहाँ कही आघात पहुंचा है वह भी इन मुहावरो के कारण ही। खड़ी बोली की मुहावरी शक्ति देखनी हो तो हरिऔध जी के चौपटे द्रष्टव्य है। उनमे जैसे मुहावरो की प्रदर्शनी लगी हुई है।

भाषा साहित्यिक न होते हुए भी ये चौपदे बड़े कलात्मक हैं। यदि प्रबध काव्य की भाति इनकी शैली वर्णनात्मक होती तो निश्चय ही द्विवेदी युग की प्रारम्भिक रचनाओ की भाति ये बड़े इतिवृतात्मक और स्थूल भावाभिव्यक्ति का आधार लिये हुये होते। पर ये चौपदे कवि की निजी अनुभूतियो के मर्म भरे चित्र हैं। इसलिये वे इतिवृतात्मक और स्थूल न होकर भावात्मक और सूक्ष्म है। वर्णन मूलक न होकर भावना मूलक हैं। यही कारण है कि जिन चौपदो मे कवि का सुधारवादी या उपदेशात्मक रूप उभरा हुआ है वहाँ भी वे इतिवृतात्मक और स्थूल नहीं बनने पाए। कही-कहीं तो कवि की यह अभि-व्यजना शैली छायावाद ही नही उसमे भी आगे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कूलो को स्पर्श करती है। छायावादी की भाति इन चौपदों में भी बादल फूट-फूटकर रोते हैं, अंधेरी रात के तारे किसी की राह देखते हैं, हवा फूलो का मुँह चूमती है, चन्द्रमा की बाकी किरणे आकाश के नीले परदे मे से झाँक कर न जाने किसकी झाँकी देखती हैं—

फाड़कर नीले परदे को चन्द्रमा की किरणें बाँकी।
झाँकती है झुक-झुक करके देखने को किसकी झाँकी

इस प्रकार इन चौपदो मे कही प्रकृति का मानवीयकरण हैं, कही प्रकृति के माध्यम से अज्ञात सत्ता की ओर रहस्य मय सकेत हैं। कहीं ससार की असारता और निष्ठुरता पर व्यग हैं, कहीं प्रसाद जी की भाति प्रेम और सौदर्य का सूक्ष्म और अतीन्द्रिय रूप है:—

कलेजा मेरा जलता है याद मे किसकी रोता हूँ।
अनूठे मोती के दाने किसलिए आज पिरोता हूँ॥

छायावाद ही नही प्रगति वादियो के स्वर में स्वर मिलाकर दीन दुखियों के आँसू पोछे हैं, समाज की कुरीतियो पर करारी चोटे की है, समाज के अनै-तिक और अवाछनीय तत्वो पर कटु प्रहार किए है:—

भरे दामन उन दुखियो का सदा जो दानो को तरसे ।
गरीबो के गॅव के जो हों, आँख से मोती वे बरसे ॥

× × × ×

लोथ पर लोथ तो नही गिरती लोभ होता उसे न जो धन का ।
लाख हा लोग तो न मर मिटते, मन अगर जानता मरम मन का ॥

प्रगतिवाद से भी आगे हरिऔध जी ने प्रयोगवाद की भॉति भाव, भाषा और छन्द की नई डिजाइने इन चौपदो द्वारा हमारे सामने रखी हैं। नीचे की पक्तियो मे आज की प्रयोगवादी रचना की झलक कितनी स्पष्ट है :—

जब लगातार तार ही टूटा, और झनकार फूटकर रोई ।
जब कि बोली न बोल की दूती किसलिए बीन तब बजे कोई ।
जो निछावर हुई न तितली जो न भर भाँवरे भंवर भूला ।
रंग बू है अगर नहीं रखता तो कही फूल किस लिए फूला ॥

हिन्दी साहित्य मे अब तक प्रकृति चित्रण के जो रूप मिलते हैं, हरिऔध जी की काव्य तूलिका ने सभी का थोड़ा बहुत छवि अकन किया है। उनकी प्रकृति कही सुख दुख से व्यजित संवेदनात्मक हैं, कहीं लोक

प्रकृति चित्रण

शिक्षा के लिए उसका उपयोग किया गया है। कही अप्रस्तुत विधान मे प्रकृति की सहायता ली गई है, कहीं उससे वातावरण की सृष्टि की गई है। कही वह उद्दीपन रूप मे है, तो कही आलंबन रूप में प्रकृति का शुद्ध और वास्तविक चित्रण है। कहीं वह प्रतीकात्मक है कही रहस्यात्मक और कहीं उसका मानवीकरण किया गया है। प्रकृति के चित्रण मे कही हरिऔध जी ने प्राकृतिक वस्तुओ का नाम परिगणन कर दिया है तो कहीं उसका बिम्ब ग्रहण भी कराया है।

'प्रियप्रवास' मे प्रकृति का विशद् और व्यापक चित्रण है। महाकाव्य का आरभ ही प्रकृति चित्रण से होता है। प्रियप्रवास का नवम सर्ग तो पूर्णतः प्रकृति चित्रण को ही लेकर चला है। प्रकृति का यह रूप प्रियप्रवास मे सवेदनात्मक अधिक है। राधा और यशोदा के विषाद का उस पर गहरा रग है। जहॉ उन्होंने प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण किया है वहॉ उन्होने ब्रज के पेड़ पौधे कुंज आदि के नाम गिना दिए हैं। सश्लिष्ट वर्णनात्मक बिम्ब ग्रहण का

रूप लेकर उनकी प्रवृति नही आई। यही बात हमे केशव के प्रकृति चित्रण में मिलती है। प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रण का जो अभाव प्रियप्रवास मे है उसकी पूर्ति कुछ अश तक वैदेही बनवास मे हो गई है। इस काव्य मे नाम परिगणन की प्रवृत्ति कम है, प्रकृति का सश्लिष्ट रूप ही अधिक है।

पहले छोटे छोटे घन के, खंड घूमते दिखलाए।
फिर छायामय कर क्षिति तल को, सारे नभ तल मे छाए।
तारापति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी।
सित बनी असिता छिनती दिखलाई उनकी छवि न्यारी॥

चौपदो में प्रकृति प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक रूप लेकर आई है। यत्र तत्र उसका मानवीकरण भी किया गया है। उसमें बसत, फूल, कोयल, तितली, भौरा को लेकर प्रकृति के सीधे सादे और सरल चित्र भी मिलते हैं।

प्रकृति का रहस्यात्मक रूप कितना स्पष्ट है :

श्याम घन मे है किसकी झलक, कौन रहता है रस से भरा।
लुभा लेती धरती है किसे दुपट्टा ओढ़ ओढ़ कर हरा॥
बड़ी अंधियाली रातो मे, बन बहुत आँखो के प्यारे।
बैठकर खुले झरोखो मे, देखते है किसको तारे॥

रहस्यात्मकता के साथ-साथ प्रकृति के इन चित्रो मे मानवीय भावो का आरोप कितनी सुन्दरता से हुआ है।

रस योजना

हरिऔध जी मूलतः शृ गार, करुणा और वात्सल्य के कवि हैं। 'रस-कलस' तो शृ गार रस से पूर्ण कवि की काव्य कृति है। उससे हमे सयोग शृ गार के बड़े रमणीय चित्र कवि ने प्रदान किए हैं। इतना अवश्य है कि रीतिकालीन कवियो की भाँति यह वर्णन अत्यन्त स्थूल और ऐन्द्रिय न होने पाया। इसीलिए उसमे विपरीत रति और सुरतात आदि के चित्र नहीं मिलते। शृङ्गार रस का स्वच्छ और सरल रूप अधिक है जो हमारे मन को उत्तेजना नहीं शाँति प्रदान करता है। उसमे वासना की तीव्र गध नही, प्रेम और सौदर्य का सहज उल्लास है :—

मंद मंद समद गयंद की सी चालन सों,
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइए।
पोखि पोखि प्रानन को सानन सहित इन,
कानन को बाँसुरी की तान न सुनाइए।
हरिऔध मोरि मोरि भौंहे जोरि-जोरि दृग
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइए।
मंजुल रदन बारो मुद के सदन वारो,
मदन कदन वारो बदन दिखाइए ॥

सयोग शृंगार के इस कवि ने प्रियप्रवास और वैदेही बनवास में विप्रलभ शृगार की कारुण्य धारा प्रवाहित की है। दोनो प्रबध कृतियाँ करुण विप्रलंभ की अथाह वेदना मे डूबी हुई हैं। ब्रजवासियो को छोड़ कृष्ण मथुरा प्रस्थान कर जाते हैं। कृष्ण के बिना समस्त ब्रज विषाद की गहरी तमिस्रा से आछन्न हो जाता है। माता यशोदा के पुत्र वियोग का तो कहना ही क्या जल रहित मीन की तरह उनका हृदय कृष्ण के लिए छटपटाता है। कृष्ण के लिए माता यशोदा के अमित वात्सल्य का, उसके प्राणो की अकुलाहट का, उसके हृदय की टीस का जो करुण चित्र खीचा है वह हमारे हृदय को वेदना की तीव्रता से भर देता है— इन पक्तियो मे मातृ हृदय का कैसा हृदय विदारक करुणा क्रन्दन है—

प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुःख जल निधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मै आजलौ जो सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है॥

सत्य तो यह है कि सूर के बाद मातृहृदय की वत्सलता को, उसके अमित पुत्र स्नेह को किसी ने परखा है तो वे हरिऔधजी हैं।

राधा तो करुणा की मूर्तिमान प्रतिमा हैं। श्रीकृष्ण के वियोग में उसकी असह्य वेदना चेतन और अचेतन की सीमाओ को भी पार कर गई है। समस्त प्रियप्रवास राधा, यशोदा, नन्द और ब्रजवासियो के करुणक्रंदन, उनके हृदय विदारक उद्गारो से भरा हुआ है। प्रिय के प्रवास की इस करुण कथा मे

अन्य किसी भावना को स्थान ही नही है। फलतः करुण विप्रलभ के अतिरिक्त इस महाकाव्य मे अन्य किसी रस का विधान नहीं है। कृष्ण आगमन की आशा निरस्त हो जाने के कारण यह वियोग स्थायी शोक का रूप ले, करुण रस की परधि मे आ जाता है। अन्त मे इसका पर्यावसान शातरस मे होता है। प्रियप्रवास की भॉति वैदेही बनवास मे भी राम और सीता की वियोग कथा है। इसका अन्त तो करुणा जनक है ही बीच-बीच मे भी करुणा का पर्याप्त पुट है। करुणा के अतिरिक्त वैदेही बनवास मे वात्सल्य का भी यथास्थान समावेश हुआ है।

हरिऔध जी के काव्य जीवन का प्रारम्भ ही रीतिकालीन प्रवृत्तियो के आदर्शो पर हुआ है। अतः हरिऔध जी का अलकार प्रिय होना स्वाभाविक ही है। उनके रीतिग्रन्थ 'रसकलस' मे तो अलकारो का क्रमबद्ध निरूपण है ही अन्य कृतियो मे भी अलकारो की खूब चमक दमक है। भावो की अभिव्यक्ति में मानव और मानवेतर प्रकृति के चित्रण मे, भाषा के शृ गार मे, उन्होंने अलकारो की भरपूर सहायता ली है। उन्होने सभी शब्दालकारो और अर्थालङ्कारो का सफलता पूर्वक प्रयोग किया है। यमक श्लेष, अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, विभावना सभी उनके प्रिय अलकार हैं। उनके महाकाव्य प्रियप्रवास से इन सभी अलकारो के बडे सुन्दर उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अलंकार

हरिऔध जी की इस अलंकार योजना की प्रमुख विशेषता उनका सीधे सादे ढंग से प्रयोग है। कल्पनाओ की ऊँची उडान लेकर अलकारो का सूक्ष्म जडाव उनमे नही किया गया। फलतः अभिव्यजना शैली की भॉति अलकार प्रयोग भी स्थूल है। नीचे के रूपक से यह बात भली भॉति स्पष्ट है :—

> ऊधो तेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा।
> शोभा देती अमित उसमे कल्पना क्यारियाँ थी।
> प्यारे प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेको।
> उत्साहो के विपुल-विटपी मुग्धकारी महा थे॥

हरिऔध जी के काव्य की भॉति उनकी छन्द योजना भी बड़ी विविधता-

मयी है। काव्य विषय के अनुकूल उन्होने भिन्न भिन्न छन्दो का चयन किया है। उनकी छन्द योजना का पॉच भागो मे वर्गीकरण किया जा सकता है १-ग्रामीण छन्द २-[illegible] छद, ३-उदू शैली के छंद, ४—सस्कृत साहित्य के छंद, ५—हिन्दी के मात्रिक छंद।

छन्द

ग्रामीण छदो मे रचनाए बहुत कम है, और ये प्रायः भारतेन्दु कालीन कवियो के प्रभाव को लेकर हैं। 'रसकलस' में हरिऔधजी ने कवित्त, सवैया, आदि [illegible] छन्दो का विधान किया है। उनके चौपदे उदू शैली के छन्दो में हैं। अपने महाकाव्य प्रियप्रवास मे कवि इन्द्रबज्रा, मन्दाक्राता, शिखरिणी, शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी, बसत तिलका आदि सस्कृत के अतुकात छंदो को लेकर आया है। हिन्दी काव्यधारा के हरिऔध जी ही सर्व प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कवि हैं जिन्होने अनन्य सफलता के साथ सस्कृत के इन अतुकात वर्णवृत्तो की अवतारणा हिन्दी मे की है। इन छदो मे सस्कृत पद विन्यास की सरसता, भाषा का लालित्य और सगीत की मधुरिमा का यथेष्ठ पुट है। प्रियप्रवास में जहा हरिऔध जी ने सस्कृत छन्दो का प्रयोग किया, अपनी दूसरी प्रबध कृति में हिन्दी के मात्रिक छन्दो का विधान कर उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि सभी प्रकार के प्राचीन तथा नवीन छंदो पर उन्हें पूर्ण अधिकार है। वैदेही बनवास मे रोला, चतुष्पद, तिलोकी, ताटक, दोहा, पद, पादाकुलक, सखी आदि विभिन्न छन्दो का प्रयोग हुआ है।

भाषा शैली

भाषा के हरिऔधजी धनी हैं। भाषा पर जितना व्यापक अधिकार उनका है, खड़ी बोली के किसी कवि का उतना नहीं। वे खडी बोली में जितनी सुन्दर रचना कर सकते हैं, ब्रज भाषा मे उससे भी अधिक उनकी काव्य प्रतिभा ने चमत्कार दिखलाया है। वे जितनी सस्कृत बहुल भाषा का आवरण अपनी काव्य रचना को दे सकते है, उतनी ही कुशलता के साथ सरल से सरल बोलचाल की भाषा में लिख सकते हैं।

हरिऔधजी की ब्रजभाषा बड़ी सरल, स्वच्छ और प्रसाद गुण युक्त है शब्दो की तोड मरोड़ और क्लिष्टता तनिक भी नही है। खड़ी बोली का उस पर स्पष्ट प्रभाव है। खड़ी बोली में हरिऔध जी ने प्रियप्रवास, वैदेही

बनवास और चौपदो की रचना की है। प्रियप्रवास और वैदेही बनवास की भाषा सस्कृत निष्ठ और क्लिष्ट है। कही कही तो सस्कृत पदावली इतनी सश्लिष्ट है कि यदि हिन्दी क्रियाओ को निकाल दिया जाय तो शब्द और वाक्य विन्यास हिन्दी के न होकर सस्कृत के बन जाते है। नीचे के उदाहरण से यह बात भली भाति स्पष्ट है :—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वङ्गी कल-हॉसिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य संमूर्त्ति थी।।

भाषा की इस क्लिष्टता का प्रमुख कारण वास्तव मे सस्कृत के वर्णिक वृत्तो का प्रयोग और गभीर भावो की अभिव्यक्ति है। फिर भी अनेक स्थलो पर भाषा का बडा प्रसादमय प्रवाह पूर्ण और प्रभावोत्पादक रूप प्रगट हुआ है :—

ठुमकते गिरते पड़ते हुए
जननि के कर की उँगली गहे।
सदन मे चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष पयोध था।

इसमे सन्देह नही कि हरिऔध जी की इन रचनाओ मे पहली बार खड़ी बोली का समृद्ध रूप सामने आया है।

ऐसी सस्कृत निष्ठ भाषा के कवि ने बोलचाल की भाषा को भी काव्योपयोगी बनाया है। उनकी इस भाषा मे उर्दू और सस्कृत के कठिन शब्दो का पूर्णतः बहिष्कार तथा उन शब्दो का प्रयोग है जिनका हम प्रतिदिन की बातचीत मे प्रयोग करते हैं। अपनी इस भाषा मे उन्होने भ्रमर के स्थान पर भॅवरा, सुमन के स्थान पर फूल, ज्योत्सना के स्थान पर चॉदनी, सूर्य के स्थान पर सूरज तथा दुख, दर्द, आह, कलेजा, फबन आदि उर्दू शब्दो को प्रश्रय दिया है। उनकी इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता मुहावरो और कहावतो की अधिकता है। अपनी इस काव्य भाषा को अधिक से अधिक मुहावरेदार बनाने के लिए उन्होने अङ्गरेज विद्वान स्मिथ के इस कथन से प्रेरणा ग्रहण की है:–

"मुहाविरे हमारी बोलचाल के लिए जीवन की चमकती चिनगारी स्वरूप तथा स्फूर्ति हैं। वे भोज्य पदार्थों की उस जीवन प्रदायनी सामिग्री के समान हैं जो उनको सुस्वादु तथा लाभ प्रद बनाती हैं। मुहाविरो से शून्य भाषा या लेखन शैली अमधुर शिथिल तथा असुन्दर हो जाती है।" मुहावरो से लदी उनकी बोलचाल की भाषा का रूप यह है :—

नही मिलते आँखों वाले, पड़ा अंधेर से है पाला ।
कलेजा किसने कब थामा, देख छिलते दिल का छाला ॥

भाषा की भाँति हरिऔध जी की शैली भी विविधतामय है। वह भाव और विषय के सर्वथा अनुकूल है। उनके काव्य मे जहाँ वर्णन की प्रधानता है वहाँ शैली का रूप बड़ा इतिवृत्तात्मक है। उनकी उपदेशात्मक और सुधारवादी रचुनाओ मे भी इतिवृत्तात्मकता है। पर जहाँ भावो की गहनता है, कवि की सहज अनुभूतियो का प्रकाशन है वहाँ शैली बड़ी भावात्मक है। उनकी समस्त कलाकृतियो मे इन दोनो ही शैलियो की यथेष्ठ झलक मिलती हैं।

इस प्रकार भाव, भाषा, छन्द सभी दृष्टियो से हरिऔध जी की काव्य-साधना बडी महत्त्वपूर्ण है। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के शब्दो में "इनकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी बोली, उर्दू के मुहावरे, ब्रजभाषा, कठिन, सरल सब प्रकार की कविता की रचना कर सकते हैं।" काव्य के इस सार्वभौम क्षेत्र मे उन्होने सर्वथा नए और मौलिक उपयोग किए हैं। प्रिय प्रवास और रस कलस की मौलिक उद्भावनाओ मे, सस्कृत के धार्मिक छन्दो के प्रयोग मे, बोलचाल की भाषा को काव्योपयोगी बनाने मे, मुहावरो के माध्यम से भावो की व्यजना मे, हरिऔध जी का यह मौलिक रूप दृष्टव्य है। उनकी कला नितान्त अछूती और शुद्ध है। हरिऔध जी का कवि-व्यक्तित्त्व अपने युग के कवियो में इसी लिए इतना महान है।

हिन्दी के उत्कर्ष और अभ्युत्थान मे जो साहित्य सुधी सतत साधना रत रहे उनमे बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम सदैव आदर के साथ लिया जायगा। न केवल अपनी साहित्य सर्जना द्वारा बल्कि रचनात्मक कार्य कर्त्ता के रूप मे उन्होने जो हिन्दी की अपूर्व सेवा की है वह अभिनदनीय है। हिन्दी को स्वावलम्बी बनाने मे, उसके विविध अभावो की पूर्ति मे, हिन्दी शिक्षा को उच्चतर श्रेणी तक पहुँचाने मे वैज्ञानिक और आलोचनात्मक ग्रथो का प्रणयन करने मे शोध और अनुसंधान द्वारा अन्धकार की गहराइयो में डूबी हुई हिन्दी साहित्य की विभूति को प्रकाश मे लाने मे बाबू श्याम सुन्दरदास जी का ही योगदान सबसे अधिक रहा है। पचास वर्षो के लम्बे समय तक उन्होंने एक रस और एकचित्त होकर हमारे हिन्दी साहित्य का निर्माण और पोषण किया है। महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे निश्चय ही हिन्दी प्रसार के विगत पचास वर्ष उनके कृतित्व के जीवित इतिहास हैं:—

मातृ भाषा के हुये जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्याम सुन्दर दास॥

हिन्दी गगन के ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र बाबू श्यामसुन्दरदास जी का जन्म आषाढ शुक्ल ११ स० १९३२ को काशी के पजाबी खत्री खन्ना परिवार मे हुआ था। पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम देवकी देवी था। बाबूजी के पूर्वज लाहौर निवासी थे। वे 'टकसालियो' के नाम से प्रसिद्ध थे तथा उनका मुख्य व्यवसाय सरकारी मुहरे ढालना था। अग्रेजो के आगमन

जीवन परिचय

के बाद उन्हे अपने व्यवसाय मे परिवर्तन करना पड़ा। लाहौर छोड़कर वे काशी चले आए और कपड़े की आढत करने लगे।

यज्ञोपवीत होने पर बालक श्यामसुन्दरदास की शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई। घर पर ही उन्होने सस्कृत व्याकरण तथा कुछ धर्म ग्रन्थो का अध्ययन किया। अ ग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे विसलियन मिशन स्कूल मे प्रविष्ठ हुए। क्विस कालेजिएट स्कूल से उन्होने हाईस्कूल और इटर परीक्षाए पास की। तदुपरान्त उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिए वे प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रविष्ठ हुए पर दुर्भाग्यवश बीमार पड़ जाने के कारण परीक्षा मे सम्मिलित न हो सके और घर चले आए। इसी वर्ष काशी के क्विस कालेज मे बी० ए० की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। यहीं से उन्होने स० १६५४ में बी० ए० पास किया। परिवार की आर्थिक दशा ने उन्हे आगे नही पढने दिया और वे ४०) मासिक वेतन पर काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस मे कार्य करने लगे। कुछ समय तक यहाँ कार्य करने के उपरात वे काशी हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गए।

स० १६५७ मे पिता के देहान्त हो जाने से परिवार के भरण पोषण का उत्तरदायित्व उन पर ही आ पड़ा। आर्थिक कठिनाइयो ने उन्हे वस्तुतः एक स्थान पर जमने नही दिया। हिन्दू स्कूल की नौकरी छोड़कर उन्होने शिमला मे रहकर सिचाई विभाग मे भी कार्य किया। महाराजा काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर मे भी रहे। पर ये सब उनकी रुचि के कार्य क्षेत्र न थे। अन्त मे श्री गगाप्रसाद वर्मा के प्रयत्न से वे लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक हो गए। उनके समय मे इस हाई स्कूल ने पर्याप्त उन्नति की। इसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए प्रस्ताव पास हुआ। हिन्दी उच्च शिक्षा के अध्ययन का विषय बनी। बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बने। सोहल वर्ष तक इस पद पर रहकर आपने हिन्दी की जो अपूर्व सेवा की वह स्तुत्य है। यहीं उन्होने हिन्दी के स्तर को ऊ चा करने के लिए तथा हिन्दी के अध्ययन को अधिक व्यापक बनाने के लिए ऐसे अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया जो हिन्दी भाषा के लिए नितान्त अपरिचित थे तथा हिन्दी साहित्य के सवर्धन के लिए

जिनकी महती आवश्यकता थी। अपने अध्यापकत्व मे उन्होने अनेक ऐसे प्रतिभाशाली छात्रो को जन्म दिया जिन्होने आगे चलकर भारती के भडार को अपनी सुन्दर कलाकृतियो के योगदान से वैभव सपन्न बनाया। इस प्रकार इस पद से उन्होने ग्रन्थो का ही नही ग्रन्थकारो का भी निर्माण किया। उनकी हिन्दी सेवाओ के उपलक्ष्य मे काशी विश्वविद्ययालय ने अवकाश ग्रहण करने पर उन्हे डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया। यह उपाधि गाधीजी के हाथो मे प्रदान की गई। यही नहीं बाबूजी की अथक हिन्दी सेवा के प्रसाद मे अग्रेजी सरकार द्वारा उन्हे 'राय साहब' और रायबहादुर की उपाधियो से सम्मानित किया गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने उन्हे साहित्य वाचस्पति की उपाधि से विभूषित किया। पर हिन्दी साहित्य को बाबू श्यामसुन्दरदास की सबसे महत्वपूर्ण देन तो 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' है। हिन्दी के विकास और प्रसार मे इस सस्था का कितना महत्वपूर्ण भाग रहा है यह स्पष्ट ही है। बाबूजी जब इंटरमीजिएट के विद्यार्थी थे तभी अपने मित्रो के सहयोग से उन्होने इस सस्था को जन्म दिया था फिर तो वे सभामय हो गए। सभा ही उनके लिए सब कुछ थी। बाबू श्री प्रकाश के शब्द इस सम्बन्ध मे उचित ही हैं "दूसरो की सेवाओ के गौरव की रक्षा करते हुए यह कहने मे बिल्कुल अत्युक्ति न होगी कि नागरी प्रचारिणी सभा की एक-एक ईंट पर दास बाबू की छाप लगी है। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के लिए जो कार्य श्री श्यामसुन्दरदास जी ने किया है और इस सम्बन्ध मे उनका जो त्याग दृढ़ता और साहस है, उसकी पर्याप्त प्रशंसा करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने सरस्वती के सम्पादन का भी भार सँभाला था। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी से पूर्व सरस्वती के वे ही सम्पादक थे। वस्तुतः बाबूजी का समस्त जीवन साहित्य साधना का मूर्तिमान रूप रहा है। जीवन की विषम परिस्थितियो और कठिन सघर्षों के बीच भी वे अविचल भाव से एक कर्मठ साधक की भाति अपनी साधना मे रत रहे हैं। हिन्दी के उन्नयन के लिये उन्होने हर प्रकार का त्याग किया।

बाबू श्यामसुन्दरदास बड़े निर्भीक, बड़े स्पष्टवादी और दबग थे। किसी

के शासन मे रहना उन्होने सीखा ही नहीं था। नौकरी के क्षेत्र मे किसी एक स्थान पर स्थिर न रह सकने का यही प्रमुख कारण था। राय बहादुर होते हुए भी उन्होने कभी सरकारी अधिकारियो की खुशामद नही की। उनकी स्पष्टवादिता और कटुआलोचना का शिकार महामना मालवीय जी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे उनके घनिष्ठतम मित्रो को भी होना पड़ा। पारवारिक जीवन की अशान्ति और आर्थिक सकटो ने उन्हे कुछ रुक्ष भी बना दिया था। वे विनोदी और हास्यप्रिय नही थे। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनकी शैली मे भली भॉति परिलक्षित है।

अपके पचास वर्ष के लम्बे साहित्यिक जीवन मे बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने विशद् साहित्य हिन्दी को भेट किया है। उन्होने हिन्दी वाङ्मय के अभाव को पूरा करने के लिए मौलिक ग्रन्थ रचे। हिन्दी भाषा की पुरातन कृतियो का सम्पादन किया। विश्व-विद्यालय की उच्च परीक्षाओ के लिए हिन्दी पाठ्य पुस्तको का सकलन किया। हिन्दी के विविध विषयो पर उच्चकोटि के मौलिक निबन्धो की रचना की। हिन्दी कोविदमाला, साहित्यालोचन, भाषाविज्ञान, हिन्दी भाषा का विकास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, हिन्दी भाषा और साहित्य, गद्य कुसुमावली, भाषारहस्य भाग १, रूपक रहस्य, उनकी प्रमुख मौलिक कृतियॉ हैं। चद्रावती, रामचरितमानस, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश, इन्द्रावती भाग १, हम्मीर रासो, शकुन्तला नाटक, परमाल रासो, मेघदूत, भारतेन्दु नाटकावली, कबीर ग्रथावली, सतसई सप्तक, दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, रानी केतकी की कहानी, अशोक की धर्म लिपियॉ, हिन्दी शब्द सागर खड १–४, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, रत्नाकर, बालशब्द-सागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, त्रिधारा आदि साहित्यिक रचनाए आपके सम्पादकत्व मे निकली। भाषासार सग्रह, प्राचीन लेख मणिमाला, आलोक चित्रण, हिन्दी संग्रह, साहित्य सुमन, गद्य रत्नावली, नूतन सग्रह, अनुलेख माला, साहित्य प्रदीप, हिन्दी गद्यसंग्रह आदि आपके हिन्दी पाठ्य पुस्तको के सकलन हैं। इसके अतिरिक्त आपने सतोष, नागरी जाति और नागरीलिपि की उत्पत्ति, जतुओ की सृष्टि, भारतवर्ष की शिल्प शिक्षा,

रचनाएं

हिन्दी का आदि कवि, शिक्षा, बीसलदेव रासो, चन्दवरदाई, मुद्राराक्षस, रासोशब्द, चंदगुप्त, कर्त्तव्य और सत्यता, भारतीय नाट्यशास्त्र, नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा, आदि विवध विषयो पर उत्कृष्ट और शोध पूर्ण निबन्धो की रचना की।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी की साहित्य साधना हिन्दी प्रचार और इसके लिए हिन्दी भाषा तथा साहित्य को सभी प्रकार से पुष्ट बनाने के निश्चित ध्येय को लेकर चली है। इसके लिए एक ओर जहा उन्होने नागरी प्रचारणी सभा काशी की स्थापना कर हिन्दी प्रचार कार्य को आगे बढ़ाया है वही दूसरी ओर काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यक्ष पद से उन्होने ऐसे विषयो पर लेखनी उठाई जिनको अभी तक किसी साहित्यकार ने छुआ तक न था। इस इस प्रकार हिन्दी के प्रचारक और साहित्यकार होने के नाते उनकी साधना साहित्यिक होने के साथ-साथ रचनात्मक थी। इन दोनो ही रूपो में उनकी साधना बड़ी महान है। उनके समय मे नाटक, उपन्यास, कथा, काव्य, इन सभी क्षेत्रो मे तेजी से साहित्य निर्माण हो रहा था पर हिदी पुस्तको के अनुसधान तथा भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन आदि विषयो की ओर किसी का ध्यान ही नही गया था। बाबू श्यामसुन्दरदास ने पहलीबार इस क्षेत्र मे पदार्पण कर हिदी की आवश्यकताओ को पूरा किया। वे कवि न बने, उपन्यासकार और नाटककार भी वे न थे, पर हिदी पुस्तको की खोज और साहित्य तथा भाषा विज्ञान सम्बधी सामिग्रियो को एकत्रित कर उन्होने जो महत् कार्य का सम्पादन किया उसकी गुरुता क्या कम है ? उन्होने जहा स्वय मौलिक साहित्य का सृजन किया वहीं एक भारी काम लेखको के लिए सामिग्री प्रस्तुत करने का किया।

साहित्य साधना

साहित्यकार के रूप मे श्यामसुन्दरदासजी हमारे सामने पूर्णतः गद्य लेखक के रूप में आते हैं और उनका यह गद्य लेखन भी अनुसन्धान कार्य और साहित्यिक विषयो से सम्बधित निबन्ध तथा भाषा विज्ञान, नाट्यशास्त्र, कवि-समीक्षा, और साहित्यालोचन जैसे सैद्धान्तिक ग्रन्थो के प्रतिपादन तक सीमित रहा है। ये सभी साहित्यिक कृतिया गम्भीर विषयो को लेकर चली हैं फलतः

वे लेखक के गहन अध्ययन और विद्वता की अपेक्षा रखती हैं। बाबूजी में ये दोनो ही बाते विद्यमान थी। वे हिंदी के अध्यापक और अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता थे। अतएव अंग्रेजी साहित्य का सहारा लेकर उन्होने इन गूढ गभीर विषयो पर हिंदी भाषा मे लिखा। इसमे सन्देह नही कि इन रचनाओ मे अॅग्रेजी साहित्य की आलोचनात्मक पुस्तको का भावापहरण होने से मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन कम है, पर उस युग और उन परिस्थितियो मे ऐसी कृतियो के निर्माण के लिए अन्य कोई मार्ग ही नही था। फिर भी सिद्धान्त और सामिग्री दूसरो से ग्रहण करने पर भी उनको प्रस्तुत करने का ढङ्ग उनका अपना है। इस दृष्टि से वे निश्चय ही हमारे मौलिक आलोचक हैं।

आलोचना साहित्य मे बाबूजी की दो प्रमुख कृतियाॅ हैं—१—साहित्यालोचन २—हिन्दी भाषा और साहित्य। साहित्यालोचन मे उन्होने सैद्धान्तिक

आलोचना पद्धति

आलोचना पद्धति का सहारा लिया है तथा हिन्दी भाषा और साहित्य मे उन्होने व्यावहारिक आलोचना पद्धति से विषय का प्रतिपादन किया है। अपनी इन दोनो ही पद्धतियो मे उन्होने भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य सिद्धान्तो को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अपने इस प्रयत्न मे वे सफल नहीं हो सके है। उनके ग्रन्थ मे ये सिद्धान्त पृथक-पृथक भी रहे, मिलकर एक रूप न बन सके। इसका कारण यह है कि बाबू जी इन सिद्धान्तो की विविधता को आत्मसात कर वे अपना न बना सके। उनकी साहित्य चेतना इतनी प्रबुद्ध और सजग है ही नही। फलतः रामचन्द्र शुक्ल की भाति बाबूजी की आलोचना पर वैयक्तिकता की छाप नहीं और न वे सिद्धान्त निरूपण मे विषय का प्रतिपादन करते हुये अन्तिम गहराई को छू पाते हैं। बाबू जी पर जो अमौलिक होने का आरोप लगाया जाता है उसका एक कारण यह भी है।

फिर भी बाबू जी की आलोचना पद्धति का अपना महत्व है। उनकी आलोचना कृति 'हिंदी भाषा और साहित्य' से हिंदी मे ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात होता है। आज भी हिन्दी साहित्य के लिये उनके साहित्यालोचन की आवश्यकता अनिवार्य हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की रचनाएँ प्रमुखतः साहित्यक वर्ग के लिये हैं। जन साधारण की रुचि विशेष से उनका कोई सबन्ध नहीं है। इसका कारण उन रचनाओ का प्रतिपाद्य विषय है। वह मनोरजक और चटपटा न होकर बड़ा गूढ और गभीर है। विषय के अनुकूल ही रचनाओ की भाषा है। प्रताप नारायण मिश्र की भाति न तो उसमे चटपटा पन है, भट्ट जी की भाति मुहावरो और कहावतो का चमत्कार है, बालमुकुन्द गुप्त की भाति उसमे व्यावहारिकता भी नहीं है, वरन् इन सबसे अलग वह बड़ी गभीर, बड़ी सयत है। वह व्यावहारिक न होकर शुद्ध साहित्यक हिन्दी है। सस्कृत के तत्सम शब्दों की ही उसमे बहुलता है। जिन तद्भव शब्दो का प्रयोग किया गया है वे भी शिष्ट जनो के बीच प्रचलित भाषा के है। उर्दू के शब्दो से उन्होने अपनी भाषा को बचाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। जिन उर्दू शब्दो को ग्रहण किया है उनका पहिले हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार रूप और ध्वनि परिवर्त्तन कर दिया है। इसीलिए उन्होने 'ग़लत' के स्थान पर 'गलत' अक्ल के स्थान पर अकिल, तेज के स्थान पर तेज शब्द का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध मे स्वय बाबू श्यामसुन्दरदास का दृष्टिकोण उद्धृत करना उचित ही होगा "जब हम विदेशी भावो के साथ विदेशी शब्दो को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना ले कि उनमे से विदेशीपन निकल जाए और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमो से अनुशासित हो। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप, रग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रखेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमे उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।" इसीलिए बाबूजी ने अपनी भाषा मे उर्दू के अधिकतम प्रचलित शब्दों को अपनाया है, वह भी इतनी कम मात्रा मे कि सस्कृत शब्दो की भीड़ मे उनका कहीं पता नहीं चलता।

भाषा शैली

सस्कृत बहुल होने पर भी भाषा भावो की बोधगम्यता मे कही बाधक नहीं बनी। विशुद्ध साहित्यिक होते हुए भी वह जटिल और क्लिष्ट नहीं है। इसका कारण भाषा मे सस्कृत के अव्यावहारिक शब्दो तथा समासात पदावली का अभाव है। इसके अतिरिक्त भावो के प्रतिपादन मे भाषा कही अव्यवस्थित

और उलझी हुई नहीं है। वह सर्वत्र सुगठित और सुलझी हुई है। उनकी भाषा इस बात का प्रतीक हैं कि गूढ से गूढ विषयो के प्रतिपादन में हिन्दी भाषा का शब्द विधान बडा प्रौढ़, बड़ा समर्थ है।

श्यामसुन्दरदास जी की ऐसी भाषा मे स्निग्धता कम रुक्षता अधिक है। शुक्ल जी जैसे गभीर विषयो का प्रतिपादन करते हुये बीच-बीच मे हास्य-व्यग के सरस छींटे देते चलते है, ऐसी प्रवृत्ति हमें इनकी भाषा में नहीं मिलती। मुहावरो और कहावतो का प्रयोग भी नहीं के बराबर हुआ है। इतना होने पर भी हम बाबूजी की भाषा को नीरस नहीं कह सकते। उनकी भाषा गंभीर और सयत होते हुए भी धारावाहिक प्रवाह लिये हुए है। बाबू जी स्वय बड़े उच्चकोटि के वक्ता थे। उनके इस विशिष्ट गुण की छाप उनकी शैली पर स्पष्ट रूप से अकित है। जिस प्रकार भाषण को अधिक बलशाली और आकर्षक बनाने के लिये बीच-बीच में किसी किसी शब्द या वाक्य-विन्यास पर विशेष बल दिया जाता है उसी प्रकार भाषा शैली मे भी उन्होने वाक्य योजना और शब्द विधान में स्वराघात उत्पन्न कर बड़ा आकर्षण भर दिया है। उनकी इस शैली मे भाषा क्लिष्ट होती हुई भी बड़ी स्पष्ट और बोधगम्य है। वाक्य कुछ लम्बे पर गठन मे सीधे-सादे और सरल हैं। उनकी इस शैली का उदाहरण हैं—

"साराश यह है कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कही क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है, और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती है और अनेक भू भागो से होकर बहती है वैसे ही हिन्दी साहित्य का इतिहास भी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओ के रूप मे प्रवाहित हो रहा है।

श्यामसुन्दरदास जी की भाषा शैली की सबसे प्रधान विशेषता उसका व्यास प्रधान होना है। बाबूजी अपने गभीर विषयो का प्रतिपादन विशुद्ध खड़ी बोली मे करते हुये भी उसे सरल और सुलझे हुए रूप में अपने पाठको के सामने रखना चाहते थे, जिससे कि साहित्यालोचन, भाषा विज्ञान जैसे विषय लोगो के लिये रोचक बन सके और आगे इस क्षेत्र में अधिकाधिक

साहित्य का निर्माण हो सके। फलतः अपने गम्भीर विषयो का गभीरता के साथ विवेचन करते हुए भी उन्होने व्यास प्रधान शैली को अपनाया है। इस दृष्टि से बाबू श्यामसुन्दरदासजी शुक्ल जी की सूक्ति प्रधान शैली से ठीक विपरीत रूप लिये हुए हैं। अपनी इस व्यास प्रधान शैली मे उन्होने एक ही भाव को कई प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। पूर्व कथित विचारो से सबन्ध स्थापित करने के लिये उन्होने स्थान-स्थान पर 'फिर' 'अर्थात' 'साराश यह है' 'ऊपर जो कुछ कहा चुका है' आदि की योजना की है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्हें पाठक की बुद्धि पर तनिकभी विश्वास नही है और भय है कि कहीं वह विचार सतुलन न खो बैठा हो। इस प्रवृत्ति के कारण ही कहीं-कहीं शैली में पुनरुक्ति दोष आ गया है, पर विषय का प्रतिपादन उससे सरल और बोधगम्य हो सका है, इसमें सदेह नही उदाहरण के लिये—

"अपनी आदिम अवस्था मे मनुष्य की इच्छा-शक्ति के साथ लोकहित का सबन्ध चाहे न रहा हो, पर समाज की सभ्यता की वृद्धि होने पर तो उसकी इच्छाएँ लोक मगल की ओर अवश्य उन्मुख हुई। सभव है आरम्भ में आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य की इच्छा वृत्तियाँ रही हों पर आगे चलकर इनके स्थान पर अथवा इनके साथ ही साथ अन्य लोकोपकारी प्रवृत्तियो का उदय हुआ और वे प्रवृत्तियाँ मनुष्य की भावनाओ मे एकाकार होकर उसके मानसिक सगठन का अभिन्न अङ्ग बन गई। साराश यह है कि मनुष्य की सतत वर्द्धमान विवेक शक्ति और उसकी सतत उन्नतिशील इच्छा-शक्ति उसकी भावना शक्ति के साथ अभिन्न रूप मे लगी हुई हैं और वे तीनो मिलकर मानव समाज का विकास करने मे तत्पर हैं। ऊपर के विवेचन का सार तत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सबन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस व्यापार मे भी भाव की प्रधानता रहती है।

बाबू जी की इस भाषा शैली से एक और बात स्पष्ट है। जहाँ उन्होने गभीर विषयो का प्रतिपादन किया है वहाँ भाषा क्लिष्ट पर वाक्य छोटे-छोटे हैं। तथा जहाँ उन्होने सरल विषयो की विवेचना की है वहाँ भाषा प्रसाद मय पर वाक्य कुछ अधिक लम्बे हैं। इस सबन्ध मे बाबू जी ने स्वय कहा है—
"जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हो उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग

ही सर्वथा वॉच्छनीय है । सरल और सुबोध विषयो के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े हो तो उनमे उतनी हानि नहीं होती ।"

इस प्रकार श्यामसुन्दरदास जी ने अपनी गद्य शैली द्वारा खड़ी बोली को बड़ा समृद्धि और व्यापक रूप प्रदान किया है । उसे केवल साधारण स्मरणीय साहित्य के लिये ही नही वरन् उच्चकोटि के साहित्य निर्माण के लिये भली भाति समर्थ बनाया है । हिन्दी साहित्य मे सर्वथा नवीन विषयो का प्रतिपादन करते हुए उसकी अभिव्यजना का सरल और बोधगम्य रूप ही सामने रखा है । इस क्षेत्र मे उनके सामने कोई आदर्श न था । फलतः अपने बिषयो के प्रतिपादन के लिये उन्हें स्वय अपनी भाषा शैली को गढ़ना पड़ा । उनका यह मौलिक रूप भी उनके विचार क्षेत्र, उनकी प्रतिपादन शैली की भाति ही, उदात्त और उत्कृष्ट है । हिन्दी गद्य शैली के विकास मे इस दृष्टि से उनका महत्व पूर्ण स्थान है । पर इससे भी आगे हिन्दी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान उनके हिन्दी प्रचारक और हिन्दी उन्नायक के रूप मे हैं । हिन्दी की सेवा मे उनका तप, उनका त्याग, उनकी कर्मशीलता हिन्दी प्रेमियो को चिरन्तन प्रेरणा देती रहेगी । अन्त मे डा० राधाकृष्णन के शब्दो में "बाबू श्यामसुन्दरदास अपनी विद्वता का वह आदर्श छोड़ गये हैं जो हिन्दी के विद्वानो की वर्त्तमान पीढी को उन्नति करने की प्रेरणा देता रहेगा ।"

———
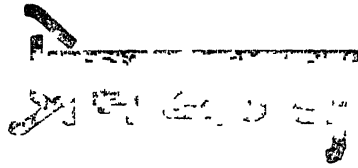
प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य के युग प्रवर्तक कलाकार हैं। उन्होने पहली बार साहित्य की इस विधा को तिलिस्म की भूल-भुलैयों से निकालकर जन-जीवन के यथार्थ धरातल पर ला खड़ा किया। अवास्तविक घटनाओं के माया जाल से मुक्त कर मानव चरित्र से उनका सम्बन्ध जोड़ा। भूत और भविष्य की मोहक कल्पनाओं को भुलाकर वर्तमान के कटु-सत्य से उसका शृंगार किया। सब प्रकार की संकीर्णताओं के दलदल से खींचकर उसे शुद्ध मानव-वाद का पोषण बनाया। उन्होंने पहली बार साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, सामन्तवादी शोषण से पीड़ित गरीब हिन्दुस्तान की पद-दलित और अभिशापित जनता का सचाई से साथ दिया। उनके भावों और विचारों को, इच्छाओं और आकांक्षाओं को, दुख और दर्द को, आशा और निराशा को, जय और पराजय को सबसे अधिक स्वर दिया। अपने समय की समस्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक समस्याओं का चित्रण कर उन्होंने अपने साहित्य को नीर-क्षीर की तरह जनजीवन में घुला मिला दिया। इसीलिए प्रेमचन्द के उपन्यास इस युग के महाकाव्य हैं। उनमे इस देश की जनता का सच्चा इतिहास सुरक्षित है। उनमें जो युग का आत्माभिव्यंजन है वह हिन्दी में तो क्या भारतीय साहित्य में बेजोड़ है।

जनता के आत्मतेज से अभिभूत ऐसा ही सचेतन साहित्य लेकर प्रेमचन्द हिन्दी के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। लखनऊ के अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन मे प्रेमचन्द ने सभापति पद से भाषण देते

हुए ऐसे नए साहित्य की माँग की थी "जिसमे उच्च-चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो जो हममें गति और सघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नही क्यों कि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" प्रेमचन्द के कहे हुए ये शब्द उनके साहित्य के लिए अक्षरशः सत्य हैं। उनके साहित्य मे एक ओर जहाँ पददलित और पीड़ित किसानो, मजदूरो और बेकस गरीबो की सोई आवाज को ऊँचा उठाया वही सब प्रकार के शोषण से मुक्त स्वस्थ्य और समृद्ध मानव सस्कृति के निर्माण की अमूल्य विरासत नई पीढ़ी को प्रदान की। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने देश में एक महान साहित्यिक परम्परा को जन्म दिया है। तुलसी के बाद निश्चय ही वे हमारे सबसे अधिक सचेतन, सबसे अधिक प्राणवान, सबसे अधिक सशक्त और सबसे अधिक लोक प्रिय कलाकार हैं।

हमारी राष्ट्रीय चेतना के इस महान कलाकार का जन्म काशी के निकट एक छोटे से लमही ग्राम मे स० १६३७ (१८८० ई०) श्रावण वदी १० को को हुआ था। जन्म के बाद वे धनपतिराय कहलाये।

जीवन परिचय

जिस कायस्थ परिवार मे उन्होने जन्म लिया था वह आर्थिक दृष्टि से बड़ी सकटापन्न स्थिति मे था। पिता अजायबराय डाकखाने मे क्लर्की करते हुए २०) मासिक पाते थे। माता सग्रहणी रोग की मरीज थी। प्रेमचन्द जब ७ वर्ष के थे तभी माता का ममता भरा आचल उनके सिर से हट गया। घर मे जो दूसरी माँ आई उसका व्यवहार उनके प्रति अच्छा न रहा। सौतेले भाई भी उनसे स्नेह न कर सके। पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे उनकी शादी करदी गई और इसके एक वर्ष पश्चात ही पिताजी का देहान्त होगया। घर मे जो कुछ था वह सब पिता की बीमारी और क्रियाकर्म में स्वाहा हो गया। यह आयु बालको के खेलने-खाने की होती है, पर प्रेमचन्द जी को गृहस्थी की चिन्ता करनी पड़ी।

प्रेमचन्द गाँव में रहते। ट्यूशन करके खर्चा चलाते। काशी उनके गाँव से पाँच मील दूर था। वहाँ प्रति दिवस पढ़ने जाते। इस प्रकार उन्होने हाई स्कूल द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण किया। इसके बाद वे कालिज में प्रविष्ट हुए।

बडी कठिनाइयो के साथ उन्होने अध्ययन जारी रखा। शहर मे रहकर पाँच रुपये का ट्यूशन करते। जहाँ पढ़ाते वहीं अस्तबल के ऊपर एक कच्ची कोठरी मे रहते। स्वय ही भोजन बनाते, बर्तन धोते, कमरा साफ करते और अपना अध्ययन करते। पाठ्य-पुस्तको के साथ उपन्यास, कहानी पढ़ने का बहुत शौक था। तेरह वर्ष की उम्र मे ही उन्होंने उर्दू का 'तिलिस्म होशरूबा' पूरा पढ लिया था। इण्टर मे वे दो बार गणित विषय में अनुत्तीर्ण हुए। पढने की लालसा उनके मन में बहुत थी पर साधन न होने से विवश थे। अन्त मे वे १८ रु० मासिक पर एक स्कूल में अध्यापक हो गये। इसके पश्चात् वे सरकारी शिक्षा विभाग मे सब डिप्टी इन्सपैक्टर हो गये। पर इस पद पर उन्हें अधिक दौरे करने पडते थे। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहता। फलतः इस पद से अलग होकर वे बस्ती के सरकारी स्कूल मे अध्यापक हो गये। अपने अध्यापनकाल मे वे छात्रो मे बड़े प्रिय थे। मनमौजी आदमी थे। हैड-मास्टर, इन्सपैक्टर किसी की परवाह न करते थे। इसी बीच उन्होने 'इण्टर' और 'बी० ए०' दोनो ही डिग्रियाँ ले ली थी।

इसी बीच देश मे असहयोग आन्दोलन की आँधी उठी। प्रेमचन्द उससे बच न सके। अपनी बीस वर्ष की सरकारी नौकरी को ठुकरा कर वे भी स्वाधीनता संग्राम के सैनानी बन गये। उनके राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ भी उनके साहित्यिक जीवन से ही प्रारम्भ हुआ। उनका प्रथम कहानी संग्रह 'सोजे वतन' अँग्रेजी शासन काल की आँखो मे इतना खटका कि उसकी पाँच सौ प्रतियो को अग्निदेव के समर्पित किया किया। प्रेमचन्द तब नबाबराय के नाम से उर्दू में लिखते थे। दयानारायण निगम नामक एक उर्दू लेखक और सम्पादक ने उन्हे प्रेमचन्द नाम दिया, और तब से यही उनका वास्तविक नाम बन गया।

अध्यापन कार्य छोडकर प्रेमचन्द जी अपने घर बनारस चले आए और यही साहित्य सेवा तथा देश सेवा में लग गए। आर्थिक सकटो ने उन्हें फिर नौकरी के लिये वाध्य किया और वे कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय मे प्रधानाध्यापक हो गये। कुछ दिनो तक काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग के प्रधानाध्यापक रहे। पर इन दोनो ही पदो पर उनकी पटरी नहीं बैठी। वे

'मर्यादा' पत्रिका के सम्पादक बने। 'माधुरी' पत्र का सम्पादन किया। इसके बाद बनारस मे उन्होने अपना प्रेस खोला तथा 'हस' और 'जागरण' पत्रों को जन्म दिया। पर इस व्यवसाय में घाटा ही रहा। उन्हीं दिनो बम्बई की एक फिल्म कम्पनी ने उन्हें आमन्त्रित किया। प्रेमचन्द जी बम्बई गये पर स्वास्थ्य ने साथ न दिया। वे शीघ्र ही अपने पुराने स्थान पर लौट आए। यहीं ८ अक्टूबर, सन् १९३६ (सं० १९९३) को प्रातःकाल की बेला में अपने युग का यह सबसे बड़ा कलाकार हमारे बीच से उठ गया। प्रेमचद का यह जीवन आदि से लेकर अन्त तक अभावो, कठिनाइयो और सघर्षों की लम्बी कहानी है। बचपन से ही उन्हे कठिनाइयो के कड़ुवे घूँट पीने पड़े। आर्थिक विषमता से पीड़ित मध्यवर्गीय समाज के करुणा भरे चित्र निरन्तर उनकी आँखो मे तैरते रहे हैं। मानव जीवन को, उसके बाहरी और भीतरी रूप को उन्होने बहुत निकट से देखा और अपने समस्त साहित्य मे सचाई और ईमानदारी के साथ उसे उतारा। उनके जीवन का हलाहल उनके साहित्य का अमृत बन गया। यही अमृत लेकर उन्होने गरीब और पीड़ित हिन्दुस्तान का साहित्यिक प्रतिनिधित्व किया। उसके शोषित रूप को मानसिक सबल दिया। इसीलिए इस महान कलाकार का जीवन हमारे राष्ट्र की अमूल्य धरोहर है।

ऐसा महान जीवन कैसा व्यक्तित्व रखता होगा? जो निरन्तर कठिनाइयों और सघर्षों से जूझा पर आह तक न की। जिसके आँसू हृदय मे छिपे रहते थे पर आँखो मे हँसी नाचा करती थी। चट्टान सी दृढ़ता लिए जो समाज और जीवन के थपेड़ो से निरन्तर खेला। अपने अडिग आत्मविश्वास के कारण इन सघर्षों में, कभी निराश, कभी विचलित, कभी दीन नहीं बना। आत्म-सम्मान की तेजस्विता ने जिसके व्यक्तित्व, जिसके विचारो को बड़ा ऊर्जस्वित बना दिया। इसीलिए बिना किसी भय और सकोच के अपने विचार दूसरों के सामने रख सका, उनके लिए लड सका।

व्यक्तित्व

पर ऐसा असाधारण व्यक्तित्व यो देखने-भालने मे बिल्कुल साधारण था। जैनेन्द्र जब प्रेमचन्द से पहली बार मिलने गए तब उन्होने जिस

प्रेमचन्द को देखा "उनकी बडी घनी मूँछे थीं पाँच रुपयेवाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे, जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालो ने आगे आकर माथे को कुछ ढक सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था, सिर जरूरत से ज्यादा छोटा प्रतीत हुआ, मामूली धोती पहिने हुए थे, जो घुटनो से जरा नीचे आ गई थी, आँखो मे खुमारी भरी देखी, मैने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं।" ऐसे प्रेमचन्द सचमुच विनय और सादगी की मूर्ति थे। अहमन्यता से बिल्कुल शून्य, निष्कपट और निरीह। भीतर और बाहर मन और वचन, कर्म और सिद्धान्त सबसे अभिन्न, कही कोई आडम्बर नही, कहीं कोई बडप्पन की बू नही। जिससे मिलते बिल्कुल सगे की तरह, चाहे बडा हो या छोटा। सरल होते हुए भी वे अपने और अपने समाज के जीवन की जटिलताओ से पूर्णतः विज्ञ थे। लोगो की धूर्तता और ,मक्कारी उनसे छिपी नहीं थी। निर्धनता को वे वरदान समझते थे, क्योकि इसी मे वे अपने निर्धन और गरीब देश के दुःख-दर्द को पहिचान सके। वे निश्चय ही कलम के मजदूर थे। मजदूर के ही समान उनकी थोड़ी सी आवश्यकताएँ थी। वे स्वय कहते थे "मै मजदूर हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नही।" पर उनकी यह मजदूरी अपना तथा अपने बच्चो का पेट पालन के लिए न थी साहित्य सेवा उनके जीवन निर्वाह की अनुचरी नहीं बनी , वरन् उनके हृदय मे मानव जीवन की विषमता, पीड़ा और दुख-द्वन्द्व को लेकर इतने अनुभव, इतनी चिनगारियाँ भरी हुई थी कि उन्हे व्यक्त किये बिना वे जीवित नही रह सकते थे। ऐसा प्रेमचन्द का जीवन और उनका व्यक्तित्व था। यही उनकी साहित्य साधना का मूल प्रेरक स्वर बना।

प्रेमचन्द की विचारधारा

प्रेमचन्द के जीवन और व्यक्तित्व को समझ लेने के बाद तथा प्रेमचन्द के साहित्य को समझने से पहिले प्रेमचन्द के विचार-दर्शन को समझ लेना आवश्यक है।

प्रेमचन्द दरिद्रता मे जन्मे, दरिद्रता मे पले और दरिद्रता मे ही उनकी मृत्यु हुई। उनकी इस दरिद्रता ने उन्हें सामाजिक जीवन के असतुलन और उसके वैषम्य को परखने का अवसर दिया। उन्होने देखा कि जो श्रमजीवी है, अहर्निश परिश्रम से जीवन यापन करते हैं, फिर भी भूखे और नंगे बने रहते

हैं। जिस समाज को अपना रक्त पिलाकर वे जिलाते हैं, उसी में पग-पग पर उन्हें अपमान, तिरस्कार और उपेक्षा मिलती है फिर भी वे शात बने रहते हैं। परम्परा से वे जिन धार्मिक और सामाजिक सस्कारो को ढोते आ रहे हैं, वे उनकी आत्मा को इतनी भीरु, इतनी दुर्बल बना देते हैं कि वे अपने इन चारो ओर की सामाजिक कु ठाओ के घेरे को तोड़ कर ऊपर उठने का साहस ही नहीं कर पाते। ईश्वर का विधान या अपने पूर्व जन्म के कर्मो का दोष समझ कर मन को समझा लेते हैं। इनके विपरीत एक ऐसा भी वर्ग है जो स्वय श्रम नहीं करता फिर भी दूसरो के श्रम पर जी कर गुलछर्रे उड़ाता है, समाज के आदर और प्रतिष्ठा का पात्र बनता है। जोक की तरह समाज का रक्त चूसने पर भी समाज हितैषी का पद पाता है। चोर बाजारी और बेकसो का गला घोटकर धन अर्जन करने पर भी पुण्यात्मा और धर्मात्मा माना जाता है। ऐसे समाज मे सस्कारगत और धर्मगत सकीर्णताओ को लेकर भेद भाव की दीवाले खड़ी की जाती हैं। समाज के एक वर्ग को अछूतो की सज्ञा देकर उनके साथ पशुओ का सा बर्बर व्यबहार किया जाता है। नारी समाज की स्थिति और भी दयनीय होती है। वे निरतर पुरुष की गुलामी मे पिसती रहती हैं। वैधव्य, बाल विवाह, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति और आर्थिक परावलम्बन से उनकी दुर्दशा का ठिकाना नहीं रहता। मानव समाज की स्वस्थ प्रगति को सामन्ती व्यवस्था के कुत्सित सस्कार और धर्म के ढकोसले अवरुद्ध बनाए रखते हैं।

ऐसे समाज से प्रेमचन्द ने बहुत कुछ सीखा। उन्होने यह स्पष्ट अनुभव किया कि यह जो असभ्य असस्कृत और गॅवार कहे जाने वाला पद-दलित भूखा और नगा समाज है, उसकी मानवता फिर भी उज्ज्वल है। पर यह जो शोषक वर्ग है वह निश्चय ही सभ्यता और प्रतिष्ठा की केंचुली धारण किए भयानक विषधर है। मानव के रूप मे वह किसी राक्षस से कम नहीं है। इसीलिए प्रेमचन्द ने सामाजिक विषमता के शिकार सामती व्यवस्था के विष से दंशित, धार्मिक ढकोसलो की चोटो से आहत, शताब्दियो के शोषित, पददलित और अपमानित किसानो, मजदूरो, कलम के श्रमजीवियो, अछूतो और नारी वर्ग की जोरदार वकालत की। जमींदारो, हुक्कामो, रायबहादुरो, सेठ और समाज

के बड़े कहे जाने वाले लोगों की असलियत को, उनके जीवन की कुत्साओं को निरावरण किया। उन्होंने भारतीय अध्यात्म और ईश्वर की कल्पना पर शंका प्रगट की। जप तप पूजा पाठ इन धार्मिक विडम्बनाओं का जी भर कर उपहास किया। उनकी दृष्टि मे मानवता की सेवा करना, निराश्रित लोगों को आश्रय देना, असहायजनों का सहायक बनना, क्षुधित और पीड़ितों का कष्ट दूर करना यही धर्म की सच्ची साधना बनी। इस प्रकार प्रेमचन्द पूर्णतः मानववादी बने। उन्होंने मनुष्य और उसकी मनुष्यता को सर्वोपरि स्थान दिया। मनुष्य के हृदय में मानवीय सद्वृत्तियों के जगाने, उसे सेवा भावी, त्यागी, पर दुख कातर, अपने श्रम पर जीने वाला, स्वावलम्बी. आत्म-विश्वासी, कर्मठ, आडम्बरहीन और ईमानदार बनाने के लिए प्रयत्न किया। इस प्रकार प्रेमचन्द ने मनुष्य को मानवता की बड़ी विराट और उच्च भूमि दी। उन्होंने मनुष्य को सुझाया कि सामाजिक विषमता और धर्म की व्यवस्था ईश्वर का विधान नहीं है, यह कुछ वर्गों की स्वार्थवासना से प्रसूत है। फलतः मनुष्य ही उसे तोड़ सकता है। उन्होंने ऐसी शक्ति इस विधान के शिकार शोषित वर्ग को दी। मानववादी प्रेमचन्द ने इस रूप मे ऐसी जनवादी संस्कृति के निर्माण की बुनियाद डाली जहाँ सामाजिक भेदभाव और विषमता न हो, व्यक्ति से अधिक समाज की महत्ता हो। जहा श्रमजीवी वर्ग निरंतर सुखी, समृद्ध और सुसंस्कृत बने। धर्म और अध्यात्म के नाम पर उन्हे ठगा न जा सके। जहाँ झूठ, चोरी, पाखण्ड, व्यभिचार, बलात्कार के अनैतिक तत्व न हों।

प्रेमचन्द ने यह भी स्पष्ट अनुभव किया कि हमारी सभी सामाजिक समस्याओं के पीछे आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख हाथ है। पर इस रूप मे प्रेमचंद ने मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रेरणा नही ग्रहण की। यह विचार दर्शन तो प्रेमचन्द के गहरे अनुभवों की उपज है। सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द किसी विशिष्टवाद के अन्धभक्त नहीं बने। उन जैसे जागरूक कलाकार के लिए किसी वाद का भक्त बनना संभव भी न था।

कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द की विचारधारा को गाधीवादी बताया है। बहुतों ने तो उन्हें भारतीय साहित्य का गांधी ही कह दिया है। पर यह प्रेमचन्द के विषय में बहुत बड़ा भ्रम है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द ने भी

गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया था। उनके प्रारम्भिक साहित्य की आदर्शवादिता, सुधारक प्रकृति और प्रचारक रूप पर भी गाँधीवादी विचारधारा की स्पष्ट छाप है। पर प्रेमचन्द अधिक दिनो तक ऐसी स्थिति मे नही रहे। उनकी विचारधारा जो प्रारम्भ मे समस्याओ के कृत्रिम समाधान के लिए आदर्शों के पीछे दौडती फिरती थी आगे चलकर दृढ़ और स्थिर बन गई। उस पर जो आदर्शवाद की पालिश थी वह धुल गई और वह अपने युग की चेतना के साथ अधिक यथार्थवादी रुख अपनाती गई। ज्यो-ज्यो युग की परिस्थितियाँ अग्रसर होती गई त्यो-त्यो प्रेमचन्द की तार्किक बुद्धि उनका विवेचन करती गई तथा उन शक्तियो के साथ रही जिनका उद्देश्य देश की शोषित और गरीब जनता को सुखी संपन्न बनाना था। इसीलिए प्रेमचन्द की विचारधारा कभी एक स्थान पर नहीं रुकी। वह निरतर गतिशील रही। वह न कभी गाँधीवादी रही न मार्क्सवादी वरन लोक-मगल की व्यापक भावना लिये सदैव मानववादी रही।

प्रेमचन्द की इसी विचारधारा ने उनके साहित्य को जन्म दिया। अपनी आवाज जनता तक पहुँचाने के लिये उन्होने उपन्यास लिखे, कहानियो की रचना की, नाटक लिखे और पत्र निकाले। अन्य भाषाओ से अनुवाद भी किए। उन्होने निबन्ध और बालोपयोगी साहित्य की भी रचना की। प्रेमा,

प्रेमचन्द का साहित्य

वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रगभूमि, गबन, कर्मभूमि, निर्मला, कायाकल्प, गोदान, मगलसूत्र (अपूर्ण) प्रेमचद जी के उपन्यास हैं। मानसरोवर के आठ भागो मे उनकी लगभग तीन सौ कहानियो का सग्रह हैं। प्रेम की वेदी, कर्बला, सग्राम, प्रेमचद जी के नाटक हैं। सृष्टि का आरम्भ, फिसाने आजाद, अहकार, हड़ताल, चाँदी की डिबिया, न्याय अनुवाद कृतियाँ हैं। कुछ विचार, कलम तलवार और त्याग, मौ० शेखसादी प्रेमचद जी के निबध और जीवनी हैं। मनमोदक, कुत्ते की कहानी, जगल की कहानियाँ, टालस्टाय की कहानियाँ, दुर्गादास, रामचर्चा, बालोपयोगी साहित्य है। 'जागरण' और 'हंस' इन दो पत्रो का प्रकाशन किया था।

प्रेमचद का साहित्य जनता का साहित्य है। जन-सामान्य के सुख दुख

आचार विचार, भाषा भाव, रहन सहन, आशा आकॉक्षा सभी कुछ प्रेमचद के साहित्य मे मूर्तिमान है। झोपड़ियो से लेकर महलो तक, रक से लेकर राजा तक, भिखारी से लेकर महन्तो तक घर की कुल बधुओ से लेकर वारवनिताओ तक, रोटियो के लिये ललकते हुए मानव प्राणियो से लेकर मखमली सेज पर सोने वाले रईसो तक, उनके साहित्य की गति अबाध-गति से बही है। समाज का कोई अङ्ग, जनता का कोई वर्ग उनकी कलम से अछूता नहीं रहा। सत्य तो यह है कि प्रेमचद जैसा समाज के वास्तविक रूप को सचाई के साथ दिखा देने वाला परिदर्शक हिन्दी उर्दू के ससार मे उत्पन्न ही नही हुआ। प्रेमचंद अपने साहित्य के साथ समाज की गहराइयो मे पैठ गये हैं और यहाँ से उन्होने अपनी भाव सामग्री के उपकरण जुटाए। वे उन कलाकारो मे से न थे जो जन-जीवन की कोलाहल भरी अवनी को तजकर नीले अम्बर की प्रेमभरी कहानी सुनाता हो। जनता से तटस्थ होकर उनका साहित्य नहीं रचा गया। इसीलिये प्रेमचद ने न तो भूत का सहारा लिया और न भविष्य का पल्ला पकड़ा। वे वर्त्तमान की समस्यायो से उलझते रहे। उनकी समस्यायो का समाधान करते रहे।

प्रेमचन्द साहित्य की विशेषताए

प्रेमचद का साहित्य उनके युग का साहित्य है। उन्होने अपने युग की सभी महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धामिक समस्यायो का चित्रण किया है। 'रगभूमि' मे उन्होने नए उद्योग धधो से उत्पन्न समस्यायो पर प्रकाश डाला। उनका 'कर्मभूमि' अछूत आदोलन, लगानबन्दी समस्यायो को लेकर आया। 'प्रेमाश्रम' किसान जमीदार सघर्ष को कहानी है। 'गोदान' मे उन्होने किसान महाजन के सघर्ष को वाणी दी है।

प्रेमचन्द का साहित्य जनता और राष्ट्र के उत्थान का साहित्य है। उनके साहित्य ने हमे सुझाया है कि देश की सच्ची उन्नति सामाजिक जीवन के असतुलन, वर्ग भेद और वैषम्य को दूर किये वगैर नही होगी। जब तक देश के किसानो, मजदूरो और अन्य श्रमजीवी वर्ग का शोषण होता रहेगा देश के सभी वर्ग के व्यक्तियो को उन्नति और विकास के समान अधिकार प्राप्त न होगे, देश की बागडोर जब तक ऐसे झूठे देश हितैषियो के हाथ मे रहेगी

जो समय आने पर जनता को धोका देते हैं, जिनका व्यक्तिगत हित जनता के के हित से बड़ा होता है, जो अपनी स्वार्थपरता के कारण जातीयता, धर्म, और सम्प्रदाय के नाम पर जनता को गुमराह बनाते हैं, तब तक देश सुख और समृद्धि का हँसता हुआ प्रकाश नही देख सकता। इस प्रकार प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग का साथ देकर ही चुप नही रहता वह इससे भी आगे राष्ट्रनिर्माण की स्वस्थ परम्परा को जन्म देता है। इस साहित्य का कलाकार केवल देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नही है, बल्कि उससे भी आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।

प्रेमचन्द का साहित्य पूर्णतः मानववादी है। वह हमे शोषण, पाखड, धूर्तता, अन्याय और बलात्कार से घृणा करना सिखाता है। उसे मिटाने को प्रेरणा देता है तथा एक नवीन स्वस्थ मानव सस्कृति के निर्माण की प्रेरणा देता है। इस प्रकार प्रेमचन्द मानवजीवन के सुधार की भावना लेकर चले हैं। फलतः उनकी कला-कला के लिए न होकर जीवन के लिए है। वह सोद्देश्य है और उपयोगितावाद के आदर्श को आत्मसात कर चली है। कही-कही साहित्य का सुधारवादी रूप बहुत स्पष्ट है और प्रेमचन्द ऐसे अवसरो पर उपदेश का बाना धारण कर लेते हैं। फिर भी प्रेमचन्द आदर्शवादी से अधिक यथार्थवादी हैं। उनकी अन्तिम रचना जैसे 'गोदान' मे बिना किसी भयानकता पर पर्दा डाले वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण ही किया गया है। एक शब्द मे प्रेमचद का साहित्य आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी है। आदर्श और यथार्थ का उसमे अपूर्व सामजस्य है। आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी रूप मे उनका साहित्य एक ओर जहाँ समाज का घिनौना रूप हमारे सामने रखता है, वहीं उसके सवारने और निखारने की प्रेरणा देता है। उनका यथार्थवाद यह है कि उन्होने जो कुछ कहा है सचाई और ईमानदारी के साथ कहा है। उनका आदर्शवाद यह है कि इस सत्य को उन्होने मानववाद के सौदर्य से अभिभूत किया है। लोक मगल की व्यापक भावना से मडित बनाया है।

अपने साहित्य से प्रेमचद ने मानवता के शाश्वत प्रश्नो को उठाया है। उन्होने उन भावनाओ, उन अनुभूतियो, उन सवेदनाओ, सघर्षो और कुंठाओ की अभिव्यक्ति दी है, जो मानव हृदय मे तैर रही है। मानव हृदय का विश्ले-

षण ही प्रेमचद का साहित्य है। उसका सम्बन्ध मानवता से है, मानवता के प्रश्नो और शाश्वत अनुभूतियों से है, इसी लिए यह साहित्य सामयिक न होकर चिरन्तन शाश्वत है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रेमचद के साहित्य की आत्मा कितनी विराट और भव्य है। यहाँ उनकी कला का स्तर भी निश्चय ही इतना ऊंचा और महान है। उनकी कला में कथासाहित्य के सच्चे तत्व अंकुरित और विकसित हुए हैं इस प्रकार भाव और कला दोनो की दृष्टियो से प्रेमचद बहुत महान हैं। वे हमारे पहले मौलिक कृती कथाकार हैं। नीचे उनकी उपन्यास कला का संक्षिप्त विवेचन है:—

प्रेमचन्द की उपन्यास कला

कथावस्तु—हमारा समाज जितना व्यापक है, उस का दर्शन उसका जीवन जितना गहन है, प्रेमचंद के उपन्यासों की कथावस्तु भी उतनी ही व्यापक और गहन है। समाज के सभी वर्गों से उन्होंने अपनी कथा के उपकरण जुटाएँ हैं। फलतः ये कथानक हमारे चिर-परिचित हैं। इतना होते हुए भी कथाकार की तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति और अद्भुत प्रतिभा ने इन कथानकों को इतने सजीव और स्वाभाविक रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है कि उनका आकर्षण उनकी कलात्मकता कहीं भी स्खलित नहीं हुई है। स्त्रियों की आभूषण प्रियता जैसे छोटे विषय को लेकर उन्होंने 'गबन' उपन्यास मे इतने बड़े घटना चक्र की सृष्टि करदी। पर प्रेमचंद की कथावस्तु, उनके उपन्यास की घटनाए वैचित्र्य प्रधान नही होतीं। तिलस्मी उपन्यासों की भाँति जन-मनोरंजन करना उनका ध्येय नहीं होता। वरन् वे एक निश्चित सिद्धान्त और उद्देश्य की ओर प्रगति करती हुई चलती हैं। उनका रूप पूर्णतः वास्तविक और यथार्थ होता है। इसीलिए इन उपन्यासों की घटनाओं की अनुभूति हमारी अनुभूति होती है। फलतः प्रेमचद का वस्तु विन्यास हमारे हृदय को स्पर्श करता है।

कथाक्रम के विकास मे प्रेमचन्द जी समस्त आवश्यक सामिग्री को जुटाते है। कोई भी महत्वपूर्ण बात उनसे छूटने नही पाती। यही नहीं कहीं तो वे बहुत सी अनावश्यक और अप्रासंगिक बातें भी कथावस्तु में रख देते हैं।

जैसे 'प्रेमाश्रम' मे प्रेमाशकर के दोनो लडको का इन्द्रजाल के धोके मे अपने ही हाथो मृत्यु को प्राप्त होना । 'सेवा सदन' मे भी निर्मला का वेश्यालय छोड़ते समय सेठ चिमनलाल, प० दीनानाथ, आदि की दुर्गति करना व्यर्थ ही है । इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के कथानको मे वह औत्सुक्य का जादू भी है जो शरत की रचनाओ मे मिलता है । प्रेमचन्द के उपन्यासो मे आगे क्या होगा, इसका हम सहज ही अनुमान लगा लेते हैं । कथाकार भी इस विषय मे हमारी सहायता करता चलता है । प्रेमचन्द के कथानको का वर्णनात्मक रूप भी बहुत उभरा हुआ है । जहा कही भी प्रेमचन्द को वर्णन करने का अवसर मिलता है उनकी कल्पना शक्ति बहुत तीव्र बन जाती है । शरत की भाँति थोड़ मे बहुत कहना वे जानते ही नहीं । कहीं-कही ये वर्णन व्यर्थ और अरुचिकर बन गए हैं ।

प्रेमचद के लगभग सभी उपन्यासो का कथानक दुहरा हैं । 'गोदान' मे जहाँ एक ओर होरी को लेकर ग्रामीण जीवन का चित्रण है वही कथा का बहुत बडा भाग रायसाहब और उनकी मित्रमडली के शहरी जीवन से घिरा हुआ है । कायाकल्प मे जहा एक ओर अलौकिक प्रेमगाथा है वही ग्रामीण और सामाजिक जीवन के चित्र कम नही है । इतना होते हुए भी घटनाओ मे कही विशृखलता नही है । उद्देश्य की ओर विकसित होती हुई घटनाओ मे अन्वति है । इस प्रकार प्रेमचद के उपन्यासो का वस्तु विन्यास कुछ दोषो के होते हुएभी रोचक, यथार्थ मौलिक और शृखलाबद्ध हैं । कथावस्तु के ये ही मूल गुण हैं । इसलिए वे पूर्ण और उत्कृष्ट हैं ।

पात्र और चरित्र चित्रण—आधुनिक उपन्यासो की सबसे बड़ी विशेषता पात्रो का व्यक्तित्व और उनका चरित्र चित्रण है । कथा को हम भूल जाते हैं, पर ये पात्र और उनका चरित्र हम पर अमिट प्रभाव छोड जाते हैं । जिस उपन्यास के पात्र या चरित्र ऐसा न कर सके, वे श्रेष्ठता की कोटि मे नही रखे जा सकते । प्रेमचंद इस दृष्टि से बड़े सफल कलाकार हैं । उनके सभी पात्र अपने चरित्र से, अपने कार्य व्यापार से हमारे हृदय पर गहरी छाप छोड़ते हैं । वे अपने साथ हमे रुलाते है, हँसाते हैं । अच्छे पात्र हमारी सद्वृत्तियो को जगाते हैं । उनके बुरे पात्र हमे बुराइयो के मार्ग से हटाते हैं ।

प्रेमचन्द के उपन्यासो की सबसे बडी विशेपता वास्तव मे मानव चरित्र की व्याख्या ही है। प्रेमचन्द से पूर्व का कथा साहित्य उपन्यास के इस मूलतत्त्व से सर्वथा अछूता था। प्रेमचन्द ने पहली बार चरित्र प्रधान उपन्यासो की परम्परा को जन्म दिया। अपने 'उपन्यास' निबन्ध मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि उपन्यासो का मूल रहस्य मानव चरित्र पर प्रकाश डालते हुए उसके रहस्य की गुत्थियो को सुलझाना होना चाहिए। प्रेमचन्द के सभी उपन्यास इस सिद्धान्त की लीक पर चले हैं। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति प्रेमचन्द ने मानव मन के गूढ़ रहस्यो को टटोला है, परखा है और बड़ी सचाई के साथ उनका प्रकाशन किया है। मानव प्रकृति की आतरिक बाह्य कोई भी दशा उनकी आखो से बच नही पाती। विविध [illegible] के बीच विविध वर्गो के मनुष्यो मे क्या भाव उठते हैं, कैसी उसकी चेष्टाए होती हैं, कैसा उनका व्यवहार होता है, इस बात की सूझ बूझ प्रेमचदजी मे अद्भुत है।

इस प्रकार चारित्रिक विश्लेषण द्वारा प्रेमचदजी ने जो पात्र हमारे सामने रखे हैं वे वास्तविक और [illegible] हैं। उनके हृदय मे जहा सद्वृत्तिया हैं वहीं स्वार्थपरता, अहमन्यता, और मानवीय दुर्बलताए कम नहीं है। वे नितात आदर्शवादिता का रूप लिए देवता नही है, वरन् मानवीय गुणो और अवगुणो के वशीभूत साधारण मनुष्यमात्र हैं। उनके बुरे पात्र भी एकदम सद्वृत्तियो से रहित नहीं होते। विभिन्न परिस्थितियो के बीच हम उनके मानवीय गुणो की झलक पाते है। यही कारण है कि प्रेमचद जी का चरित्र विश्लेपण इतना स्वाभाविक और मानव जीवन का सहज सत्य लिए हुए है।

ये जो कथाकार के कल्पना पुत्र पात्र हैं, वे सब अपना स्वतन्त्रता अस्तित्व लिए हुए है। परिस्थितियो के घात-प्रतिघात के बीच उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास होता है। घटनाचक्र पात्रो को प्रभावित करता है और पात्र घटनाओ को प्रभावित करते हुए चलते हैं। 'सेवासदन' की 'सुमन' परिस्थितियो की विवशता से वेश्यावृत्ति अपनाती है अवश्य, पर इसका मूल कारण उसकी स्वय की भोग भावना ही है।

चरित्र-चित्रण मे प्रेमचद जी ने मुख्यतः विश्लेपणात्मक प्रणाली को

अपनाया है। रगभूमि मे ज्ञान सेवक, सूरदास आदि पात्रो के गुण दोषों की विवेचना वे स्वय करते है। कही-कहीं उन्होने नाटकीय या सकेत प्रणाली को भी अपनाया है। इसमे या तो पात्र स्वय अपने विषय मे कहता हैं अथवा पात्रो की पारस्परिक टीकाटिप्पणी, या आस-पास की परिस्थितियो के वर्णन से पात्रो के चरित्र पर प्रकाश पडता है। लेखक तटस्थ भाव धारण कर लेता है। 'गोदान' मे 'रायसाहब' और खन्ना के वार्तालाप द्वारा 'मेहता' के चरित्र पर इसी प्रकार प्रकाश डाला गया है।

प्रेमचन्द के सभी पात्र प्रायः किसी विशिष्ट श्रेणी या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हे। 'गोदान' के सभी पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए हैं। उनके कुछ ही पात्र व्यक्तित्व प्रधान या जनसाधारण से कुछ विलक्षण चारित्रिक विशेषताओ से सम्पन्न होते हैं। जैसे रग भूमिका सूरदास। प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण की एक और विशेषता है। वह है पात्रो की चरित्र परम्परा। उनके पात्रो का व्यक्तित्व, चरित्र, मनोवृत्तिया, आदर्श, सिद्धात सब उपन्यासों मे प्रायः एक-सा है। चाहे ये पात्र स्त्री हो, पुरुष हो, बुरे हो, अच्छे हो। प्रेमाश्रम का 'प्रेम शकर' कायाकल्प का 'चन्द्रधर', कर्मभूमि का 'अमर कान्त' एक सा ही है।

प्रेमचन्द के चारित्रिक विश्लेषण पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि जो पात्र उनके सिद्धान्तो पर नही चलता उसके साथ उन्होने न्याय नही किया। अपने आदर्शवादी नायक की महत्ता के प्रतिपादन के लिए वे ऐसे पात्रो की शक्तियो को उभरने ही नहीं देते, उसकी शुभ्रता पर प्रकाश नहीं डालते, और अस्वाभाविक रीति से उसका अन्त करते है। जैसे 'प्रेमाश्रम' का सबसे क्रियाशील पात्र ज्ञानशकर, जिसने प्रेमचन्द के सिद्धान्तो से बगावत की। इसलिए वह गगाजी में डूबने के लिए विवश किया गया। इसके अतिरिक्त उनके कुछ आदर्शवादी पात्र बड़े विलक्षण बन जाते हैं। जैसे कर्मभूमि की 'मुन्नी'। इसका कारण आलोचको की दृष्टि में यह है कि प्रेमचन्द की आदर्शवादी आखे जीवन की विभीषका को देखने में असमर्थ हैं। इसलिए वे जीवन के सम्पूर्ण तथ्यो को ग्रहण न कर सके। आलोचको के इस कथन में कितना सत्य है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य

है कि प्रेमचन्द का जीवन दर्शन वैज्ञानिक न होकर शुद्ध उपयोगितावादी है। वे जीवन की असगतियो और विभीषिकाओ का चित्रण करते हुए उस स्थान पर ले आते हैं जहाँ मानव जीवन अपने आदर्श रूप मे स्थित होता है।

कथोपकथन—कथावस्तु के विकास, पात्रो के चरित्र विश्लेषण और उपन्यास की रोचकता मे कथोपकथन का प्रमुख हाथ रहता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास कथोपकथन के इस महत्व से भली भाति परिचित है। घटनाक्रम के विकास के लिए, पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए, वातावरण की सृष्टि के लिए उन्होने पात्र, देश, काल, परिस्थिति, भाव तथा रुचि के अनुकूल कथोपकथन की योजना की है। उनके सभी कथानक बड़े सजीव बड़े प्रभावपूर्ण है। कही-कही कथोपकथन की लम्बाई अवश्य बढ गई है। जैसे गोदान मे 'रायसाहब' का 'होरी' से वार्त्तालाप। पर वहा भी रोचकता नष्ट नहीं हुई है। अरोचकता वहा अवश्य आ जाती है जहा कथोपकथन सैद्धान्तिक वाद-विवाद या व्याख्यान का रूप धारण कर लेता है। 'प्रेमाश्रम' मे ऐसे ही लम्बे चौड़े भाषण हैं। फिर भी प्रेमचद के उपन्यासो मे जो कथोपकथन हैं, उनमे रससचार करने की अद्भुत शक्ति है। जिन भावो की अभिव्यक्ति करते है वे सहज ही हमारे हृदय मे पैठ जाते है। उनकी व्यग्य पूर्ण बातो से हम फड़क उठते है। रोष भरी बातो से हमारा हृदय जल उठता है। यही नहीं किस प्रकृति के मनुष्य को किस प्रकार की बात करनी चाहिए यह भी प्रेमचद खूब जानते है। उपन्यासो के सभी कथानको की योजना मूलतः इसी आधार पर हुई है।

देशकाल तथा वातावरण—प्रेमचद के साहित्य की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि उनके सभी उपन्यास अपने युग की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी महत्वपूर्ण समस्याओं को लेकर चले है और वह भी वास्तविकता और सचाई के साथ। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि उनके उपन्यास व्यक्ति, परिवार, ग्राम, नगर देश और इनमे होने वाले आदोलनो और हलचलो के कलात्मक इतिहास है।

प्रेमचंद का सभी साहित्य सोद्देश्य है। उनके उपन्यास भी किसी न किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिपादन करते हुए चले हैं। प्रेमचद का अपना जीवन

दर्शन है, अपनी विचारधारा है। इसी ने उनके उपन्यासो के घटना चक्र को जन्म दिया है, और पात्रो की सृष्टि की है। जैसा कि पहले स्पष्ट कहा जा चुका है प्रेमचद का मूल उद्देश्य परिस्थितियो के प्रकाश मे मानव की दुर्बलता को दिखाकर उसका परिष्कार करना है। अपने उपन्यासो मे इस उद्देश्य को लेकर कही-कही प्रेमचद उपदेशक और प्रचारक बन गए हैं। उच्च कलात्मक उपन्यासो के लिए यह विरोधी बात है। पर प्रेमचद का यह रूप उनके प्रारम्भिक उपन्यासो मे ही अधिक है। बाद के उपन्यास जैसे गोदान में उनका उद्देश्य या सिद्धान्त का प्रतिपादन घटनाचक्र या पात्रो के माध्यम से ही हुआ है। उद्देश्य की अभिव्यक्ति का यह ढग नाटकीय कहलाता है, फिर भी प्रेमचद का ढग विश्लेषणात्मक ही अधिक रहा है। आजकल उपन्यासो मे इसको अधिक महत्व नही दिया जाता।

प्रेमचन्द का कहानी साहित्य बडी विविधता बड़ी गहनता लिए हुए है। ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी धरातलो पर इसकी व्यापकता फैली हुई है। शरतचद्र की भाति उसमे एक रसता नहीं है। प्रेमचंद कथा साहित्य के इस वैवध्य से प्रेमचन्द युग के कथाकारो ने प्रेरणा, स्पन्दन और निर्देशन प्राप्त किया है। इस प्रकार उपन्यासो की भाति प्रेमचन्द कहानी क्षेत्र मे भी हिन्दी साहित्य के अग्रणी नेता हैं।

प्रेमचन्द की कहानी कला

प्रेमचद की ये कहानिया विविध स्तरो की है। उनमे से कुछ तो कला की दृष्टि से कुछ भी मूल्य नहीं रखतीं, और कुछ ऐसी है जो विश्व की श्रेष्ठ कलात्मक कहानियो की कोटि मे आती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम प्रेमचन्द की इन कहानियो का तीन कालो मे विभाजनकर सकते है १—आरम्भ काल, २—विकास काल, ३—उत्कर्ष काल। सप्तसरोज, नवनिधि, तथा प्रेमपचीसी मे सग्रहीत कहानिया भाव शैली और कला की दृष्टि से प्रारम्भ काल में आती है। भावपक्ष की दृष्टि से ये कहानियाँ पूर्णतः आदर्शवादी रूप लिए हुए है। कला की दृष्टि से ये कथात्मक और इतिवृत्तात्मक है। पचपरमेश्वर, सौत, नमक का दरोगा, रानी सारधा, मर्यादा की बेटी,

ममता, अमावश्या की रात्रि ऐसी ही कहानियाँ हैं। इन कहानियो के कथानक की भाव भूमि मे अधिक फैलाव हैं। उसमे समाज या जीवन के किसी सारभूत प्रसङ्ग का चित्रण न होकर जीवन की कई दिशाओ को छूने का प्रयत्न है। कहानी की सवेदनाएँ किसी एक भाव विन्दु या इकाई पर केन्द्रित नही होती और कहानी अनेक इकाइयो, अनेक रस, अनेक चरित्र, अनेक घटनाओ और सवेदनाओ का जाल बुनती हुई चलती है। कथाकार ने आदर्श वादी रूप धारण कर अनेक समस्याओं को इन कहानियो के माध्यम से एक सूत्र मे पिरोने का प्रयत्न किया है। फलतः कहानियो में सवेदना का अश कम व्याख्या का अश अधिक हो गया है, और कहानी शिल्प विधान की दृष्टि से इतिवृतात्मक बन गई है। कथाकार ने कथावाचक की भाँति, अपने आदर्श का निर्वाह करते हुए अपनी ही ओर से सब कुछ कहने का प्रयत्न किया है। इसीलिए इन कहा-नियो की शैली कथात्मक और परिचयात्मक अधिक है। कहानी में पात्रो के मनोभावो की भी अधिक व्यजना नही है, उनके चरित्र की व्याख्या मात्र ही की गई है। इससे पात्रो का पूर्ण व्यक्तित्व नही उभरने पाया है। फलतः ये कहानियाँ चरित्र प्रधान न होकर आचरण प्रधान हो गई हैं।

वस्तुत ये कहानियाँ आदर्श और परामर्श की कहानियाँ हैं। जीवन मे उच्च आदर्श और कर्त्तव्य पालन के लिये प्रेरित करती हैं। इसीलिये इनका मूल्य भावपक्ष की दृष्टि से अधिक है, शिल्प विधान की दृष्टि से कम। इनका धरातल पूर्णतः नैतिक है और इस पर गाँधीवाद तथा द्विवेदी युग की इतिवृतात्मक आदर्शवादिता का स्पष्ट प्रभाव है। वे हमारे घरेलू जीवन तथा किसानी, नौकरी, जमीदारी आदि की विविध समस्याओ के वर्णन और उनके समाधान की कहानियाँ हैं।

विकास काल की कहानियाँ 'प्रेम प्रसून' और 'प्रेम द्वादशी' में देखी जा सकती हैं। इन कहानियो का कलात्मक रूप पहले की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ है। लम्बे कथानक छोटे बन गए हैं और वे जीवन की एक इकाई को लेकर चले हैं। 'मैकू' 'माता का हृदय' 'बूढ़ी काकी', 'मुक्ति का मार्ग', वज्रपात से यह बात भली भाति स्पष्ट है। कहानियो के कथानक मे भी अधिक मोड़ नही

हैं वह अधिक सुगठित और निश्चित है ।

भावपक्ष की दृष्टि से ये कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का रूप ग्रहण किए हुए हैं । कहानी की भाव भूमि मे सत्य और सुन्दर दोनो का सामंजस्य है । प्रेमचन्द ने 'प्रेम द्वादशी' की भूमिका मे स्पष्ट कहा है "हमने इन कहानियो में आदर्श और यथार्थ को मिलाने की चेष्टा की हैं ।"

प्रारम्भिक कहानियाँ जहाँ आचरण प्रधान है ये कहानियाँ चरित्र-चित्रण प्रधान हैं । पात्रो के अन्तर्जगत को बड़ी सूक्ष्मता के साथ टटोला गया है और इसीलिये इन कहानियों के पात्र अपने द्वद, अपने सघर्ष और अपने सत असत सभी प्रकार के रूप को लेकर हमारे सामने आते हैं । फलतः पात्रो मे अधिक सजीवता और मानवीय तत्वो का समावेश है ।

शैली की दृष्टि से इन कहानियो मे आत्मकथात्मक शैली जैसे 'शाप', 'हार की जीत', आत्मविश्लेषणात्मक शैली जैसे 'ब्रह्म का स्वाँग', भाषण शैली जैसे 'आभूषण' नाटकीय शैली जैसे 'दुराशा', रूपकात्मक शैली जैसे 'ज्वाला', 'सेवा पथ' लघु कथात्मक शैली 'जैसे 'बौड़म' 'विध्वश' कथोपकथनात्मक शैली जैसे 'धर्म संकट' आदि सभी शैलियो का विधान है ।

उत्कर्ष काल की कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से बहुत उच्चकोटि की हैं । यहाँ कथाकार का ध्येय पूर्णतः पात्रो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन का यथार्थ चित्रण हो गया है । फलतः यहाँ कहानियो का यथार्थ धरातल और मनोवैज्ञानिक अनुभूतियाँ बहुत स्पष्ट हैं । वे हमारे जीवन के बहुत निकट हैं और इनमें कल्पना तथा व्याख्या का अंश कम, सवेदना का अ श अधिक है । कथानक यद्यपि लम्बे हैं, फिर भी उनमे सरलता है और उनमें कई रसो, कई घटनाओं, कई चरित्रो के लिये स्थान नहीं रह गया है । उसमे इतिवृत्तात्मकता के साथ साथ भूमिका और उपसहार की प्रकृति नहीं है । कथानक मे घटनाओ का इतना महत्व नहीं है जितना पात्रो के चरित्र और उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन दर्शन का । प्रेमचन्द के ही शब्दो में इन कहानियो मे एक प्रसङ्ग का, आत्मा की एक झलक का सजीव और मर्म स्पर्शी चित्रण है । इस तथ्य ने उसमें प्रभाव, आकस्मिता और तीव्रता भर दी है । अब उसमें व्याख्या का अंश कम संवेदना का अंश अधिक रहता है । उसकी शैली प्रवाहमयी हो

गई है। लेखक जो कुछ कहता है वह कम से कम शब्दो मे कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रो के मनोभावो की व्याख्या करने नहीं बैठता केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है।"

इन कथानको के पात्र अब अपने यथार्थ रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उन्हें न अपने परिचय की आवश्यकता है, न व्याख्या की। कथाकार भी अब उनके चरित्र का विश्लेषण न करके उनकी मनोवैज्ञानिक अनुभूतियो को ही उभारता है। फलतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये कहानियाँ पात्रो के बाह्य व्यक्तित्व की स्थूलता के स्थान पर आन्तरिक सूक्ष्मता पर टिकी हुई हैं। इसीलिये इन कहानियो के पात्र सचाई के साथ हमारी मनोवैज्ञानिक मानवीय अनुभूतियो का प्रतिनिधित्व करते है। चरित्रो का आदर्शवादी और उपदेशात्मक रूप अब हमारी दुर्बलताओ और कुठाओ के चित्र बन गए हैं।

शैली की दृष्टि से इन कहानियो मे कुछ नई शैलियो का विधान हुआ है। जैसे डायरी शैली, पत्रात्मक शैली। शैली मे व्यंजना वातावरण प्रस्तुत करने वाले वर्णन और चित्रण की रेखाएँ बहुत स्पष्ट हैं। इससे शैली की प्रभविष्णुता पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है। इन कहानियो मे प्रेमचद कला की दृष्टि से निश्चय ही अपने उपन्यासो से भी अधिक सफल हुए हैं।

कथा साहित्य की इतनी व्यापक और गहन भाव भूमि को प्रेमचद अपनी कला की परिधि मे समेटने मे कैसे समर्थ हुए इसका एक और प्रमुख कारण

भाषा शैली

तो यह है कि प्रेमचद भाव और अनुभूतियो की भाति भाषा के भी सम्राट थे। उच्च साहित्यिक हिंदी, बोल चाल की हिन्दी, उर्दू अग्रेजी के सयोग से बनी हिन्दुस्तानी आदि सभी भाषाएँ उनकी चेरी थी और अपने इस सम्राट के पीछे हाथ जोड़े फिरती थीं। शब्दो का उनके पास अटूट खजाना था, और उन शब्दो मे भावो और अनुभूतियो की लड़ी पिरोने मे वे सिद्धहस्त थे। उनकी भाषा का क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल था कि उसमें साहित्य का विद्वान भी, उर्दू का मौलवी भी, गाँव के गरीब किसान मजदूर भी, नगर के प्रतिष्ठित जज वकील डाक्टर भी अपनी-अपनी रुचि की भाषा को पाते है। इसलिये

प्रेमचद के साहित्य की भाति उनकी भाषा भी जनता की है । इसीलिये उसमे इतनी चुस्ती, इतनी रवानगी, इतनी स्वाभाविकता और सजीवता है कि लोगो ने उसे 'प्रेमचदी' भाषा की सज्ञा दी है ।

उर्दू लेखक-प्रेमचद ने जब पहले पहल हिन्दी मे लिखना प्रारम्भ किया तब उनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से सदोष थी । शब्दो का प्रयोग अशुद्ध था और वाक्य विन्यास अव्यवस्थित था, 'हम लोगो से जो भूल चूक हुई वह क्षमा किया जाय', 'कल नही पड़ता था' तथा 'फेक नैत, निरंग, गुजरान आदि वाक्य और शब्दो की वे रचना करते थे । ऐसा प्रतीत होता था जैसे कोई पथिक अनजान राह मे पथ सधान कर रहा हो । पर यह राह इस लेखक के लिये शीघ्र ही परिचित बन गई । आगे चलकर प्रेमचद की भाषा बडी परिमार्जित और अपनी अनेक विशेषताओ के साथ उपस्थित हुई ।

इस भाषा की सबसे बडी विशेषता सरलता और सजीवता है । वह जन-समाज द्वारा व्यवहार मे लाई जाने वाली भाषा है । इसीलिए वह अकृत्रिम और आडम्बर शून्य है । लेखक के व्यक्तित्व की भॉति ही निस्पृह, निश्चल और सादगीपूर्ण है । उसमे उर्दू के भी शब्द हैं, अँग्रेजी के भीं शब्द हैं और हिन्दी की साहित्यिक शब्दावली है । सब कुछ अपने सहज और प्रकृत रूप मे है । शब्दो का मायाजाल बिखेरने वाले कलाकारो की भॉति इस भाषा में लेखक का कोई कौशलपूर्ण प्रयत्न नहीं है । वन्य निर्झर के प्रसन्न वेग की तरह भाषा स्वतः ही फूट पड़ती है ।

इनकी भाषाकी दूसरी विशेषता यह है कि वह देश, काल, पात्र से अभिन्न है । उनके मुसलमान पात्र उर्दू मे बोलते हैं । कही-कही तो वे ऐसी खालिस उर्दू भाषा का प्रयोग करते हैं कि हिन्दी पाठक के लिये उसे समझना कठिन हो जाता है । उनके ग्रामीण पात्र, नगर के निवासीगण सब अपनी-अपनी भाषा मे बोलते हैं । इस लिए प्रेमचन्द की भाषा में एक रसता नहीं है । वह विविधता लिए हुए है । यही नहीं, 'प्रेमचन्दी भाषा' के स्वभाव ने पात्रो के स्वभाव से तादात्म्य स्थापित कर लिया है । उनकी कोमलता, कठोरता के अनुसार ही भाषा भी कोमल और कठोर है । उनके हास्य और विनोदी प्रवृत्ति के अनुसार भाषा भी चुलबुली है । इस तरह यह भाषा पात्रानुकूल ही नही

भावानुकूल भी है।

प्रेमचन्दी भाषा की तीसरी विशेषता है उसकी जिन्दादिली और प्रवाह। वह कही भी नीरस और उखडी नही है। मुहावरो और सूक्तियो के अतुल वैभव ने उसे बड़ी महिमामयी और गौरवशालिनी बनाया है। उसमे अपूर्व माधुर्य और लोच भर दिया है। मुहावरो और सूक्तियो का इतना बाहुल्य है कि उनकी अलग से एक बड़ी पुस्तक तैयार की जा सकती है। 'प्रेम बसन्त समीर है, द्वेष ग्रीष्म की लू' 'मन एक भीरु शत्रु है, जो सदैव पीठ के पीछे से वार करता है', 'निराशा मे प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है', परिश्रम से बड़ी विपत्ति दुर्भाग्य के कोष मे नही है, आदि कलात्मक सूक्तियाँ पग-पग पर प्रेमचन्दी साहित्य मे बिखरी पड़ी हैं।

भाषा की भाँति हमे शैली के भी अनेक रूप मिलते हैं। वह वर्णनात्मक, भावात्मक, सकेतात्मक, चित्रात्मक नाटकीय और हास्य व्यग प्रधान सभी कुछ है। जहाँ विषय का सीधा-सादा प्रतिपादन करना होता है, भाव और विषय की दृष्टि से जहाँ अभिव्यंजना का विशेष महत्त्व नही होता, वहाँ प्रेमचन्द वर्णनात्मक शैली का विधान करते हैं। इस शैली मे भाषा बिल्कुल व्यावहारिक होती है। हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी के बोलचाल के शब्दो का प्रयोग होता है। वाक्य कही लम्बे, कहीं छोटे होते है। भाषा मे कोई साहित्यिकता, माधुर्य और प्रवाह नहीं होता। उदाहरण के लिए—

"हमारे पहलवानो मे वैसा कोई नही है जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव की हार ने बुन्देलो की हिम्मत तोड़दी है। आज सारे शहर मे शोक छाया हुआ है। सैकड़ो घरो मे आग नही जली, चिराग रोशन नही हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज अब अन्तिम साँस ले रही है, जिससे हमारा मान था।"

पर जहाँ भावपूर्ण परिस्थितियो का चित्रण है, जहाँ कथाकार परिस्थिति या पात्र के हृदय से पाठक की अनुभूतियो का तादात्म्य कराना चाहता है तथा जहाँ वातावरण को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कलाकार प्राकृतिक दृश्यो या पात्रो के मनोजगत का चित्रण करता है वहाँ भाषा भावात्मक शैली का रूप ग्रहण कर लेती है। ऐसी शैली बड़ी कलात्मक, बड़ी रसार्द्र और बड़ी

साहित्यिक होती है। वह हमे काव्य का सा आनन्द प्रदान करती है। उसमें स्थान-स्थान पर मनोहर सूक्तियो का माधुर्य और अलकारो की सुषमा बिखरी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए—

"वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभय दान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादो का व्यूह सा निकल कर होरी को अपने अन्दर छिपाए लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर मे सोहाग ही वह तृण था जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी।"

अपनी चित्रात्मक शैली मे प्रेमचन्द जी ने एक कुशल चित्रकार की भाँति थोड़े से शब्द-सकेतो द्वारा वातावरण या पात्रो के कार्य-कलाप को मूर्तिमान रूप दे दिया है। वे दृश्यचित्र की भाँति हमारे नेत्रो के सामने नाचने लगते हैं। ऐसी शैली मे वाक्य ही नही शब्द भी छोटे छोटे हैं। भाषा मे अपूर्व प्रवाह होता है। शब्द चयन परिस्थिति या पात्रानुकूल होता है। रगभूमि के सूरदास की झोपड़ी का दृश्य कितना सजीव है—

"कैसा नैराश्यपूर्ण दृश्य था। न खाट, न बिस्तर, न बर्तन न भाड़े। एक कोने मे एक मिट्टी का घड़ा, जिसकी आयु का अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुरानी चलनी की भाँति छिद्रो से भरा हुआ तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सम्पत्ति थी।"

प्रेमचन्द की नाटकीय शैली बड़ी तीव्र और मुखर होती है। जहाँ भावो में उत्तेजना होती है, वातावरण गम्भीर होता है, वहाँ उसकी गम्भीरता और भावो की तीव्रता को बनाए रखने के लिए प्रेमचन्द जी ने इसी शैली का सहारा लिया है। गोदान मे जब धनिया के प्रतिरोध के बावजूद भी होरी रिश्वत के रुपये दरोगा को देने चलता है तब धनिया के उग्ररूप और वातावरण की गम्भीरता को किस कुशलता के साथ शब्दों में बाँधा गया है—

"सहसा धनिया झपट कर आगे आई और अँगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीनली। गाँठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गई और सारे रुपये जमीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुँकार कर बोली × × × होरी खून का घूँट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा।"

प्रेमचन्दजी की व्यग प्रधान शैली बड़ी चुटीली और मार्मिक है। मानव चरित्र उनके इन व्यगो मे मूर्तिमान हो उठा है। इस व्यग शैली मे कही कटुता नही है, मधुर हास्य के रससिक्त छीटे हैं। उदाहरणतः—

"वह गॉव मे पुण्यात्मा मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य सत्यनारायण की कथा सुनाते, पर पटवारी होने के नाते खेत बेगार मे जुतवाते थे, सिचाई बेगार मे करवाते थे और आसामियो को एक दूसरे से लड़वाकर रकमे मारते थे। सारा गॉव उनसे कॉपता था। परमार्थी थे। बुखार के दिनो मे सरकारी कुनैन बॉटकर यश कमाते थे।"

ऐसी है प्रेमचन्द की शैली, जो अपनी चित्रोपमता, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, अलकरण की साज-सज्जा, सूक्तियो और मुहावरो की वैभव सम्पन्नता के बल पर अपूर्व है, अद्भुत है। उर्दू शैली के प्रभाव ने इस शैली मे बड़ा लोच, बड़ी रवानगी भर दी है। हिन्दी शैली ने उसे गम्भीर और सयत बना दिया है। उनकी इस शैली पर उनके व्यक्तित्व की पूर्ण छाप हैं।

प्रेमचन्द और उनके साहित्य को लेकर पिछले पृष्ठो के विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि वे हमारे साहित्य के प्रथम कृती कथाकार हैं। भाव, भाषा, कला सभी दृष्टियो से वे अमर कथा साहित्य के प्रणेता हैं। उन्होने अपनी साधना के सुधारस से हिन्दी और हिन्दुस्तान के जन समाज को अबाध-गति से अभिसिचित किया हैं। जनता की चेतन अनुभूतियो के प्रकाश मे आज भी उनका साहित्य दैदीप्यमान है। कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियो मे अनेक कमजोरियॉ हो सकती हैं और हैं; निश्चय ही उनमे रवीन्द्र की सी प्रतिभा, शरत् सा तथ्य-विश्लेषण और मु शी सी विराटता नहीं हैं। स्थापत्य और शिल्प शैली मे आज का कथा साहित्य प्रेमचन्द से बहुत आगे निकल गया है। औपन्यासिक कला का बहुत निखरा हुआ रूप भी प्रेमचन्द मे कम ही है, फिर भी प्रेमचन्द के कथा साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है। भारतीय जीवन के सर्वाधिक विशाल और विस्तृत वर्ग का ऐसा कलाकार आधुनिक साहित्य मे अभी तक पैदा ही नही हुआ। तुलसी के बाद प्रेमचन्द ही ऐसे कलाकार हैं जिनकी वाणी उत्तर से लेकर सुदूर दक्षिण के किनारों को छूती है। इसीलिये दक्षिण के प्रसिद्ध लेखक चन्द्रहासनने लिखा था--"प्रेम

चन्द जी का स्वर्गवास उत्तर के हिन्दी भाषियो को उतना न खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिन्दी प्रेमियो को।"

हमारे देश से बाहर विदेशो मे प्रेमचन्द की रचनाए बड़े आदर और सम्मान से पढी जाती है। जापान, रूस और अंग्रेजो के देश मे वे उतने ही लोकप्रिय हैं जितने हमारे देश मे। इसीलिए प्रेमचन्द के साहित्य पर हमारी भाषा और हमारे देश को गर्व है, क्योकि इस साहित्य ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमारा गौरव बढाया है। प्रेमचन्द की हमारे देश पर ही नही सारे विश्व की शातिप्रिय जनता को गर्व है। उस विशाल मानव-समुदाय को गर्व है जो साम्राज्यवादी, पूँजीवादी और सामन्तवादी शक्तियो से सघर्ष कर रहा है। इस प्रकार प्रेमचन्द और उनके साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। ज्यो-ज्यो दुनिया के लोग नई मानव सस्कृति के निर्माण की ओर अग्रसर होगे त्यो-त्यो यह महत्त्व बढता ही जायगा।

हिन्दी समीक्षाशास्त्र के प्रौढ जागरण का प्रस्फुटन सर्वप्रथम शुक्लजी के रूप मे हुआ। वे हमारे वर्त्तमान समीक्षा साहित्य के आदि गुरु हैं और हिंदी आलोचना साहित्य पर आद्योपात छाए हुए हैं। उन जैसा समर्थ आलोचक हिन्दी के क्षेत्र मे उत्पन्न ही नही हुआ। हिन्दी का समीक्षा साहित्य द्रुतगति से विकास की ओर गतिशील हो रहा है पर शुक्ल जी को अपदस्थ करने वाली आलोचनाएँ अभी तक प्रकाश मे नहीं आई। आज साहित्य और उसके समीक्षात्मक अध्ययन के अनेक प्रशस्त मार्ग खुल जाने पर भी शुक्ल जी ही साहित्य मे अन्तिम वाक्य माने जाते हैं। उन्होने जा सैद्धान्तिक आधार, मान और शैली प्रस्तुत की वे आज भी साहित्य दर्शन की आधार भूत तत्व बनी हुई हैं।

ऐसे रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के लिए युग-प्रवर्त्तक का कार्य कर गए हैं। "उनसे पूर्व की समालोचनाए नदी की उथली सतह से क्रीड़ा कल्लोल जैसी हैं। वे समालोचना न होकर काव्य के बजाय गद्य मे वाग्विनोद मात्र हैं जब कि शुक्लजी ने उसे विचार विमर्ष बना दिया। शुक्ल जी ने ही साहित्य की अतल गम्भीरता से उसे परिचित कराया" (श्री शाँतिप्रिय द्विवेदी)। उन्होने पहली बार हिन्दी समीक्षा शास्त्र को नई दिशा का ज्ञान कराया और स्वय उसका नेतृत्व किया। वे अपने युग के ऐसे सजग और जागरुक प्रहरी बने कि उनकी मान्यताओ की स्वीकृति के बिना साहित्य दर्शन की सीमाओ मे सचरण करने का साहस किसी साहित्यकार को नही हुआ।

उन्होने उच्चतर साहित्य से निम्नतर साहित्य को अलग किया और इस अन्तर को समझने की कला, परवर्त्ती समीक्षा शास्त्र को प्रदान की। उन्होने साहित्य मे अनुत्तरदायी और उच्छृङ्खल तत्वो को उभरने नहीं दिया। इस रूप मे शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा को ही नही हिन्दी साहित्य को भी नई दिशा की ओर उत्प्रेरित किया। इस प्रकार शुक्ल जी ने अपनी स्वतन्त्र विचार चेतना से साहित्य चिता का जो मार्ग प्रशस्त किया उसका मूल्य सहज ही आँका जा सकता है।

पर शुक्ल जी हिन्दी के आलोचक ही न थे, वे कवि, निबध-शैली निर्माता, इतिहास लेखक, अनुवादक और कोषकार सभी कुछ थे। इन सभी क्षेत्रो मे वे अपरिमेय प्रतिभा लेकर आए थे। इन सभी रूपो मे डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "शुक्लजी अपनी अमिट छाप हमारे साहित्य पर छोड़ गए हैं। उनकी शैली का अनुकरण अनेक कृती आलोचको ने किया है। अनेक इतिहास लेखको ने उनके ऐतिहासिक काल विभाजन और साहित्यिक मूल्याङ्कन को बिना किसी प्रकार के मत विरोध दिए स्वीकार कर लिया है। उनके निबधो की भाषा ने हिन्दी को अभिभूत किया है। जिस लेखक का प्रभाव इतना व्यापक हो उसकी असाधारण प्रतिभा के लिए प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखको मे हैं जिनकी प्रत्येक पक्ति आदर के साथ पढी जाती है और भविष्य को प्रभावित करती रहती है। 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारो के योग्य हैं। प० रामचन्द शुक्ल सच्चे अर्थों मे आचार्य थे।"

भगवान राम की पावनभूमि अयोध्या से ३०–३२ मील पश्चिम में अगोना एक छोटा सा ग्राम है। यहीं सं० १९४० की आश्विन पूर्णिमा को प० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ। शुक्लजी के परिवार का

जीवन परिचय

'नगर' (बस्ती जिले की एक रियासत) के राजघराने मे बड़ा आदर सम्मान था। शुक्ल जी की दादी को 'नगर' की रानी साहिबा अपनी कन्या करके मानती थी। राज्य की ओर से इस परिवार को जीवन निर्वाह के लिए यथेष्ठ भूमि मिली हुई थी। शुक्लजी के पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल की शिक्षा दीक्षा भी 'रानी साहिबा के संरक्षण

में हुई। शुक्लजी की माता गाना ग्राम के पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी मिश्र वश मे गोस्वामी तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ था। इस प्रकार मातृपक्ष की ओर से शुक्लजी ने एक महान साहित्यिक विरासत को प्राप्त किया। शुक्लजी जब चार बर्ष के थे तब उनके पिता सुपरवाइजर कानूनगो होकर परिवार सहित हमीरपुर जिले की राठ तहसील चले आए। यही की पाठशाला मे शुक्लजी की शिक्षा दीक्षा हुई। पढने मे रुचि प्रारम्भ से ही थी। दो ही वर्ष पश्चात वे चौथी कक्षा के छात्र बन गए। वे अपनी दादी से 'रामायण' और 'सूरसागर' तथा अपने पिता से 'रामचंद्रिका' और भारतेन्दु के नाटको को बड़ी लगन के साथ सुना करते थे। जब शुक्ल जी के पिता की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर हुई तब परिवार भी यहीं चला आया। इसी बीच शुक्लजी की माता परलोक सिधार गई। उस समय इनकी अवस्था नौ बर्ष की थी।

मिर्जापुर के सुरम्य प्राकृतिक स्थलो ने शुक्लजी के बाल हृदय को बड़ा लुभाया। मिर्जापुर की सघन वन वृक्षो से लदी पर्वत मालाएँ बड़ी-बड़ी चट्टानो के बीच से हरहराते हुये उन्मुक्त निर्झर, लहलहाते हरे भरे खेत, और हरी भरी अमराइयाँ, शुक्लजी के हृदय मे प्रकृति के प्रति असीम अनुराग लेकर अङ्कित हो गईं। मिर्जापुर की जिस रमई पट्टी मे शुक्लजी रहते थे ठा० बलभद्रसिह और प० बलभद्रसिह रहते थे। दोनो ही पुरातन भारतीय संस्कृति के पुरातन भक्त थे। एक के यहाँ प्रतिदिन रामायण, गीता, महाभारत का पाठ होता दूसरे के यहाँ विद्यार्थीगण माघ, कालिदास भवभूति की अमरकृतियो का अध्ययन करते। शुक्लजी भी इनके सम्पर्क मे आए। उनसे प्रभावित होकर ही पजामा छोड़कर धोती पहिनने लगे। पिता को इन सब बातो से सख्त नफरत थी। वे नाराज होकर कहा करते "नालायक उन बेहूदो के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।"

शुक्ल जी मिर्जापुर के अंग्रेजी स्कूल मे शिक्षा ग्रहण करने लगे। १२ वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह भी होगया। इसी बीच घर मे विमाता ने प्रवेश किया। तब से ही प्रेमचद और भारतेन्दु की भाँति शुक्लजी ने भी विमाता के दुख सहे। जैसे तैसे उन्होने एन्ट्रेस पास किया। अब उनके सामने

एक नई समस्या उत्पन्न हुई। पिता की इच्छा थी कि वे कचहरी मे जाकर दफ्तर का काम सीखे पर शुक्लजी इलाहबाद जाकर उच्चशिक्षा प्राप्त करना चाहते थे क्योकि वे अपनी कक्षा मे बराबर प्रथम आते रहे थे। अन्त मे पिता ने वकालात पढने के लिये शुक्लजी को इलाहबाद भेजा पर वकालात मे उनकी रुचि न थी। परिणाम यह हुआ कि वे अनुत्तीर्ण रहे और मिर्जापुर पुनः लौट आए।

पिता चाहते थे कि किसी प्रकार उनका पुत्र किसी सरकारी पद पर नियुक्त हो। उन्होने बड़े प्रयत्न से मिर्जापुर के तत्कालीन कलेक्टर महोदय के द्वारा शुक्ल जी का नाम नायब तहसीलदारी के लिये गवर्नमेंट मे भिजवाया। शुक्ल जी इस सम्बन्ध मे कई बार कलेक्टर महोदय के बॅगले पर गये। वहाँ कलेक्टर साहब को हजूर कहना परमावश्यक था। शुक्ल जी जैसे आत्मसम्मानी के लिये यह बात इतनी अखरी कि उन्होने इसकी तीव्र आलोचना 'हिदुस्तान रिव्यू' मे की। वे कलेक्टर महोदय तो उससे इतने चिढ़े कि उन्होने इनका नाम रद्द करवा दिया। शुक्लजी नायब तहसीलदार होते होते बच गये और वे लन्दन मिशन स्कूल मे ड्राइङ्ग टीचर बन गये। यही से वे हिन्दी शब्द सागर के सहायक सम्पादक होकर काशी गये। कोश कार्य के समाप्त होते ही हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग मे इनकी नियुक्ति हो गई। जीवन के अन्तिम समय तक वे यहीं रहे। अन्त मे स० १९९७ माघ शुक्ला ६ रविवार की रात्रि को हमारे साहित्य का यह ज्वाजल्यमान नक्षत्र अपनी दिव्य प्रभा का आलोक हमे देता हुआ अनन्त मे विलीन होगया।

शुक्लजी प्रारम्भ से ही बडे मेधावी और विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा के बालक थे। अध्ययन की ओर उनकी विशेष रुचि थी। पं० केदारनाथ पाठक ने जब मिर्जापुर मे 'हिंदी पुस्तकालय' खोला तब शुक्ल जी

व्यक्तित्व

वहा से पुस्तके लाकर रात्रि के एक-एक बजे तक पढ़ा करते थे। हिन्दी साहित्य की ओर उनके हृदय मे यहीं से अभिरुचि जाग्रत हुई। तेरह वर्ष की अवस्था मे ही उन्होने 'हास्यविनोद' नामक नाटक लिख डाला। सोलह वर्ष की अवस्था मे उनकी 'मनोहर छटा' कविता सरस्वती मे प्रकाशित हुई थी फिर तो उनकी अनेक कविताएँ, लेख, आदि

सरस्वती तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लगे। 'कविता क्या है', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' जैसे उच्चकोटि के निबध इसी समय लिखे गये थे। ये शुक्लजी की बौद्धिक शक्ति के ज्वलत प्रतीक हैं। अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी साहित्य का अध्ययन उनका बडा विशाल था। बहुत छोटी आयु मे उन्होने Addision's essay on Imagination का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' लेख रूप मे किया था। Megasthnes India का अनुवाद 'मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन' के रूप मे प्रकाशित हुआ। इस समय शुक्लजी ने सिर्फ हाईस्कूल पास किया था।

ऐसे बौद्धिक प्रतिभावान शुक्लजी स्वभावतः ही गम्भीर स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी आकृति की एक-एक रेखा से गम्भीरता टपकती थी। कहीं भी तनिक उच्छृङ्खलता नही, असंयम नहीं, लापरवाही नही। वे निश्चय ही भारतीय तत्वचितको की मनीषियो की परम्परा में आते हैं। उन जेसे ही ज्ञान और चितन और गुरु-गहन राशि के मूर्तिमान रूप। सचमुच शुक्ल जी मे मस्तिष्क बहुत प्रबल था। उन्होने सत्य को हृदय से नही मस्तिष्क से नाप-तोल कर ग्रहण किया था। गुण दोषो को परखने और दोषो को हटाकर गुण ग्रहण करने की उनमे तीव्र प्रज्ञा थी। उनके इसी गुण ने उन्हे सफल आलोचक बनाया।

ऐसे गम्भीर शुक्लजी भीतर से बड़े सरस थे। उनमे कवि सुलभ सहज भावुकता थी, यद्यपि यह भावुकता शुक्लजी की गम्भीरता से आतङ्कित अवश्य रही। फिर भी शुक्ल जी बड़े हास्यप्रिय और विनोदी जीवी थे। उनके लेखो मे जैसे रस के छींटे उड़ते हैं, उनके वार्तालाप भी वैसे ही रस सिक्त और मनोरजक होते थे। शुक्ल जी की सरसता उनके अनन्य प्रकृति प्रेम से भी लक्षित होती हैं। शुक्ल जी के अनुज श्री हरिश्चन्द्र शुक्ल इस विषय मे लिखते हैं— "बसंत और वर्षा ऋतु में वे सुरभित द्रुमलताच्छादित बनस्थलियो मे विहार करते थे और शरद् आदि अन्य ऋतुओ मे नदी की कछारो या हरे-भरे मैदान मे। ·········वहाँ अपने चारो ओर प्राकृतिक विभूतिकी अपार राशि लगी देख उन्हे न तन की सुध रहती और न मन की, और भावावेश में बहुत ही धीमे स्वर मे श्लोक पढ़ने लगते थे।

दृढ़ता, आत्मविश्वास, निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण थे। आत्म-विश्वास और निर्भीकता के ही कारण उनका विरोध उन्हे तनिक भी विचलित नहीं कर पाया। एक और बात उनके व्यक्तित्व मे यह थी कि वे आँख मूँद कर लोगो के पीछे चलने वाले नहीं थे। सत्य के लिए, रूढ़ि परम्पराओ का तीव्र विरोध करने वाले थे। सत्य के आग्रह से ही उन्होने न तो कभी आँख मूद कर प्राचीन की अभ्यर्थना की और न नवीन की अवहेलना की। वे सदैव स्वतन्त्र अन्वीक्षक रहे। रहस्यवाद की चारो ओर धूम होने पर भी उन्होने उसका निर्भीक स्वर मे विरोध किया। संस्कृत, अँग्रेजी साहित्य के विरुद्ध एक शब्द कहना भी जब गुनाह समझा जाता था, शुक्लजी ने निर्भीकता के साथ उसकी कमजोरियो पर प्रकाश डाला। आत्मसम्मान की मात्रा शुक्लजी मे बहुत थी। धन के लिये कभी उन्होने आत्मा का घृणित सौदा नहीं किया। निर्धनता से जीवन व्यतीत करना स्वीकार था, गुलामी से प्राप्त धन अग्राह्य था। एक बार शुक्ल जी फटी धोती पहिने हुए थे। इस पर उनकी स्त्री ने व्यग्यपूर्वक कहा कि आप अच्छी नौकरी क्यो नहीं करते। क्यो ७५) मासिक पर जीवन बिता रहे हैं। शुक्ल जी तत्काल ही कह उठे--

चीथड़े लपेटे चने चावेंगे चौखट पर,
चाकरी करेगे नहीं चौपट चमार की।

इतना होते हुए भी शुक्लजी सरलता, सादगी निष्कपटता की मूर्ति थे। अहंभाव उन्हें छू भी नहीं गया था। श्री केशवचद्र मिश्र लिखते हैं--"इनका स्वभाव इतना सरल, इनकी बाते इतनी सरस तथा इनकी छाया इतनी शीतल थी कि उसमे मनुष्य ही नहीं कुत्ते, बिल्ली, फूल, काँटे, घास, पात, करील, झाऊ आदि को भी विश्राम मिलता था। उनके साहचर्य के माधुर्य को उनके समीप रहने वाले अथवा उनके समीप आने वाले सदा समझेगे। जो प्राणी बोल सकते हैं वे रोयेंगे, जो मूक हैं वे अवाक् रहेंगे।"

प० महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाति शुक्ल जी ने विशद साहित्य को जन्म नहीं दिया पर जो कुछ भी लिखा वह बड़ा महत्वपूर्ण है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनका इतिहास है। जायसी,

रचनाएं सूरदास, तुलसीदास पर की गई आलोचनाएं तथा काव्य मे रहस्यवाद, काव्य मे अभिव्यजनावाद, रस-मीमासा उनका आलोचना साहित्य है। चितामणि भाग १—२, साहित्य, प्राचोन भारतीयो का पहरावा उनकी निबंध कृतिया हैं। 'शशाक' उनका बँगला से अनुवादित उपन्यास है इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्व-प्रपच, आदर्श जीवन, राज्य प्रबन्ध शिक्षा, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द, कृतियो का अनुवाद किया। 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर उन्होने बुद्ध चरित नाम से ब्रजभाषा काव्य की रचना की। इसके अतिरिक्त अभिमन्यु बध तथा अन्य प्रकृति सम्बंधी कविताएं उनके काव्य साहित्य के अन्तर्गत आती है। हिदी-शब्द-सागर, नागरी प्रचारणी पत्रिका, सूर, तुलसी जायसी ग्रथावली का सम्पादन भी शुक्लजी ने किया।

शुक्लजी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार है। काव्य की समीक्षा प्रस्तुत करने वाले स्वयं कवि नही होते पर शुक्ल जी इसके अपवाद है। वे जहा उत्कृष्ट कोटि के आलोचक और निबधकार हैं वही कवि भी। इतना ही नहीं शुक्लजी की साहित्य साधना का प्रारम्भ उनकी कविता से ही होता है। आलोचक और निबंधकार तो वे बाद मे बने हैं।

'बुद्ध चरित के नाम से शुक्ल जी ने Light of Asia का अनुवाद किया है। अनुवाद फिर भी शुक्लजी की यह मौलिक काव्यकृति ही समझनी चाहिए। वह हमें मौलिक रचना का सा ही आनद देता है। प्रत्येक पक्ति ही नही प्रत्येक शब्द उसका रस से सिक्त है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने देश प्रेम सम्बधी और प्रकृति सौदर्य विषयक स्फुट कविताए की है। देश-प्रेम की कविताएं भारतेन्दु युगीन काव्य रचनाओ का आदर्श लेकर चली है। प्रकृति सौदर्य परक कविताओ मे शुक्लजी ने प्रकृति का आलम्बन रूप में बड़ा सश्लिष्ट चित्रण किया है। खेद है कि शुक्लजी काव्य साधना के पथ पर अधिक नहीं चले। अन्यथा काव्य के क्षेत्र मे भी वे उतने ही यश के अधिकारी बनते जितने आलोचना और निबध के क्षेत्र मे।

शुक्ल जी की साहित्य साधना और हिन्दी सेवा में उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आदि काल से लेकर आज तक

हिन्दी भाषा और साहित्य के ऐसे क्रमबद्ध इतिहास का अभी तक प्रणयन नहीं हुआ। हिन्दी साहित्य शुक्लजी से अब बहुत आगे बढ़ गया है। नित नए अनुसधानों द्वारा उसके अन्धकार मय रूप को प्रकाश मे लाया जा रहा है। फिर भी शुक्ल जी का इतिहास आज भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन के लिये एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। शुक्ल जी ने जो काल विभाजन किया है वह आज भी ज्यो का त्यो है। उसकी मान्यताए' निस्संकोच रूप से स्वीकार की जाती हैं। हिन्दी साहित्य के समस्त परवर्त्ती साहित्यकार शुक्ल जी के ही इतिहास को आधार मान कर चले हैं।

इसके अतिरिक्त शुक्लजी सफल सम्पादक और अनुवादक भी थे। बगला और अग्रेजी से उन्होने अनेक पुस्तकों का सफल अनुवाद किया है। 'हिन्दी शब्द सागर के सम्पादन मे उन्होने जिस प्रतिभा और लगन का परिचय दिया है वह इस क्षेत्र के साहित्यकारो के लिये आज भी चुनौती है। सम्पादन के कार्य में शुक्ल जी की वैसी मौलिक सूझ बूझ बहुत कम देखने को मिलती है। शुक्ल जी को आचार्य रूप मे हिन्दी मे उतारने का श्रेय इसी सम्पादन कार्य को है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने उचित ही कहा है कि जैसे नागरी प्रचारणी सभा को मैंने बनाया और उसने मुझे बनाया, वैसे ही शुक्ल जी ने हिन्दी शब्द सागर बनाया और 'हिन्दी शब्द सागर' ने शुक्ल जी को बना दिया। शुक्ल जी जो कुछ बने वे महान आलोचक और निबन्धकार थे। हिन्दी साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा का यही मूल आधार है। नीचे हम शुक्लजी के इसी कृतित्व पर विचार करेंगे।

शुक्ल जी के आविर्भाव से पूर्व हिन्दी का आलोचना साहित्य शिशु अवस्था मे था। आलोचना कर्म आलोच्य वस्तु के गुण दोषो के निर्देशन तक ही सीमित था। अमुक छन्द मे शृङ्गार रस है, अमुक छन्द मे अलंकार है, आलोचाना की व्यापकता बस इतनी ही थी। शुक्ल जी ने आते ही आलोचना क्षेत्र में क्रातकारी परिवर्त्तन किया। आलोचना के मान दण्ड बदल गये। उसकी अर्द्धचेतन अवस्था पूर्ण चेतना को प्राप्त हुई। शुक्ल जी ने अपनी गहन गम्भीर मौलिक समीक्षाओ द्वारा उसमे नए युग का सूत्रपात किया।

आलोचना

शुक्ल जी ने भारतीय समालोचना पद्धति जो प्राय सैद्धान्तिक है तथा पाश्चात्य आलोचना जो प्रायः व्यावहारिक है दोनो का अपूर्व समन्वय कर हिंदी मे समीक्षा पद्धति के नया मार्ग का सृजन किया। उनकी आलोचना की अन्तरात्मा भारतीय समीक्षा पद्धति है, पर उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शैली पाश्चात्य है। पर इन भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा की मान्यताओं को शुक्ल जी ने ज्यो का त्यो ग्रहण नही किया। उनके गम्भीर और मौलिक चिन्तन की छाप सर्वत्र स्पष्ट है। शुक्ल जी की बौद्धिक चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि उन्होने दोनो ही परम्पराओ को आत्मसात कर लिया है। वे उनकी अनुभूति की सहज अङ्ग बन गई हैं और शुक्ल जी की मौलिक मान्यताओ का रूप ले लिया है।

शुक्ल जी की मौलिक मान्यताओ के मूल मे उनका अपना जीवन दर्शन है जो बुद्धिवाद, लोकादर्शवाद और वस्तुवाद पर आधारित है। फलत· शुक्ल जी के काव्य सिद्धान्त बाह्यजगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार को लेकर चले हैं। शुक्ल जी की दृष्टि मे जो काव्य जितना अधिक समाज-सापेक्ष होगा, लोक से सम्बद्ध होकर जितनी अधिक मानव अनुभूतियो के रस से अनुप्राणित होगा, जितना अधिक जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप मे लाकर सामने रखेगा, तथा जीवन के व्यावहारिक पक्ष को शक्ति शील और सौन्दर्य से जितना अधिक समन्वित करेगा वह काव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा। इसीलिए शुक्लजी ने तुलसीदास को सर्वश्रेष्ट काव्य का अधिकारी बताया है क्योकि उनकी कविता मे लोक हृदय की अधिक से अधिक पहिचान है। लोक व्यापनी अनुभूतियो मे अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो को लीन कराने की अधिक से अधिक शक्ति है। उन्होने लोकादर्शवाद या मर्यादावाद का सबसे सुन्दर रूप सामने रखा है। उसमे हमारे वास्तविक जीवन को अधिक से अधिक निखरा रूप देने की विराट चेष्टा है। शुक्लजी ने रहस्यवादी कविताओ और सत जनो की अटपटी वाणी का इसलिये विरोध किया कि उनकी अनुभूति, जीवन की अनुभूति से मूलतः भिन्न है। वे वास्तविक जगत से परे एक नए ससार की रचना करती हैं। शुक्लजी ने

मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य को इसीलिए श्रेष्ठता प्रदान की है, क्योंकि मुक्तक काव्य व्यक्ति परक होता है, प्रबधकाव्य समाज परक। प्रबंध काव्य मे मुक्तक काव्य की अपेक्षा जीवन का लोकव्यापी रूप अधिक होता है। श्रेष्ठकाव्य के लिये मानवीय जीवन की विविधतामयी अनुभूतियो की सच्ची और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो सके, इसके लिये उन्होने काव्य मे चमत्कार-वादिता और [illegible] का भी विरोध किया। केशव, बिहारी आदि चमत्कारी कवि इसीलिए सूर, तुलसी की कोटि के कवि न बन सके। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी रसवादी हैं पर उनका रसवादी दृष्टिकोण भी भारतीय आचार्यों की परम्परा से भिन्न है। यह भिन्नता आधार की न होकर उसकी प्रक्रिया, और प्रसार में है। शुक्लजी के अनुसार सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहिचान हो, जो अनेक विशेषताओ और विचित्रताओ के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय मे हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। इस प्रकार रसानुभूति की आनन्दमयी दशा को अलौकिक व्यापार कहना शुक्लजी को प्राचीनो की भाति मान्य नहीं।

इन्हीं मान्यताओ को लेकर शुक्लजी का काव्यालोचन चला है। "काव्य के समस्त विषयो को उन्होने दो भागो मे विभक्त किया है। एक विभावपक्ष दूसरा भावपक्ष। प्रत्येक प्रथम कोटि के सफल काव्य में दोनो पक्षो की परिपूर्णता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। विभावपक्ष की स्थापना के लिए काव्योपयोगी आलम्बन तथा उद्दीपन का रखना भी उन्हे अभिप्रेत है। उद्दीपन के लिए प्रकृति-चित्रण की ओर शुक्लजी का अनेक बार ध्यान गया और उन्होने इसे आलम्बन तथा उद्दीपन दोनो स्थितियो मे काव्योपयोगी कहा है। कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के अतिरिक्त रस, भाव, अलकार, भाषा तथा शैली आदि विविध बातो का भी अपनी आलोचना में वे उल्लेख करते हैं। सक्षेप में, वे आलोचना प्रस्तुत करते समय काव्य-शास्त्र की स्थिति कसौटी के रूप मे ही स्वीकार करते हैं।" (प्रो० विजेन्द्र स्नातक)। शुक्लजी की आलोचना का यही शास्त्रीय रूप है।

शुक्लजी ने आलोचना के इन्हीं मानदण्डो को लेकर सूर, तुलसी, जायसी की गम्भीर समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं। इनसे पूर्व और इसके बाद काव्य की

अतुल गहराइयों को छूने वाली तथा काव्य की अन्तरतम विशेषताओं का उद्घाटन करने वाली विवेचना शक्ति हिन्दी के समीक्षा शास्त्र मे देखने को नहीं मिलती। इन कवियो के काव्य को हृदयंगम करने के लिए शुक्ल जी ने शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक ठोस सामग्री जुटाई है। पाठक द्वारा कवि के कृतित्व को समझने के लिए शुक्लजी की आलोचना एक सुन्दर माध्यम है।

अपनी इन समीक्षाओं में शुक्लजी ने निर्णयात्मक तथा निगमनात्मक दोनो ही आलोचना पद्धतियो का सहारा लिया है। सूर और तुलसी की आलोचनाओ मे उनकी पद्धति निर्णयात्मक हो गई है क्योकि यहाँ काव्य का मूल्य-निर्धारण पूर्व निश्चित काव्य सिद्धान्तो के आधार पर हुआ है। यहाँ प्रतिमान बाहर से आरोपित हैं। आलोचक के पास काव्य की श्रेष्ठता और हीनता के लिए पहले से ही एक आदर्श है। तुलसी मे निगमनात्मक या विश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति की स्थापना है। क्योकि यहाँ आलोच्य को ही आलोचना का प्रतिमान माना गया है। आलोचक ने आलोच्य कृति को ही लेकर आलोचना के मानदण्ड स्थिर किए हैं। वे पूर्व निश्चित और बाह्य आरोपित नही हैं। इन आलोचनाओ मे शुक्लजी ने कवियो की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियो पर विचार करते हुए ऐतिहासिक तथा अन्य कवियो से तुलना करते हुए तुलनात्मक पद्धति को भी प्रश्रय दिया है। जहाँ उन्होने काव्य विषय के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का चित्रण किया है वहाँ प्रभावाभिव्यजक आलोचना पद्धति की भी झलक मिलती है। समग्र रूप से देखा जाय तो इन समीक्षाओ में इन सभी पद्धतियो का अपूर्व समन्वय है। यहाँ उनकी सैद्धान्तिक समालोचना पाश्चात्य प्रयोगात्मक समालोचना से मिलकर एक हो गई है।

शुक्लजी की सैद्धान्तिक समालोचना का उत्कृष्टतम रूप हमे उनकी कृति 'रस मीमासा' मे मिलता है। इसके अतिरिक्त 'काव्य मे रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यजनावाद' तथा 'काव्य में प्रकृति' शीर्षक निबधो मे सैद्धान्तिक मतो का प्रतिपादन है। रस मीमासा ग्रन्थ में उन्होने काव्य, काव्य के विभाग, काव्य के लक्षण, विभाव, भाव, शब्द, रस, शब्द शक्ति, ध्वनि आदिको लेकर अपने सैद्धान्तिक पक्ष की स्थापना की है।

शुक्लजी की समीक्षा पद्धति की सीमाएँ भी है। हम उसे बिल्कुल पूर्ण नहीं कह सकते। पहली बात तो यह है कि वह बहुत ही नीतिमूलक आदर्शवादी विचारधारा को लिए हुए हैं। इसीलिए वे सूर के साथ न्याय न कर सके। शुक्लजी ने काव्य समीक्षा मे सम्यक तटस्थता का भी परिचय नही दिया। उनकी मान्यताओ पर जो खरा उतरा, वह श्रेष्ठ काव्य बन गया, शेष निम्नकोटि का ही रह गया। फलतः हृदय की गहन अनुभूतियो का सूक्ष्म और अमूर्त प्रकाशन लिये रहस्यवादी गीतिकाव्य इतिवृत्तात्मक प्रबधकाव्य की तुलना में उनके लिए निम्नकोटि का ही रहा। फलतः शुक्लजी का सारा अनुसधान उनका काव्यविवेचन, उनका साहित्य दर्शन, उनकी वैयक्तिक रुचियो की परिधि मे ही सिमिट कर रह गया है। उनकी आलोचक दृष्टि वस्तुवादी अधिक रही है अन्तर्मुखी कम।

शुक्लजी आलोचक ही नहीं हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार भी हैं। चितामणि (भाग १) मे मनोविकारो और साहित्यिक विषयो पर उनके सत्रह निबन्धो का सग्रह है। भाव विषय को इतनी मौलिक गहराई से छूने का यह प्रयास हिन्दी निबन्ध साहित्य में पहला ही है। उसमे जो विषय का मौलिक विवेचन है, विचारो की सुगठित योजना है, शैली का जो अपूर्व चमत्कार है वह आज भी हिन्दी के निबन्ध साहित्य में इन्हे शीर्ष स्थान पर बिटाए हुए है। हिन्दी निबन्धो को लेकर शुक्लजी ने कहा था "ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमे विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उनके हृदय के भावो की अच्छी झलक हो, हिन्दी मे अभी कम देखने को आ रहे हैं।" आचार्य जी की यह उक्ति स्वय उनके लिये अपवाद कही जा सकती है।

निबन्ध

उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा, और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा भय, ईर्ष्या, तथा क्रोध आदि भावो या मनोविकारो को लेकर शुक्लजी ने तर्कमय चिन्तन के साथ हिन्दी में प्रथम बार इन निबन्धो का प्रणयन किया। शुक्लजी ने मनोविकारों की उत्पत्ति, उनके लक्षण और विकास का अध्ययन बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से लोक-जीवन के बीच किया है। पर शुक्लजी के इन निबधो का मनोवैज्ञानिक मूल्य नहीं है। उन्होने मनोशास्त्र के अन्तर्गत निबध

नही लिखे बल्कि मनोविकारो के व्यावहारिक पक्ष पर निबन्धो की रचना की है। समाज और जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र मे इन मनोविकारो की क्या अवस्था होती है इसी का प्रतिपादन निबन्धकार ने अपनी निजी अनुभवशीलता को लेकर किया है। मनोविज्ञान शास्त्र का उसने सहारा लिया ही नही। लेखक की दृष्टि सर्वत्र भावो के सामाजिक और व्यावहारिक पक्ष पर रही है, मनोशास्त्र पर नहीं है। इसलिए यह निःसकोच रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी के इन निबन्धो मे मनोविकारो का शास्त्रीय विवेचन नहीं व्यावहारिक विवेचन है। उसमे मनोविज्ञान के शास्त्रीय स्वरूप की नहीं व्याव हारिक स्वरूप की प्रधानता है।

यही नही शुक्लजी मनोविज्ञान के पडित न होकर साहित्यिक आचार्य हैं। उन्होने अपने विचारो का प्रतिपादन साहित्यिक के रूप मे किया है, मनोवैज्ञानिक के रूप मे नही। इसीलिए ये निबध मनोवैज्ञानिक से अधिक साहित्यिक हैं। इनमे मनोविज्ञान की दुरूहता और रुक्षता के स्थान पर साहित्य की सरसता हैं। विचारो और भावो का सूक्ष्म विश्लेषण कलाकार की सहज भावुकता से रगा हुआ है। उनमे मनोवैज्ञानिक का मस्तिष्क ही नहीं साहित्यकार का हृदय भी है। एक शब्द मे इन निबन्धो का साहित्यिक मूल्य है, मनोवैज्ञानिक नहीं।

यह तो हुई मनोविकार सम्बन्धी निबन्धो की बात, शुक्लजी के समीक्षात्मक निबन्ध पूर्णतः साहित्यिक हैं। इन निबन्धो मे उनका आलोचकत्व और आचार्यत्व रूप अधिक उभरा हुआ है। इनमे उनका मौलिक साहित्य-दर्शन है। साहित्य के विविध विषयो को लेकर उन्होने अपने मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना की है। शुक्लजी के ये समीक्षात्मक निबन्ध 'कविता क्या है', 'काव्य मे लोकमगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्तिमार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि' हैं।

समग्र रूप से शुक्लजी के इन सभी निबन्धो मे उत्कृष्ट निबन्धो की सभी विशेषताओ का पूर्णतः समावेश है। उनके निबन्धो मे जहाँ एक ओर विचारो की सघटित और अनुशासित परम्परा है वहीं विचारो की अभिव्यक्ति मे

व्यक्तित्व की प्रधानता है। फलतः शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक होने के साथ-साथ वैयक्तिक भी हैं। उनमे विषय की प्रधानता और व्यक्तित्व की प्रधानता इन दोनो ही तत्त्वो का अपूर्व सामजस्य है। विचारो का जैसा शृङ्खलाबद्ध रूप शुक्लजी के निबन्धो मे द्रष्टव्य है वैसा अन्य निबन्धकारो की रचनाओ मे नही। विचारो और भावो का इतना विशाल जमघट होते हुए भी इन निबन्धो में कहीं असतुलन नहीं, कही विशृङ्खलता नहीं। मशीनरी के पुर्जो की तरह सभी विचार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। उनमे परस्पर इतना गुफन है कि कोई भी विचार जिस स्थान पर लेखक द्वारा फिट किया गया है, वहाँ से तिलमात्र भी इधर-उधर नही किया जा सकता। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे शुक्लजी ने हिन्दी निबन्धो के विषय में लिखा है "विचारो की वह गूढ-गुम्फित परम्परा उनमे नही मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबन्धो का चरम उत्कर्ष तो वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ मे विचार दबा दबाकर ठू से गये हो और एक एक वाक्य किसी सम्बन्ध विचार-खण्ड को लिये हुए हो।" शुक्लजी के विचारात्मक निबन्ध ऐसे ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए हैं।

शुक्लजी के इन निबन्धो मे उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भलीभाँति देखी जा सकती है। वे केवल मस्तिष्क ही नही हृदय का योग लेकर चले हैं यह बात पहिले भी स्पष्ट की जा चुकी है। वैसे शुक्लजी ने चिन्तामणि की भूमिका मे स्पष्ट ही कहा है "इस पुस्तक मे मेरी अन्तर्यात्रा मे पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कही मार्मिक या भावाकर्षक स्थलो पर पहुची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" साहित्यिक व्यक्तित्व के साथ-साथ शुक्ल जी की समाज और लोक-जीवन को लेकर जो निजी अनुभूतियाँ हैं, उनका जो लोकादर्शवाद का विचार दर्शन है, उसी की अभिव्यक्ति इन निबन्धो मे है।

प्रसगानुकूल इन निबन्धो मे अग्रेजी ढङ्ग की आत्माभिव्यक्ति भी मिलती है। इस आत्माभिव्यक्ति मे निबन्धकार द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रथम वचन मे अपने से सम्बन्धित घटनाओ और व्यक्तियो आदि का उल्लेख किया जाता है। शुक्लजी ने भी ऐसा किया है। प्रकृति के प्रति आज कल के बाबू लोगो की उदासीनता को स्पष्ट करते हुए चिन्तामणि के 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध मे शुक्लजी लिखते हैं "बसन्त का समय था, महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मु ह से निकला—'महुओ की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा 'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेगे।' मै चुप हो गया, समझ गया कि महुऐ का नाम जानने से बाबूपन मे बडा भारी बट्टा लगता है।"

विचारो मे ही नही विचार-प्रतिपादन की शैली मे भी शुक्ल जी का व्यक्तित्व बोल रहा है। शुक्लजी के व्यक्तित्व की भॉति ही शैली भी बाहर से गम्भीर भीतर से सरस है उसमे आलोचक का मस्तिष्क और कविता हृदय है। विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक अपनी इस शैली द्वारा स्थान-स्थान पर व्यग और हास्य का तीखा और मीठा पुट देता चलता है, जिसमे गम्भीर लेखक के हृदय की हरियाली झलक उठती है। ऐसा लगता है जैसे चितन के मरुस्थल से निकलकर पाठक भावुकता की हरी-भरी अमराइयो मे पहुँच गया हो। इसी प्रकार इन निबन्धो मे लेखक के हृदय और मस्तिष्क का अपूर्व योग है। इसीलिये वे विषय-प्रधान होने के साथ-साथ व्यक्ति-प्रधान हैं।

इन विचारात्मक निबन्धो मे शुक्लजी ने निगमन शैली को प्रश्रय दिया है। इस शैली के द्वारा विषय का प्रतिपादन सूक्ति रूप मे होता है, और तब लेखक उसकी व्याख्या करता है। सूत्र रूप मे रहने की प्रवृत्ति शुक्लजी मे बहुत है। इसीलिये उनके विचारो ने सूक्तियो का रूप ले लिया है। जैसे—बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" शुक्लजी की यह शैली रेखागणित के हल की भॉति है। जैसे रेखागणित के एक विन्दु की व्याख्या करते हुए उसका दूर तक प्रसार करना पडता है, उसी प्रकार विचारो के एक विन्दु की इसमे व्यापक व्याख्या होती है। इसके विपरीत निगमन

शैली होती है, जिसमे पहिले विषय की व्याख्या होती है फिर सक्षेप मे उसका निष्कर्ष होता हैं। शुक्लजी ने ऐसा नही किया। अपनी शैली को रोचक बनाने के लिये उन्होने अनेक प्रकार की कथाओं का समावेश भी किया है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र और रानी शैव्या की कथा, रामभक्त हनुमान की कथा, गधे द्वारा बाघ बनने की कथा।

अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण शुक्लजी के निबन्ध हिन्दी मे ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य मे बेजोड हैं।

यहाँ समग्र रूप से शुक्लजी के गद्य की भाषा शैली पर विचार करना समीचीन ही होगा। शुक्लजी हिन्दी के समर्थ आचार्य तो हैं ही भाषा के भी पूर्ण पण्डित हैं। इसीलिये वे अपने विषय का प्रतिपादन इतने प्रभावपूर्ण ढङ्ग से कर सके। शुक्लजी की विषय प्रतिपादन शैली जो इतनी भाव-व्यजक, सौष्ठवपूर्ण और प्रौढ़ है, उसका श्रेय भी उनकी भाषा को ही है। उनकी भाषा इतनी समृद्ध है कि वे सभी भावो की अभिव्यक्ति सहज सुलभता के साथ चाहे जिस रीति से कर सकते हैं। प्रभावात्मकता और भाव-व्यजना की पूरी शक्ति उसमें विद्यमान रहती है तथा शुक्लजी जैसे सुलझे हुए विचारक के हाथो मे वह कही भी अस्पष्ट नहीं बन पाती। भाव और विषय के अनुकूल होने के कारण वह आद्योपात स्वाभाविक और सजीव बनी रहती है। भाव और विषय के आधार पर ही शुक्लजी की भाषा क्लिष्ट और व्यावहारिक है। जहाँ उन्होने अपने सैद्धान्तिक या समीक्षात्मक निबन्धो मे गूढ विषयो का प्रतिपादन किया है वहा भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की प्रचुरता है। फलतः वह क्लिष्ट और जटिल बन गई है। भावो की गम्भीरता के कारण यह स्वाभाविक ही है। गम्भीर भावो के प्रतिपादन के लिए भाषा मे जिस सयम और शक्ति की आवश्यकता होती है वह पूर्ण रूप से इसमे विद्यमान है। इसीलिए यह भाषा जटिल होते हुए भी स्पष्ट है।

भाषा शैली

मनोविकार सम्बन्धी निबधो मे शुक्लजी की भाषा अपेक्षाकृत सरल और व्यावहारिक है। शुक्लजी ने उसमें हिन्दी के प्रचलित शब्दो को ही अधिक ग्रहण किया है तथा उर्दू और अग्रेजी के अति प्रचलित शब्दो का भी यथा-

स्थान उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त अपने विचारो को स्पष्ट करने मे जहाँ उन्हे हिन्दी शब्द अशक्त ऊँचे हैं वहाँ अंग्रेजी शब्दो के आधार पर नए हिन्दी शब्दो का निर्माण किया है जैसे घनत्व (Intensity) गद्यवत् (Prosaic) वृत्तात्मक (Matter of fact) प्रेषणीयता (Communicability) आदि। शुक्लजी के इस स्तुत्य प्रयास ने हिन्दी भाषा की समृद्धि मे अपूर्व वृद्धि की है। भाषा को अधिक बोधगम्य और व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्लजी ने सेंत, थाम, चट, बाह, घिन टीकरा, थप्पड़ आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दो को भी ग्रहण किया है तथा पेट फूलना, काटो पर चलना, नौ दिन चले अढ़ाई कोस आदि कहावतो और मुहावरो का भी निधड़क प्रयोग किया है। इससे भाषा मे अपूर्व माधुर्य और लोच आ गया है।

शुक्ल जी की यह दोनो प्रकार की भाषा बडी प्रौढ परिष्कृत और मँजी हुई है। व्याकरण की दृष्टि से वह निर्दोष और उसका रूप सर्वथा सयत, और मर्यादित है। शैथिल्य उसमे रचमात्र भी नही है। विचारो और भावो की अपार भीड़ को उनकी भाषा ने बड़े अनुशासनात्मक ढंग से बाँध रखा है। विचारो मे जैसी कसावट और गुम्फन है, शब्द भी उसी प्रकार मोतियों के दानो की भाति वाक्यो के सूत्र मे पिरोए हुए हैं। पिरामिडो की ईंटो की तरह ये महत्त्वपूर्ण है। एक भी शब्द अपने स्थान से हिल नही सकता और कोई भी शब्द निरर्थक नही कहा जा सकता। भाषा का ऐसा नपातुला रूप अन्यत्र दृष्टिगोचर ही नही होता। शब्द चयन की इसी उत्कृष्टता और वाक्य विन्यास की अपूर्व गठना के कारण उन्होने थोड़े मे बहुतकर 'गागर मे सागर' भरा है। एक-एक वाक्य मे विचार ठूँस-ठूँसकर भरे हैं पर विशेषता यह है कि भाषा और विचार कहीं भी विश्रृङ्खलित नही हुए हैं। उनमे अपूर्व सतुलन और सामजस्य बना है। भाषा सूक्तिमय बन गई है और उसने समास शैली का रूप ले लिया है।

शुक्लजी की भाषा शैली की दूसरी प्रमुख विशेषता उसका सहज प्रकृत रूप है। शब्दाडम्बर, और भाषा की उछल कूद उसमे तनिक भी नही है। शुक्लजी भाषा से सरकस वालो की कसरते और हठयोगियो के आसन कराने के पक्ष मे नहीं थे।

शुक्लजी की भाषा शैली की तीसरी प्रमुख विशेषता है उसकी मूर्त्तिमत्ता। भावो के चित्र खडा करने मे उनकी भाषा अद्भुत क्षमता रखती है। भाषा की मूर्त्तिमत्ता के लिए शुक्लजी रूपक आदि अलकारों की योजना भी करते हैं। उदाहरण के लिए "कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र मे मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति केन्द्र हो जाता है। जिस समाज मे किसी ऐसे ज्योतिषमान शक्ति के केन्द्र का उदय होता है उस समाज मे भिन्न-भिन्न हृदयो से शुभ भावनाए मेघ खडो के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर इतनी घनी हो जाती हैं कि उसकी घटासी उमड़ पडती है और मगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुख और क्लेश बह जाते हैं।" भापा की इसी मूर्त्तिमत्ता, चित्रोपमता, अलंकार योजना तथा भावो की शालीनता के कारण शुक्लजी की भाषा शैली इतनी प्रभावोत्पादक सरस और चमत्कारपूर्ण है। शैलीगत सौष्ठव, कौशल और सौन्दर्य सभी कुछ उसमे है।

शुक्लजी की शैली का बाह्य रूप जो वाक्य योजना से सम्बधित है, बड़ा पुष्ट और प्रभावपूर्ण है। छोटे-छोटे सकेत वाचक समुच्चयबोधक वाक्यो के नियोजन द्वारा उन्होने भाषा को बड़ा स्फूर्तिवान और बलवती बनाया है जैसे "यदि कही सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर पाप है तो घृणा"। भाव व्यजक शक्ति को अधिक गति प्रदान करने के लिए शुक्लजी ने अनेक छोटे-छोटे और समान लम्बाई के वाक्यो की भी योजना की है जैसे "उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिन्दू भक्त अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, महत्व पर श्रद्धा रखता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति मे धैर्य धारण करता है"। इसी प्रकार एक ही तुक के शब्द या वाक्यो के चयन से उन्होने शैली को प्रभावोत्पादक बनाया है जैसे—इधर हम हाथ जोड़ेगे, उधर वे हाथ छोड़ेगे।" अग्रेजी के प्रसिद्ध निबधकार जोसेफ एडीसन की गद्यशैली की भाति शुक्लजी ने निर्देशक चिह्नो और कोष्ठको के बीच निक्षेप वाक्य खडो की योजना अधिक की है। "उदाहरणतः धर्म और सदाचार को दृढ़ न करने वाले भाव को चाहे वह कितना ही ऊ चा वे भक्ति नही मानते।"

शैली विधान की दृष्टि से शुक्लजी ने प्रमुखतः विवेचनात्मक शैली को अपनाया है। इसके अतिरिक्त हमे उनके गद्य साहित्त में वर्णनात्मक व्याख्या-त्मक, भावात्मक और हास्यव्यग्य प्रधान शैली के भी रूप मिलते हैं। नीचे हम शुक्लजी के इस शैली विधान पर प्रथक से विचारक करेंगे।

१—**विवेचनात्मक शैली**—शुक्लजी ने अपने गम्भीर विचारो और मार्मिक भावो की व्याख्या इसी शैली मे की है। शुक्लजी का समस्त गद्य साहित्य फलतः इसी शैली को आधार लिए चला है। अध्ययन की गम्भीरता ने इस शैली को जहा विचारो की सघनता दी है वही अध्यापक के जीवन ने इसे स्वच्छ और स्पष्ट बनाया है। इसीलिए चितन के बोझ से दबी होने पर भी भाषा अस्पष्ट नही होने पाती। 'साराश यह है तात्पर्य यह है' कहते हुए विषय की दुरूहता को दूर करते चलते हैं। भाषा सस्कृत की तत्समता लिए हुए है तथा समास शैली विचारो की संघटित परम्परा, अभिव्यक्ति की स्पष्टता इस शैली के अन्य गुण हैं। उदाहरण के लिए—कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धो के संकुचित मडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का सचार होता है।"

२—**वर्णनात्मक शैली**—मूर्त्त विषयो के चित्रण मे शुक्लजी ने अनेक स्थलो पर वर्णनात्मक शैली को भी अपनाया है। भाव और विषय के अनुसार इस शैली मे अनेक उतार चढ़ाव हैं। प्रसगानुसार वह कहीं सरल है कहीं सस्कृत निष्ठ है। वृत-कथन मे भी शुक्लजी ने इसी शैली का प्रयोग किया है। वहा विषय का प्रतिपादन बड़े सीधे सादे ढग से किया गया है। पद्मावत की कथा इसी शैली मे प्रस्तुत की गई है। वास्तव मे सरल शैली का निर्माण भी शैलीकार की एक विशेषता है।

३—**व्याख्यानात्मक शैली**—द्विवेदी युग की व्याख्यानात्मक प्रवृत्ति भी शुक्लजी की शैली मे मिलती है। जहाँ शुक्लजी अपने विचारो पर दृढ़ विश्वास होने के कारण अपने विषय का प्रतिपादन अधिक बलवती शैली मे करना चाहते हैं वही शैली व्याख्यानात्मक रूप लेती है। एक ही भाव वाक्य खडो द्वारा दुहराया जाता है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण होती है।

उदाहरणतः "जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हे हम बराबर आँखो से देखते हैं, जिनकी बाते हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, साराश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमे अभ्यास पड जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है"।

४—**भावात्मक शैली**—शुक्लजी यदि मस्तिष्क से आलोचक और जीवन से अध्यापक थे तो हृदय से निश्चय ही कवि थे। यही कारण है कि विचारो का सूक्ष्म विश्लेषण करती हुई उनकी विवेचनात्मक शैली विषय के मार्मिक स्थलो पर बड़ी भावात्मक सुषमा भी लिए हुए है। वहा वह गद्य की भाषा मे कविताओ का सा आनन्द प्रदान करती है। एक स्थल पर आचार्य शुक्ल ने कहा है "किसी गम्भीर विचारात्मक लेख के भीतर कोई मार्मिक स्थान आ जाने पर लेखक की मनोवृत्ति भावोन्मुख हो जाती है और वह काव्य की भावात्मक शैली का अवलबन करता है।" शुक्लजी का यह कथन स्वयं उनके लिए पूर्णतः सत्य है ! भावात्मकता मे डूबी हुई उनकी यह शैली बडी मनोरम और मर्मस्पर्शी है। भावावेश प्रधान होने पर भी उसमे सर्वत्र गाम्भीर्य है, हलकापन नही। उदाहरणतः "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध धारा जो काल की कठोरता मे दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सरसता में परिणित होकर मिथिला की अमराइयो मे विद्यापति के कोकिल कठ से प्रगट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुजो के बीच म्लान मनो को सींचने लगी।"

५—**हास्यव्यंग्य प्रधानशैली**—निबन्धो की गहनता से थककर शुक्लजी बीच-बीच मे हास्य और व्यग का सरस प्रवाह छिटकाते हैं। गहन विचारो मे उलझे हुए पाठक के मस्तिष्क के लिए ये हास्य और व्यग की फुलझड़ियाँ मरुस्थल मे नखलिस्तान की भाँति है। शुक्लजी के व्यक्तित्व की सरसता इस शैली मे खूब निखरी है। यह हास्य व्यग प्रधान शैली कटु और तिक्त न होकर बड़ी मधुर और स्निग्ध होती है—

"बिहारी की नायिका जब सास लेती है, तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडूलम की सी दशा उसकी रहती है।" "मोटे आदमियो ! तुम जरा से दुर्बल हो जाते अपने अदेशे से ही सही—तो न

जाने कितनी ठठरियो पर मास चढ़ जाता।"

शुक्लजी की इस शैली विधान पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनकी गद्य शैली जर्मन विद्वान बफन के इस कथन 'Style is the man himself' अर्थात् शैली लेखक का स्वय व्यक्त स्वरूप है, का स्मरण कराती है। निश्चय ही शुक्लजी पहली बार हिन्दी मे वैयक्तिक प्रधान निबन्ध लेकर आए हं। शैली और व्यक्तित्व की इस अभिन्नता से शैलो इतनी विशिष्ट और व्यक्तिगत बन गई है कि वह सहस्र रचना शैली के बीच मे से सहज ही पहचानी जा सकती है।

हिन्दी साहित्य के समृद्ध रूप की मनोकामना करते हुए शुक्लजी ने इ दौर मे हुए साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से कहा था "जिन आखो से

हिन्दी साहित्य और शुक्लजी

मैने इतना देखा उन्ही से अब अपने हिन्दी साहित्य को विश्व की नित्य और अखड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य, और मगल का प्रभूत सचय करके एक स्वतन्त्र 'नव निधि' के रूप मे प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ।" हिन्दी साहित्य को इस स्वतत्र 'नव निधि' का रूप देने मे स्वय शुक्लजी का योगदान कम नही है। हिन्दी समालोचना की अमानिशा मे वे दिव्य कलाकार के समान उदित हुए। ध्रुवतारे के समान उन्होने हिन्दीसाहित्य को सही दिशा का बोध कराया। उसके उन्नयन और समृद्धि के लिए ठोस साहित्य का सृजन किया। हिन्दी के आधुनिक युग की प्रतिष्ठा मे भारतेन्दु और द्विवेदी जी द्वारा जैसा प्रयत्न अतीत काल मे हुआ उससे कही अधिक सबल प्रयत्न वर्तमानकाल मे शुक्लजी के हाथो सम्पादित हुआ है। सबल प्रयत्न इसलिए कि शुक्लजी तक आते-आते हिदीसाहित्य अधिक विस्तृत रूप ले चुका था फलतः उसके सरक्षक के उत्तरदायित्व भी बढ़ गए थे। अपने सरक्षण मे शुक्लजी ने साहित्य की अनेक सैद्धान्तिक उलझनो को सुलझाया। साहित्य के अनेक बेबुनियाद मूल्याकनो को अस्वीकार कर दिया तथा नई और प्रगतिशील साहित्य चिन्तना से उसे अधिक स्वस्थ और सबल बनाया। आज भी शुक्लजी के साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य को अवाच्छित प्रभावो से मुक्त करने का महान साधन है। आज फिर कला कला के लिए है "का नारा

उठाकर साहित्य को जनता से अलग किया जारहा है। पश्चिम के मनोविज्ञान की दुहाई देकर साहित्य के लोकादर्शवादी रूप की अवहेलना की जारही है। 'साहित्य की जनतत्रीय और लोककल्याणकारी परंपरा को हटाकर स्वच्छदता-वादी छिछले रोमाटिक काव्य साहित्य की बुनियाद डाली जा रही है। शुक्लजी के साहित्य दर्शन ने साहित्यकारो की इस विकृत रुझान का डटकर विरोध किया था। शुक्लजी की वह अमूल्य धरोहर अब भी हमारे पास है। फलतः साहित्य को लोक मगल की व्यापक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए, साहित्य की जनतन्त्रीय परम्परा के विकास के लिए, साहित्य को 'कलाकला के लिए' वादो तथा जड़ और अप्रगतिशील तत्वो से मुक्त करने के लिए शुक्लजी की स्थापनाओ और मान्यताओ को लेकर आगे बढना होगा। यही हिन्दी साहित्य के उन्नयन का सही मार्ग है।

मैथिलीशरण गुप्त

बीसवी शताब्दी का प्रारम्भ भारतीय जन मानस के राष्ट्रीय और सॉस्कृतिक जागरण की प्रत्यूष वेला है। इस वेला मे समाज सुधार और राजनीति के आन्दोलनो की देशव्यापी चेतना सर्वत्र व्याप्त थी। भारतीय सस्कृति और सभ्यता के आत्म सुधार के लिए भारतीय जीवनगत दोषो की स्वीकृति मुखरित हो उठी थी। फलतः हिन्दू समाज के परिष्कार और परिमार्जन को लेकर बगभूमि पर राजा राममनोहर राय का उदय हुआ। उत्तर भारत मे आर्य सस्कृति के पुनरुत्थान के लिए स्वामी दयानन्द के आर्य समाज ने हिन्दू जागरण का नया मन्त्र फूका। यह अपने दोषो को सुधार कर ससार की प्रगतिशील जातियो की प्रतिद्वंदिता मे अग्रसर होने का संकल्प था।

भारतीय राजनीति की क्षितिज पर महात्मा गॉधी जैसी प्रबल शक्ति का आविर्भाव हुआ जिसके नेतृत्व में समस्त देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ो के उन्मूलन को कटिवद्ध हो उठा। असहयोग आन्दोलन इस राजनैतिक चेतना का मूर्त्त रूप था। विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार स्वदेशी प्रचार, हिन्दू मुस्लिम एकता, सत्य का आग्रह लिए हुए देशभक्तो का अहिसात्मक युद्ध, इन विविध भगिमाओ की बुनियाद लेकर यह महान आन्दोलन सारे देश पर छा गया। यह केवल राजनैतिक आन्दोलन ही न था देश का महान सॉस्कृतिक ऑदोलन था। गॉधीजी की राजनीति वस्तुतः सत्य अहिसा, प्रेम, शॉति के उज्ज्वल आदर्शों से अनुप्राणित थी जो भारतीय सस्कृति की सबसे बड़ी निधि हैं।

समाज सुधार और राजनीति के इन आन्दोलनो ने विजातीय सस्कृति और शासन के प्रतिरोध में अपने देश और उसकी सस्कृति को सजग और प्रबुद्ध बनाया। स्वदेशी आन्दोलन ने जहॉ अपने देश और अपनी सस्कृति से

देशवासियो को प्रेम करना सिखाया वही समाज सुधार आन्दोलनो ने इस सस्कृति का बड़ा भव्य और उज्ज्वल रूप हमारे सामने रखा। वर्त्तमान की समस्याओ के समाधान, भविष्य के सुखद निर्माण तथा विदेशी सस्कृति के प्रबल प्रवाह से अपनी सभ्यता को उबारने के लिए देश के गोरवमय अतीत का सहारा लिया गया। इस प्रकार विदेशी शासन से आतंकित देश की निष्प्राण शिराओ मे पुरातन सस्कृति के भव्य आदर्श, आचार और निष्ठाओ का उष्ण रक्त प्रवाहित करने के लिए उस युग की चेतना बड़ी तेजी के साथ गतिशील हो उठी।

साहित्य के माध्यम से युग चेतना का यह प्रबुद्ध रूप और अनेक भावो मे व्यक्त हुआ। द्विवेदी युग की सीमाओ मे सिमटा हुआ उस युग का समस्त साहित्य वस्तुतः देश के सॉस्कृतिक जागरण की इसी भावभूमि पर खड़ा हुआ है। स्वदेश प्रेम, अतीत का गौरवगान, गॉधीवादी विचारधारा के प्रति श्रद्धा-सम्मान, राष्ट्रीय एकता का समर्थन, जातीय सस्कृति का नव निर्माण, सामाजिक जीवन की कुठाओ का निवारण, इन सब विविध भाव सामग्री ने उस युग के साहित्य का सृजन और पोषण किया। यही कारण है कि इन विविध आन्दोलनो के अनुरूप ही तत्कालीन साहित्य मे उच्च आदर्शवादिता, प्रचार की अधिकता और सन्देश की प्रधानता है।

श्री [illegible] इसी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य की व्यापक परिधि मे उस युग का समस्त जीवन दर्शन, समस्त विचार-प्रवाह सिमटा हुआ है। उनकी ही कृतियो मे युग चेतना का व्यापक सन्निवेश है। उनकी ही वाणी का परिधान पहिन कर भारत की सास्कृतिक साधना साहित्य की भूमि पर दृढता से प्रतिष्ठित हुई है। उन्होने ही राष्ट्रीय जागरण के सब से प्रबल और सबसे समर्थ स्वर युग मानस मे झकृत किए हैं। पिछले चालीस वर्षो से राष्ट्र के मानस को अधिक प्रबुद्ध और उर्जस्वित रूप देन के लिए एक महान तपस्वी की भॉति वे अखड साधना मे रत है। इस युग धर्म के अनुरूप ही उनकी साधना बड़ी विराट, बड़ी भव्य है।

चिरगॉव जिला झॉसी मे स० १९४३ श्रावण शुक्ला २ सोमवार को

गुप्तजी का जन्म हुआ । पिता सेठ रामचरण चिरगाँव के धनीमानी वैश्य थे । व्यापार करते थे और सीताराम की भक्ति मे लीन

जीवन परिचय रहते थे । काव्य रचना का भी उन्हें शोक था । यही कवित्व प्रतिभा और रामभक्ति गुप्तजी को पैतृक देन में मिली । पिताजी की देखादेखी गुप्त जी भी छन्द रचना करते । पिता ने उनके एक छन्द को पढ़कर आशीर्वचन कहे थे "तू आगे चलकर हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करेगा ।" पिता का यह आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ ।

चिरगाँव में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुप्तजी झासी के मेकडानल हाई स्कूल मे प्रविष्ठ हुए । पर वे वहा पढ़ने की अपेक्षा खेले कूदे अधिक । फलतः दो वर्ष पश्चात् ही गुप्तजी को चिरगाव लौट आना पड़ा । घर पर ही एक पण्डितजी सस्कृत पढाते । साथ-साथ चकई फिराने और पतग उड़ाने का भी उन्हें खूब शौक था । बुद्धि बहुत तीव्र थी, इसलिए पाठ याद करने मे गुप्तजी को अधिक समय नहीं देना पड़ता था । आल्हा पढने मे गुप्त जी को बड़ा आनन्द आता था । आल्हा पढ़ते समय गुप्त जी को न खाने की सुध रहती न पीने की । इसी बीच वे मु शी अजमेरीजी के सम्पर्क मे आए । वे गुप्तजी को कहानिया सुनाते और कविताएं कठाग्र कराते । अजमेरी जी स्वय अच्छे कवि थे । उनके प्रभाव से गुप्त जी की काव्य प्रतिभा को बल मिला । वे अब दोहे छप्पयो में रचना करने लगे और कलकत्ते से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' पत्र में उनकी ये रचनाएं प्रकाशित हुई ।

आचार्य द्विवेदी जी जब झाँसी के रेलवे दफ्तर मे चीफ क्लर्क थे, गुप्तजी अपने बड़े भाई के साथ उनसे मिलने गए । गुप्तजी का परिचय कराते हुए द्विवेदी जी से कहा गया "ये मेरे छोटे भाई भी कविता करते हैं ।" आगे चलकर इन्हीं द्विवेदी जी की छत्रछाया मे मैथिलीशरण जी की काव्य प्रतिभा पल्लवित और पोषित हुई । जब द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक बने तब गुप्त जी ने 'हेमन्त' शीर्षक कविता सरस्वती मे प्रकाशनार्थ भेजी । उस अङ्क मे इस कविता को स्थान न मिल सका । आपने उसे 'मोहिनी' नामक एक अन्य पत्रिका मे प्रकाशित कराया । कुछ समय पश्चात् यही कविता काफी सशोधन

और काटछाँट के बाद सरस्वती मे प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी ने एक पत्र भी गुप्तजी को लिखा "हमने जो सशोधन किये हैं उन पर विचार करो आगे से जिस कविता को हम न छापे, उसे किसी दूसरे पत्र में न छपाओ।" बस गुप्तजी उसी दिन से द्विवेदीजी के पक्के शिष्य बन गये। उन्ही के बताये मार्ग पर चलने लगे।

गुप्तजी तब से लेकर आज तक साहित्य साधना मे रत हैं। चिरगाव मे साहित्य सदन नाम से उनकी अपनी प्रकाशन सस्था है। छोटे भाई सियाराम शरण गुप्त भी हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कवि और कथाकार हैं। अन्य तीन भाई महारायदासजी, रामकिशोर गुप्त और चारु शीलाशरण कुल परम्परा के अनुसार व्यापार की ओर प्रवृत्त होगये। इस प्रकार गुप्तजी भरे पूरे परिवार के सदस्य हैं। साहित्य साधना के साथ-साथ गुप्तजी ने राष्ट्रीय आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लिया है। उन्हे जेल यात्रा भी करनी पडी है। विश्ववन्द्य बापू गुप्तजी का बड़ा मान करते थे। सन् १६३६ मे उन्होने गुप्तजी को काशी मे काव्य-मान ग्र थ भेट किया था। उनकी साहित्य सेवाओ के उपलक्ष्य मे आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हे डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया है। भगवान साहित्य की इस दिव्य विभूति को चिरजीवी बनाये।

गुप्तजी आचार व्यवहार वेशभूषा, सभी से पूर्णतः स्वदेशी हैं। हिन्दी संस्कृत, बगला, उर्दू आदि अपने देश की भाषाओ के तो वे ज्ञाता हैं पर विदेशी आग्ल भाषा वे जानते ही नही। खद्दर की धोती, कुर्ता, जाकेट और टोपी यही उनकी वेशभूषा है। व्यवहार में भी वे स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग करते हैं। अपने देश में, देश की संस्कृति मे, उसके अतीत में गुप्तजी की बड़ी निष्ठा है। भारतीय आर्य सस्कृति के सबसे अधिक प्रकाश पु ज राम के वे परम भक्त हैं। भारतीय सस्कृति का जो पुनीत आदर्श मानवता की सेवा है, गुप्तजी उसके अभिन्न उपासक हैं। अपनी प्रकृति से भी गुप्त जी बड़े सरल, बड़े उदार, शात और मधुर भाषी हैं। विनय और श्रद्धा के मूर्त्तिमान रूप हैं। उनमें कहीं रहस्य नहीं कहीं कोई गहराई नहीं। उनका यही सरल निश्चल और निरीह व्यक्तित्व उनके साहित्य में मुखरित हुआ है।

व्यक्तित्व

गुप्तजी का साहित्य बड़ा विशद बडा विभिन्न है। भारती के भडार को अपनी रचनाओ की अतुल भावसम्पदा से वैभव सम्पन्न बनाने मे उनका योग-दान आधुनिक कवियो मे सर्वोपरि हैं। उन्होने साधारण गद्यमय पद्य से लेकर उत्कृष्ट कलात्मक काव्य तक अनेक प्रबन्ध कृतिया, गीत, मुक्तक, तुकात, अतुकात, मौलिक अनूदित सभी क्षेत्रो में लिखा है। विषय और शैली सभी रूपो मे उसकी सीमात रेखा बड़ी व्यापक है। उनके काव्य की अनेक कोटियाँ हैं अनेक भेद हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओ में युग और साहित्य की चालीस वर्षों की चेतना का इतिहास सुरक्षित है।

रचनाएँ

कालक्रम के अनुसार उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं (१) रंग में भंग (२) जयद्रथ बध (३) भारत भारती (४) पद्य प्रबंध (५) तिलोत्तमा (६) चन्द्रहास (७) किसान (८) वैतालिक (९) शकुन्तला (१०) पत्रावली (११) पचवटी (१२) अनघ (१३) स्वदेश सगीत (१४) हिन्दू (१५) त्रिपथगा (१६) बक संहार (१७) बन वैभव (१८) सैरन्ध्री (१९) शक्ति (२०) गुरुकुल (२१) विकट भट (२२) झंकार (२३) साकेत (२४) यशोधरा (२५) मंगल घट (२६) द्वापर (२७) सिद्धराज (२८) नहुप (२९) कुणाल गीत। मेघनाथ बध, पलासी का युद्ध वीरागना उनके बगला से अनुवाद है। पारसी के विश्व-विख्यात कवि उमरखैयाब की रुबाइयों तथा सस्कृत के यशस्वी नाटककार भास के स्वप्नवासवदत्ता का भी उन्होने अनुवाद किया है।

रचनाओ के प्रतिपाद्य विषय के अनुसार यह तालिका इस प्रकार रखी जा सकती है :—

१—पौराणिक रचनाये —चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति।

२—महाभारतकालीन रचनाए-जयद्रथ बध, सैरन्ध्री, बकसहार, बन-वैभव, नहुष।

३—रामचरित प्रधान—साकेत, पचवटी।

४—कृष्णचरित मूलक— द्वापर।

५—बौद्ध सस्कृति मूलक-अनघ, यशोधरा।

६—हिन्दू जाति सम्बन्धी-हिदू, विकट भट, रग में भग, पत्रावली।

७—सिक्ख सस्कृति मूलक—गुरुकुल ।

८—मुसलिम सस्कृत मूलक—काबा कर्बला ।

६—राष्ट्रीय, जातीय, सामाजिक-स्वदेश संगीत, भारत भारती, वैतालिक किसान ।

१०—विविध—झकार, मगलघट ।

गुप्तजी के काव्य की भाव भूमि

रचनाश्रो के प्रतिपाद्य विषय से स्पष्ट है कि गुप्तजी मूलतः भारतीय सस्कृत के कवि हैं। पौराणिक काल से लेकर आज तक बौद्ध, राजपूत, मुस्लिम, सिक्ख आदि अपने जातीय रूपो के उपकूलो को स्पर्श करती हुई गगा के पवित्र जल की तरह यह जो हमारी सास्कृतिक धारा प्रवाहित हुई, गुप्तजी ने उसी से अपने काव्य क्षेत्र का अभिसिचन किया। भारतीय सस्कृति के जो उज्ज्वल आदर्श हैं, जो भव्य परपराए हैं, जो उच्च निष्ठाए हैं उसी का आलोक गुप्तजी के काव्य की अन्तरात्मा मे सॅजोया हुआ है। भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल इतिहास से ही उसने अपने काव्य की भाव सम्पदा जुटाई है। आर्यमानस के बिहारी हस ने यहीं से अपने भाव मुक्ता चुने हैं।

पर गुप्तजी ने इस सास्कृतिक धरोहर को सूम के धन की तरह संजोकर नहीं रखा, उसे अतीत का शृङ्गार और पुरातन का गौरव रूप देकर उससे श्रद्धा और भक्ति करना ही नही सीखा वरन् राष्ट्र की मूर्च्छित आत्मा को चेतन बनाने के लिए उसका सच्चा उपयोग भी किया। युग की बदली हुई परिस्थितियो में उन्होंने भारतीय सस्कृति को नया रूप दिया, उसके सुन्दर अङ्गो को पहिचाना, उससे प्रेरणा ग्रहण की, और राष्ट्र के मानस को विश्वास और शक्ति का सदेश दिया। उन्होने एक और आत्मगौरव, आत्मत्याग, बलिदान, देश प्रेम, शान्ति और शुचिता के अवदान आदर्शों से अनुप्राणित सस्कृति का भव्य रूप सामने रखा, उसके आलोक में दीन विपन्न भारत की अधोगति को समझने की दृष्टि दी, और उससे ऊपर उठने का उद्बोधन दिया। गुप्तजी के काव्य की यही व्यापक भाव-भूमि है।

अपनी इस भावभूमि पर गुप्तजी ने प्राचीनता और आधुनिकता का

अपूर्व समन्वय किया है। पर उनका यह समन्वयवाद दूसरे ढंग का है। प्राचीन भारत और उसकी सस्कृति के प्रति-कवि की स्वाभाविक निष्ठा है। भारतीय सस्कृति की आस्तिकता, धर्मनिष्ठा, जप, तप, व्रत, पूजापाठ पर आस्था, वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा, यज्ञ, वेद आदि पर श्रद्धा, आध्यात्मवाद पर विश्वास, यही सब कुछ कवि को ग्राह्य है। ऐसी वैदिक सस्कृति की पुनर्स्थापना का स्वप्न वह देखता है। उसके बनवासी राम दक्षिण में इसी आर्य सस्कृति की जन्म पताका फहराते हैं। इसी आर्य सस्कृति का संदेश वह वर्त्तमान को देता है। इसी पुरातन संस्कृति के दिव्य आलोक मे ही उसने आधुनिक जीवन की समस्याओ के समाधान का प्रयत्न किया है। रामायण, महाभारत, कृष्णकथा, पुराण, इतिहास जो भारतीय सस्कृति के अभिन्न अङ्ग हैं कवि ने अपने युग के अनुसार उसे आधुनिकता प्रदान की है। साकेत, जो कवि का महाकाव्य है, तथा राम कथा की पावन भूमि पर जिसका निर्माण हुआ है, भरत के मुख से स्पष्ट संदेश देता है—

> **भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसो के बंधन मे।**
> **सिंधुपार वह विलख रही है व्याकुल मन मे।**
>
> × × ×
>
> **मेटू अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा।**
> **उठो इसी क्षण शूर करो सेना की सज्जा।**

यह भारत लक्ष्मी हमारी स्वतन्त्रता लक्ष्मी ही थी जो सिन्धु पार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पाश मे बद्ध विलख रही थी। 'बकसहार' में जब गन्धर्व कौरवो पर आक्रमण करते हैं तब पाडवपति का यह संदेश—

> **जहां तक है आपस की आच, वहां नक वे सौ है हम पांच।**
> **किन्तु यदि करे दूसरा जांच, गिने तो हमे एक सौ पांच॥**
> **कौन है वे गंधर्व गंवार, करे जो आकर यह व्यवहार।**

हमारी आज की हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की ओर सकेत करता है। 'बक-सहार' में 'प्रजातंत्रीय' शासन का रूप देखिए—

> **राजा प्रजा का पात्र है, वह एक प्रतिनिधि मात्र है।**
> **यदि वह प्रजा पालक नहीं तो त्याज्य है।**

हम दूसरा राजा चुने, जो सब तरह सब की सुने।
कारण प्रजा का ही असल मे राज्य है।

इसी प्रकार 'साकेत' मे सीता भील कुमारियो को चर्खा चलाने का उपदेश देती हैं।

प्राचीनता के पोषक होते हुए भी गुप्तजी ने सामाजिक जीवन की आधुनिक समस्याओ की भी बड़ी सुव्यवस्थित विचारधारा प्रस्तुत की है। अछूतोद्धार, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, ग्राम सुधार योजना, जाति बहिष्कार नए युग के अनुरूप समाजसस्कार आदि विविध भाव-भगिमाओ को लेकर उन्होने बहुत कुछ कहा है। विधवा विवाह का कितना स्पष्ट समर्थन उन्होने किया है—

तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहे वे किन्तु विरक्त,
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र ?
आप बनो बिषयो के दास, वे अभागिनी रहे उदास।

इस प्रकार गुप्तजी अपने काव्य मे प्राचीन होते हुए भी नवीन है, नवीन होते हुए भी प्राचीन है।

गुप्तजी इस रूप मे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं। उनके काव्य ने देश के लाखो युवकों को देश प्रेम और बलिदान की स्फूर्ति दी है। राष्ट्र के मानस को उसके पुरातन अतीत का गौरवगान सुनाकर सजग और सक्षम बनाया है। उसके सामने प्राचीन भारतीय वीरो के आत्मत्याग, आत्मगौरव और शौर्य के आदर्श प्रस्तुत किए हैं। गुप्तजी की 'भारत-भारती' तो राष्ट्र के मुक्ति आदोलन की गीता रही है। वह सही अर्थो मे 'भारतभारती' है। उसने विदेशी शासन से मुक्ति पाने की हमें अपूर्व प्रेरणा दी है। 'भारत-भारती से लेकर आज तक राष्ट्र प्रेम ही उनकी रचनाओ का मूल प्रेरक स्वर रहा है। इसीलिए गुप्तजी जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है "सच्चे अर्थो मे हमारे राष्ट्र कवि हैं।" पर यह बात विवाद से खाली नही है। गुप्तजी के काव्य को जातीयता, साम्प्रदायिकता, या संकुचित राष्ट्रीयता का पोषक बतलाया जाता है। वह इसलिए कि गुप्तजी स्पष्टतः हिन्दू जाति, हिन्दू सस्कृति, उसके आचार, निष्ठा को लेकर चले है। उसकी अधोगति पर उन्होने आँसू बहाए हैं, उसको सजग और चैतन्य बनाने का उद्‌बोधन दिया है। 'भारत-भारती'

मे हतभाग्य हिन्दू जाति ही केन्द्र विन्दु है। 'गुरुकुल' काव्य मे उन्होने मुसलमानो के विरुद्ध रणकेतु फहराने की प्रेरणा दी है—

जाति धर्म और देश की लज्जा रखने के हेतु।
यवनो के विरुद्ध गुरुकुल ने फहराया है निज रण केतु ॥

'हिन्दू' मे उन्होने स्पष्ट नारा लगाया है—

हम सब है हिन्दू सन्तान। जिए हमारा हिन्दुस्तान।

पर इस हिन्दुस्तान मे हिन्दू ही तो नहीं बसते। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी और न जाने कितनी हिन्दू इतर जातियो की यह जन्मभूमि और मातृ-भूमि है। राष्ट्र के हित मे जिनका हित है, और हिन्दुओ की भाति ही जो निश्चित रूप से इस राष्ट्र के अङ्ग हैं। फलतः सच्चा राष्ट्रीय कवि तो वह है जो इन जातियो और विभिन्न सस्कृतियो के भेदभाव से उठकर राष्ट्र के सामूहिक हित को अपने काव्य का आधार बनावे। जिसका जीवन दर्शन, जिसके आदर्श,जिसकी भाव सपदा किसी जाति विशेष की न होकर समग्र राष्ट्र की हो। राष्ट्र के सभी प्राणी जिसमे अपना स्वर मिला सके। जिससे विशुद्ध राष्ट्रीयता को गति और स्फूर्ति मिल सके, ऐसा ही काव्य राष्ट्रीय कहा जा सकता है।

राष्ट्रीयता की इस कसौटी पर गुप्तजी कहा तक 'फिट' बैठते हैं, यह विचारणीय विषय है। इसमे तो सदेह नही कि गुप्तजी के काव्य मे हिन्दू जाति और सभ्यता की अधिक गू ज है। उसके ही धार्मिक, सामाजिक और मानवीय आदर्शो की उन्होने प्रतिष्ठापन्ना की है। हिन्दू जाति के ही इतिहास प्रसिद्ध वीरो का गुणगान किया है। इन सब बातो के होते हुए भी गुप्तजी राष्ट्रीय कवि नही हैं, जातीयता अथवा साप्रदायिक कवि हैं, ऐसा कथन गुप्तजी के प्रति अन्याय होगा। हिन्दू जाति और सभ्यता से विशेष मोह रखते हुए भी उन्होने राष्ट्रीयता को ही अपने काव्य का आधार फलक बनाया है। उन्होने ऐसे ही चरित्रो की अवतारणा की है, ऐसे कथानको की सृष्टि की है जिसके माध्यम से वे देशप्रेम, बलिदान, आत्मत्याग और आत्मगौरव की भावनाए राष्ट्र मानस में भर सके। उनके 'वैतालिक', 'स्वदेश सगति', 'भारत-भारती', 'रग में भग', 'विकट भट' सभी देशभक्ति और देशप्रेम की दिव्य भावनाओं से सजोए हुए हैं। अनघ का 'मघ' तो गान्धीवाद मूर्तिमान रूप है। 'चद्रहास'

'तिलोत्तमा' मे भी फूट के विषम परिणाम तथा अहिसक सेवको के कष्ट सहिष्णुता के आदर्श है। "जयद्रथबध" के मूल मे भी राष्ट्रीय चेतना का स्वर है। अभिमन्यु के चरित्र मे हमे उस अमर बलिदानी की झाकी मिलती है जो राष्ट्र के यज्ञ मे अपने प्राणो की आहुति देता है। माता और पत्नी का अनुराग भी जिसे अपने पक्ष से विचलित नही कर पाता। जो अकेला कौरव सेना जैसी हिसक शक्तियो से अकेला ही जूझता है। गुप्तजी का महाकाव्य साकेत भी हिन्दू सस्कृति से सम्बन्ध रखता हुआ हमारे आज के राष्ट्रीय जीवन के धरातल को स्पर्श करता है। इस प्रकार हिन्दू जाति को ही अपने काव्य का विषय बनाते हुए गुप्तजी की मनोवृत्ति साम्प्रदायिकता की सकुचित परिधि मे सिमिट कर नहीं चलती, वरन् विशुद्ध राष्ट्रीयता का रूप ले लेती है। दूसरे शब्द मे उन्होने हिन्दू जाति और उसकी भव्य सस्कृति के माध्यम से राष्ट्रीयता का पोषण किया है। अन्य जाति और संस्कृतियो के प्रति उनके हृदय मे कोई मैल है ही नहीं। वे सबको समान भारत माँ की सतान मानते हैं, उनके हितो की रक्षा के लिए आवाज उठाते हैं। उन्होने स्पष्ट कहा है "हिन्दू मुसलमान की प्रीति। मेटे मातृ भूमि की भीति।" उन्होने मुस्लिम और बौद्ध संस्कृति पर भी काव्य सृष्टि की है। ईसा पर भी कविताएं रची हैं। पर इतना अवश्य है कि भारत मा की सतानो मे हिन्दू बड़े हैं, इसीलिए उनकी ओर गुप्तजी का विशेष ममत्व है।

डा० सत्येन्द्र का यह कथन वस्तुत समीचीन ही है कि "राष्ट्रीयता कवि का विशेष उद्देश्य रहा है, पर कवि सस्कृति शून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं।" 'सस्कृति' से तात्पर्य यहा हिन्दू संस्कृति से है। पर इस सस्कृति को, जिसने पहले पहल अखिल संस्कृति को सभ्यता और ज्ञान का आलोक दिया, मानवता ने जिसके आचल मे स्नेह दान पाया, प्रेम शान्ति और समता ने जिसकी गोद मे क्रीड़ा की, शक्ति सौन्दर्य की पूर्णता लिए राम, कृष्ण जैसे पूर्ण मनुष्य जिसकी विभूति सम्पदा बने, कवि छोड़ भी नहीं सकता। उसे विश्वास है कि देश की वर्तमान अधोगति के निराकरण के लिए यह सास्कृतिक धरोहर हमारी सबसे बड़ी शक्ति है। फलतः इसी सस्कृति की बुनियाद पर कवि ने अपने राष्ट्रीय काव्य का सृजन किया है।

राष्ट्रीय कवि के रूप मे गुप्तजी गाधीवादी विचारधारा के पोषक हैं। वे कर्म से और मन से गाधीजी के सिद्धान्तो के साथ रहे हैं। गाधीवाद में जो सत्य और अहिसा के प्रति तीव्र आग्रह है, बलिदान, त्याग और देश प्रेम की जो भावनाए हैं, समाज सेवा के जो भव्य आदर्श हैं, अछूत, नारीसमाज, किसान, मजदूर आदि दीनदलितो के प्रति जो प्रेमभाव है, हिन्दू मुस्लिम एकता की जो गध है, उसके बहुत ही स्पष्ट स्वर गुप्तजी के काव्य मे उभरे हैं। यहा तक कि साकेत के नागरिक राम बनगमन के अवसर पर राम के सम्मुख विनत सत्याग्रह करते है। उनके काव्य के सभी प्रमुख पात्र प्रायः गाधीवाद के ही आदर्शो की प्रतिष्ठापना करते हैं।

गाधीवादी गुप्तजी जन साधारण के कवि हैं। 'हिन्दू' की भूमिका में गुप्त जी ने लिखा है "हाय, लेखक कहीं जन साधारण कवि हो सकता ! परन्तु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद प्राप्त न हो सका।" पर गुप्तजी को प्रतिभा देवी का यह प्रसाद सबसे अधिक मिला है। इस प्रसाद की प्राप्ति के लिए उन्होने जो साधना की है हिन्दी के इतिहास मे वह अमर है। आज भी उनकी कविता जनता के हृदय मे राष्ट्रीयता और धर्मनिष्ठा का मन्त्र फूँक रही है। गगा की निर्मल जल धारा की भाँति जन जीवन के धरातल पर वह बही है। यही कारण है जनता के बीच गुप्तजी की लोक-प्रियता को अन्य कवि नहीं पहुँच सका हैं। जन साधारण के कवि होने के कारण "मैथिलीशरणजी की काव्य साधना बिल्कुल स्वदेशी ढङ्ग की है। × × × वे दीन दरिद्र भारत के विनीत, विनयी- नतशिर कवि हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की उनमे शक्ति नहीं है किन्तु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृति चिह्न हमे हिन्दी में सर्व प्रथम गुप्तजी के काव्य मे ही मिलते हैं। उनकी करुण काव्य मूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को बड़ी ही शान्ति-दायिनी सिद्ध हुई है" (नन्ददुलारे वाजपेयी)।

गुप्तजी का काव्य व्यक्ति-परक न होकर समाज-सापेक्ष है। उन्होने अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो को लेकर बहुत कम गीत रचे हैं, वे भी छायावादी युग से प्रभावित होकर। पर लोक-कल्याण और समाज-सेवा का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होने व्यापक काव्य की सृष्टि की है। भारतीय समाज के आदर्श,

उसका मधुर पारवारिक जीवन, उसके नैतिक आदर्श, उसका मर्यादित स्वरूप, आचार-व्यवहार, इन सब विशेष-भगिमाओं के बीच गुप्तजी का काव्य पला और पनपा है। इसके लिए गुप्तजी ने जिन पात्रों की सृष्टि की है वे एक परिवार के अङ्ग हैं, जो अपने व्यक्तिगत जीवन से अधिक सामाजिक जीवन को महत्व देते हैं। इस रूप मे गुप्तजी तुलसी की परम्परा के कवि हैं। पर तुलसी और गुप्तजी मे एक बड़ा भेद है। तुलसीदासजी की साधना सम्पूर्णतः दैवी है। गुप्तजी के काव्य मे वह मानवीय बन गई है। साकेत का कवि तुलसी की भाँति राम के नारायणत्व को इतना महत्व नहीं देता जितना उनके नरत्व को।

गुप्तजी के काव्य का रूप आदि से लेकर अन्त तक आदर्शवादी है। उनकी यह आदर्शवादिता, लोक मगल की व्यापक भावना से प्रेरित होकर देश और जाति की संस्कृति की प्रतिष्ठा एव सरक्षा करती है। आदर्शवादिता के रूप मे उनकी कला उपयोगितावाद के सिद्धान्त को लेकर चली है। जन-कल्याण के लिए जो कुछ उपयोगी है, वही उनके काव्य का विषय है। गुप्तजी ने स्पष्ट कहा है—

हो रहा है जो यहाँ, सो हो रहा, यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ, व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ
मानते है जो कला के अर्थ ही, स्वार्थनी करते कला को व्यर्थ ही।

फलतः गुप्तजी की कला परमार्थ की भावना पर टिकी हुई है। उनका साहित्य जीवन को उठाने का साहित्य है। वह पूर्णतः मानवतावादी हैं। समाज सेवा, राष्ट्र सेवा, मानव सेवा और इनके लिए अनुरागमय त्याग, बस यही कवि के काव्य का परम पावन ध्येय है। अनघ मे कवि का कथन है—

'न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा'
मुझे है इष्ट जन सेवा सदा सच्ची भुवन सेवा।

गुप्तजी का काव्य मूलतः आदर्शवादी होने के कारण प्रचार, उपदेश

और सन्देश की प्रधानता लिए हुए हैं। इसीलिए उसमे भाव और विषय की जितनी उत्कृष्टता है उतनी कला की नहीं। उनके सौम्य सरल व्यक्तित्व की तरह उनकी कला में अभिव्यक्ति की सरलता है। उसमें बनाव शृङ्गार आडम्बर है ही नहीं। उसका आकर्षण उसके सहज प्रकृत रूप में है। गुप्तजी कलावादी हैं ही नहीं, लोकवादी हैं। इसीलिए लोकपक्ष की विराटता मे उनका कलापक्ष अधिक नही उभर पाया।

गुप्त जी की काव्यकला

गुप्तजी के कवि ने जिस युग मे जन्म लिया था वह हिन्दी काव्य के विकास और साहित्य के नये प्रयोगो का युग था। स्थूल विषयो का इतिवृत्तात्मक कथन ही उस युग का काव्य था। उसमे न तो व्यजना का चमत्कार था न भाषा का सौन्दर्य और न कल्पना का नवोन्मेष शालिनी जादू। गुप्तजी की सभी प्रारम्भिक रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। उनमे साहित्य और कला के तत्वो की बहुत न्यूनता है। 'पचवटी' से पूर्व उच्चकोटि के काव्य के दर्शन गुप्त जी की रचनाओ में मिलते ही नहीं। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मकता से छुटकारा पाना सरल भी न था। इसके लिए काव्य की महत् साधना अपेक्षित थी। गुप्त जी मे यह साधना पूर्णता को प्राप्त हुई है। 'रग में भग' और 'भारत भारती' का कवि 'पचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा' और 'झकार' मे बहुत ऊँचा उठ गया है। काव्य कला का बहुत ही उत्कृष्ट और निखरा रूप हमे वहाँ मिलता है। इस प्रकार द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्य शैली से लेकर उसकी उच्च कलात्मक भूमिके दर्शन हमे गुप्तजी के काव्य मे होते हैं। खड़ी बोली के काव्य ने भाषा, शैली, व्यंजना और चित्रमयता के क्षेत्र मे जो शनैः शनैः विकास किया है उसका पूर्ण इतिहास निश्चय ही गुप्त जी के काव्य मे सुरक्षित है। उसने खड़ी बोली की चालीस वर्षीय काव्य धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

द्विवेदी युग से प्रभावित होकर गुप्तजी ने मुख्यतः प्रबन्ध काव्यो का प्रणयन किया है। पर इधर छायावादी चेतना ने उन्हे वैयक्तिक अनुभूति परक गीत लिखने की भी प्रेरणा दी है। छायावादी युग का प्रथम उन्मेष हमे उनके इन गीतो मे मिलता है। वास्तव में गुप्तजी अपने युग की समस्त साहित्यक

मान्यताओं, चेतनाओं को समेट कर चले हैं। इसीलिए कला की दृष्टि से उनके काव्य की अनेक कोटियाँ हैं, अनेक स्तर है।

'पञ्चवटी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'झंकार' गुप्तजी की प्रौढ़ और उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'पञ्चवटी' गुप्तजी की काव्य साधना का महत्वपूर्ण मोड़ है। इसमे उनके काव्य सौन्दर्य का प्रथम उन्मेष हुआ है जो परवर्ती रचनाओं मे विकासोन्मुख होता हुआ 'साकेत' तथा 'यशोधरा' में पूर्ण वैभव को प्राप्त हुआ है। 'साकेत' और 'यशोधरा' निश्चय ही कवि की काव्य कला के सर्वोच्च शिखर हैं।

साकेत—'साकेत' गुप्तजी की ही नहीं आधुनिक काव्य साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण प्रबन्ध कृति है। उसका प्रकाशन खड़ी बोली की ऐतिहासिक घटना है। वह हमारा जातीय महाकाव्य है, तथा भारतीय जीवन और संस्कृति को तुलसी के बाद उसने ही समग्ररूप मे ग्रहण किया है। 'बाल्मीकि' और 'तुलसी' की पावन राम कथा की भव्य भूमि पर 'साकेत' के काव्य-प्रासाद का निर्माण हुआ है। पर गुप्तजी ने कथाक्रम मे आधुनिक युग के आदर्शों और बौद्धिक प्रभावों की अनुकूलता के अनुसार अनेक मौलिक परिवर्तन करके उसे बड़ा अभिनव रूप दिया है। फलतः साकेत के कथानक मे मौलिक कथा का सा आनन्द आता है। काव्य मे जिन घटनाओं को कथा के सूत्र मे पिरोया गया है, वे सभी अयोध्या मे घटित होती हैं। इसीलिए ग्रन्थ का नाम कवि ने 'साकेत' रखा है। साकेत का प्रथमसर्ग लक्ष्मण और उर्मिला के सयोग-वर्णन से आरम्भ होता है, और उसके बाद आठ सर्गों तक राम के राज्याभिषेक प्रसग से लेकर चित्रकूट में राम, भरत मिलन के कथासूत्रों को बड़ी बारीकी से जोड़ा गया है। नवम् और दशम् सर्ग उर्मिला के विरह अश्रुओं में डूबे हुए हैं। साकेत का मुख्य उद्देश्य ही उर्मिला के निस्स्वार्थ त्याग और आत्म-साधना को आँसुओं में भिगोकर अपनी वाणी प्रदान करना है। अब तक कवियो की दृष्टि से त्याग और साधना की प्रतिमा उर्मिला का विरही जीवन उपेक्षित ही रहा था। रवि बाबूने पहले पहल उर्मिला विषयक कवियो की इस उदासीनता की ओर संकेत किया। साकेतकार को यह श्रेय है कि उसने इस करुणमूर्ति को सर्व प्रथम हमारे सामने प्रस्तुत किया। इस प्रकार 'साकेत' का कलेवर

उर्मिला के अश्रु जल से ही अभिषिक्त है। साकेत मे उर्मिला के इस अति रुदन को आलोचक गण महाकाव्य की नायिका के लिए उपयुक्त नहीं मानते। परन्तु उर्मिला को प्रमुखता प्रदान करने के लिए यह सर्वथा संगत है।

'उर्मिला' के अतिरिक्त साकेत मे बहुत कुछ नया है। आधुनिक युग की बौद्धिकता और सामायिक आदर्शों की स्पष्ट छाया उस पर लक्षित है। गुप्त जी के राम तुलसी की भाँति अलौकिक और परम ब्रह्म नहीं हैं। उनमे लोकिकता अधिक है। उनके मानवीय रूप को ही कवि ने अधिक उभारा है। 'साकेत' के अन्य सभी पात्र भी हमारे जीवन के बहुत निकट हैं। वे सभी हमारे पारिवारिक जीवन का आदर्श लिए हुए हैं। कैकयी, भरत, माँडवी, रावण, मेघनाथ के चरित्र-चित्रण मे अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ से कवि ने बड़े आकर्षक रग भरे हैं। 'मानस' में कैकयी जहाँ हमारी घृणा की पात्र बनी रहती है, 'साकेत' मे वह हमारी सहानुभूति प्राप्त करती है। भगवान् राम के मुख से कैकयी के प्रति निकले इन शब्दो ने तो उसके कलक को सदा-सदा के लिए धो डाला है—

> **सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।**
> **जिस जननी ने है जना भरत सा भाई॥**

इस प्रकार कवि ने अपने साकेत को युग के नये मूल्यो से सजाया है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों मे "उसकी प्रतिभा ने राम कथा के इस महत्वपूर्ण अङ्ग मे नये वातायन खोले हैं। मानव भूमि पर मनोविज्ञान का सहारा लेते हुए—कला और अभिव्यजना से पुष्ट एक नई ही राम कथा की परम्परा स्थापित की गई है।"

'साकेत' की उर्मिला ने ही कपिलवस्तु के राजभवन की ओर सकेत करके कविको 'यशोधरा' के सृजन की प्रेरणा दी है। फलतः इस गीतवद्ध खडकाव्य के पृष्ठो पर मानिनी यशोधरा के हास्य रुदन की गूंज है। बुद्ध चरित्र से सबधित होने पर भी कथा मे विशदता नहीं है। उसमें बुद्ध की साधना का चित्रण नहीं, गोपा की अन्तर्साधना का प्रकाश है। कथासूत्र प्रबध काव्य की शैली में न होकर गीतो मे बिखरा हुआ है, और इन कलात्मक गीतो की सृष्टि

द्वारा कवि ने राहुल जननी के आँसू बटोरने का प्रयत्न किया है। गोपा की उस मानसिक व्यथा को कवि ने स्वर दिया है जो सिद्धार्थ के चोरी से महाभिनिष्क्रमण करने पर उसके हृदय को मथे डालती है। गोपा पर अविश्वास कर सिद्धार्थ ने आर्य नारी के तप और त्याग को जो चुनौती दी राहुल जननी को उसी का पश्चाताप है। राहुल जननी की इसी मर्म कथा से कवि का यह काव्य लिपटा हुआ है।

गुप्तजी की काव्यकला की दूसरी दिशा हमे उनके गीतों में मिलती है। प्रबध काव्य की भाँति ही उन्होने गीतो का बड़ा कलात्मक साहित्य हमें दिया है। 'साकेत' 'यशोधरा' 'द्वापर' जैसी उत्कृष्ट कला-

गीत साहित्य

कृतियो म गीतों का ही बाहुल्य है। उर्मिला, राधा, और यशोधरा के नारी हृदय की सहज व्यथा की इन गीतो में बड़ी मर्म स्पर्शनी अभिव्यक्ति है। गीत कला के सभी उच्च तत्त्व इन गीतो मे विद्यमान है। अनुभूति, कल्पना, सगीत, सभी का अपूर्व सामंजस्य है। कवि के प्रारम्भिक उद्बोधन और स्वदेश गीत बड़े स्फूर्तिवान और प्रेरणादायक हैं। लोकगीतो की तरह उनमें सामान्य जन-हृदय को छूने की शक्ति है। उनमें प्रथम बार खड़ी बोली का जातीय संगीत और पौरुष व्यक्त हुआ है। 'झकार' के रहस्यवादी गीतो मे छायावादी गीत शैली से भिन्न एव स्वतन्त्र गीत कला का विकास मिलता है। छायावादी गीतो मे जहाँ कल्पना और सौदर्य तत्व की प्रधानता है, वहाँ झकार के गीत वैष्णव भक्त गुप्तजी की निर्गुण उपासना के प्रतीक है। इतना अवश्य है कि सगुण के प्रति मोह रखने के कारण कवि इन गीतो को खुलकर नहीं गा सका है। उनके इन गीतो पर स्पष्ट रूप से रवीन्द्र के रहस्यात्मक गीतो का प्रभाव है।

गुप्तजी के इस गीत साहित्य मे, इतना तो निश्चय है कि छायावादी कवियो जैसी कला की सुषमा, अनुभूति की तीव्र व्यजना, चित्रमयी मूर्ति मत्ता भाषा की स्निग्धता और संगीत की मधुरिमा तो नहीं मिल सकती। फिर भी गुप्तजी के गीत गीत नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक विशेष सीमा तक वे निश्चय ही सफल गीत हैं।

गुप्तजी के काव्य में नव रसों का सुन्दर विधान है। उनकी रग में भंग,

विकट भट, जयद्रथ बध, वनवैभव, सिद्धराज कृतिया तो वीर रस की मूर्तिमान रूप हैं। इन कृतियो की वीर गाथाओ में वीर रस

रस योजना

का उत्कट प्रवाह, कवि की ओजस्वी भाषा और स्फूर्ति शील शैली का सहारा पाकर बड़ी तीव्रता से उमड़ा है। रौद्र, वीभत्स और भयानक रस की अवतारणा वीर रस के सहायक रूप में हुई है। हास्यरस की झलक हमे 'पचवटी' मे शूर्पणखा के प्रसग को लेकर मिलती है। लक्ष्मण और सीता के रूप में देवर भाभी का विनोद बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। वात्सल्य रस की झलक 'द्वापर' के नन्द और यशोदा, 'यशोधरा' की राहुल जननी, 'साकेत' की कौशिल्या, जयद्रथ बध की 'सुभद्रा' के वात्सल्यमय उद्गारों में मिलती है। करुण रस तो इन सभी रसो के साथ बहा है; कहीं समानान्तर होकर कही घुल मिल गया है। कुछ आलोचनो के मत में तो गुप्त जी के काव्य मे मूलतः कारुण्य की धारा ही प्रवाहित हुई है।

फिर भी कवि ने श्रृङ्गार रस की व्यापक चित्रपटी प्रस्तुत की है। श्रृङ्गार के सयोग और वियोग दोनो पक्षो में रस का सुन्दर उत्कर्ष है। साकेत का प्रारम्भ ही लक्ष्मण उर्मिला के सयोग सुख की चपल क्रीड़ा से होता है। उनके मधुर वार्त्तालाप में कवि ने दाम्पत्य प्रेम का कितना रसाद्र पर आदर्श चित्राकण किया है। 'साकेत' के अष्टमसर्ग में राम और सीता के वन्य जीवन मे भी सयोग के सुखद क्षण आते हैं। शृंगार के इस सयोग पक्ष मे बडा जीवन है, बड़ा उल्लास है, पर उसमें हलका पन कहीं नहीं है। सर्वत्र एक गाम्भीर्य एक शालीनता बनी हुई है। रीतिकालीन कवियो की भाति उसमे उन्मुक्त हास विलास नहीं है और न उसमे वासना की तीव्र भूख और ऐन्द्रिय सुख की उत्कट कामना है। गुप्तजी का सयोग श्रृङ्गार पारिवारिक जीवन की मर्यादा के तटों मे बधकर चला है। वह सर्वत्र बड़ा शाँत बड़ा सौम्य, बड़ा सरल बना रहा है। कवि की भौतिक आदर्शवादिता ने उसके उन्मुक्त रूप को उभरने ही नहीं दिया। इसीलिए माता सीता का रूप चित्रण इतना मर्यादित हुआ है :—

अंचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे।
सीता माता थी आज नई धज धारे।

अंकुर हितकर थे कलश पयोधर पावन,
जनमातृ गर्वमय कुशल बदन मन भावन।

गुप्तजी के काव्य का बहुत बड़ा अंश विरह के आँसुओ से गीला है। कवि के महाकाव्य का तो समूचा कलेवर ही उर्मिला के विरह अश्रुओ से अभिषिक्त है। विधि के क्रूर व्यग ने चौदह बर्ष की लम्बी अवधि के लिए उर्मिला के प्रियतम को उससे दूर कर दिया है। सीता राम के साथ है, माडवी और श्रुतकीर्ति भी अपने प्रिय पतियो से अभिन्न हैं। पर उर्मिला निराधार है। विरह मे अहनिश जलने के अतिरिक्त उसके पास शेष है ही क्या? इसीलिए वह सती अपने मानस मन्दिर मे प्रियतम की प्रतिमा स्थापित कर विरह में जलती हुई स्वय ही उसकी आरती बन जाती है। आँखो में प्रिय की मूर्ति बसा कर सुख के सारे भोग वह भूल जाती है। योग से भी कठिन उसका विषम वियोग बन जाता है। आठ पहर चौसठ घड़ी पति के ध्यान में लीन रहने से उसे अपना ज्ञान भी नहीं रहता—

मानस मन्दिर में सती पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह मे बनी आरती आप।
आँखो मे प्रिय मूर्ति थी भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग।
आठ पहर चौसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्म ज्ञान॥

उर्मिला के इस आदर्श विरह की व्यजना कवि ने शतशत रूपो में की है। उसमें एन्द्रिक और मानसिक दोनों पत्तो का सफल उद्घाटन किया है। शास्त्रीय और साहित्यक सभी दृष्टियो से उसकी गहराई को स्पर्श किया है। विरहिणी नारी के हृदय की अभिलाषा, चिता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मृत्यु आदि अवस्थाओ के मर्म स्पर्शी चित्र दिए हैं।

प्रकृति गुप्तजी के काव्य की सहचरी बन कर आई है। कहीं वह उसके साथ हंसी है कहीं रोई है। कहीं उसके माध्यम से ही काव्य की भाव चेतना अभिव्यक्त हुई है और कहीं उसने अपने उपकरणों से उसकी

प्रकृति चित्रण कला का शृंगार किया है। अनेक स्थलो पर उसने अपना अस्तित्व भी स्वतन्त्र रखा है। इस प्रकार गुप्तजी के काव्य विशेषतः 'पञ्चवटी' और 'साकेत' मे प्रकृति की सुषमा बिखरी पड़ी है। पञ्चवटी की इन पक्तियो मे प्रकृति के मनोरम रूप का कैसा सरल आह्लाद पूर्ण और नैसर्गिक चित्र है :—

चारु चन्द्र की चंचल किरण खेल रही हैं जल थल मे,
श्वेत वसन सा बिछा हुआ है अवनि और अम्बर तल मे
पुलक प्रगट करती है धरती, हरित तृणो के नोकों से
मानों झीम रहे है तरु भी, मंद पवन के झोको से ॥

अन्य कवियो की भाति गुप्तजी ने भी प्रकृति का चित्रात्मक, सवेदनात्मक, उपदेशात्मक, अलकारात्मक चित्रण किया है। उनके इस चित्रण मे प्रकृति सर्वत्र अपना कोमल और उदार रूप लिए हुए है। प्रकृति का रौद्र रूप गुप्त जी ने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त गुप्तजी का प्रकृति चित्रण प्रायः इति-वृतात्मक और स्थूल ही है। कथा प्रसग के निर्वाह के लिए जब जैसी आव-श्यकता पडी उन्होने प्रकृति के चित्र उतारे हैं। 'वर्ड्सवर्थ' या 'पत' की भॉति प्रकृति के उपासक बन उन्होने प्रकृति चित्रण नहीं किया।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कला की दृष्टि से गुप्तजी के काव्य के अनेक स्तर हैं। उनके प्रारम्भिक काव्य में कला तत्व बहुत न्यून है।

अलंकार योजना

विषय की बहुत सीधी सादी अभिव्यक्ति उसमे हुई है। फलतः कवि की इन प्रारम्भिक रचनाओ में अलकारो की अधिक श्री सुषमा नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि जिन अलकारो का प्रयोग भी हुआ है तो बड़े सीधे सादे ढग से। उसमें कोई नवीनता या कल्पना का नवोन्मेषशालिनी रूप नहीं है। पर ज्यों-ज्यो गुप्तजी के काव्य का कला सौन्दर्य निखरता गया त्यो-त्यों उसका रूह अलंकारिक होता गया। इसीलिए गुप्तजी के परवर्त्ती काव्यो मे अलकरण शैली की उत्कृष्टता के दर्शन होते हैं। पर यह शैली का अलकरण, श्रम साध्य नहीं है। भावो की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करती हुई गुप्तजी की

कला स्वतः अलंकारिक हो गई है। वहा भाव और कला का मणिकाचन सयोग है। पर जहाँ भावो की तीव्रता नहीं है, विषय का सीधा सादा प्रतिपादन है, वहाँ अलकार है ही नहीं। जो हैं, उनका सौन्दर्य उभरने ही नहीं पाया। फलतः गुप्तजी के उच्चकोटि के काव्य का दर्शन उन्हीं स्थलो पर होता है जहाँ भावो की तीव्रता अलकरण शैली मे व्यक्त हुई है। वह इसलिए कि गुप्तजी की स्वाभाविक और सजीव अलकार योजना ने रसोत्कर्ष को अनन्य बल प्रदान किया है।

शास्त्रीय दृष्टि से गुप्तजी के काव्य मे सभी प्रमुख अलकारो का सुन्दर विधान है। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दलकार तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, बिसम, सदेह, आदि अर्थालकार उनकी रचनाओ मे भरे पड़े हैं। उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा, तो कवि को बहुत प्रिय हैं। कहीं-कहीं उपमा अलकार का बड़ा अभिनव रूप कवि ने दिया है—

भोर के भभूके सा, प्रविष्ठ हुआ साहसी
बलबीर, मंद मंद धीर गति से धरा।

छन्द योजना की दृष्टि से गुप्तजी बहुत सफल कवि हैं। भाव और विषय के अनुकूल छन्द के निर्वाचन की उनमे अद्भुत क्षमता है। इसलिए उनके भावो की सशक्त और मार्मिक व्यंजना का श्रेय बहुत कुछ उनके छन्दो को है। उन्होने तुकात, अतुकात, गीत सभी प्रकार के छन्दो को अपने काव्य में प्रश्रय दिया है। जो छन्द काव्य साहित्य से बहिष्कृत हो चुके थे, उन्हे बड़ी उदारता के साथ गुप्त जी ने अपनाया है और काव्य के नए सौदर्य से उन्हें अभिभूत किया है। उन्होने रोला, छप्पय, सवैय्या, कवित्त, दोहा आदि रीतिकालीन छन्द, हरगीतिका, आर्या, गीति, आर्यागीति, पद, पादाकुलक, आदि मात्रिक छद, शार्दूल विक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतबिलम्बित आदि सस्कृत छद सभी प्रकार के नए और पुराने छदो का सहारा लिया है। 'सोहनी' नाम से उन्होने उर्दू गजलो का हिन्दी रूपान्तर किया और इसमे भी सन्देह नहीं कि उर्दू की लावनियो को हिन्दी की प्रकृति मे वे ही पूर्ण रूप से ढाल सके। तुकाँत छदो में तुक मिलाने में गुप्त जी सिद्धहस्त हैं। अतुकाँत

छन्द योजना

छन्द कहीं शिथिल नही हैं, भावो की तीव्रता ने अतुकॉत छन्द विधान मे कहीं लचरपन नही आने दिया। सभी छन्दो का प्रयोग प्रसगानुकूल है और वे अपूर्व गति और लय लिए हुए हैं। भावनाओ का तारतम्य उनमें भली विधि प्रकट हुआ है।

गुप्तजी के काव्य की भाषा खड़ी बोली है और अपनी इस भाषा पर गुप्तजी को पूर्ण अधिकार है। पूर्ण अधिकार इसलिए कि गुप्तजी अपने भावों को चाहे जिस रीति से अभिव्यक्त कर सकते हैं। तुक के लिए उनके पास शब्दो का अभाव नहीं रहता। उनकी भाषा शक्ति अपने आप इसके साधन जुटाती चलती है। पर उनका यह अधिकार भाषा की क्रमिक साधना का परिणाम है। गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओ की भाषा सामान्य है, पूर्णतः सीधी सादी। साहित्यिक सौदर्य कला की स्निग्धता उसमे तनिक भी नहीं है। 'भारत-भारती' में खड़ीबोली की जो खडखड़ाहट है, नीरसता और शुष्कता है वह स्पष्ट ही है। गुप्तजी की ये रचनाए खड़ी बोली की शैशवकालीन रचनाए थी। इसलिये उनमे भाषा के प्रौढ़ और समृद्ध रूप की आशा करना उचित भी नहीं। पर ज्यो-ज्यो खड़ी बोली काव्य मे अधिक वृद्धि होने लगी त्यौ-त्यौ उसका रूप सौष्ठव भी समृद्धि पाता गया। उसकी रुक्षता और नीरसता शनैः शनै स्निग्धता और सरसता मे बदलती गई। खड़ी खोली भाषा की यह विकासोन्मुख अवस्था गुप्तजी के काव्य में भली भॉति देखी जा सकती है। उनके पूर्ववर्त्ती काव्य की भाषा भी शनैः शनैः विकास को प्राप्त होती हुई बाद की रचनाओं में बहुत कलात्मक बन गई है।

गुप्त जी की भाषा

गुप्तजी की इस भाषा का सस्कृत की ओर स्वाभाविक रुझान है। उसी के अक्षय भंडार के शब्द-रत्नो से उसने अपनी भापा-पूँजी मे वृद्धि की है। सत्य तो यह है कि गुप्तजी की भावनाएँ सस्कृत-साहित्य के इतनी अधिक निकट हैं कि अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे छोड़कर अन्य कहीं शरण ही नहीं है। फलतः गुप्तजी के काव्य मे सस्कृत शब्दो की प्रचुरता है। फिर भी प्रिय-प्रवास की भॉति गुप्तजी की भाषा सस्कृत बहुल नहीं, उसका प्रकृत रूप सर्वत्र उभरा हुआ है। सस्कृत का अनुचित भार उस पर नहीं है। भाव-व्यजना को

स्पष्ट और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए ही संस्कृत पदावली का सहारा लिया गया है। इस रूप मे संस्कृत के अस्तुद, त्वेष, जिष्णु, सोऽम् आदि ऐसे शब्द आ गए हैं जो खड़ीबोली की पंगत मे किसी भी प्रकार नहीं बैठाए जा सकते। शब्द चयन पर ही नहीं पद योजना पर भी संस्कृत का प्रभाव है। अम्बुजर्ता आदि कुछ शब्दो का उन्होने व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। भाषा मे समास कम हैं और प्रायः छोटे ही हैं और वे भाषा की गठन को दृढ़ और बलवान बनाते हैं।

संस्कृत के साथ-साथ गुप्तजी की भाषा पर प्रान्तीयता का भी प्रभाव है। झींमना, धड़ाम, तत्ती, छीटना, लघन, धाड़, डिडकार आदि प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग बहुत अधिक नहीं तो बहुत कम भी नहीं है। कही तो भाषा-सौंदर्य के लिए इन शब्दो का प्रयोग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है पर अधिकाश मे उनका रूप अखरने वाला रहा है। जैसे—"कहकर हाय धड़ाम गिरी।" इसी प्रकार गुप्तजी के कुछ क्रिया रूप भी प्रान्तीय हैं। उदाहरणतः कीजो, दीजो, मानियो जानियो। उर्दू शब्दो का प्रयोग गुप्तजी ने नहीं किया है। पर यह बात उनकी प्रौढ रचनाओ के विषय मे है। किसान, हिन्दू, रंग मे भंग आदि रचनाओ में उर्दू के प्रचलित शब्द प्रचुर मात्रा मे हैं।

व्याकरण की दृष्टि से गुप्तजी की भाषा पूर्णतः व्याकरण सम्मत है। व्याकरण के जिन नियमो से गद्य की भाषा को परखा जा सकता है उसी कसौटी पर गुप्तजी का पद्य खरा उतर सकता है। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के योग्य शिष्य से ऐसी आशा भी की जा सकती है।

व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष तथा साहित्यिक और परिष्कृत यह भाषा भाव-व्यंजना के लिए बड़ी सक्षम और शक्तिवान है। सौन्दर्य और माधुर्य अपने साथ लिए भाषा सदैव भावो की अनुवर्त्तनी रही है। भावो के अनुकूल ही कहीं उसमे [illegible]ना है, कहीं कोमलता है, कही माधुर्य है, कहीं कठोरता है। उसकी गति भी भाव-प्रवाह के अनुसार कहीं मन्द और स्थिर है तो कहीं बड़ी वेगवान है। भावो के अनुकूल ही नही गुप्तजी की भाषा पात्र और प्रसग के अनुकूल भी है। लक्ष्मण की भाषा मे ओज है, उर्मिला की वाणी मे यौवन का चाञ्चल्य और शील का मार्दव है, राम की भाषा गम्भीर

है, कैकयी के शब्दो मे उच्छ्वास है और राहुल की बातो मे बाल-सुलभ सारल्य है, यशोधरा की भाषा मे कराह है।

भावानुकूलता के साथ गुप्तजी की भाषा मे लाक्षणिक समृद्धि, मूर्तिमत्ता और चित्रोपमता प्रचुर मात्रा मे है। सत्य तो यह है कि द्विवेदी युग के कवियो मे गुप्तजी ही ऐसे हैं जो खड़ी बोली की प्रकृति को भलीभाँति पहिचान सके हैं। खडी बोली की समस्त जातीय विशेषताएँ गुप्तजी की भाषा मे सुरक्षित हैं।

फिर भी गुप्तजी की भाषा खड़ी बोली के लचरपन से पूर्णतः मुक्त नहीं हुई है। उनकी सबसे प्रौढ कृति 'साकेत' मे भी खड़ी बोली का शैथिल्य कम नही है। 'साकेत' के संबध मे नगेन्द्रजी का यह कथन समीचीन ही है "यह भी स्वीकृत सत्य है कि लचर भाषा के उदाहरण साकेत के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है। इसका कारण है पालिश की कमी। गुप्तजी अन्य कलाकार कवियो की भाँति पालिश मे विश्वास नही करते। उनके वाक्यो मे पत जी की सी काट-छाँट और शब्द-चयन नही है और न महादेवी जी की सी स्वाभाविक मधुश्री।" गुप्तजी की कविता मे वस्तुतः तुक का इतना प्रबल आग्रह है कि इसके लिए भाषा सौन्दर्य को निम्नस्तर पर लाने में कवि सकोच नही करता।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि गुप्तजी की भाषा, सौन्दर्य और माधुर्य से रहित है। नीचे की पक्तियो से भाषा का माधुर्य क्या कम है—

चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निसंकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्य बदनी बाला॥
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगो से झलक रही।
कमलो की मकरन्द मधुरिमा मानो छवि से छलक रही॥

अपनी भाषा मे गुप्तजी ने लोकोक्तियो और मुहावरो का कम प्रयोग किया है। जो भी प्रयोग है वह अपने सहज प्रकृत रूप मे नहीं है। फलतः भाषा सौन्दर्य की अभिवृद्धि मे उससे अधिक सहायता नही मिली है। सवादों की भाषा पर अँग्रेजी शैली का प्रभाव है। सवादो की इस भाषा की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता भी है। यहाँ कवि ने समास पद्धति का सहायता से थोड़े

मे बहुत कहने का सफल प्रयास किया है। बिहारी का सा अर्थ-गौरव उसमे लक्षित है। यह वस्तुतः भाषाधिकार पर आश्रित है और गुप्तजी ऐसे भाषाधिकार के निश्चय ही आश्रय बने हैं।

सब कुछ मिलाकर भाषा की दृष्टि से गुप्त जी का काव्य बड़ा प्रौढ, बड़ा परिष्कृत, बड़ा परिमार्जित है। खड़ी बोली काव्य की भाषा के विकास मे उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

गुप्त जी के काव्य से स्पष्ट है कि उन्होने सार्वभौमिक और सर्वजनीन साहित्य का सृजन नहीं किया। देशकाल और समय की परिधि को लाँघकर उनका काव्य विश्वव्यापी रूप नहीं ले सका है। विश्व की अनन्त सत्ता को उन्होने अपनी कविता साधना का अङ्ग नहीं बनाया। इसीलिए उनकी भावध्वजा उन्मुक्त होकर दिग्दिगत मे नहीं फहराई, वरन् अपने देश, उसकी सस्कृति और समस्यायो की कहानी ही उसने सुनाई है। गुप्तजी के काव्य को अपने देश की मिट्टी से इतना प्यार है कि वे उसे किसी भी दशा मे त्यागने को प्रस्तुत नहीं है। जहा उन्होने ऐसा करने का प्रयास किया है वहाँ वे असफल रहे हैं। उन्होने 'भारती' ही नहीं, सच्चे अर्थों मे 'भारत भारती' के अमर कवि बनकर जिस काव्य प्रासाद का निर्माण किया, डा० रामरतन भटनागर के शब्दो मे उसमे उन्होने वाणी की अत्यन्त भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा की और इस कला भवन को अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक और धार्मिक मूर्तियो द्वारा अलकृत किया। राम, सीता, लक्ष्मण, दशरथ, भरत और रामकथा काव्य की परम्परा प्रसिद्ध अनेक भव्य मूर्तियो के साथ उन्होने नई छेनी से बना सँवार कर कैकयी, उर्मिला, कौशिल्या और सुमित्रा एवं माँडवी की नई झाकियाँ गढी। विरहिणी गोपा और माता यशोधरा के दो अनुपम चित्र उन्होने दिए। ब्रज के अनेक चित्रो की उन्होने नई कलम तराशी और द्वापर मडप के नीचे उन्हें प्रतिष्ठित किया। उस मडप मे क्या नहीं है? फिर शकुन्तला, तिलोत्तमा, चंद्रहास, मैत्री-मूर्त्ति बुद्ध (अनघ) दुर्गा (शक्ति) पच पाडव और द्रौपदी, कुणाल, दसो सिक्ख गुरु और नहुष, सिद्धराज एव अनेक राजपूत वीरो की कला और कल्पना के हाथो गढ़ी अनेक अन्य मूर्तियाँ भी इस काव्य प्रासाद को गौरवमय बना रही हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य मे

पूर्व पश्चिम का बहुत कुछ है, परन्तु इतना गौरवमय अतीत कहाँ एक साथ साथ मिल सकेगा ? फिर इस भारती भवन के ऊपर अपने ही राष्ट्र की प्रेम-पताका फहरा रही है। × × × 'किसान' और 'अजित' जैसे काव्यो मे उन्होने सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलनो के भीतर से अपने युग के उपेक्षित, सामान्य सब तरह से साधारण नए सत्याग्रही वीरो की मूर्तियाँ भी सजाई हैं। इतनी बड़ी चित्रपटी युग विशाल भारत का इतना बड़ा गौरव, मूर्त्ति सग्रह और कहाँ मिलेगा।" यही कारण है कि गुप्तजी ने अपने देश को वाणी का अमरदान दिया है, उनके देश ने उन्हें सबसे अधिक स्नेह दान दिया है। वे हमारे आज के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। भारत की अखड साधना मे आज भी वे रत हैं। ईश्वर उन्हे चिरजीवी बनाए और नए भारत के नव सृजन को उनकी वाणी का मधुर प्रसाद निरन्तर मिलता रहे।
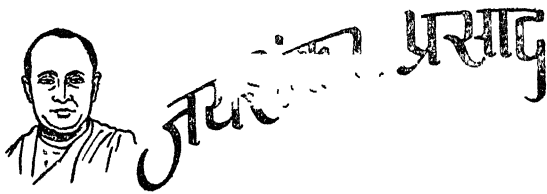
श्री जयशकर प्रसाद हिन्दी काव्यधारा मे उस युग के प्रजापति हैं जिसे छायावाद, स्वच्छन्दतावाद या रोमाटिक काव्य की सज्ञा दी जाती है। यह युग आधुनिक हिन्दी काव्य की कलात्मक पराकाष्ठा का युग है। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की कविता अनुभूति, कल्पना, भाषा सभी दृष्टियो से श्री सुषमाहीन थी। छायावादी काव्य ने ही उसके सभी पक्ष सवारे सजोए और नए सौन्दर्य रस से उसे अनुप्राणित बनाया। उसे उच्चकोटि का शिल्प वैभव देकर अत्यन्त प्राणवान और महिमामय रूप सौन्दर्य दिया। उसने डा० नरेन्द्र के शब्दो मे भाषा को 'नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु दाह और नवीन विभ्रम कटाक्ष प्रदान किए' हमारी कला को असख्य अनमोल छाया चित्रो से जगमग कर दिया और अन्त मे कामायनी का समृद्ध रूपक पल्लव और युगात की कला, नीरजा के अश्रु गीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर चुम्बी उड़ान दी। उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति काव्य ही कर सकता है।"

प्रसादजी हिन्दी के ऐसे ही ऐश्वर्य मय युग के जनक हैं। उन्होने हिन्दी कविता को द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता के मरुस्थल से निकाल कर छाया-वाद के नन्दन वन मे विहार कराया है। छायावाद के सौदर्य बोध की अभि-व्यक्ति प्रथमवार प्रसाद जी की वाणी का परिधान पहिन कर आई। प्रसाद जी इसी युग विधायक रूप को ऐतिहासिक महत्व से अभिहित करते हुए प० नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है "प्रसाद, पन्त, निराला की वृहत्रयी, कविता के अन्तरग और वाह्यागो की मौलिक सृष्टि करके साहित्यसमाज के सामने

आई। इसमे भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशकरप्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता समन्वित है। उन्होने कविता विषय को सबसे प्रथम रसमय बनाया। कल्पना और सौंदर्य के नए स्पर्श उसे अनुभव कराए।

पर प्रसादजी हिन्दी के छायावादी स्कूल के ही आदि सस्थापक मात्र नही हैं, वे हिन्दी साहित्य के हर क्षेत्र के युगातरकारी कलाकार है। भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाट्य साहित्य की वे ही सबसे महत्वपूर्ण कडी है। उनकी कहानियॉ हिन्दी कथा साहित्य मे सबसे अलग और स्वतन्त्र शिल्प विधि का रूप लिए हुए हैं। जिस प्रकार कहानी कला की शिल्पगत विशेषताओ के आधार पर प्रेमचद सस्थान की प्रतिष्ठा हुई है उसी प्रकार प्रसाद की मौलिक और विशिष्ट कहानी कला ने हिन्दी कथा साहित्य मे प्रसाद सस्थान को जन्म दिया है। उपन्यास के क्षेत्र मे वे प्रेमचन्द के समकक्ष हैं और गद्य-शैलीकार के रूप मे उनकी प्रतिभा को कौन छू सकता है। निबन्धो मे उन्होने जो अपने मौलिक अनुसधान, गहन अध्ययन और भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता के प्रतिपादन की लगन का परिचय दिया है वह कम गौरव की बात नही है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के साहित्य मे प्रसाद जैसी दिगदिगन्त व्यापिनी प्रतिभा लेकर कोई कलाकार सामने नही आया। वे सच्चे अर्थो मे हमारी हिन्दी के रवीन्द्रनाथ हैं।

माघ शुक्ला द्वादशी स० १९४६ को काशी के जिस सम्भ्रान्त परिवार मे प्रसादजी का जन्म हुआ वह 'सु घनी साहू' के नाम से प्रसिद्ध था। पितामह

जीवन परिचय

बाबू शिवरत्न प्रसाद ने जरदा, सुरती तथा तम्बाकू के व्यापार मे खूब धन तथा यश अर्जन किया। उनकी दानशीलता की कहानियॉ अब भी काशी के लोग भूले नही है। साहू शिवरत्न के पुत्र बाबू देवी प्रसाद ने अपने वंश की प्रतिष्ठा का कायम रखा। उनके दो पुत्र हुए ज्येष्ठ शम्भूरत्न, कनिष्ठ जयशकर।

प्रसादजी का बचपन बड़े लाड़-प्यार मे व्यतीत हुआ। जब उनकी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी तभी उन्होने अपनी माता के साथ धारक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि की यात्रा की थी। यात्रा के

सुरम्य प्राकृतिक दृश्यो ने बालक प्रसाद को बडा प्रभावित किया। अमरकटक पर्वतमाला के बीच, नर्मदा की नौका-यात्रा तो उन्हे जीवनभर विस्मृत नहीं हुई। उन्होने बाद मे कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और प्रयाग की भी यात्रा की थी। पुरी के सामुद्रिक दृश्यो ने उन्हे बडा लुभाया। उनकी सभी काव्य-कृतियो मे प्रकृति के इस निकट साहचर्य की सुरम्य अनुभूति व्यक्त हुई है।

बनारस के क्वीस कालेज मे प्रसादजी ने सातवी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद घर पर ही उनकी सस्कृत, अँग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था कीगई। अध्ययन के साथ-साथ प्रसादजी को व्यायाम और घुड़सवारी मे बडी रुचि थी। समस्या-पूर्ति के रूप मे वे काव्य रचना भी किया करते थे। बारह वर्ष की अवस्था मे वे पितृस्नेह से वञ्चित हो गए और इसके तीन वर्ष पश्चात ही ममतामयी माता भी ससार से बिदा हो गई। प्रसादजी को अब अपने बड़े भाई के साथ-साथ दुकान के कारोबार मे हाथ बॅटाना पड़ता था पर इस ओर उनकी विशेष रुचि नही थी। दुकान पर बैठे-बैठे बहीखाते के रद्दी कागजो पर कविताएँ लिखा करते थे।

माता-पिता की दुखद मृत्यु के आँसू अभी सूख भी न पाये थे कि प्रसाद जी और उनके परिवार पर एक और अनभ्र वज्रपात हुआ। ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरत्न प्रसादजी को केवल सत्रह वर्ष की अवस्था मे असहाय छोड़कर स्वर्ग सिधार गए। परिवार का भरण-पोषण का सारा भार प्रसादजी के कन्धो पर आ पड़ा। अनेक विषम परिस्थितियो के बीच प्रसादजी ने अपने को घिरा पाया। बड़े भाई अपने अमीराना ठाठ-बाट के कारण बहुत सा ऋण परिवार पर छोड़ गए थे। उधर दुनियाँ की स्वार्थी निगाहें प्रसादजी की जायदाद को निगलने की ताक मे थीं। व्यापार भी शिथिल पड़ गया था। ऐसी कठिन परिस्थितियो मे भी प्रसादजी विचलित नही हुए। उन्होने धैर्य और साहस के साथ इन सब कठिनाइयो का सामना किया। घर के कारोबार को सँभालकर अपनी कार्य-कुशलता से उसे उन्नत बनाया। परिवार का सारा ऋण पूरा किया तथा अपने परिवार की सुख और शान्ति को बनाए रखा।

इन सासारिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी प्रसादजी सरस्वती की पुनीत आराधना को नहीं भूले। वे बराबर साहित्य रचना किया करते थे। उनके

घर पर साहित्य रसिको का जमघट लगा रहता था। इसके साथ-साथ प्रसाद जी नियमित रूप से साहित्य, दर्शन, इतिहास आदि विषयो का अध्ययन करते थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय मे भी नित्य जाते थे। उन दिनो हिन्दी ससार मे द्विवेदीजी के सरस्वती पत्र की बड़ी धूम थी। प्रसादजी ने भी अपनी रचनाएँ उसमे प्रकाशनार्थ भेजीं। परन्तु द्विवेदीजी के काव्य सिद्धान्तो और आदर्शों के मान्यता के अनुसार न हो सकने के कारण वे रचनाएँ सरस्वती मे स्थान न पा सकी। प्रसादजी इससे निराश नही हुए। उनके आदेशानुसार उनके भानजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उनकी ही प्रेरणा से शिवपूजनसहायजी के सम्पादकत्व मे 'जागरण' पत्र का प्रकाशन हुआ। इन दोनो पत्रो का कलेवर प्रसादजी की रचनाओ से सुशोभित रहता था। इस प्रकार सरस्वती से प्रोत्सा हन न मिलने पर भी प्रसादजी की प्रतिभा निरन्तर जागरूक बनती रही और अत मे वह हिदी काव्यधारा को नया मोड़ देकर ही रही। प्रसादजी प्रेमचन्दजी के 'हस' मे भी लिखते थे। 'हस' के नामकरण और उसकी योजना मे वस्तुतः प्रसादजी का ही प्रमुख हाथ था।

'इन्दु', 'जागरण' आदि पत्रो की आर्थिक व्यवस्था का भार प्रसादजी के ही कन्धो पर था। इधर उन्होने एक मकान बनवाया जिसमे काफी व्यय हो गया था। साहित्य की ओर अधिक उन्मुख रहने के कारण वे अपने पैतृक-व्यवसाय मे कम ही ध्यान दे पाते थे। उनकी समस्त दिनचर्या ही साहित्यिक थी। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक वे या तो अध्ययन मे रत रहते थे अथवा कवियो, लेखको से साहित्यिक चर्चा करते रहते थे। व्यवसाय के क्षेत्र मे बस उनका यही काम था कि कस्तूरी का व्यापारी आया तो कस्तूरी परख कर खरीदली। 'भपका' चढ़ा तो गुलाबजल या इत्र की देखभाल करली। वैसे प्रसादजी अपने व्यवसाय मे पूर्ण दक्ष थे। सुर्ती, इत्र आदि का सामान बनाने मे वे बड़े कुशल थे। फिर भी ये सब बाते उनकी रुचि के अनुकूल न थीं। साहित्य-साधना ही उनके जीवन का इष्ट थी। फल यह हुआ कि व्यवसाय की गति मन्द पड़ गई। आय कम होने लगी। इन पारिवारिक चिताओ से प्रसादजी जीवन पर्यन्त तक मुक्त नही बनने पाए। अन्त मे राज्ययक्ष्मा के

भीषण रोग ने अपनी कुहेलिका मे प्रसादजी के भव्य जीवन को छिपा लिया। १५ नवम्बर १९३७ को प्रसादजी इस ससार मे नही रहे। भारतेन्दु के बाद हिन्दी का यह दूसरा सबसे बडा दुर्भाग्य था।

प्रसादजी हर दृष्टि से हिंदी की महान और असाधारण विभूति थे। उनका उन्नत दमकता हुआ भव्य ललाट, गौरवर्ण, विशाल नेत्र, जिससे फूटती हुई तेजस्विता की रेखाएँ, यूनानी देवता की भाँति विशाल वक्षस्थल, सुगठित शरीर, मादक ध्वनि, निर्लेप मुखाकृति, ये ही बस प्रसादजी थे। प्रसादजी के ऐसे असाधारण व्यक्तित्व की हर भगिमा ऐश्वर्यमय रूप रगो से निर्मित थी। उनकी वेश-भूषा, उनकी आकृति, उनके व्यवहार सभी से एक ऐश्वर्यमयी शालीनता और गरिमा टपकती थी। ढाके की मलमल का कुर्ता और शान्तिपुरी धोती पहनने वाला यह व्यक्ति जीवन के रगीन और रोमाटिक पक्ष से कितना ममत्व रखता होगा यह स्पष्ट ही है। वास्तव मे प्रसादजी बड़ी ही रूमानी और भावुक प्रकृति के पुरुष थे। बड़े सौम्य, बड़े शान्त, बड़े सरल। अहमन्यता उनमे लेशमात्र को नहीं थी। दुनिया की भीड़-भाड़ से दूर मौन साहित्य साधना उन्हे प्रिय थी। प्रारम्भ मे प्रसादजी की साहित्य रचनाओ को बडा विरोध सहना पड़ा। लोगो ने प्रसादजी पर आलोचना के तीखे व्यवहार किए पर प्रसादजी सदैव मौन और शान्त बने रहे। उनके हृदय मे कभी कटुता और मैल नही आया और न उन्होंने अपने विरोधियो को कभी प्रत्युत्तर ही दिया। प्रसादजी के मित्र अधिक न थे। बस साहित्य की साधना ही जैसे उनकी सच्ची सहचरी थी। सगीत से उन्हे अनन्य प्रेम था। कभी-कभी सिनेमा का भी आनन्द लेते थे। साहित्य और सगीत की भाँति पुष्प उन्हे बहुत प्रिय थे। उन्होने अपने मकान के सामने छोटा सा बगीचा लगाया था। इसमे बैठकर विहँसते फूलो की श्री सुषमा मे प्रसादजी अपने को भूल जाते थे। यहीं पारिजात वृक्ष के नीचे एक चौकी थी जहाँ प्रसादजी बैठकर अपनी रचनाएँ सुनाते थे।

व्यक्तित्व

ऐसे प्रसाद जी बड़े आस्तिक और धर्मनिष्ठ थे। पान को छोड़कर उन्हे अन्य कोई व्यसन ही नहीं था। वे भाग तक नही पीते थे। माँस-मदिरा से

उन्हे आन्तरिक घृणा थी। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने अथवा जूता पहिन कर जल पीने आदि के परहेज में वे बड़े दृढ थे। शिव के वे परम भक्त थे। शिव के शिवत्व के समान ही उनके जीवन का आदर्श था—आनद की अखड साधना। शिव जिस प्रकार हलाहल पीकर शात और आनन्द की अखड साधना मे लीन हो गए, उसी प्रकार प्रसाद जी भी अपने जीवन की विभीषिकाओ के हलाहल को पीकर आनन्द की उपासना मे लीन रहे। अपने किशोर-जीवन मे ही प्रसादजी ने माता, पिता, भाई और पत्नी की मृत्यु की विभीषिकाए देखीं, नियति के निष्ठुर व्यङ्गो ने निरतर उनके जीवन के साथ खिलवाड़ किया। उनकी आत्मा जैसे आड़ोलित हो उठी। जीवन के इन दुखो ने उन्हे जीवन मरण के रहस्योद्घाटन की ओर उन्मुख किया और यही सुख दुख की व्याख्या आनन्द की अखडता मे लीन होती हुई प्रसाद जी के साहित्य की मूल चेतना बनी।

ऐसा था डा० नगेन्द्र के शब्दो मे प्रसाद जी का व्यक्तित्व "शात गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरगो को दबा कर धूप मे मुस्करा उठा हो, या फिर गहन आकाश जो झझा और विद्युत को हृदय मे समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा हो।"

प्रसादजी के इस भव्य और विराट व्यक्तित्व की भाँति ही प्रसाद जी का साहित्य है। उनके विशाल साहित्यिक कृतित्व को हम दो कालो मे बाट सकते हैं। सन १६०८ से लेकर १६२५ तक के समय को हम प्रयोग काल कह सकते है। उर्वशी, प्रेमराज्य, सज्जन, कल्याणी, परिणय, कानन‌कुसुम, छाया, करुणालय प्रेम पथिक, चित्राधार, महाराणा का महत्व, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ इसी काल की रचनाए हैं। सन १६२५ में प्रसादजी ने 'आँसू' काव्य की रचना की। यह प्रसादजी के साहित्यिक जीवन का महत्वपूर्ण मोड़ है। यहीं से उनकी साहित्य कला का विकास बड़ी तीव्रगति से होता है। आसू के पश्चात्, झरना, स्कंदगुप्त, एक घूट, आकाशदीप, कंकाल, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, तितली, लहर, इन्द्रजाल, कामायनी, काव्य और कला प्रसादजी की प्रौढ़ रचनाएं हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रसाद

प्रसादजी का साहित्य

जी की सभी कृतियाँ इस प्रकार रखी जा सकती हैं :—

चपू—उर्वशी, प्रेमराज्य ।

काव्य—चित्राधार, करुणालय, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्त्व, कानन-कुसुम, आँसू, झरना, लहर, कामायनी ।

नाटक—सज्जन, कल्याणी, परिणय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कदगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी ।

कहानी—छाया, चित्राधार की कहानियाँ, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, इन्द्रजाल ।

उपन्यास—ककाल, तितली, इरावती (अपूर्ण)

निबध—काव्य और कला ।

प्रसादजी की कविता प्रसादजी मूल रूप मे कवि हैं । उनके समस्त साहित्य के अन्तस्तल में काव्य की गहन और पृथुल रसधार प्रवाहित हुई है । फलतः सबसे पहले प्रसादजी के कवि रूप को समझना आवश्यक है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से द्विवेदी युग में जन्म लेकर भी प्रसाद जी की काव्य चेतना इस युग की साहित्यिक मान्यताओ से नितात मौलिक, अस्पर्श्य और नवीन रही । उनके युगेतर साहित्य व्यक्तित्व ने तत्कालीन युग के साहित्य मानस मे पैठी हुई कठोर नैतिक आदर्शवादिता, काव्य की भावभूमि की विषय-गत प्रधानता तथा भावशैली की इतिवृत्तात्मकता से समझौता नही किया । उन्होने पहली वार द्विवेदी युग के शुष्क जटाजूट मे उलझी हुई हिन्दी कविता की गंगाधारा को मानव-जीवन के कोमल और सरस अन्तस्तल की भावमयी भूमि पर प्रवाहित किया । प्रसाद के समय की कविता वस्तुतः शुष्क उपयोगिता के बाद के कठोर धरातल पर प्रतिष्ठित थी । रीतिकालीन शृ गार भावना का विरोध करते हुए वह स्वयं रीतिग्रस्त हो गई थी । जाति सुधार, देश प्रेम, ग्राम-नगर तथा अन्य स्थूल और मूर्त्त विषयो की सीधी सादी अभि-व्यक्ति ही उस कविता आदर्श था । प्रेम, सौंदर्य, यौवन, मानव-जीवन के सुख, दुख, रहस्य, चितन इस काव्य की परिधि से त्याज्य और बहिष्कृत थे । फलतः काव्य की इस वर्णनात्मक, विषय प्रधान और सीमित लौकिक भाव-

भूमि मे भावो का स्पंदन, अनुभूति की प्रथुलता, कल्पना की मसृणता और कला की स्निग्धता न थी। लौकिक और वस्तु जगत के सीधे सादे मार्गों पर चलने वाली इस कविता के प्राणो मे मानव जीवन के अन्तर्जगत की अपरिमित जिज्ञासाओ, विराट अनुभूतियो और मधुर भावनाओ के अकन की न तो चेतना थी और न क्षमता। प्रसाद जी ने पहली बार हिन्दी काव्य को यह साहस देकर उसकी जड़ता को चैतन्य बनाया। उसकी स्थूलता को सूक्ष्मता में बदला, उसकी बहिर्मुखी साधना को अतर्मुखी बनाया। उन्होने प्रेम, सौदर्य, जीवन-मरण, सुख-दुख, आदि मानव जीवन के चिरंतन सत्यो का भावलोक उसे दिया। जीवन के सामाजिक पक्ष से तटस्थ कवि की अपनी आत्मा के आलोड़न-विलोडन, राग-विराग, हास-रुदन, प्रणय-द्व द, अतृप्ति, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहे थे इस नए काव्य से स्वर ग्रहण कर मुखर हो उठे। काव्य का यह अभिनव अन्तर्लोक बड़ा ही विराट, जटिल, अज्ञेय और अमूर्त्त था। फलतः उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सूक्ष्म, तरल, चित्रमयी और कल्पना की अतुल भाव सुषमा से मण्डित हुई। इस प्रकार प्रसाद ने हिन्दी के काव्य को वर्णमय चित्रो की साजसज्जा दी, स्वर्गीय भावपूर्ण सङ्गीत दिया, तथा उसकी भावभूमि पर अन्धकार का आलोक से, जड़ का चेतन से, तथा बाह्य जगत का अन्तर्जगत से सबध कराया।

हिन्दी काव्य की यही कलात्मक और भावात्मक अनुभूति 'छायावाद तथा 'रहस्यवाद के नाम से अभिहित हुई जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है "आज से बीस पच्चीस बर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप मे अभिव्यक्त हुई।"

प्रसाद के काव्य की मूल चेतना यही आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना है। फलतः वह सर्वथा वैयक्तिक, आत्मानुभूति परक और जीवन तथा जगत के सामाजिक पक्ष से सर्वथा निरपेक्ष है। उसमे उनके अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति है। उनकी कल्पना, चितना तथा अनुभूतियो की भी प्रधानता है। उनके प्रेम और ऐश्वर्य के हास विलास से भरे मादक सपने हैं, उन सपनो के टूटने की मर्म व्यथा है, निराशा है, करुणा है, और फिर इन सुख दुख के द्वन्दो का

अखण्ड आनन्द वाद की साधना मे समाधान है। जीवन की निभीषिकाओ से सहम कर कल्पना के निर्जन और स्वर्णलोक मे चलने का आग्रह है। अनन्त सौदर्यशालिनी प्रकृति पर अपने मानवीय भावो का आरोप है। सक्षेप में कवि की प्रेम, रूप, ऐश्वर्य और इनके अभाव की करुणा से लदी स्वच्छद मनोवृत्तियाँ जब बाह्य जगत मे अभिव्यक्ति न पा सकी, तब वे ही अन्तर्मुखी बन आशा के सपनो और निराशा के टूटे स्वरो को काव्य चेतना से सजोने लगीं। यही प्रसाद के काव्य की भाव भूमि है।

प्रारम्भ से ही प्रसाद जी की रचनाओ मे प्रणयी हृदय की पुकार, यौवन का हास विलास, सौन्दर्य की आकुल पिपासा, प्रेम की सफलता और असफलता की अनेक भगिमाएँ, अनेक चित्र हैं। परन्तु प्रसाद के काव्य मे शृगार की यह अतिरेकता, यौवन और प्रेम का यह रोमाटिक रूप रीतिकालीन शृगार और प्रेम की भाति मासल अश्लील और शरीर प्रधान नहीं है। सौदर्य और प्रेम के प्रति कवि का प्रारम्भ से ही बड़ा स्वस्थ दृष्टिकोण रहा है। वह लौकिक होते हुए भी दिव्य भावनाओ से मंडित है। पार्थिव होते हुए भी सूक्ष्म है, तथा शारीरिकता के स्थान पर उसमें मानसिक तत्त्व की प्रधानता है। इस प्रेम के तत्व निरूपण मे जहा रीतिकालीन अतिशय शृङ्गारिकता का अभाव है वही भक्त कवियो के अलौकिक प्रेम और शृगार से अछूता है। वह नैसर्गिक स्वच्छ और अपने मे पूर्ण है। प्रेम मे जो अपूर्व उन्माद, लालसा, कम्पन आत्म विस्मृति, करुण, वेदना, आह्लाद भाव-विह्वलता रहती है, सब को राशि से प्रसाद जी का काव्य रचा गया है। प्रेम इस उन्मादक रूप का इन पक्तियो मे कैसा लालसा भरा चित्र है :—

> मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप,
> शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
> लाज के बँधन खोल रहा।
> बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात,
> कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।
> कौन मधु मदिरा घोल रहा।

प्रियतम के मिलन पर तो कवि आनन्द-विभोर होकर गा उठता है—

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलख जीवन सफल सब हो गया
कौन कहता है जगत है दुख मय,
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है।

पर कवि का यह प्रेम-ससार सुख की नित्यता लिए हुए न रह सका। प्रणयी जीवन के मादक सपने टूट गए और करुणा की मलिन रागनी के व्यथित स्वर उसके जीवन मे गूँज उठे। उसके 'आँसू' काव्य मे ऐसे ही दुर्दिन के आँसू बरसने आ गए—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक मे स्मृति सी छाई,
दुर्दिन मे आँसू बन कर,
वह आज बरसने आई।

'आँसू' वस्तुत प्रसाद का ही नहीं हिन्दी का श्रेष्ठ विरह काव्य है। इसमें कवि के प्रणयी जीवन के रगीन वैभव की करुण स्मृति है, उसके अभाव पर आँसू हैं और अन्त मे जीवन का जो सत्य है उसमे समझौता है। अपने इस विरह मे भी कवि की वृत्ति, विलास और वैभव के सघन सपनो से रंजित है। "कहीं भी कवि, वियोग का ऐसा व्यथा-चित्र नहीं दे पाता जहाँ एक अकिंचन का एक ही जो कुछ था खो गया हो और उसकी दृष्टि में सोने के सपने मिट गए हो, जहाँ प्रेमी हो, प्रेम बाग हो और सब कुछ भूल गया हो, जहाँ आत्मार्पण ही आत्मार्पण हो। यहाँ तो वियुक्त प्रेमी केवल प्रियतम की चाह मे ही नहीं रोता वरन् मिलन-सुख से पूर्ण वह अतीत जिस वैभव से जगमग था, उसको खोकर भी रोता है"। (रामनाथ 'सुमन')

'आँसू' के बाद 'लहर' मे कवि पुनः ऐसे ही वैभव और रंगीन जगत के लिए तीव्र लालसा लिए हुए है। यौवन का मादक स्वर बडी प्रखरता के साथ उसमे उभरा है। यौवन की आकुल स्मृति रह-रह कर कवि के प्राणो को मथे डालती है—

आह रे, वह अधीर यौवन !
अधर मे वह अधरो की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियो मे आलिङ्गन मयी—
वेदना लिए व्यथाएँ नई,
टूटते जिससे सब बन्धन,
सरस सीकर से जीवन कन
बिखर भर देते अखिल भुवन,
वही पागल अधीर यौवन।

इस अधीर यौवन की चचल छाया मे प्रेम की निश्चल कथा सुनने के लिए कवि वास्तविक जीवन के सघर्षो और कोलाहलो से दूर निर्जन और एकाकी ससार मे पलायन करता है—

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे - धीरे।
जिस निर्जन मे सागर लहरी
अम्बर के कानो मे गहरी,
निश्चल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

पर फिर भी कवि जीवन के कटु सत्य को भुला नही पाता। उनका प्रेम-तत्व जीवन के कठोर आघातो से विरक्ति का भाव धारण करता है और इसी-लिए "सकल कामना स्रोतलीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी" के भाव उसके हृदय में नाच उठते हैं। विरक्ति की इस भावना के मूल मे सुखो की अनि-त्यता की करुणा है। यह मानव-जीवन अपूर्ण है, उसके सुख-दुख अस्थिर हैं। इस प्रकार कवि के हृदय में एक द्वद है। उसमे एक ओर जहाँ प्रेम और सौन्दर्य की सुषमा से रजित जीवन की लालसा है वही उसकी वास्तविकता की कठोरता के कारण निराशा, वेदना और करुणा है। फलतः जीवन के सुख दुख की समस्याओ के समाधान को लेकर मानव जीवन के चिर कल्याण पथ पर बढ़ने की अभिलाषा है। कवि की यह अभिलाषा उसकी अगली कृति

'कामायनी' मे पूर्ण होती है। यही उसका द्वद समाप्त होता है, उसकी समस्याओ का समाधान होता है। जीवन के अखण्ड आनन्द की रहस्य साधना से वह परिचित बनता है। कामायनी कवि के जीवन की पूर्णाहुति है। मानो इसके बाद कवि को कहने के लिए कुछ न रह गया था और उसके जीवन की साधना मानवता के इस पूर्ण से चित्र को हमारे सामने रखने के साथ समाप्त हो गई। 'कामायनी' कवि के जीवन का सर्व संकलन है। उसमे उसका तत्व-ज्ञान, समाज रचना का उसका आधार, उसके जीवन का पौरुष मय उत्कर्ष और कल्याणकारी सौन्दर्य सब व्यक्त हुआ है। इसमें कवि के जीवन के सत्य और जीवन की कला दोनो का संग्रथन सामजस्य और विकास दिखाई पड़ता है"। (श्री रामनाथ सुमन)

'कामायनी' कवि के जीवन की पूर्णाहुति नहीं वरन् प्रसाद ने हिन्दीकाव्य में जिस नूतन यज्ञ का अनुष्ठान किया, 'कामायनी' उसकी भी 'पूर्णाहुति' है।

कामायनी यह हिन्दी के नवयुग का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है और विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमे शाश्वत शाति और अखड आनन्द की आकाक्षा से उद्बुद्ध मानवात्मा की चिरन्तन पुकार है। बुद्धि और विज्ञान के क्रिया व्यापारो से दग्धदाह मानवता का शीतल उपचार है। यह मानव मन की वृत्तियो के क्रमिक विकास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या द्वारा मानवता के चिरकल्याण की विराट साधना है। उसमे शाश्वत मानवता के विकास पथ पर गतिशील मानव मन की जिज्ञासाओ का समाधान है। उसके लिए सार्वभौम कल्याण भावना से सॅजोई हुई नई सभ्यता और नए जीवन दर्शन का सदेश है। इस महाकाव्य मे आधुनिक युग की समस्त चेतनाओ को आत्मसात करते हुए कवि ने भौतिक विलास से दग्ध एकागी, निर्बल और ह्रासोन्मुख आज के जीवन को वहुत व्यापक और बहुमुखी दृष्टि दी है।

'कामायनी' में कथावस्तु का विशेप आग्रह नहीं है। कथावस्तु साकेतिक है और उस पर मानव मन की वृत्तियो का विशद रूपक है। मनु देव-सस्कृति के ध्वंस के पश्चात बचे एकमात्र मानव प्रतिनिधि हैं। वे चेतन मन के भी प्रतिनिधि हैं और मननशील प्राणी हैं। श्रद्धा नारी से उनका सहज ही परिचय

होता है श्रद्धा हृदय की भी प्रतीक है। मनु श्रद्धा सपन्न होकर कर्मशील होता है। बीच बीच में उनका अहकार भाव उभरता है, पर श्रद्धा के साहचर्य से इस अहकार भाव का मार्जन होता रहता है। पर अन्त मे किलात आदि आसुरी प्रवृत्तियो के सहयोग से मनु का यह भाव प्रबल हो उठता है। श्रद्धा की अवहेलना कर वे जीवन पथ पर भटकते हुए सारस्वत प्रदेश मे पहुँचते हैं। यह सारस्वत प्रदेश जीवन के निम्नतर कोश प्राणमय कोश का प्रतीक है। यहाँ उनका सयोग 'इड़ा' से होता है। यह 'बुद्धि' की प्रतीक है जो मनु को भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है। फलतः इड़ा के साहचर्य से मनु के जीवन मे भौतिक सघर्ष का सूत्रपात होता है। उनका अहङ्कार बहुत प्रबल हो उठता है और वे इड़ा अथवा बुद्धि पर बलात अधिकार चाहते हैं। पर उन्हें घोर असफलता मिलती है। रुद्र के कोप भाजन बन वे आहत हो जाते हैं। यह स्थिति रूपक के अनुसार हृदय रहित मन का बुद्धि पर एकाधिकार करने के प्रयत्न मे मानसिक प्रलय है। इस पराजय से मनु को बडी ग्लानि होती है, इतने मे ही श्रद्धा का संयोग पुनः होता है। वह मनु को ग्लानि और क्लेश का परित्याग कर फिर से कर्मशील होने की प्रेरणा देती है। इडा का साक्षात्कार भी श्रद्धा से होता है। श्रद्धा इड़ा के अति बुद्धिवादी रूप की भर्त्सना करती हैं। अन्त मे उसे क्षमा प्रदानकर अपने युग 'मानव' को उसे सोप मनु को साथ लेकर अखंड आनद के साधना पथ पर चल देती है। हिमशिखरो पर चढते हुए मनु और श्रद्धा ऐसे स्थान पर पहुचते हैं जहा त्रिदिक ज्योतिर्पिंड दिखलाई पड़ते हैं। श्रद्धा इनका रहस्य समझाती हुई कहती है कि ये भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक हैं। इनकी भिन्नता ही सासारिक दुखो का मूलकारण है। इनकी समरसता से ही मानव के चिरकल्याण और अखंड आनन्द की उपलब्धि होती है। इतना कहते कहते श्रद्धा की मुस्कान इन तीनो लोकों को मिला देती है। फिर मनु के समस्त क्लेशो का अन्त हो जाता है। उनके सारे द्वद, सारी जिज्ञासाए समाप्त हो जाती हैं। वे श्रद्धा युत होकर पूर्ण आनन्दलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमे मानव-मन के विकास और मुक्ति की भी मनोवैज्ञानिक कथा है।

मानव मन का परम ध्येय है शाश्वत आनन्दोपलब्धि। कामायनी के कवि के अनुसार श्रद्धा और इड़ा के रूप मे हृदय और बुद्धि के समन्वय से इच्छा, ज्ञान, क्रिया का सामरस्य उत्पन्न होना ही मानवमन की आनदोपलब्धि है। कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त यही आनन्दवाद है, तथा मनु अर्थात् मननशक्ति के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की रागात्मक सत्ता या भाव जगत तथा इड़ा अर्थात् व्यवसायित्मका बुद्धि के सघर्ष और समन्वय का विवेचन भी कामायनी का दार्शनिक आधार है। इस प्रकार कथा विकास की दृष्टि से कामायनी विशेष महत्वपूर्ण नही है। उसमे जो कुछ महत्वपूर्ण है वह इसका विराट दार्शनिक रूप है और यह दार्शनिक पक्ष आत्मा और परमात्मा की विवेचना से परे हमारे मानव मन की गुत्थियाँ, उसके रहस्यो, उसकी अन्तर्वृत्तियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। इसीलिए वह हमारे मानव जीवन के बहुत निकट है। यह मानवता के विकास की चरम अवस्था का चित्र है और यहाँ मानवता अपने विराट रूप का दर्शन कर अपने मे ही समाप्त एवं परिपूर्ण है। इसमे विलास प्रधान देव-सस्कृति की जगह आनन्द प्रधान और लोक-कल्याण मयी मानव सस्कृति की स्थापना का चित्र है। इसीलिए कामायनी को सम्पूर्ण मानवता के काव्य का गौरव प्राप्त हुआ है।" (श्री रामनाथ सुमन)

शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी सकलात्मक महाकाव्य न होकर कलात्मक या भावात्मक महा काव्य है। इसीलिए इसमे कथानक का इतिवृत्त, पात्रो का कार्य-व्यापार, उनका चरित्र दर्शन तथा घटनाओ का बाहुल्य नहीं है। उसमे मानवीय मनोव्यापारो की व्यजना, अशरीरी और अमूर्त भावो की अभिव्यक्ति हैं। महाकाव्य के बाह्य अङ्ग से अधिक उसका अन्तरङ्ग भव्य और विराट है। इसीलिए उसमे कला का बड़ा उदात्त और चिन्मय स्वरूप है। जहाँ उसमे काव्य की आत्मा का निर्धूम आलोक है वहीं आधुनिक काव्य शैली के प्रौढ़-तम सौन्दर्य रस से भी पुष्ट है। इस काव्य को लेकर हिन्दी साहित्य पहलीबार विश्व साहित्य के सम्मुख उपस्थित हुआ है क्योकि इस महा काव्य का रूप देशकाल की सीमाओ से परे शाश्वत और चिरन्तन है।

आरम्भ से प्रेम और यौवन का यह मादक कवि प्रकृति की ओर आकृष्ट हुआ है। प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य ही उसकी भावनाओ और मदिर लाल-

प्रसाद और प्रकृति साओ का प्रतीक बना है। उन्होने ही सबसे पहिले जीवन की भौतिकता पर असन्तोष प्रकट करते हुए मानव हृदय की प्रकृति के अतुल ऐश्वर्य को आकर्षित किया है—

नील नभ मे शोभित विस्तार, प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर हृदय परिमित पूरित स्वार्थ, बात जॅचती कुछ नहीं यथार्थ

प्रकृति के प्रति कवि को वस्तुतः तीव्र आकर्षण है। प्रकृति के हास-विलास, राग-विराग, उसकी चेतना मे जैसे वह अपने प्राणो के स्पन्दन को घुला-मिला देता है। कवि की भॉति ही प्रकृति हॅसती है, रोती है, प्रेम की विविध क्रीड़ाओ मे रत रहती है। कभी वह नेत्र-निमीलन करती है, कभी ॲगड़ाई लेती है और कभी नव-वधू सा मान करती है। कभी उसकी सरिताएँ शैलो के गले मे गलबहियॉ डालती हैं और फिर प्रकृति के मानवीय रूप का यह सरस और यौवन के मदिर उल्लास से भरा जीवन—

बीती विभावरी जागरी !
अम्बर पनघट में डुबो रही-
ताराघट उषा नागरी।
खग कुल कुलकुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई,
मधु मुकुल-नवल रस गागरी।
अधरो में राग अमंद पिए,
अलकों में मलयज बंद किए-
तू अब तक सोई है आली !
आँखो मे भरे विहाग री।

प्रकृति के इस मानवीकरण तथा उसमे नारी भाव के आरोपन द्वारा कवि ने अपने अवचेतन मान की शृङ्गार भावना का ही प्रगटीकरण किया है। ऐसे चित्रो मे कवि प्रसाद का छायावादी रूप स्पष्टतः मुखरित हुआ है। प्रसाद के प्रकृति चित्रण मे एक बात और महत्वपूर्ण है। जीवन के प्रति कवि प्रसाद का दृष्टिकोण जिस प्रकार सौन्दर्यमय, भावुक, रोमाटिक और ऐश्वर्य प्रिय

है उसी प्रकार प्रकृति के सौन्दर्यमयी पक्ष को, उसके वैभव और विलास को, उसके मादक और सरस रूप को कवि ने अधिक चित्रित किया है। अपने अप्रस्तुत विधान के लिए भी उन्होंने प्रकृति के रमणीय उपादान ही जुटाए हैं। कामायनी की श्रद्धा के रूप-वर्णन मे प्रकृति का जो वैभव और विलास है, उसके एक-एक सौन्दर्यावयव के छवि अङ्कन मे प्रकृति की जो अतुल रूप राशि है, उससे यह बात सर्वथा स्पष्ट है—

और उस मुख पर वह मुसकान, रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।
उषा की पहली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद,
मदभरी जैसै उठे सलज्ज भोर की तारक द्युति की गोद।

वास्तव मे रूप-सौन्दर्य के चित्रण मे चाहे वह प्रकृति का हो अथवा मनुष्य का, कवि प्रसाद बेजोड़ हैं। 'बीती विभावरी जाग री' गीत में प्रकृति का यह छवि-विलास कितना मादक है, कितना सरस है, उसी प्रकार श्रद्धा का यह रूप कितना मादक, कितना मोहक है?

पर जहाँ प्रसाद के काव्य मे प्रकृति के सुन्दर, ऐश्वर्यमय और प्रेरक चित्र है वहाँ उसके महाविनाशकारी और भयकर रूपो का भी दर्शन है। कामायनी के 'प्रलय वर्णन' से यह स्पष्ट है—

लहरे व्योम चूमने उठती, चपलाएँ असंख्य नचती।
गरल जलद की खड़ी झड़ी मे, बूँदे निज संसृति रचती।
चपलाएँ उस जलधि विश्व मे स्वयं चमत्कृत होती थीं।
ज्यो विराट बाड़व ज्वालाएँ खण्ड-खण्ड हो रोती थी॥

प्रकृति के माध्यम से प्रसादजी की रहस्य-भावना भी मुखरित हुई है। प्रकृति की विराट सत्ता मे किसी अनन्तशक्ति का उन्हे आभास होता है। उस शक्ति की विराट और रहस्यमयी सत्ता से उनका हृदय उत्सुक हो पूछ बैठता है—

महानील इस परम व्योम मे अन्तरिक्ष मे ज्योतिर्मान,
गृह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते है संधान?
छिप जाते है और निकलते आकर्षण मे खिचे हुए,

तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस स खिंचे हुए,
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते ऐसा वह अस्तित्व कहाँ ?

प्रसादजी की यह रहस्य-भावना प्रकृति मे प्रियतम का प्रतिबिम्ब भी देखती है। उसे अनुभव होता है—

छाया नट छवि परदे-परदे मे सम्मोहन बीन बजाता।
संध्या कुहु किन अंचल मे कौतुक अपना कर जाता

प्रसाद के काव्य के भाव लोक की भाँति ही उसकी कला बड़ी उदात्त, बड़ी विराट है। जीवन के सरस, मादक और सौन्दर्यमय पहलू को प्यार करने वाला उनका व्यक्तित्व उनकी कला मे सहस्रमुखी होकर फूटा है। इसीलिए प्रसाद की कला बड़ी ऐश्वर्यमयी, सरस और मादक है। शुष्कता और सादगी से बहुत दूर वह आपादमस्तक, राजसी वैभव मे डूबी हुई है। वह वैभव और विलास के बीच स्वच्छ नर्तन तरने वाली यौवन क्रीड़ा की भाँति ही गाढ़ी प्रखर, चटकीली और उष्णता की गन्ध लिए हुए है। उनमे कहीं खिन्नता, दीनता और हीनभाव नहीं हैं। वह सर्वत्र बड़ी गरिमाशालिनी, भावमयी, उत्तेजनामयी, आत्मविस्मृत कारिणी, सगीतमयी, वृत्ति स्फुरण-कारिणी, आनन्द बरसाने वाली और शान्तिमयी है। कवि की अन्तर्ग्राहिणी भावुकता और रोमाटिक दृष्टि ने कला के इस मौलिक और अभिनव रूप का निर्माण किया है।

प्रसादजी की कला

इस कला की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी चित्रमयता है। प्रसादजी की कल्पना, उनकी अन्वीक्षण शक्ति इतनी सजग और प्रखर है कि वे मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का शब्दो की साकेतिक रेखाओं से चित्र खड़ा कर देते हैं। 'आशा' सर्ग मे भाव-चित्रो के सहारे 'आशा' वृत्ति की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है—

यहक्या मधुर स्वप्नसी झिलमिल, सदय हृदय मे अधिक अधीर
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा बनकर प्राण समीर।

यह कितनी स्पृहणीय बन गई मधुर जागरण सी छविमान ।
स्मिति की लहरों सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान ॥

चित्रमयता के साथ-साथ लाक्षणिकता का वैभव भी इस कला में कम नहीं है । 'कामायनी' का सम्पूर्ण लज्जा सर्ग भाषा की लाक्षणिकता का परिचायक है । इन पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है—

कौन हो तुम विश्वमाया कुहुक सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार—
हृदय जिसकी कांत छाया में लिए विश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश

प्रसादजी की यह कला अलंकारों की अतुल सम्पत्ति की भी धारिणी है । उसका हर अङ्ग रूपकों के रूप सौन्दर्य से रंजित है, उत्प्रेक्षाओं की सुषमा से मण्डित है, उपमाओं की मदिर मादकता से सुरक्षित है । उनके यह अलंकार सर्वथा निराली चमक-दमक लिए हुए हैं । नीचे की पंक्तियों में उपमा कितनी मौलिक कितनी अभिनव है—

आज अमरता का जीवन हूँ मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह-सर्ग के प्रथम अङ्क का अधम पात्रमय सा विष्कम्भ

और फिर यह रूपक—

सिंधु सेज पर धरा बधू अब तनिक संकुचित बैठी सी ।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी ॥

छन्दों की लय और गति के साथ प्रसाद की कला का स्वच्छन्द विलास अपूर्व है । उनके काव्य के तृषित हृदय की तृप्ति के लिए, जैसे इन छन्दों की नीलम प्याली में कला का अङ्गूरी आसव ढला हो । वास्तव में प्रसादजी की छन्द योजना बड़ी सरस, गतिवान और पूर्ण है । छन्दों के विधान में उन्होंने अपना पाण्डित्य प्रगट नहीं किया, शास्त्रीय शुद्धता-अशुद्धता पर विचार नहीं किया वरन् उसमें काव्य सौन्दर्य की मान्यतामात्र देखी है । उस मान्यता के लिए स्वर संगीत को उन्होंने आवश्यक तत्व समझा है । उनके स्वर संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं जैसी पन्त में है । इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लयगति है । इसका

अर्थ है अक्षरो के स्वरो का एक दूसरे मे द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द मे द्रवित स्वरो का प्रवाह है जिससे एक सगीत स्वयं प्रवाहित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होने छन्दो का चयन किया है" (डाक्टर सत्येन्द्र)। इस प्रकार प्रसादजो की इस छन्द योजना मे एक विशेष सगीतमय विछलन है। वहाँ स्वर एक-एक चरण से दूसरे चरण मे अपनी लय को तिरोहित कर आगे की ओर बड़ी कोमल गति से बढते हैं।

प्रसाद जी ने छद कितने ही प्रकार के रचे हैं। तुकात, अतुकात, गीत, सानेट, पयार के सफल प्रयोग तथा अनेक नवीन छदो के निर्माण से अपने काव्य को सजाया है। बहुत से छदो के समिश्रण से उन्होने भावो की गति के साथ सामजस्य बिठाया है। उनके छद जैसा कि डा० नगेन्द्र का कथन है—"वीर भावों के साथ अकडकर चलते हैं, विकास भावनाओं के साथ इगित-पूर्ण नृत्य करते हैं और कथा वेदना के साथ कराहते हैं"।

प्रसाद जी भाव और कला दोनो क्षेत्रो मे सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं। जिस सौन्दर्य का उन्होने दर्शन किया है वह बड़ा प्रखर, स्निग्ध, सरस और मादक है। उनकी कल्पना बड़ी रगीन, सस्कृत और मधुर है। इसी के अनुरूप उनकी भाषा है। वह उसके अमूर्त्त और सूक्ष्म अन्तः सौन्दर्य की परिपूर्ण वाणी है। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता, साकेतिक कला, चित्रमयता, ध्वन्यात्मकता, सरस मादकता, सगीतात्मकता से उसके स्नायु पुष्ट हैं। उसका रूप कवि की काव्य कला की भाति गहन सौन्दर्य और ऐश्वर्य की गरिमा लिए हुए है। भावानुवर्तनी घनिष्टता के कारण प्रसादजी की भाषा एक ऊचे स्तर पर सतरण करती है। उसमे बालको की सी चपलता नही वरन् एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाति वह बड़ी ही धीर और समगति से झूमती हुई चलती है।

प्रसाद जी के गीत

शैली की दृष्टि से प्रसादजी की कला गीत तत्व प्रधान है। अपने मन के राग विराग, हास्य रुदन, कथावेदना, हासविलास की कहानी कहने वाले कवि के लिए गीतशैली से बढकर अभिव्यक्ति का कोई माध्यम नहीं क्योकि सगीत की माधुरी मे लिपटे हुए गेय पदो के सरस शब्दो मे आतरिक अनुभूतियों और भावो की व्यजना अधिक स्पष्ट और अधिक मुखर होती ह। जब

भावनाओ का प्रबल वेग कवि के हृदय मे उमड़ता है तब कवि का हृदय सहज ही गा उठता है। गीतो की निर्भरणी सहज रूप से उसके हृदय मे फूट पड़ती है। कवि की आत्मानुभूतिया सगीत के आवरण से लिपटे गेय पदो का रूप धारण कर लेती हैं। प्रसाद जी के हृदय की भाव धारा भी गीतो की निर्भरणी मे बही है। यह गीत ही उनके काव्य की सबसे बड़ी विभूति है। मानवीय हृदय के अमूर्त्त भाव सौन्दर्य से अनुप्राणित, सगीत और मधुर कल्पना से झकृत, श्रुतिमधुर शब्द योजना तथा सुकोमल पदावली से सरस गीतो की सर्जना कर हिन्दी गीतकाव्य को उन्होने नया रूप दिया है। उनके गीतो की भाषा मे सगीत की जो मदिर रागिनी, उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है वह अन्यत्र कहा? कल्पना, अनुभूति और भावना का ऐसा अपूर्व सामजस्य कहा? श्री केशरीकुमार के शब्दो मे "प्रसाद के गीतो में चित्रमयता और लाक्षणि-कता, कल्पना, अनुभूति, वैज्ञानिक सूक्ष्मता और भावना की सकुमारता काव्य और सगति और सभी एक घने आलिगन मे एकाकार हैं। इसलिए प्रसाद के गीतो मे हम एक अद्‍भुत आकर्षण की सृष्टि पाते हैं। पत मे सगीत की सरसता है, किन्तु कल्पना की वह उदात्तता और एक ताता नही जो हम प्रसाद के गीतो मे पाते हैं और जिसके कारण अँग्रेजी कवि शैली इतना लोकप्रिय हो गया। महादेवी वर्मा मे अनुभूति की गहनता तो है, भावनाओ का उन्मेष तो है किन्तु वह प्राजल व्यजना नहीं जो प्रसाद के गीतो का एक विशिष्ट आकर्षण है। 'बच्चन' की भाषा और अभिव्यजना तो बड़ी मोहक है किन्तु उसकी अनुभूतियो मे हृदय के उस 'जारज' रस का अभाव है जो गीतो को अमरता और स्थायित्व देता।"

प्रसाद के इन गीतो मे राष्ट्रप्रेम की कोमल झकार है, यौवन का मदिर सगीत है, सौन्दर्य की आकुल पिपासा है, अभावो की वेदना है, स्मृतियो की स्वरलहरो है और आखेट के उद्‍गार हैं। जीवन सौन्दर्य की विविध भ्र भगिमाओ की भाव राशि पर ये गीत खड़े हैं। सौन्दर्य के प्रति जो कवि का चिर ममत्व है वह शतशत रूपो मे कभी उसके अथाह की वेदना बनकर कभी स्मृति का रूप लेकर, कभी यौवन का उल्लास बनकर फूटा है—जैसे उसके आकुल गात सौन्दर्य के रहस्य से परिचित होने के लिए छटपटा रहे हो—

तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक छिपकर चलते हो क्यो ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बतादो मौन बने रहते क्यो ?

प्रसाद के सौन्दर्य गीतो की यह मसृणता, स्निग्धता उनके राष्ट्र गीतो मे समाई हुई है। 'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया द्वारा, भारत भूमि की अभिनंदना मे गाया हुआ गीत कितना सरस कितना स्पृहणीय है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहां पहुँच अनजान क्षितज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरु सिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा।

हिन्दी ससार मे इसकी टक्कर का दूसरा गीत आज तक नहीं रचा गया। यह प्रसाद के भावलोक और उनके कलाजगत का थोड़ी सी रेखाओ मे छाया चित्र है। इस चित्र का प्रथम दर्शन ही हमे यह स्पष्ट अनुभव कराता है कि यह कवि जनसाधारण का नही अभिजात्य वर्ग का कवि है। उनका जीवन, उनका व्यक्तित्व, उनका काव्य, उनकी कला सभी जीवन के सौन्दर्यमय पहलू से प्यार करते हैं। इसीलिए उसके काव्य मे जनसामान्य के दैन्य, निराशा और प्रतारणा के कटु चित्र नही हैं। जीवन और जगत के इस सत्य और यथार्थ रूप को उसके काव्य ने स्पर्श ही नहीं किया। उसने तो इन सबसे दूर रगीन कल्पना के स्वप्नलोक मे अपने मन के राग विराग, हास रुदन, विलास और अवसाद के गीत गाए हैं। और इन सबके पीछे—चाहे वह दुख के गीत हो अथवा सुख के—अलकृत वैभव की पार्श्वभूमि है। उनकी करुणा भी राजसिक रोदन से पूर्ण है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दो मे "उनका साहित्य अभिजात्य की नींव पर खड़ा है। उसमे वैभव का चित्रण है, अतीत के सपने हैं, उन सपनो के छूटने का दुख है, और फिर उस पीड़ा को ऐश्वर्यमय रूप रगो और अभिजात्य पूर्ण प्रतीको द्वारा प्रगट किया गया है।

इस तरह वह रवीन्द्रनाथ के निकट आते हैं। शरतचन्द्र या प्रेमचन्द की जनसवेदना और मध्यवर्गीय दृष्टि से वह बहुत दूर पड़ते हैं। जहाँ उन्होंने जनजीवन का चित्रण उपस्थित किया है वहा भी वह दार्शनिक और कवि की भाति तटस्थ रहे हैं। उनका विद्रोह और उनका सुधारवाद भी अमीरी की एक भगिमा है। × ×× फिर भी उनका काव्य मानव की मगल कामना से ओत-प्रोत, कला और कल्पना के सूक्ष्मतम तत्वो से पुष्ट नए युग की सबसे सुन्दर सम्पत्ति है। परिणाम मे वह थोड़ा सही, उसमे कुछ अस्पष्टता और रहस्यवादिता सही, परन्तु उस जैसी सौन्दर्य भगिमा, संगीत, ऐश्वर्य और कल्पना का मादक सपना कहा मिलेगा ?"

काव्य के बाद प्रसाद जी की दूसरी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति उनके नाटक हैं। इस क्षेत्र मे भी प्रसाद जी हिन्दी के युग प्रवर्त्तक कलाकार हैं। उन्होने

प्रसाद जी के नाटक

पहली बार हिन्दी नाट्यसाहित्य को साहित्यिक और कलात्मक रूप देकर उसकी एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया है। भारतेन्दु के बाद जब हिन्दी नाट्य-साहित्य, मौलिक नाटको के अभाव मे दीन-हीन था, प्रसाद जी ने अपने मौलिक नाटको की देन से उसे सम्पन्न बनाया। इन नाटको मे भारतीय सास्कृतिक चेतना की जो ऊँची उठान है, उसके स्वर्णिम इतिहास का जो प्रखर आलोक है, काव्य और कल्पना का जो विराट सौन्दर्य है, दर्शन और चितन की जो गहराई है, वह प्रसाद जी से पहले और बाद के नाट्य साहित्य में दृष्टिगोचर ही नहीं होती।

प्रसाद के इन नाटको का मूल आधार उनका देश प्रेम है। अपने काव्य में जहा वे बहुत अधिक वैयक्तिक और रोमाटिक है, वहा उनके नाटक भारत के सास्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्र के नवनिर्माण की दिव्य भावनाओ से संजोए हुए हैं। उन्होने भूत के भव्य आदर्शों से वर्त्तमान का सस्कार किया और भविष्य का सुखद सदेश दिया। उन्होने देखा कि विदेशी शासन से देश का जीवन आक्रात है, देश की सस्कृति मलिन और मूर्च्छित है। वर्त्तमान ही नहीं हमारे अतीत का गौरव भी विदेशी छाया से धूमिल बना रहा। वर्त्तमान की इस विकलाग दशा को सुधारने और सवारने के लिए उन्होने भारत के

पुरातन सास्कृतिक गौरव को अपने नाटको की आधार भूमि बनाया। क्योंकि वर्त्तमान को प्राणवान बनाने लिए उसके भव्य अतीत से बढ़कर अन्य कोई सम्बल ही नहीं। विशाख की भूमिका मे प्रसादजी ने स्वय स्वीकार किया है मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश में से उन प्रकाड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्हें कि हमारी वर्त्तमान स्थिति बनाने का बहुत कुछ श्रेय है।"

इसलिए प्रसाद ने भारतीय सस्कृति के बिखरे अवयवो को जोड़कर ऐसे कथानको का निर्माण किया है जो हमारे सामने देश के सास्कृतिक गौरव का भव्यतम रूप रख सके हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात से लेकर हर्ष के समय तक का युग हमारा अतीत का स्वर्णकाल है। बीच मे बौद्धकाल, गुप्तकाल, मौर्यकाल ऐसे हैं जिनमे भारतीय गोरव चरम रूप को प्राप्त हुआ है। प्रसाद के सभी कथानक इन्हीं कालो से सबधित हैं। उनमे हमारे वर्त्तमान जीवन की समस्याएँ प्रतिबिम्बित हैं। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' नाटको मे राष्ट्रीयता और देश प्रेम का भव्य आदर्श है। प्रबुद्ध राष्ट्रीयता की गूज लिए चाणक्य के इन शब्दो में हमारी आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर तीखे व्यग हैं "मानव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा" इसी प्रकार "आक्रमणकारी वौद्ध और ब्राह्मणो मे भेद न करेंगे" मे हमारी आज की हिन्दू मुस्लिम एकता का सदेश है। "चरित्र चित्रण पर भी प्रसाद के देशप्रेम की गहनछाप है। देवकी, देवसेना, अलका, मालविका, वासवी नारियो के ही नहीं उन भारत देवियो के चित्र है जिनके कठोर बलिदान भी परिवार, समाज, और देश की सुखशान्ति के लिए फूल से कोमल हैं। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिहरण, स्कन्गुप्त भारत की वे दिव्य विभूतिया हैं जिन्होने सघर्ष के काल मे देश की बागडोर अपने हाथो में ली और अपने देश के गौरव की छाप विदेशियो के हृदय पर अकित की।

देश प्रेम की भावना वस्तुतः प्रसाद में इतनी तीव्र है कि इसको प्रगट करने में उन्होने कथावस्तु के स्वाभाविक विकास का भी ध्यान नहीं रखा। विदेशियो द्वारा भारत गौरव के गुणगान के लिए उन्होने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं, जो नाटको के वस्तुविन्यास को शिथिल और अस्वाभाविक बनाते हैं।

प्रसाद ने नाटको में भारतीय सस्कृति का जो भव्य आदर्श प्रस्तुत किया है वह केवल कल्पना प्रसूत नहीं वरन् वास्तविकता के ठोस धरातल पर स्थित है, यह प्रमाणित करने के लिये उन्होने इतिहास का बहुत अधिक सहारा लिया है। उनके सभी नाटक इसीलिए ठोस ऐतिहासिक रस से अनुप्राणित हैं। उनकी ऐतिहासिकता ने कहीं-कही नाटको के स्वाभाविक विकास मे व्याधात उत्पन्न किया है। इतिहास के भार से दबी उनकी कल्पना स्वतन्त्रगति से नहीं उड़ सकी है। समकालीन वातावरण उपस्थित करने के लिए उन्हें निरर्थक दृश्यो की योजना करनी पड़ी है।

प्रसाद के नाटको की सबसे प्रमुख विशेषता उनका काव्यत्व है। उनके कवि व्यक्तित्व का रोमाटिक दृष्टिकोण ही उनके नाटको की सास्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है। उन्होने अपने कथानक वर्तमान की विभीषिका से न चुनकर पुरातन के स्वर्ण लोक से लिए हैं। पात्र भी प्रसाद के भावुक अधिक हैं और कविता मे बातचीत करते हैं। नाटक की घटनाएँ रोमास और रस से परिपुष्ट हैं। इन नाटको की कोमल गति उनके काव्य साहित्य की अमर सम्पदा है। नगेन्द्रजी ने उचित ही कहा है—"वस्तुचयन, पात्रो के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकन और सारभूत प्रभाव—सभी मे कविता का रगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तरखण्डो को एकत्रित कर उनमें प्राणो की कविता का रस भर दिया है।"

• प्रसाद के नाटको में उनकी दार्शनिकता और चितन की गहरी छाप है। नियति के निष्ठुर व्यग औरजीवन की करुणा ने जिस प्रकार प्रसाद को दार्शनिक बना दिया है, वैसे ही प्रसादजी के पात्र भी हैं। 'अजातशत्रु' का बिम्बसार इसका प्रतीक है। पर यह दार्शनिकता नाटक पर बाह्यरूप से आरोपित है जो नाटककार के उद्देश्य, प्रकृति और विषय से जनित है। प्रसाद के नियतिबाद ने पात्रो के व्यक्तित्व को कभी-कभी दुहरा रूप दे दिया है, एक उनका निजी दूसरा नाटक द्वारा सृजित कृत्रिम। पर ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है, और न प्रसाद के पात्र दार्शनिक प्रारम्भ से ही होते हैं। नियति के खिलबाड और आपत्ति के बीच ही वे दार्शनिको की सी बात करते हैं।

प्रसाद के सभी नाटक चरित्र प्रधान हैं। चरित्र प्रधान इसलिए कि उनके

पात्रो का अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व ही नाटको की घटनाओ तथा परिस्थितियो का निर्माण करते हैं। नद के प्रति चाणक्य की प्रतिशोध भावना तथा सुवासिनी के प्रणय द्वन्द को लेकर चन्द्रगुप्त नाटक की अनेक घटनाओ का निर्माण होता है। इस प्रकार इन नाटको के सभी पात्र अपना स्वतंत्र एव प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं। नियति से प्रभावित होते हुए भी वे उसके खिलौनेमात्र नही है, वरन् कच्चे अर्थो मे कर्मवीर हैं। कथा सूत्र का विकास ही नहीं पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व से उनके चरित्र का विकास भी होता है। भटार्क, सर्वनाग, आम्भीक, शातिदेव, जनमेजय अपने हृदय की सत और असत् प्रवृत्तियो से अन्तर्द्वन्द करते हुए गतिशील होते हैं और सत को ग्रहण करते हैं। सत और असत प्रवृत्तियो का ही नहीं सत प्रवृत्तियो का पारस्परिक द्वद भी पात्रो के चरित्र विकास का कारण होता है। चाणक्य और देवसेना दोनो ही के चरित्रो मे लोकहित और प्रणय के बीच द्वद की सृष्टि हुई है। बहिर्द्वन्द्व के रूप मे घटनाओं का घात प्रतिघात पात्रो के चरित्र चित्रण का कारण होता है। प्रसाद के विरुद्धक, शातभिक्षुक, सुवासिनी, विशाख पात्र ऐसे हैं जो घटनाओ के घातप्रतिघात के बीच जीवन के आदर्शों की ओर कदम बढाते हैं।

प्रसाद के प्रायः सभी पात्र चरित्र की विविधता लिए हुए नहीं है। उनमें सर्वत्र एकरूपता है। वे ऐसी जटिल प्रकृति के पुरुष नहीं होते जिसमें प्रेम, दया, क्रोध, घृणा सभी कुछ होता है। जो हॅसता है, रोता है, गाता है। इस प्रकार प्रसाद ने चरित्र-चित्रण मे मानव चरित्र के केवल एक ही अङ्ग को स्पर्श किया है। सिहरण केवल वीर है युद्ध करना जानता है, कभी-कभी प्रेम किया करता है वरन्, इससे आगे उसके चरित्र की अन्य कोई भगिमा नही है। एकागी चरित्र चित्रण के कारण चरित्र विकास मे भी कुरूपता बनी रहती है। जो पात्र प्रारम्भ मे जैसे होते हैं, मध्य और अन्त मे प्रायः वैसे ही बने रहते हैं। गुण एवं वृत्ति के साम्य के कारण उनके बहुत से भिन्न-भिन्न नाटको के पात्र एक ही कोटि के प्रतीत होते हैं। गौतम, दाड्यायन, वेद व्यास के चरित्रो से यह बात स्पष्ट है।

चरित्र-चित्रण में एकरूपता होने पर भी प्रसाद के नाटकीय पात्रो में

विविधता है। उसमे जीवन के रहस्यो को सुलझाने वाले तत्ववेत्ता, आचार्य और दार्शनिक हैं, जीवन सग्राम मे संघर्ष रत साहसिक सैनिक हैं, प्रणय मे अनुरक्त युवक हैं, राजनीति के दावपेच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ हैं। उनमें कुकर्मी नर पिशाच और त्याग, दया, क्षमा की विभूतियाँ हैं। सच्ची प्रेमिकाएं है, स्नेहमयी माताए हैं, महत्वाकाक्षिणी महिलाएं हैं, और अपने निस्पृह बलिदान से नाटक में करुणा का स्रोत बहाने वाली फूल सी सकुमारियां हैं।

पुरुष पात्रो की अपेक्षा प्रसाद को नारी पात्रो के चरित्र निर्माण मे अधिक सफलता मिलती है। उनके हृदय की कोमल और कुटिल इर भंगिमा को उन्होने उभारा है। वे एक ओर जहाँ अपनी करुणा, त्याग, उत्सर्ग, प्रेम, और आत्मसमर्पण से स्वर्ग का सृजन करती हैं वहीं उनके हृदय का स्वार्थ, क्रूरता और विलासता की आकाक्षा गृह, समाज, और देश के विनाश का कारण बनती है। फलतः देवसेना, मल्लिका, राज्यश्री, देवकी आदि अपने आदर्श नारी पात्रो के चित्रण में प्रसाद ने संयम, त्याग और प्रेम का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह बड़ा भव्य है। पुरुष पात्र उसके सामने टिकते ही नहीं।

समग्र रूप से पात्रो के चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद की छाप है। नाटक में, पात्रो के चरित्र मे तथा परिस्थितियो के बाह्य जगत् मे सत् और और असत् का जो द्वन्द्व चलता है, वह अन्त में असत् पर सत् की विजय के रूप में परिणित होता है और इस प्रकार भारतीय आदर्शो की प्रतिष्ठापना होती है। नाटककार घटनाओ और पात्रो के वास्तविक रूप को ही सामने रख चुप नहीं रहता वरन् इससे भी आगे करुणा, उत्सर्ग, त्याग और बलिदान का सदेश देता है। वह अपने आदर्शों से इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग बनाने की कल्पना करता है। इस प्रकार प्रसाद अपने नाटको में आदर्शवादी है।

चरित्र-चित्रण की ही भाति प्रसाद का कथोपकथन बड़ा चुस्त व्यवहारा-नुकूल भावव्यंजक और संघर्षमय है। पात्रानुकूल उसमे विविधता है। उनमे पात्रो के मनोविकारो का बड़ा सफल चित्रण है। वे एक ओर पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं वहीं कार्य व्यापार को प्रसारित करने में भी सहायक

होते हैं। कथोपकथन की भाषा बड़ी गम्भीर सयत और कवित्वमयी है। कहीं-कहीं वह दुरूह और अस्पष्ट होगई है। कथोपकथनो मे प्रसाद जी ने पद्यो का प्रयोग किया है। गद्य में बात करते-करते पात्र पद्य मे बोलने लगते हैं। प्रारम्भिक नाटको मे यह प्रवृति अधिक है पर पद्य का प्रयोग साधारण बार्तालाप अथवा घटना वर्णन का माध्यम नहीं बना, वह सूक्ति रूप ही अधिक है।

समष्टि रूप से प्रसाद के नाटको पर उनके जीवन की स्पष्ट छाप है। दुख के हलाहल को पीकर जैसे प्रसाद ने अखड आनन्द की साधना की है वैसे ही प्रसाद के नाटक करुणा की गहरी टीस को अपने अन्तर मे छिपाए सुखात बने हैं। प्रसाद के जीवन की भाँति वे सुख-दुख की धूप-छाँह से खेले हैं। सुख-दुख सघर्ष और समन्वय को लेकर वे चले हैं। इस समन्वय के कारण उनके नाटक न पूर्णतः सुखात है और न दुखात, वे प्रसादात है। सुख दुख मे इतने गुंथे हुए हैं कि उन्हे अलग किया ही नही जा सकता। इसीलिए नाटक का सुखात भी दुख की झलक लिए आता है।

अपने नाटको में प्रसाद जी ने पूर्व और पश्चिम का समन्वय किया है। सस्कृत नाटको की भाँति प्रसाद के नाटकीय कथानक ऐतिहासिक हैं। नायक भी लोक प्रसिद्ध और धीरोदात्त है। खलनायको की अवतारणा भी नायक के आदर्श चरित्र को अधिक उत्कर्षमय दिखाने के लिए की गई है। पात्रो की सख्या भी अधिक है। नाटक का रूप भी यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी है। सभी नाटक सुख और शाति, त्याग और बलिदान की आदर्श भावनाओ का सन्देश देते हैं। नाटक की परिणति भी दुखात न होकर सुखांत है। पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रभावित होकर उन्होने नंदी, सूत्रधार, विष्कम्भक आदि की अवतारणा नहीं की है। कथानक में नाटकीय सधियो का ध्यान नहीं रखा। हत्या, युद्ध, राजविद्रोह के दृश्य जो संस्कृत नाट्य साहित्य में रगमच पर दिखलाना वर्जित है, प्रसादजी ने निःसकोच ऐसे दृश्यो का विधान किया है। इस प्रकार प्रसादजी के नाटको में प्राचीन और नवीन दोनों ही है। एक शब्द मे उनके नाटको का बाह्य शरीर पश्चिमीय है पर आत्मा संस्कृत नाट्य साहित्य के अनुकुल है।

प्रसाद के नाटको के दोष उनके गुणो से अधिक स्पष्ट हैं। सबसे प्रमुख दोष तो यह है कि नाटक रगमञ्च के अनुकूल नहीं है। पात्रो की भीड़भाड़, कथानक की जटिलता, युद्ध आक्रमण आदि दृश्यों की भरमार, नाटक की लम्बाई, भाषा की अव्यावहारिकता, ये सब ऐसे तत्व हैं जो नाटको को अभिनय योग्य नहीं रहने देते। दूसरा प्रमुख दोष इन नाटको के कार्य सकलन में एकता का अभाव है। अनेक उपकथानको के जोड़ने से कथानक इतना जटिल हो गया है कि नाटककार उसे सँभाल ही नहीं पाता, फलतः कथासूत्र विशृंखलित हो जाता है। इससे नाटक के रसप्रवाह, पात्रों के चरित्र विकास और मुख्य कथानक पर बडा बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रसाद के चद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु मे यह दोष बहुत है। तीसरा प्रमुख दोष प्रसाद के नाटको का यह है कि वस्तु विधान मे भद्दी सींवने लगी हुई हैं। पात्रो और घटनाओ की बहुलता इतनी अधिक हो जाती है कि उनकी गतिविधि ही नाटककार से नहीं सॅभल पाती। फलतः कार्य सिद्धि के लिए नाटककार के वाञ्छित पात्र जहाँ भूमि फोड़कर अकस्मात आ उपस्थित होते हैं, वही जिन पात्रो को नाटककार अपने मार्ग में आगे बाधक समझता है उन्हे बलात आत्म-हत्या करनी पड़ती है।

अपने काव्य मे प्रसाद जी जहा स्वच्छदतावादी हैं, नाटको में आदर्शवादी हैं, वहाँ वे उपन्यासों में यथार्थवादी है। प्रसाद ने अधिक उपन्यास नही रचे।

प्रसादजी के उपन्यास

ककाल, तितली और अधूरी इरावती बस इतना ही उनका उपन्यास साहित्य है। पर प्रसाद को उपन्यास साहित्य के क्षेत्र मे अमर बनाने के लिए इतना ही काफी है।

'ककाल' हमारे समाज के खोखलेपन की कहानी है। इस समाज का असली रूप कितना कुत्सित है, कितना गर्हित है, उसके आदर्श कितने थोथे हैं, उसके संस्कार कितने दुर्बल और कुण्ठाग्रस्त हैं, 'ककाल' के उपन्यासकार ने बिना कोई आवरण डाले उसका दिग्दर्शन कराया है। आज जिस सामाजिक जीवन मे हम धर्म, सत्य, त्याग, प्रेम और पवित्रता की बाते करते हैं वे अपनी असलियत मे कितने बड़े भ्रम और झूठ को छिपाए हुए हैं, इस

आधार को लेकर ककाल मे समाज की सभ्यता और शिष्टता पर बड़े तीखे व्यंग हैं। वे व्यग मीठी चुटकी मात्र नही हैं हमारे सामाजिक जीवन की बिडम्बनाओ पर गू जते हुए अट्टहास हैं। ककाल के सभी पात्रो मे यह व्यग बड़ी तीव्रता से उभरा है। कर्त्तव्य के लिए प्रेरित पर समाज के भय से अवसर आने पर विश्वासघात करने वाले मगल जैसे युवक, धन और विलास की लिप्सा मे रत समाज के प्रतिष्ठित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रीचद जैसे व्यवसायी जन, किशोरी के पीछे पागल देव निरजन जैसे धर्म गुरु, और फिर समाज की व्यवस्था के पाटो मे पिसा हुआ तारा, लतिका, घटी का जीवन सभी समाज के खोखलेपन को प्रकट करते हैं। सभी पात्र हमी आप मे से लिए गए हैं इसीलिए ऐसे समाज से खुला विद्रोह करने वाला विजय जिसे समाज पनपने नहीं देता और अन्त में जो इस सघर्ष मे टूट जाता है, बराबर असफल होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, पर कर्त्तव्य भ्रष्ट लेकिन समाज के साथ कदम मिलाकर चलने वाला मगल अन्त मे समाज के सभ्रान्त नेता का रूप ग्रहण करता है। विजय का चरित्र, समाज की सच्ची शक्ति उसकी प्रगतिशीलता का प्रतीक है। मगल समाज की जडता और परपराप्रियता का प्रतिनिधि है। इन दोनो का द्वद्व हिन्दू समाज की जड़ता और प्रगतिशीलता का द्वंद्व है। जिसमे मगल जैसे दुर्बल, समाज भीरु और जर्जर पात्र विजयी बनते हैं, और स्वस्थ चेतना तथा गतिशीलता का प्रतीक विजय पराजित होता है। हमारे आज के सामाजिक जीवन की बिडम्बना पर उपन्यासकार का यही सबसे बड़ा व्यग है।

'ककाल' में जहाॅ हमारे सामाजिक जीवन के खोखलेपन की कहानी है, तितली में ग्रामीण-जीवन की दुर्बलताओ के चित्र हैं। प्रेमचन्द की 'प्रेमाश्रम' की भाॅति गाॅवो को स्वर्ग बनाने का आदर्श रखा गया है। इसीलिए यह उपन्यास 'ककाल' की भाॅति नितान्त यथार्थवादी न होकर प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाॅति 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' है। 'ककाल' मे जहाॅ विद्रोह और विध्वंश अधिक है, तितली में निर्माण और सहयोग के स्वर हैं। 'इरावती' में प्रसाद पुनः इतिहास की ओर मुड़े हैं। 'शुगवश' से सम्बन्धित कथानक को चुनकर उन्होने शैव सिद्धान्तों के आनन्दवाद को आगे बढ़ाया है।

औपन्यासिक कला की दृष्टि से प्रसाद का यह साहित्य बड़ा तेजस्वी है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, वातावरण, उद्देश्य, कथोपकथन सभी दृष्टियो से वे पूर्ण हैं। अपने उपन्यासो द्वारा उन्होने हमारे सामाजिक जीवन की वृहद् चित्रपटी दी है। उसमे हमारे मध्यवर्गीय समाज और ग्रामीण जीवन के नित-प्रति के चित्र हैं। हिन्दू गृहस्थ, साधु-सन्त, विद्यार्थी वर्ग, सेवा-समिति के सदस्य, वेश्यालय, गिर्जाघर, आर्य समाज और सनातन धर्म के प्लेटफार्म, विधवाएँ, कुलटाएँ और फिर समाज की पवित्रता की तह मे चलने वाला अपवित्र कार्य-व्यापार, गाँवो के भोले किसान, पुलिस के हथकडे, नील की खेती और किसानो का शोषण, सामन्ती व्यवस्था के प्रतीक जमीदार, अकाल और भुखमरी के दृश्य, लोगो की थोथी धर्मभीरुता, सभी कुछ बड़ा प्राणवान और सजीव होकर इन उपन्यासो मे समाया हुआ है। कथानक के सगठन की दृष्टि से 'तितली' की कला 'ककाल' की अपेक्षा कही अधिक सुस्पष्ट है। ककाल मे कई घटनाएँ हैं जो एक कथासूत्र मे सुव्यवस्थित रूप से नही पिरोई जा सकी हैं। यहाँ घटनाओ की प्रधानता है, कथावस्तु की नही। तितली मे कथा का प्राधान्य है। यह कहा जा सकता है कि ककाल का कथानक घटनाओ से बना है, तितली की घटनाएँ कथानक से बनी हैं। वास्तव मे 'तितली' हमारे सामने बहुत उच्च श्रेणी की निर्माण-कला प्रस्तुत करती है और वह 'रवीन्द्र' की कला के बहुत निकट है।

'प्रसादजी' की 'ग्राम' कहानी हिन्दी की पहली मौलिक कहानी है। इसीलिए प्रसादजी हिन्दी के प्रथम मौलिक कहानीकार हैं। कविता, उपन्यास, नाटक की भाँति कहानीकला के क्षेत्र मे भी प्रसादजी ने हिन्दी साहित्य को अनेक नवीन दिशाएँ दी हैं। प्रेमचन्द की भाँति उनका कथा साहित्य विशद् नहीं है। सख्या की दृष्टि से उनकी कहानियाँ सब कुल मिलाकर सत्तर होगीं, पर अपने अन्य साहित्य की भाँति रोमास या स्वच्छदता वाद की धारा को अग्रसर करती हुई इन कहानियो ने अपने समसामयिक कथा साहित्य से अलग एक नई परम्परा डाली है, एक भिन्न क्षेत्र बनाया है।

प्रसादजी की कहानी-कला

काव्य और नाटक की परिष्कृत भावनाओ से प्रसादजी की कहानियो का

उद्गम हुआ है। इसीलिए प्रसादजी की सभी कहानियाँ प्रायः भावात्मक हे। उसकी अपनी शिल्पविधि से घटनाओ के प्रस्तुत करने मे, चरित्र-चित्रण और चरित्र-निर्माण में, वातावरण की अवतारणा तथा सिद्धान्त प्रतिपादन मे प्रसादजी सर्वथा मौलिक हैं। कहानियो का तात्विक धरातल उनमें कम ही है। प्रसादजी के भावुक और दार्शनिक हृदय मे जब जैसी भावनाएँ उठी उसी के अनुरूप उन्होने इतिहास या अपनी कल्पना से कथानक चुना, और फिर अपनी सहज अनुभूतियो और भावनाओ के सूत्र मे पिरोकर उसे कहानी का रूप दे दिया। इसीलिए प्रसादजी की कहानियो पर उनके कवित्व, दर्शन, कल्पना, भावुकता और अनुभूति की गहरी छाप है।

प्रसादजी की कहानियो के कथानक चाहे वे ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक प्रेम और रोमास को लेकर चले हैं। हमारे सामान्य सामाजिक जीवन से उनका सम्बन्ध नहीं है। प्रेम को विविध भगिमाओ के बीच कथासूत्रो का विकास हुआ है। अनेक कहानियो के कथानक बड़े सूक्ष्म और साकेतिक हैं और कहीं-कही तो वे गद्यगीत से प्रतीत होते हैं। उनकी काल्पनिक कहानियो मे यह बात अधिक है। प्रलय, प्रतिमा, दुखिया ऐसी ही कहानियाँ हैं। जो ऐतिहासिक अथवा सामाजिक कहानियाँ निश्चित सवेदना को लेकर लिखी गई हैं उनके कथानक मे एकसूत्रता है प्रवाह आदि तत्व पूर्ण सफलता से आए हैं। जहाँनारा, अशोक, ममता, आकाश दीप, पुरस्कार ऐसी ही कहानियाँ हैं। कथासूत्र बड़े कलात्मक ढङ्ग से पिरोए गये हैं। उनमे नाटकीयता, वर्णनात्मक तथा व्यंजना की सामूहिक सहायता ली गई है। फिर भी वे न तो इतिवृत्तात्मक हैं और न वर्णनात्मक, वरन् कलात्मक हैं।

कल्पना, आदर्श और अनुभूति की समन्वय भूमिपर प्रसादजी ने अपने चरित्रो का निर्माण किया है। उनके सभी पात्र भावुक, सौन्दर्य निष्ठ, प्रेमी और यथार्थ मानव से कुछ ऊपर उठे हुए हैं। उनके स्त्री चरित्र अधिक कारुणिक हैं तथा पुरुष-पात्र भावुक और प्रेमी। उनका चरित्र प्रेम, करुणा, आदर्श, बलिदान, विद्रोह, क्षमा आदि रेखाओ से निर्मित हुआ हैं। चरित्रो में अन्तर्द्वन्द अधिक है और इसके आगे उनकी बाह्य क्रियाशीलता प्रायः मौन ही है। पात्र अपने अतर्लोक मे जितने सघर्षरत हैं उतने बाह्यपक्ष मे नहीं।

कहानियो की गतिशीलता मे स्त्री पात्रो की प्रधानता है। सब कुछ मिलाकर कहानियाँ चरित्र-प्रधान नही है। उसमे चारित्रिक उथल-पुथल की अपेक्षा नारी और पुरुष हृदय की करुणा, त्याग, बलिदान, प्रेम, सौदर्य आदि मानव मन की मूलभूत इकाइयो और जीवन के चिरतन सत्यो को बटोरने का प्रयत्न किया गया है।

शैली की दृष्टि से पात्रो के नाटकीय कथोपकथनो और वातावरण की सृष्टि प्रसाद की कहानी कला की सबसे बड़ी मौलिकता है। प्रसाद की सभी उत्कृष्ट कहानियो का विकास कथोपकथनो के माध्यम से सुन्दर है। यही कारण है कि कुछ कहानियो मे कथोपकथन बहुत लम्बे हैं, जैसे आकाशदीप मे। कथोपकथनो की शैली में नाटकीयता अधिक है कहानीतत्व कम। वातावरण की सृष्टि प्रसादजी ने दृश्य-विधान, रूप-वर्णन और भावचित्रो के माध्यम से की है।

प्रसाद की सभी कहानियाँ आदर्शवाद के लक्ष्य को लेकर चली हैं। उनकी कहानियो के सभी प्रमुख पात्र करुणा, त्याग, बलिदान और प्रेम के आदर्श हमारे सामने रखते हैं। समाज के क्षेत्र मे प्रसाद का आदर्शवाद प्रेम और विवाह के केन्द्रविदुओ पर प्रतिष्ठित हुआ है। वे प्रेम को ही विवाह की स्वस्थ कसौटी मानते हैं। दर्शन के क्षेत्र में यह आदर्शवाद बौद्ध दर्शन के सारभूत तत्व करुणा, सत्य, उत्सर्ग से प्रभावित है। व्यक्तिगत क्षेत्र मे यह आदर्शवाद नारी पात्रो की क्षमा, दया, त्याग और प्रेम तथा पुरुषपात्रो के शौर्य, बलिदान और चारित्रिक दृढ़ता को लेकर चला है। 'आकाशदीप' की 'चम्पा', 'पुरस्कार' की 'मधूलिका' पुरस्कार का 'अरुण', नूरी का 'याकूब', दासी का 'बलराज' ऐसे ही पात्र हैं।

प्रसादजी कवि भी हैं और गद्य-लेखक भी। पर उनकी भाषा शैली सर्वत्र एक कवि की भाषा शैली है। इसके मौलिक तत्व उनके व्यक्तित्व से पूर्णतः सयोजित है। इसीलिए यह इतनी विशिष्ट है कि सहस्रो रचनाओ के बीच मे से सहज ही पहिचानी जा सकती है। उसमे जो मधुवेष्ठन, कलात्मक ऐश्वर्य स्निग्धता, रसाद्रता, संगीत की तरलता है, वह उनकी अपनी चीज है। इसी-

भाषा शैली

लिए प्रसादजी का गद्य भी कविता है।

शब्द विधान की दृष्टि से प्रसादजी की भाषा का रुझान सस्कृत की समासात पदावली की ओर अधिक है। उनके नाटको तथा काव्यो मे ऐसी भाषा का ही प्रयोग हुआ है। अनेक स्थलो पर वह क्लिष्ट और दुरूह बन गई है। उर्दू शब्दो से अस्पर्श्य तथा कहावतो और मुहावरो से अछूती होने के कारण उनकी भाषा में वह रवानगी-लोच और चुलबुलापन भी नही है जो प्रेमचन्द जी की भाषा मे दृष्टिगोचर होता है। फिर भी प्रसादजी की भाषा में जो माधुर्य और स्निग्धता है वह उसकी स्वाभाविकता और कलात्मक सौन्दर्य को कहीं भी नष्ट नही होने देती। पाडित्य प्रदर्शन की दृष्टि से प्रसादजी ने भाषा को बनाने का प्रयत्न ही नही किया वरन् उसने भावो का अनुगमन करते हुए स्वय अपना रूप गढा है। इसलिए उग्र भावो की व्यजना मे जहाँ भाषा ओजस्वी और स्फूर्तिवान है, प्रेम के प्रसगो म वही कोमल हो गई है। वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन प्रसादजी का अद्वितीय है। एक-एक शब्द नपा तुला है जैसे किसी चतुर शिल्पी ने नगीने जड़े हो। इसीलिए उनके गूढ़ वाक्य सूत्र के समान प्रतीत होते हैं।

नाटक और काव्य की अपेक्षा प्रसादजी के उपन्यासो की भाषा अपेक्षा कृत सरल और व्यावहारिक है। फिर भी उसमे द्विवेदी युगीन भाषा की भाँति इतिवृत्तात्मकता नही है। कला का सहज सौदर्य वहा भी उभरा हुआ है। अपना ऐश्वर्य उसने वहाँ भी नही खोया। सत्य तो यह है कि प्रसादजी की भाषा उनके साहित्य की भाव-भूमि की भाति जन सामान्य के स्तर की वस्तु है ही नहीं। वह तो उन जैसे ही भावुक, रोमाटिक और कविवर्ग के लिए गढ़ी गई है।

प्रसाद जी की शैली में सरस कविता की मादक लहरी छलकती है। उसमे संगीत की उन्मादकारिणी तल्लीनता और मस्ती है। शैली के अलकरण, संस्कृत गर्भिना और मधु वैष्ठन ने उसे बड़ा भव्य और समृद्ध रूप प्रदान किया है। रस सचार की इस शैली मे अपूर्व क्षमता है। छोटे-छोटे भावखडों को सजाकर उसमें कला का अन्यतम रूप रस भर देना इस शैली की मुख्य वृत्ति है। सगीत और काव्य के समस्त तत्त्वो को समेट कर उसने अपना रूप

गढ़ा है। सब कुछ मिलाकर वह बहुत ऊँचे कलात्मक धरातल पर स्थित है। उसमें अधिक उतार चढ़ाव, और विविधता नही, एकरसता है। उसकी गति बड़ी धीर गभीर उसका रूप बहुत मोहन, उसका हृदय बडा भावुक उसकी आत्मा बड़ी सचेतन, और एक शब्द मे यह शैली उस नारी सौदर्य की भव्य-छटा और अपूर्व भगिमाओ को लेकर चली है जिसकी श्री सुषमा ही प्रसाद के काव्य की सच्ची विभूति है।

'प्रसाद' सच्चे साधक और मनस्वी कलाकार थे। साहित्य साधना उनके जीवन का इष्ट था व्यवसाय नही। किसी यश और अर्थ की कामना से उन्होने साहित्य नही रचा। भारतेन्दु की भाति तिल-तिल जलकर उन्होने साहित्य के साधना मदिर को प्रकाशित किया। भारतेदु के बाद वे ही हिन्दी की सबसे बड़ी विभूति थे जिन्होने हिन्दी प्रदेश की नई जीवन चेतना का चतुर्मुखी प्रतिनिधित्व किया। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी क्षेत्रो मे हिन्दी को उनकी देन इतनी महत्वपूर्ण है कि भावी पीढ़िया उन्हे नवीन साहित्य के अग्रगण्य नेता के रूप मे जानेगी।

साहित्यकार की दृष्टि से प्रसाद जी का व्यक्तित्व इन्द्र धनुष की भाति ही ऐश्वर्यमय, कलात्मक और सतरगी है। काव्य के क्षेत्र मे भावलोक के वे महान चितरे हैं। जीवन, प्रेम, जन्म, मरण, सुख, दुख, प्रकृति जो देश-काल और युग की सीमात रेखाओं से परे चिरन्तन हैं, शाश्वत हैं, सर्वजनीन हैं, वे ही प्रसाद के काव्य विषय हैं। इसीलिए प्रसाद एक युग के नही, अनेक युग के कवि हैं। उनका साहित्य चिर नवीन चिर शाश्वत हैं। यह सत्य है कि उनका साहित्य जनसाधारण के जीवन से तटस्थ है, तुलसी की भाति लोक धर्म पर प्रतिष्ठित नहीं हैं, पर फिर भी क्या प्रसाद के महत्व को अपदस्थ किया जा सकता है? अपनी कामायनी मे उन्होने जो मानवता का चिरन्तन सौदर्य दिया है, मानव मन की अनुभूतियों का जो प्रखर प्रकाश दिया है, वह उन्हे हमारे देश का ही नही विश्व साहित्य का अमर कवि बनाती है। जब तक मानव हृदय मे ये रागविराग, ये दुख द्वद, ये अनुभूतिया जीवित रहेंगी तब तक प्रसाद का साहित्य भी चिर अमर रहेगा। युग और साहित्य के बदलते हुए मान उसके भव्य प्रकाश को मलिन नहीं बना सकते।

पर प्रसाद का साहित्य इन अनुभूतियों और मानव मन की संवेदनाओं तक ही सीमित नहीं हैं। उसका नाटककार जहा सास्कृतिक चेतना और देश प्रेम की पुनीत मदाकिनी से स्नात है, वहीं उसका उपन्यासकार सामाजिक चेतना के रस से अनुप्राणित है। उन्होंने जो अतीत की स्फूर्ति, वर्त्तमान का सुधार और भविष्य का सुखद सदेश दिया वह क्या कम महत्वपूर्ण है ? उनके उपन्यास हमारे जनवादी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। इस प्रकार प्रसाद सभी दृष्टियों से अपूर्व है। उन जैसा कलाकार हिन्दी ससार मे दूसरा है ही नहीं। वे हमारे आधुनिक साहित्य के के सबसे बड़े विधाता हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' ने हिन्दी काव्य धारा मे नई उद्भावनाओ द्वारा जो क्रॉति की थी उसका सफल नेतृत्व निराला के सतेज और पौरुषमय व्यक्तित्व ने किया। उन्होने रूप और अन्तरस्थ दोनो ही दिशाओ मे रूढ़िबद्ध बंधनो से घिरी हिन्दी कविता को उन्मुक्त रूप दिया जिसमे न छन्दो का बधन न तुक का लगाव। उनके भाव नए थे, भाषा नई थी, छन्द नए थे। उन्होंने विरोधो और रूढ़ियो की झझा मे अकम्पित मशाल की तरह इस नई काव्य धारा का पथ प्रदर्शन किया और बैषम्य की ज्वाला मे भी उनका कवि व्यक्तित्व कचन की तरह निखरता गया। इसमे सन्देह नहीं कि आधुनिक काव्यधारा के कवियो मे जितना विरोध निराला जी का हुआ उतना अन्य किसी का नहीं। पर वे 'तुंग हिमालय शृंग' की भॉति अपने पथ पर अविचल और अडिग रहे। आज तो निराला और उनके काव्य का जादू सब के सिर पर चढ़कर बोल रहा है। निराला जी के विरोधी और प्रशसक इस अजेय व्यक्तित्व और असाधारण कलाकार के प्रति श्रद्धा से नत हैं। हमारी राष्ट्रभाषा का सबसे तेजस्वी, सबसे सचेतन और सबसे अधिक प्राणवान स्वरूप निराला की कला मे प्रस्फुटित हुआ है। हिन्दी साहित्य की आत्मा उनके तेज से अभिभूत होकर आज बहुत महिमामय है। श्री नलिनी विलोचन ने सत्य ही कहा है भारत की सभी आधुनिक भाषाओ के जीवित कवियो मे एकमात्र हिन्दी को ही 'निराला' का दावा करने का सौभाग्य है। इस महाकवि को पाकर कोई भी समृद्ध भाषा गौरवान्वित हो सकती है। हमारी दृष्टि मे यदि निराला जैसा

कवि हिन्दी मे नही लिखता होता तो हिन्दी राष्ट्रभाषा के सम्मानित पद की अधिकारिणी नही हो सकती थी।" इसमें सन्देह नहो कि ज्यो २ निराला की कविता का मनन मथन होगा त्यो-त्यो हिन्दी कविता की असीम शक्ति सामर्थ ही उद्घाटित उद्भासित होगी।

रवीन्द्र और शरत् की भूमि शस्यश्यामला बग.ल के मेदनीपुर ग्राम मे महाकवि निराला का जन्म स० १६५३ की बसन्त पचमी को हुआ था।

जीवन परिचय

किन्तु जन्म लेने के तीन वर्ष पश्चात् माँ की ममता का आँचल इस नवजात शिशु के जीवन मे हट गया। पिता रामसहाय त्रिपाठी गढाबोला जिला उन्नाव के सीधेसादे किसान थे, जो बगाल की मेदनीपुर रियासत मे उन्नति करते-करते सौ सिपाहियो के ऊपर 'जमादार' होगये थे। पत्नी की मृत्यु के बाद स्वभाव की रुक्षता अधिक बढ़ गई थी। प्रकृति के वे वैसे ही कठोर थे। ऐसे पिता की छत्रछाया मे बालक 'निराला' का पालन पोषण हुआ।

प्रारम्भ से ही निरालाजी स्वतः मनाप्रिय बालक थे। किसी भी प्रकार का उन्हें बधन प्रिय न था। मेदनीपुर के स्कूल मे उनकी शिक्षा दीक्षा हुई पर यहाँ की बधी बधाई पढ़ाई उन्हें तनिक भी रुचिकर नहीं हुई। पिता की ओर से उन्हे अनेक बार ताड़ना मिली प' वे इसके आदी हो चुके थे। अध्ययन की अपेक्षा उन्हें कुश्ती लड़ने, अश्वारोहण करने, क्रिकेट, फुटबाल खेलने मे उन्हें अधिक आनन्द आता था। सगीत से उनको बहुत प्रेम था और जब तब हारमोनियम पर वे कुछ न कुछ गुनगुनाया करते। तेरह वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह हुआ। पत्नी मनोहरादेवी बड़ी रूपवती और गुणवती थी। हिंदी की प्रेरणा कवि को अपनी पत्नी से ही मिली। पर निराला जी को वैवाहिक जीवन का सुख अधिक दिनो तक नहीं बदा था। श्री मनोहरा देवी ने एक कन्या और एक पुत्र को जन्म देकर इन्फ्लुएजा की बीमारी मे शरीर त्याग दिया। निराली जी के प्रणयी हृदय पर ये अनभ्र बज्रपात थे। घण्टों वे शमशान मे बैठे रहते और कहीं कोई चूड़ी का टुकड़ा या हड्डी अथवा राख मिल जाती तो उसे हृदय से लगाए हुए घूमते रहते।

इसके बाद ही पिता की मृत्यु होगई। जीवन यापन की नई समस्या अब

निराला जी के सामने थी। निरालाजी ने महिषादल मे नौकरी की पर उनका स्वच्छन्द मन वहाँ अधिक दिन तक न टिक सका। अब वे निश्चित रूप से कलम के मजदूर बन गए। अनुवाद, मौलिक जो कुछ काम मिलता उसे करते। इसमे सन्देह नहीं कि इन दिनो निराला जी को आर्थिक संघर्षों का कठोर सामना करना पड़ा। पर उनका सबल और अपराजेय व्यक्तित्व कहीं भी अपदस्थ नहीं हुआ।

इसी बीच निरालाजी का आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी से परिचय हुआ। द्विवेदीजी इस युवक से बड़े प्रभावित हुए। उनकी सहायता से निराला जी श्रीरामकृष्ण मिशन के प्रधान केन्द्र बैलूरमठ से निकलने वाले 'समन्वय' पत्र के सम्पादक बने। यहाँ उन्हे भारतीय दर्शन को बहुत निकट से परखने और अध्ययन करने का अवसर मिला। 'समन्वय' के पश्चात निरालाजी श्री महावीरप्रसाद सेठ द्वारा प्रकाशित 'मतवाला' पत्र के सम्पादक रहे। 'मतवाला' के साथ हीं निराला ने हिन्दी जगत मे प्रवेश किया और जिस दिन मतवाला के अङ्क में निरालाजी की 'जूही की कली' छपी उसी दिन हिन्दी साहित्य मे एक नए क्राँतिकारी युग का सूत्रपात हुआ। 'मतवाला' के साथ निरालाजी साल भर तक रहे, और इसके बाद वे अपने गाँव गढ़ कोला और फिर लखनऊ चले आए। ये दिन निराला जी के घोर सकटो के दिन थे। आर्थिक दानव से तो उन्हे निरंतर जूझना पड़ता ही था साहित्य के क्षेत्र में भी उन्हे कम सघर्ष नहीं करना पड़ा। इस समय का सारा साहित्य समाज निरालाजी के विरोध में पूरी मोर्चेबन्दी किए वैठा था। ये दिन कवि की शारीरिक और मानसिक घोर अस्वस्थता के भी दिन थे। इसी बीच कवि की एकमात्र पुत्री 'सरोज' जो उन्हें प्राण सम प्रिय थी स्वर्ग सिधार गई। नियति के इस निष्ठुर प्रहार ने कवि के हृदय को क्षत विक्षत कर दिया और वह 'सरोजस्मृति' नामक गीत में चीत्कार कर उठा :—

दुख ही जीवन की कथा रही—
क्या कहूं आज जो नही कही।
कन्ये गत कर्मों का अर्पण—
कर करता मै तेरा अर्पण॥

आर्थिक असमर्थता के कारण कवि अपनी पुत्री का उपचार भी ठीक प्रकार से न कर सका। पर फिर भी वह अपनी साधना में तप निरत रहा। जीवन के वैषम्यो और सघर्षों की तीखी चोटो ने उसकी विद्रोह शक्ति और पौरुष को अधिक दुर्दमनीय बनाया। आज भी इस कवि के जीवन मे सुख और शाति की शीतल छाया नहीं है। शरीर और मन दोनो से ही वह अस्वस्थ है। वेदना और सघर्ष जैसे उसके जीवन की साँसो मे बिंध गए हैं। हिन्दी के लिए इससे अधिक और क्या दुर्भाग्य हो सकता है?

निराला जैसा असाधारण व्यक्तित्व लेकर बहुत कम कलाकार अवतरित हुए है। उनमे जैसे कबीर की अक्खड़ता, तुलसी की विराटता, सूर की भावुकता, रवीन्द्र की मनस्विता एकाकार हो उठी है। उनके पास

व्यक्तित्व

उनके ही शब्दो मे एक कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और दार्शनिक के पैर है। वे शक्ति के अपरिमेय पु ज हैं, इसीलिए नियति के निष्ठुर व्यगो से, आर्थिक सकटो के दानव से और समय के क्रूर प्रहारो से जीवन भर सघर्ष करते रहे पर कहीं भी नतशिर नहीं हुए। सौदर्य की अतुल राशि से विधि ने उनके शरीर को रचा है। उनका दीर्घ आकार, भव्य मुद्रा, तेज बरसाती हुई आखे, पृथु वक्षस्थल, बलिष्ठ शरीर ऐसा लगता है जैसे शक्ति और सौंदर्य का प्रबल वेग मनुष्य-रूप धारण कर आगया हो। स्व० श्रीमती सरोजनी नायडू ने जब पहली बार आपके इस रूप मे दर्शन किए तो उन्हे भ्रम हुआ कि जैसे कोई साक्षात यूनानी दार्शनिक उनके सामने उपस्थित हो गया है। एक अमेरिकन पत्रकार महिला के शब्दो मे तो वे साक्षात् सीजर के दूसरे अवतार थे।

इस अपूर्व गौरव गरिमा से मडित जितना भव्य यह व्यक्तित्व है, उससे कहीं अधिक विराट उसका हृदय है। दीन-दलित भूखी नगी मानवता के लिए इस हृदय मे न जाने कितनी सवेदना, कितनी सहानुभूति भरी हुई है। ऐसी मानवता के ज्वलत प्रतीक असहाय अनाथ और दीन-दलितजनो को स्वयं भूखा और नगा रह कर भी अपना सर्वस्व अर्पण करना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा दुख है। उसकी दानशीलता हमे कर्ण, दधीचि और शिव की याद दिलाती है। इन भूखे-नंगे मानवों की सेवा ही, चिरशोषित मानवता

के आहत अङ्गो को सहलाना ही, इसके जीवन की, साहित्य की सबसे बड़ी साधना रही है

जितना विराट उसका हृदय है उतना ही विशाल उसका बौद्धिक जगत है। सरस्वती के वे वरद् पुत्र हैं। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बगला सभी के वे पडित हैं। साहित्य, दर्शन, कला सभी पर उनका पूर्ण अधिकार है। पर इससे अधिक वे मानव जीवन के अध्येता है। प्रेमचन्द की भाति निराला ने भी अपने जीवन में अपने आसपास के समाज को बहुत निकट से देखा है। अभिजात्यवर्ग से लेकर निम्नवर्ग तक के लोगो से उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। जीवन सघर्ष के कटु हलाहल का उन्होने शिव की तरह पान किया फिर दृढ़ पौरुषता का प्रकाश उनके चेहरे पर बरसता रहा है। समाज के रूढ़िगत सस्कारो, धर्म की झूठी बिडम्बनाओ, मानव जीवन की कुत्साओ, उसकी स्वार्थपरता, नीचता और उसके शोषक रूप की चुनौती को वे जन्म से ही स्वीकार करते आए हैं। इन सभी ने ही उन्हें रूढ़ियो से अनाचारो से, दभ से, पाखंड से लड़ना सिखाया है।

मानव जीवन की इन कुत्सित शक्तियों के सघर्ष के लिए जो आत्मतेज, जो निर्द्वन्द्वता, जो मस्ती, जो लापरवाही, जो निर्भीकता, जो पौरुष, जो शक्ति अपेक्षित है वह सब निराला के रोम-रोम मे बसी हुई है। रूढ़ि और परपरा के गुलामो को, ढोगी, पाखडी और दम्भियो को, गलत मार्ग पर चलने वाले दुराग्रहियों को, ललकारने, उनसे मोर्चा लेने, उन पर प्रबल प्रहार करने के लिए ही जैसे इसका जीवन बन गया हो। यह जीवन जैसे विराट मानवता का का ज्योतिपुंज बनकर पृथ्वी के पकिल कर्दमात जीवन के तिमिर को धोने के लिए अपनी सहस्र किरण धाराओ के साथ फूट पड़ा हो। उसके इस व्यक्तित्व की ऊंचाई आज मानव मन के लिए विस्मय की बात है। यह उस आसमान की तरह साफ और निर्द्वन्द्व पर विराट और गहन है जिसमे भूधर नाम से अभिहित पर पृथ्वी की शोषक शक्तियो के पंख काटने के लिए वज्र है—दीन विपन्न तृषितो के लिए वर्षा जल का अमृत है, सूर्य का प्रखर ताप है, चद की शीतलता है। आगे आने वाली पीढ़ी शायद ही यह विश्वासकर सके कि इतना असाधारण व्यक्तित्व जमीन पर डोलता होगा। निराला की अभिनदना

मे कहे हुए श्री महावीर अधिकारी के ये शब्द कितने सत्य हैं—

तुम हो, तो हमे विश्वास है कि हम हैं ! तुम हो तो हमे विश्वास है कि सत्य की जय होती है । तुम हो तो हमे विश्वास है कि मनुष्य के लिए इतना महान हो सकना कवि कल्पना मात्र नहीं हैं ।''

ऐसे निराला ने जो कुछ हमे दिया है वह उसके जीवन मंथन का अमृत है । युग जीवन का प्रतीक बन अपने जीवन की अनुभूतियों को उसने कविता, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, आलोचना साहित्य आदि अनेक रूपो मे अभिव्यक्त किया है ।

रचनाएं

काव्य—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नए पत्ते, अपरा, आराधना ।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरूपमा, उच्छृंखल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली ।

कहानी सग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी ।

रेखाचित्र—कुल्लीभाट, बिल्लेसुर, बकरिहा ।

आलोचनात्मक निबन्ध संग्रह—प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा, प्रबन्ध परिचय, रवीन्द्र, कविता कानन ।

जीवनिया—राणा प्रताप, भीम, प्रहलाद, ध्रुव, शकुन्तला ।

अनुवाद—महाभारत, श्री रामकृष्ण बचनामृत, परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्दमठ, चद्रशेखर, कृष्णकात का बिल, दुर्गेशनदिनी, रजनी, युगलागुलीय, राधारानी, तुलसीकृत रामायण की टीका, वात्सायनकृत कामसूत्र ।

इसके अतिरिक्त निराला जी का बहुत सा साहित्य अप्राप्य भी है ।

निराला जी के काव्य की आत्मा उनके व्यक्तित्व की भाति बड़ी उदात्त, ऊर्जस्वित और पौरुषमय है । व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति निराला जी की रचनाओ में हुई है वैसी अन्य छायावादी कवियो में नही हुई । व्यक्तित्व के साथ ही जीवन की परिस्थितियो ने भी उनके काव्य की भावभूमि को प्रभावित किया है । यौवन की देहली पर कदम रखते

निराला जी के काव्य की भाव भूमि

ही पत्नी इस कवि को ससार मे अकेला छोड़ अनत पथ की विहारिणी बन गई। कवि के जीवन कानन मे यौवन और प्रेम के फूल खिलने से पहिले ही मुरझा गए। कवि की यही शृ गारिक अनुभूति आगे जाकर विश्व कवि रवीन्द्र की रहस्यवाद परक रचनाएं और रामकृष्ण मिशन के वेदान्त दर्शन का योग पा 'दिव्यरति' मे परिणित हुई तथा प्रेयसी और प्रियतम के माध्यम से दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति का मूल बनीं। इस रूप मे निराला जी ने छायावाद और रहस्यवाद की अनेक झाकिया, अनेक भंगिमाए, अनेक नए स्वर दिए। उसने लौकिक प्रेम और शृ गार के गीत भी निर्द्वन्द्व भाव से गाए। अपनी वैयक्तिक करुणा के साथ-साथ मानव मात्र की करुणा के स्वर को भी ऊ चा उठाया। दीन दुखियो को सताने वालो पर तीखे प्रहार भी किए। वर्तमान की कुत्साओ को ललकारते हुए युग की चेतना के नए रूप को भी सवारा। इस प्रकार निराला के काव्य की चित्रपटी बहुत व्यापक और विशाल है। उसके अनेक रूप हैं, अनेक भगिमाए हैं, अनेक रेखाए हैं क्योंकि इस कवि ने एक ही साथ लौकिक और अलौकिक प्रेम के, पार्थिव और अपार्थिव शृ गार के, भौतिक और अध्यात्मदर्शन के, व्यष्टि और समष्टि की करुणा के, इस लोक और परलोक के गीत गाए हैं। श्री जानकी बल्लभ शास्त्री के शब्दो में कवि को गत्यात्मक जीवन का कोई एक ही रूप, कोई एक ही स्थिति, कोई एक ही पक्ष जमकर देखते रहना पसन्द नहीं है। वह हसी के साथ आसू को, विरह के साथ मिलन को, सौदर्य के साथ स्वास्थ्य को, मृत्यु के साथ मुक्ति को, आरभ के साथ परिणिति को निखरता परखता है।" इन सब मे उसने नई लीक बनाई है, नए प्रयोग किए हैं, नई उद्भावनाओ को जन्म दिया है, और इस प्रकार निराला जी ने अपने ही काव्य को नहीं, हिन्दी काव्य साहित्य को एक नई सुगन्धि, नई हरीतिमा, और नए प्रकाश से पूर्ण बनाया है।

निराला का काव्य जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है भाव और कलापरक पुरातन आदर्शों की पर्तो को चीरते हुए गतिमान हुआ है।

छायावाद २६

इसीलिए द्विवेदीयुगीन काव्यधारा की प्रतिक्रिया मे जो काव्यधारा छायावाद के नाम से प्रवाहित हुई निराला जी उसके मुख्य स्तम्भ बने। उन्होने द्विवेदी

युग के स्थूल इतिवृत्तो के स्थान पर नए सौन्दर्य बोध की स्थापना की है। अपने वैयक्तिक राग-विराग, हास-रुदन, अश्रु-पुलक, को वाणी दी। द्विवेदीयुग के नैतिक आदर्शों के बधनो मे जकड़े स्थूल विचार दर्शन के विरुद्ध समाज, नारी, व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व को लेकर सूक्ष्म, भावना परक और नूतन सौन्दर्य की दिव्य चेतना से मडित व्यक्तिवादी विचारधारा को जन्म दिया। यह नूतन सौन्दर्य वस्तुतः सृष्टि-प्रसार मे व्याप्त एक सूक्ष्म चेतना का आभास था, जिसके प्रति विस्मय या कुतूहलको सूक्ष्म, दिव्य और अशरीरी भावनाओ के रूप में प्रगट किया गया तथा प्रकृति मे व्याप्त उस सूक्ष्म चेतना की कल्पना नारी रूप मे की गई। यही छायावाद था। इस प्रकार कवि की दृष्टि देश, जाति, रग, धर्म से ऊपर उठकर व्यापक मानवता की ओर गई। ऐसे छाया-वाद के बहुत समर्थ स्वर हमे निरालाजी की रचनाओ मे मिलते हैं। उनकी 'जुही की कली', 'यमुना के प्रति', 'सध्या सुन्दरी', 'तरगो के प्रति' आदि रचनाएँ इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। उन्होने प्रकृति के दृश्यो मे सूक्ष्म चेतना के दर्शन किए और नारी रूप में उसकी कल्पना कर अपनी जिज्ञासा, अपने को कुतूहल स्वर दिए। पार्थिव दृष्टि से यद्यपि ये छायावाद परक रचनाए शृङ्गार-मूलक हैं। उनमें उन्हीं सारी भावनाओ का प्रदर्शन है जो नर-नारी के जीवन में उत्पन्न होती हैं। फिर भी इन शृङ्गारमूलक रचनाओ मे रीतिकालीन कवियो की भाँति जड़ता नहीं है। वहाँ नारी सामन्तो के आमोद-प्रमोद और भोग की व्यक्तित्व हीन वस्तु नहीं है, वहाँ शृङ्गार एकान्तिक, शरीरी और वस्तु परक नही हैं। छायावादी कवि निराला ने इस नारी को दिव्य कल्पना के भावलोक मे आसन दिया है। शृङ्गार को अधिक व्यापक, सूक्ष्म और भावपरक बनाया है। इस प्रकार उसने शृङ्गार और नारी की रूढ़िवादी परम्परा को समाप्त किया है।

छायावादी कवि होने के नाते निराला ने अपने हास-रुदन, राग-विराग और सुख-दुख के भी गीत गाए हैं। जीवन के कटु संघर्षो से प्रसूत उनकी वेदना उनकी रचनाओं मे शत्-शत् होकर फूटी है। 'जब कड़ी मारे पड़ी, दिल हिल गया', 'हमारा डूब रहा दिनमान', 'उड़ी धूल तन सारा भर गया' आदि गीत इसके प्रतीक हैं। 'मरण दृश्य' में वह मृत्यु के रूप में आई हुई

मुक्ति को वरण करने चलता है। स्नेह चुम्बनो के बदले गरल प्याले पीता है। पर फिर भी वह हारने वाला नहीं। भाग्य के अङ्को को खण्डित करने और भविष्य को अशक भाव से निहारने के लिए जीना चाहता है। जीवन और जगत से उसे प्रेम है। वह शरत की चॉदनी, बसत के फूलों पर मुग्ध है। पृथ्वी के इस सौन्दर्य सुधारस का छक कर पान करने के लिए ही वह कहता है—

अभी न होगा मेरा अन्त।
अभी-अभी ही तो आया है,
मेरे मन मे मृदुल बसन्त॥

कवि निराला छायावाद से अधिक रहस्यवाद के कवि हैं। निराला जी का यह रहस्यवाद विश्व कवि रवीन्द्र की गीताजलि तथा रामकृष्ण मिशन के अद्वैतवाद से प्रभावित है। रहस्यवाद के रूप में जो सास्कृतिक देन रवीन्द्र की गीताजलि ने विश्व को दी उसका मुख्य आधार वस्तुतः 'सर्ववाद' थी जिसकी भावना का मूल बीज उपनिषदो से अकुरित तथा सन्तो की साधना और वैष्णव भक्तो की भक्ति से पल्लवित और पुष्पित होता हुआ विश्व कवि के काव्य के अभिसिचन से नई हरीतिमा और नए पत्र-पुष्प से सज्जित हुआ। अखिल सृष्टि में व्याप्त चैतन्य स्वरूप परोक्ष सत्ता के स्पर्श का अनुभव कर मानव आत्मा जब दिव्य आनन्द का अनुभव करने लगती है, तब उसकी असीम सत्ता के प्रति प्रणयानुभूतियो का चित्रण ही रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। निराला के काव्य ने रहस्यवाद के इस रूप को ग्रहण किया तथा रामकृष्ण मिशन के अद्वैतवाद को उसका दार्शनिक आधार दिया। पचवटी प्रसग नामक कवि की कविता मे राम कहते हैं कि ब्रह्म और जीव मे कोई भेद नहीं है। जिस प्रकाश से ब्रह्माड उद्भासित है उसी से मनुष्य प्रकाशित है पर माया जनित भ्रम जीव को इस प्रकाश से विलग रखता है। यही द्वैत भाव है। चेतना जाग्रत होने पर जब माया का पर्दा हटता है तव जीव अपने ही भीतर ब्रह्म के अखण्ड प्रकाश का स्पर्श अनुभव कर दिव्य आनन्द मे मग्न होता है। कवि ने परिमल की कविताओं और 'गीतिका' के अनेक गीतो मे इस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना की है। उनकी 'तुम और मै' कविता मे जीव

रहस्यवाद

और ब्रह्म के अद्वैत सम्बन्ध की भावात्मक व्याख्या है वही 'गीतिका' के गीतो में आत्मा का परमात्मा के लिए अभिसार, मिलन, वियोग के सरस चित्र हैं। माया से आच्छन्न जीव का स्वरूप अब चेतना की ज्योत्स्ना से अभिभूत हो रहा है और उसकी आत्मा न जाने किस बाँसुरी के दिव्य स्वरो के स्पर्श से पुलकित हो रही है—

हृदय मे कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्सनामयी अखिल मायापुरी।
लीन स्वर सलिल मे मैं बन रही मीन,
स्पष्ट ध्वनि आ धनि सजी यामिनी भली।

प्रियतम ब्रह्म के आह्वान पर प्रेयसी आत्मा अभिसार के पथ पर चल पड़ती हैं। सांसारिक मोह-जाल लोक-लाज बन कर उसके पैरो को पीछे खींचते हैं, पर प्रियतम के चरणो के सिवा अन्यत्र शरण ही कहाँ है—

और मुखर पायल स्वर करें बार बार ;
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार।
शब्द सुना हो तो अब
लौट कहाँ जाऊं ?
उन चरणों को छोड़ और
शरण कहाँ पाऊं ?
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार,
प्रियपथ पर चलती कहते सब शृंगार

इस अभिसार के बाद प्रिय मिलन होता है और अन्त में बिछोह के लक्षण आते हैं। वहीं आत्मा चीत्कार कर उठती है—

हुआ प्रियतम प्रात तुम जावगे चले ?
कैसी थी रात बन्धु थे गले गले।

पर विरह का रुदन निराला के रहस्यवाद मे अपेक्षाकृत कम हैं। उसमें आह, उच्छवास, उत्ताप, पीड़ा, क्रदन के स्थान पर आत्मा का उल्लास अधिक है। इसका कारण यह है कि निराला की नारी-रूप आत्मा चेतन के प्रकाश से प्रभासित होकर अब दुर्बल नहीं है। वह पूर्णतः सजग और ज्ञानवान है।

इसीलिए वह अपने प्रियतम के स्पर्श का अनुभव करती हुई अज्ञान के अन्धकार को चुनौती देती है, विरह के आँसू कम बहाती है।

अभिसार, मिलन और विरह के साधना सोपानो पर विकसित निराला का यह रहस्यवाद जहाँ सन्तो की निर्गुण काव्यधारा के अधिक निकट है वहीं तुलसी आदि सगुण भक्त कवियो की भक्ति से भी वह प्रभावित है। एक ओर जहाँ उन्हे समस्त सृष्टि सच्चिदानन्द ब्रह्म के प्रकाश मे डूबी हुई प्रतीत होती है तथा उनकी आत्मा इसी प्रकाश मे लीन होने के लिए सरिता की भाँति गतिशील होती है, वहीं वेदना से व्यथित होकर कृपालु ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करती है—

डोलती नाव प्रखर है धार।
सँभालो जीवन खेवनहार॥

इस प्रकार निराला का रहस्यवाद सन्तो की निर्गुण साधना और भक्त कवियो की सगुण उपासना का मिलनबिन्दु है। इसीलिए वह कहीं अधिक स्पष्ट और जीवन के निकट है। पन्त की भाँति उसमे कल्पना का स्वच्छन्द विलास नहीं है और न महादेवी की भाँति वह अनुभूतियो का तीव्र भावोच्छ्वास मात्र है। वह अधिक सजग तत्वज्ञान से पूर्ण और चिन्तन प्रधान है।

अद्वैतवादी कवि निराला ससार को मिथ्या समझकर उससे विरक्त होने वाला वैरागी नही है। उसके हृदय मे दुखी मानव के लिए जो करुणा है, वह भुला ही नहीं सकता। इसीलिए वे ब्रह्म से अधिक दुखी मानव के कवि हैं। 'परमिल' में उन्होने 'भिक्षुक' और 'विधवा' के जो मार्मिक चित्र दिए हैं

प्रगतिवाद

उनमे उनकी मानवीय करुणा और सहानुभूति का स्वर कितना तीव्र है? इसी प्रकार 'अनामिका' की 'तोड़ती पत्थर' मे उन्होने एक श्रमशील नारी के कठोर जीवन को चित्रित किया है। 'दान' कविता मे उन्होने बन्दरो को पुए खिलाने वाले तथा भूखे मनुष्यो के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार के भाव रखने वाले विप्र जनो पर कटु व्यग किए हैं। उनकी 'कुकुरमुत्ता' काव्य रचना तो जन-शोषको की कुत्साओ का ही व्यग काव्य हैं। 'गुलाब' इस शोषक रूप का प्रतीक है, जो जन साधारण का नही अमीरो का है। वह खाद का रक्त चूसने

वाला कैपिटलिस्ट है और फिर भी झूठी शान से इतराने वाला है—

अबे सुन बे गुलाब ।
भूल मत, गर पाई खुशबू रगो आब ॥
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट ।
डाल पर इतरा रहा, कैपिटलिस्ट ॥
कितनो को तूने बनाया गुलाम ॥

× × ×

शाही, राजों, अमीरो का रहा प्यारा ।
इसीलिए साधारणो से रहा न्यारा ॥

इस प्रकार प्रगतिवादी निराला ने मानवता को कुचलने वाली समस्त शक्तियो के प्रति अपने साहित्य द्वारा दृढ़ मोर्चेबदी की है । वे केवल मानवीय-करुणा और सवेदना के स्वर ही उठाकर नहीं रहे हैं उन्होने मानव समाज की इस व्यथा वेदना को दूर करने के लिए जन जीवन को ललकारा है । उनके स्वत्वो की रक्षा के लिए आवाज उठाई है । अपनी 'जागो फिर एक बार' कविता मे वह पराधीन भारतवासियो को क्राति का संदेश देता है । गोविदसिह और शिवाजी की वीरता का स्मरण दिलाकर 'सिह की माद मे घुसे स्यार' को भगाने का उद्बोधन देता है । दुख के तापो से दग्ध धरती पर विप्लव के बादलो का आह्वान करता है । इस 'बादल' के क्राति राग से गरीबो का शोषण करने वाले मानव भक्षी शोषक सिहर रहे हैं । युग-युग के शापित और तापित आशा भरी निगाह से जिसे निहार रहे हैं ।

डा० रामविलास शर्मा के शब्दो मे निराला के साहित्य मे यह यथार्थ जीवन एक धु धुली अस्पष्ट कल्पना नही है, उसका बहुत ही स्पष्ट रूप हमे देखने को मिलता है । इस यथार्थ जीवन मे दुखी और सघर्ष रत कवि है, उसके प्रतिक्रियावादी आलोचक हैं, उसे हतोत्साह करने वाले मित्र हैं, उसके अभावो के कारण, अकाल मृत्यु का ग्रास बनने वाली उसकी पुत्री सरोज है, दाने दाने को मोहताज भिक्षुक है, बन्दरो को पुए खिलाने वाले विप्र हैं पत्थर तोड़ती मजदूर स्त्री है; विप्लवी बादल की ओर हाथ उठाता हुआ किसान है । यह सब कूछ है और इसकी ओर निराला तटस्थ नही है, उसकी सक्रिय

सहानुभूति दुख सहने वालो के साथ है, उसका आक्रोश दुखियो को सताने वालो पर है। वह जब प्रतिरोध की बात कहता है, तब निष्क्रिय प्रतिरोध की बात नही, वह अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने का आह्वान करता है। उसके राम शक्ति की साधना करते हैं, शस्त्र लेकर रावण से युद्ध करते हैं।"

निराला की काव्य साधना इस प्रकार निरतर सजग रही है। इसीलिए उसने युग की समस्त चेतनाओ का सफल और सही दिशा में नेतृत्व किया है। एक ओर जहाँ उसने छायावाद और रहस्यवाद के कोमल गीत गुनगुनाए हैं वही प्रगतिवाद की पौरुष मय हुँकार भी की है। उनकी कविता हिम और ज्वालामय इन दो तटो के बीच रग रस सौरभ का अथाह समुद्र बनकर उमड़ी है।

निराला और प्रकृति

छायावादी काव्यधारा के प्रमुख कवि होने के नाते निराला के काव्य का प्रकृति से अभिन्न सम्बन्ध है। सृष्टि मे व्याप्त ब्रह्म के चैतन्य स्वरूप का स्पर्श अनुभव वह प्रकृति की सहायता से ही करता है। प्रकृति मे ही नारी भाव का आरोपण कर प्रेम और शृङ्गार के गीत गाता है। 'बादल' और 'गुलाब' के प्रतीको द्वारा जनक्राँति का आह्वान करता है। भाव और कला दोनो ही क्षेत्रो मे वह प्रकृति की विराट रगस्थली से नाना विधि के उपकरण जुटाता है। फिर भी प्रकृति के मानवीयकरण द्वारा अपनी स्वानुभूतियो का चित्रण ही कवि की मुख्य प्रवृत्ति रही है। पन्त की भाँति उसमे व्यापकता नही हैं, फिर भी प्रकृति के विराट चित्रो की जैसी योजना निराला ने की है, वैसी हिन्दी के अन्य कवियो मे कम ही दृष्टि गोचर होती है। रहस्यवादी कवि निराला के सजग रहस्य दर्शन का प्रकृति मे व्याप्त विराट पुरुष से अति निकट का परिचय है। पन्त की भाँति शिशु सुलभ भावुकता मात्र ही नही है। इसीलिए कल्पना की धूप छाह से क्रीड़ा करती हुई प्रकृति के सहज सरल चित्र निराला के काव्य मे नहीं है, वहाँ तो विराट अराध्य के तादाम्य की अनुभूति के दार्शनिक चित्रो की अधिकता है। इसीलिए उसमे कल्पना के साथ-साथ राग और बुद्धि तत्व की प्रधानता है। उसमे प्रकृति का विस्तार और वैविध्य नही गहराई अधिक है। पन्त की बादल तथा निराला की 'बादल' कविता की

तुलना से यह बात सर्वथा स्पष्ट है।

हिन्दी मे निरालाजी ने अपने गीतो द्वारा नई गीत परम्परा को जन्म दिया है। अब तक जो हिन्दी के गीत थे वे विविध राग रागनियो मे बधे हुए थे। उनका सगीत छन्द, ताल और सम के बन्धनो मे जकडा हुआ था। निरालाजी ने गीतो की आत्मा को इन बन्धनो की कारा से मुक्त कराया। ताल और सम के स्थान पर उसके स्वर विस्तार को अधिक प्रधानता दी। निरालाजी के इन गीतो मे न सम का बन्धन है न राग रागनियो के नियम मर्यादा। बस मुक्त छन्दो मे मुक्त स्वर का अनवरत प्रवाह ही इन गीतो की मूल विशेषता है। इस दृष्टि से हिन्दी की गीत परम्परा मे निराला जैसा क्रान्तकारी कवि दूसरा है ही नही।

निराला का गीति काव्य

'निराला' मे गीत सगीत के अधिक से अधिक निकट है। सगीत का अदम्य प्रवाह मुक्त बन निर्भर की भाँति उनमे प्रवाहित हुआ है। निराला जी स्वय कुशल सगीतज्ञ हैं। शब्दो की सगीत्मकता को परखने मे उन जैसी प्रतिभा किसी कवि को प्राप्त है ही नही। निराला के गीतो का शब्द विन्यास बिना ताल, सम और तुक की सहायता के ही स्वरो के आरोह-अवरोह से संगीत की मधुरिमा बहाते हैं। इसीलिए निरालाजी सस्कृत की कठिन समासात पदावली को गेयता की धारा मे बहा सके। उनकी इस सगीतमय गेयता पर बगला और पाश्चात्य संगीत का स्पष्ट प्रभाव है। पर इस प्रभाव को लेकर उन्होने हिन्दी मे जो सगीत व शब्द साधना की है वह उनकी अपनी है। इस क्षेत्र मे हिन्दी का कोई कवि उनसे टक्कर नहीं ले सकता।

अपने गीतो मे रीतिकाल की अनुप्रासमयी भाषा के समान निराला ने पद साधना की ओर विशेष ध्यान दिया है। समास पद्धति पर चलने वाली गुम्फित पद श्रृङ्खला, गीतो की गेयता, सगीत और भावधारा को सयमित बनाए हुए है, इसीलिए निराला के गीतो मे कहीं भी असम्बद्धता नहीं।

अन्य छायावादी कवियो के गीत जहाँ कल्पना और भावुकता से बिजड़ित हैं, निराला ने उसमे बुद्धितल का योग देकर उन्हें पूर्णता दी है। श्री नददुलारे

बाजपेयी का यह कथन समीचीन ही है कि निरालाजी का वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य मे सचेत बुद्धितत्व का प्रवेश है। इससे काव्य कला का बड़ा हित साधन हुआ है। कविता मे कलापक्ष की उपेक्षा सीमा पार कर रही थी और कोरे भावात्मक उद्‌गार काव्य के नाम पर खप रहे थे। निरालाजी ने इस विषय मे नया दिग्दर्शन कराया। आधुनिक कवियो मे इस विशेषता को लिए हुए निरालाजी क्षेत्र मे एक ही हैं।''

कुछ आलोचको के मत मे निराला के गीत दुरूहता लिए हुए हैं। इसलिए उनकी लोकप्रियता और जन प्रचलन सदिग्ध है। आलोचक वर्ग की इस सम्मत्ति मे बहुत कुछ सीमा तक औचित्य है। निराला की दार्शनिकता, कल्पना के साथ बुद्धितत्व की प्रधानता, कठिन समासान्त पदावली इसके दुरूहता के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि कवि जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है ''अपने आवेगो को सयत रखकर नही लिख सकता। एक बार कहते-कहते उसे उसी से सम्बन्धित (और कभी-कभी उलटी पड़ने वाली) दूसरी बात याद आ जाती है। कवि अपने आवेगो पर अकुश नही रख सकता। अकुश वह रख सकता है जो भावो को सजाने और सुघड़ बनाने का प्रयास करता है। निराला यह नहीं करते, इसलिए उनके भावो की अविरल धारा मे ऐसे प्रसंग प्रायः छूट जात हैं जो साधारण पाठक के लिए प्रासगिक होते हैं और ऐसे प्रसग प्रायः आ जाते हैं जो साधारण पाठक की दृष्टि मे बहुत प्रासगिक नहीं जॅचते। इसीलिए उनकी कविता बहुत दुर्बोध जॅचती है।''

फिर भी निराला के गीतो ने आधुनिक काव्य साहित्य का जो उपकार किया है वह भुलाया नही जा सकता। हिन्दी की प्राचीन गीत परम्परा आधुनिक युग की नई भाव-चेतना को प्रकाश मे लाने मे सर्वथा असमर्थ थी। निराला के गीतो ने पहली बार इस परम्परा को नए काव्य के अनुरूप बनाया। प्राचीन रूढियो से मुक्त कर उसे नए साचे मे ढाला। अपने इन गीतो मे उन्होने 'जूही की कली', 'विधवा' 'जागो फिर एक बार', 'सरोज स्मृति' आदि विशुद्ध प्रगीत भी दिए हैं और 'कुकुरमुत्ता' के हास्य व्यग-प्रधान जन गीत भी प्रदान किए हैं। उनके इस गीत काव्य मे हमे ''अनेक प्रकार के गीत देखने

को मिलते हैं—विशुद्ध दार्शनिक और शृङ्गारात्मक, आवेगपूर्ण और गाभीर्य मन्थर, अलकार खचित और निराभरण। कही तो वेदात की विरसता काव्य की कमनीयता मे समरस हुई दिखती है और कही दर्शन की दिव्य ज्योति रमणी की रमणीयता बनी हुई है। × × × तात्पर्य यह है कि इसमे महादेवी की गीतो की तरह एक ही भाव की विविध भावनाएँ नही किन्तु विभिन्न स्थितियाँ और परिस्थितियाँ हैं और कही कही तो एक ही एक मे आश्चर्य कर अनेकता है।" (श्री जानकी बल्लभ शास्त्री)

निराला का कथा काव्य

निराला हिन्दी के अप्रतिम गीतकार ही नही कथा काव्य के निर्माता भी हैं। उनके 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसे स्वल्प आकार-प्रकार के परम प्रौढ़ प्रबन्ध काव्य हिन्दी में ही क्या विश्व की किसी भी भाषा मे ही नही है। इन कथा काव्यो मे कथा का कुतूहल नहीं है। नाटकीय वार्त्तालाप और जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है, शैली का इतिवृत्तात्मक रूप भी नहीं है वरन् नायक के अन्तर्द्वन्दो का मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण, वातावरण की काव्यमय सृष्टि, पाण्डित्यपूर्ण ओजस्वी भाषा का सुगठित छन्द के भीतर से सुसयत प्रवाह तथा असाधारण भाव-गरिमा की विद्यमानता है। छायावादी कला का चरम उत्कर्ष उसमे सन्निहित है। भाव और कला दोनो ही दृष्टियो से ये कथा काव्य पूर्ण हैं। उनमे एक ओर जहाँ सूक्ष्मता, साकेतिकता के साथ भावनाओ के उत्थान, पतन व अन्तर्द्वन्द का सुन्दर काव्य विधान है वही लघु परिधि में कल्पनाओ की माँसलता और कला के विराट सौन्दर्य की कसावट हैं।

'तुलसीदास' मे कवि ने इतिहास, समाज, सस्कृति, राजनीति, दर्शन और मनोविज्ञान पर नई दृष्टि डाली है। मध्य युग मे हमारी सस्कृति का जो पतन हुआ वही इस कथा की पृष्ठभूमि है। काव्य के नायक 'तुलसीदास' अपनी जीवन-साधना से भारतीय सस्कृति को इस पतन से उबारना चाहते हैं। पर नारी के प्रति उनकी दुर्बल वासना इस साधना मे बाधक है। तुलसी के हृदय में इसी को लेकर अन्तर्द्वन्द है। अन्त मे नारी का तेजोमय रूप बाधक होने के बदले साधना के मार्ग पर उनकी सबसे बड़ी प्रेरणा बनता है। यही 'तुलसी दास' कृति का आदर्श है। यह आदर्श तुलसी के व्यक्तिगत जीवन से ही

सम्बन्ध न रखकर हमारे समाज से सम्बन्ध रखता है। रत्नावली में तुलसी की आसक्ति व्यक्तिगत न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक है। रत्नावली के शब्द तुलसीदास जी को ही नहीं साहित्य और सस्कृति की समस्त जड़ और अप्रगतिशील रीतिकालीन परम्पराओ को धिक्कारते हैं।

इसीसे मिलती-जुलती कथा 'राम की शक्ति पूजा' की है। राम अपनी विशाल वाहिनी को लेकर असुरपति रावण से सघर्ष कर रहे हैं। पर वास्तविक सघर्ष राम के हृदय मे है। रावण पर किए उनके सभी आक्रमण विफल हो गए हैं। निराशा और पराजय का अन्धकार राम के हृदय मे समाया हुआ है। राम के इस भग्न हृदय मे बार-बार यही द्वन्द है कि रावण को जीत पायेगे अथवा नही। ऐसे ही समय स्वयबर के दिनो की जानकी की स्मृति उनके हृदय मे उठती है। राम मे पुनः वही पौरुष जाग पड़ता है जो सुबाहु, ताड़का के बध और धनुर्भङ्ग के अवसर पर जगा था। पर तभी रावण का भीषण अट्टहास उनके नेत्रो के सामने गूँज उठता है और सीता की कोमल स्मृति मे डूबे हुए उनके नेत्रो से आँसू की बूँदे टपक पड़ती हैं। अन्त में रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए राम शक्ति की आराधना करते हैं और तब शक्ति रूप दुर्गा से विजय का आशीर्वाद पाते हैं। यही 'राम की शक्ति पूजा' की कथा का आधार है। प्रतीक रूप मे यह कवि के अपने जीवन की अनुभूति, निराशा, पराजय, सघर्ष और विजय कामना की नाटकीय कहानी है। 'धिक जीवन जो पाता आया ही विरोध' पक्ति कवि के जीवन पर पूर्णतया घटित होती है। कथा का प्रतिनायक रावण समस्त विरोधी शक्तियो और बिघ्न-बाधाओ का प्रतिनिधि है। वह कवि के हर प्रयत्न को विफल बनाता हुआ पग-पग पर पराजय के शूल चुभोता है। पर पराजित होकर भी वह पराजय नही स्वीकार करता। युद्ध के लिए, विजय के लिए वह पुनः चेष्टा करता है, और विजयी बनता है। विजय का यह आशावादी सदेश केवल राम अथवा कवि के लिए नहीं हैं वरन् वह उन समस्त मानवीय शक्तियो के लिए है जो मानवता विरोधी शक्तियो से सघर्ष करती हुई निराशा, पराजय और दैन्य के अन्धकार मे डूबी हुई है। इस प्रकार कवि की यह कृति हमारे आज के युग की चेनना का सबसे अधिक आशावादी, सबसे अधिक समर्थ

और स्वस्थ कलात्मक स्वर है।

निराला की कला एक बहुत ऊपर उठे हुए कला साधक की कला है। उसमे सती के नेत्रो सा निर्माल्य, सन्त की साधना का तेज और स्वय पुरुष रूप ब्रह्म का पौरुष है। इस पौरुष प्रगल्भ तेजस्विता से इस कला का अङ्ग-अङ्ग उद्भासित है। शक्ति, शील, सौन्दर्य के समन्वित ताने-बाने से निराला की कला का रूपजाल बुना गया है। इसीलिए निराला के भावो की अतल गहराई को और उसके असामान्य कवि-व्यक्तित्व को आत्मसात करने मे वह इतनी सक्षम और समर्थ है। निराला की अद्भुत कला मे निराला का यह अद्भुत व्यक्तित्व नीरक्षीर की तरह समाया हुआ है। इसीलिए सहस्रो रचनाओ के बीच से उनका काव्य उसी प्रकार पहिचाना जा सकता है जसे हजारो मनुष्यो की भीड़ मे से निरालाजी दूर से ही सहज जाने जा सकते हैं। वाजपेयी जी ने ठीक ही कहा है कि जितना प्रसन्न, अथच, अस्खलित व्यक्तित्व निराला जी का है उतना न 'प्रसादजी' का है न 'पन्तजी' का।" निराला मे जो निसग तेजस्विता और पौरुष है उनकी कला जैसी उसकी ही अभिव्यक्ति है। इसीलिए पन्त के समान यह कला कोमल, मार्दव और मसृण नही बन सकी। पौरुष और शक्ति का अदम्य प्रवाह ही उसमे प्रवाहित हुआ है। प्रेम और शृङ्गार के चित्रण मे उनकी कला का स्वर नूपुरो की रुनझुन के समान कोमल नहीं होता, वरन किसी घण्टे पर पड़ने वाली चोट की गहन, गम्भीर झनकार लिए हुए होता है। वहाँ भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे ठोस लोहा धीरे धीरे गल रहा हो। सत्य तो यह है कि निराला की कला मे इस्पात की लचक है, मृणाल तन्तुओ सी कमनीयता नहीं। उसमे नारी का सौन्दर्य इतना नहीं जितना पुरुष का शौर्य है। यह पौरुष और ओज निराला की कविता मे वन्य निर्झर के मुक्त प्रवाह की तरह प्रवाहित हुआ है। फिर भी इस प्रवाह मे कही असयम और दौर्बल्य नही हैं। उसकी गति धीर और प्रशान्त है जैसे कोई मदोन्मत्त हाथी झूमता हुआ चल रहा हो।

काव्य कला

निरालाजी की इस कला मे भावो की रंगीनी ही नही बुद्धितत्व का प्रखर प्रकाश ही है। उसमे उनकी भावुक सहृदयता के साथ-साथ एक सजग

कलाकार की मेधा का भी योग है। वे आत्म विस्मृत गायक ही नहीं वरन काव्य रूप को तराशने और गढ़ने वाले कला विशारद भी हैं। इसीलिए उनकी कविता का विषय निर्वाह देखते ही बनता है। किसी भी छायावादी कवि मे भावो की व्यजना पर ऐसा सयम, ऐसा दृढ नियत्रण नही मिलेगा। उसमे आदि से लेकर अन्त तक भाव और विचारो की सुगठित शृङ्खला मिलेगी। उनकी 'जुही की कली' कविता इसका स्पष्ट प्रमाण है। कही भी कोई शुलभ शिथिल पक्ति ढू ढ़े नही मिल सकती। वास्तव में निराला की कला का निर्माण-कौशल अपूर्व है।

निराला की कला की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी चित्रमयता है। वे अपनी कला-तूलिका से वातावरण की रेखाओ, प्राकृतिक दृश्यो, स्त्री-पुरुषों की विविध भगिमाओ मे ऐसे रग भरते हैं कि वे सजीव चित्र से ही नही बन जाते वरन बोलते हुए से प्रतीत होते हैं। उनके 'दीन भिक्षुक' और दीन दलित 'विधवा' के चित्र, 'राम की शक्ति पूजा' मे पराजित भग्न हृदय राम के चारो ओर के वातावरण के चित्र, 'जुही की कली' की शृङ्गारिक भंगिमाए कितनी सजीव और सौन्दर्यमयी हैं, यह स्पष्ट ही है।

निराला की कला की तीसरी विशेषता उसकी ध्वन्यात्मकता है। शब्दो की ध्वनि पर उनका असाधारण अधिकार है। साधारण शब्दो से चमत्कारी प्रभाव पैदा करने की अद्‌भुत क्षमता निराला मे ही है। वे एक ओर 'फूलदल तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल' जैसी ललित पदावली की रचना करते हैं वहीं "हे अमानिशा, उगलता प्रागन घन अन्धकार" जैसी हुंकार भी भरते हैं।

निराला की कला की एक और विशेषता बिहारी की भाति गागर में सागर भरना है। उनकी लघु पदावली विशद् भावो को वहन करती हुई चलती है। इस दृष्टि से उनके शब्द-चयन की कसावट दर्शनीय है। निराला की रचना की दुरूहता का यह भी एक कारण है। निराला की इस कला की शैली बड़ी अलकृत है। स्थापत्य कला में अलकरण के लिए सुन्दर मूर्तियो के समान उपमाओ, रूपको और अनुप्रासो की भव्य छटा है। 'स्पर्श से लाज लगी' कविता में जो रूपक की पूर्णता है, वह कवि की काव्य कला के अलकृत सौन्दर्य का परिचायक है। रत्नावली के केश जाल को मेघमाला तथा

तुलसी के मन को मयूर का रूप दे उन्होने अभिनव अलकारो का सौन्दर्य बिखेरा है । अनुप्रासो के तो निराला आचार्य हैं "समर मे अमर का प्राण" आदि मे अनुप्रासो का नया चमत्कार है ।

निराला के काव्यकला की सबसे प्रमुख देन मुक्त छदो का प्रणयन है । हिदी कविता का चिर दिन से चले आते हुए छद बध से मुक्ति पाना एक ऐतिहासिक घटना है, और इसका श्रेय निरालाजी को ही है । छदो के नियम से मुक्त इन छदो की विशेषता इनका अदम्य प्रवाह है । निराला जी ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है मुक्त छद वह है जो छद की भूमि मे रहकर भी मुक्त है, मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह है, वही उसे छद सिद्ध करता है ।" हिन्दी में ऐसी मुक्त छद काव्य परम्परा पर निराला का एकाधिकार है ।

निराला की भाषा के सम्बन्ध मे निराला के अध्ययन सम्बन्धी कुछ प्राथमिक विवेचन शीर्षक विद्वतापूर्ण अंग्रेजी निबन्ध मे श्री दामोदर ठाकुर लिखते हैं "कवि अपनी भाषा के स्तर का निर्माता होता है । इस दृष्टि से निराला ने अपनी भाषा के सम्बन्ध मे जो कुछ किया है, वह सम्भवतः हिन्दी का कोई कवि उसकी तुलना मे नहीं ठहर सकता । निराला की कविताए अपने देश और उसकी भाषा का प्रतिनिधित्व करती हैं ।" इसका कारण निराला की भाषा की वह तेजस्विता है, जिसने कि हिन्दी के पौरुष को, उसकी अभिव्यजना शक्ति को, अनन्य पूर्णता प्रदान की है । उन्होने अपनी कविताओ मे हिन्दीपन की पूर्णता को उस समय अक्षुण बनाए रखा है जब कि उनके समसामायिक कवियो की भाषा अ ग्रेजी शैली मे डूब रही थी । इसलिए पद्रह वर्ष पहले से खड़ीबोली की कविता जिस जीवत भाषा शैली का निर्माण करती आ रही है, उसकी प्रथम प्रतिनिधि रचना 'पल्लव' और 'आॅसू' नही निराला की 'परिमल' ही है ।

निराला की कविताओ मे क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा के दर्शन होते हैं । उन्होने 'दाग दगा की आग लगादी' जैसी भाषा भी लिखी है, और "लच्च वस्थलार्गलित द्वार" जैसा वाक्य विन्यास भी किया है । फिर भी निराला की भाषा पर सस्कृत और बॅगला का अप्रतिम प्रभाव है । संस्कृत से उन्होने क्लिष्ट समासात पदावली ग्रहण की है, और वाक्य

विन्यास की शैली उन्होने बग भाषा से ली है। इसीलिए वे अपनी भाषा में शब्दो को जोड़ने वाले रे, के, का आदि क्रियापदो की योजना नहीं करते। लाक्षणिक शब्दो के स्थान पर उन्होने ऐसी ही समासात पदावली का प्रयोग किया है। उनकी ऐसी भाषा बडी शक्तिवान और भास्वर है। उसमें पंत की सी सुकुमारता नहीं, पर पौरुष और तेजस्विता बहुत है। भावो के साथ वह हमारे हृदय को मथ डालती है। सब कुछ मिलाकर निराला जी की भाषा बड़ी आवेगपूर्ण और सौन्दर्य दृप्त है। सत्य तो यह है कि निराला जैसी भाषा अन्य कोई कवि नहीं गढ़ सकता।

निराला का कथा साहित्य

निराला कवि ही नहीं श्रेष्ठ कथाकार है। उन्होने उपन्यास भी लिखे हैं और कहानिया भी। प्रसाद की भाति निराला भी अपने काव्य मे जहा मूलतः रोमाटिक कवि हैं, वहा अपने कथा साहित्य मे प्रगतिवादी कलाकार हैं। डा० रामविलास शर्मा के शब्दो मे सामाजिक यथार्थ का चित्र निराला के गद्य साहित्य मे और भी विशदता के साथ, रेखाओ और रगो की और भी सजीवता के साथ मिलता है। इस गद्य साहित्य को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला की वेदना के मूल स्रोत क्या हैं। उसका कथा साहित्य भारत पर अग्रेजी राज भी कटु आलोचना है, जनता की दरिद्रता और दुखी तस्वीरे सभ्य अग्रेजी शासन पर सबसे अच्छी टिप्पणी हैं। साथ ही यह साहित्य भारतीय रूढ़िवाद की खरी आलोचना करता है। विशेप रूप से वह जाति प्रथा की हानियो, समाज में ऊंच नीच का भेद कायम रखने वालो की असलियत जाहिर कर देता है। वह उनके ऊपर से धर्म के लबादे उतार फेकता है, और उनका सच्चा मानवद्रोही रूप प्रगट कर देता है। वह रूढ़ीवादी समाज के ऊपरी दिखावे और भीतरी सड़ाध का भेद प्रगट करता है धर्म ही नहीं विवाह, पारवारिक जीवन, नैतिक मूल्य, जहा भी मनुष्य दुरगी नीति बरतता है, निराला उसे उघारकर रख देता है। वह जमीदारो के निर्मम अत्याचारो से लड़ते हुए किसानो के चित्र देता है, समाज के सबसे निचले स्तरो मे मानवता के दर्शन कराता है। अनेक कथाओ मे उसने काल्पनिक रोमास के चित्र दिए हैं, छायावादी नायिकाओ की सृष्टि की है, लेकिन

उसकी सहज सहानुभूति उसे यथार्थवाद की ओर खींच ले आती है।" इस दृष्टि से निराला के कथा साहित्य का अनन्य मूल्य है। वह हमारी जनता का साहित्य है, क्योंकि इस साहित्य की जड़े देश की धरती और देश के जन जीवन मे गहराई से फैली हुई हैं। कला की दृष्टि से निराला के उपन्यास चाहे ऊचे न ठहर सके पर उनका जो जनवादी रूप है वह क्या भुलाया जासकता है?

इस प्रकार निराला विद्रोह और परिवर्तन के कवि हैं। उन्होने अपने जीवन मे, अपने साहित्य मे, अपनी कला मे, जड़ता और अप्रगतिशीलता का बहिष्कार किया है और सर्वत्र सचेतन और प्रगतिशील मार्ग की ओर कदम बढ़ाया है। इसीलिए वे हिन्दी के युग प्रवर्त्तक और युग विधायक कवि हैं। उनका यह रूप हिन्दी के लिए कितना सार्थक है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे द्रष्टव्य है "विद्रोह के स्वर मे बोलने वाले साहित्यकारो की इस युग मे कमी नही है। पुरातन विधि निषेध व्यवस्था को खुली चुनौती देना आजकल की अतिपरिचित घटना है। सनातन समझे जाने वाली नैतिकता निःसदेह आजकल सबसे प्रधान हन्तव्य मानी जाने लगी है। किन्तु इस प्रकार की चुनौती देने वाले प्रायः सतुलन खो बैठते हैं, व्यवस्था का विरोध प्रायः ही उच्छृखलता के द्वारा किया जाता है और सनातन समझी जाने वाली नैतिकता का विरोधी ततोधिक सनातन मानी जाने वाली निर्मर्याद वाचालता का आश्रय लेता है। किन्तु निराला के काव्य मे इतना विद्रोह और ललकार होने पर भी उच्छृखल और निर्मर्याद वाचालता नही आने पाई। इसका कारण है कि निराला जी को अपना लक्ष्य ठीक मालूम है। अच्छा डाक्टर रोग पर आक्रमण करता है, रोगी पर नहीं, और इसीलिए उसके सारे प्रयत्नो की एक सीमा होती है। यदि उसके प्रयत्न रोग को नष्ट करने के बाद रोगी को भी नष्ट करने लगे तो निःसदेह वह अवाञ्छनीय डाक्टर है। निरालाजी के कठोर से कठोर आक्रमण भी मर्यादित हैं।"

आधुनिक काव्यधारा के विकास में निराला का काव्य एक ऐतिहासिक भूमिका है। इस भूमिका ने हिंदी में नया वातायन खोला है जिसमे से हहराकर आता हुआ मलयपवन हमारे प्राणो को नए पुलक, नई चेतना, नई सुगन्ध से भर रहा है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक हिन्दी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। प्रसाद ने जिस रोमॉटिक काव्य को जन्म दिया, निराला ने जिसका नेतृत्व किया, पंत के काव्य में वह चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। छायावादी कला का सारा सौन्दर्य, सारी कमनीयता, सारी सकुमारता केवल मात्र पंत के काव्य की सहचरी बनी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार तो छायावादी कवियों में पन्त की कविताएं ही छायावाद का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं। छायावाद का महान आन्दोलन पंत जैसा नेता पाने के कारण ही तेजी से लोकप्रिय हुआ था और इसमें भी सन्देह नहीं कि पन्त ने जब छायावाद के स्वप्न-लोक को छोड़ कर प्रगतिवाद की ठोस धरती पर कदम रखा तभी से छायावाद के पतन का प्रारम्भ हुआ। पर पंत आज प्रगतिवाद से भी आगे स्वस्थ सॉस्कृतिक अभ्युत्थान के कवि हैं। भारतीय अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय से एक नवीन विश्व संस्कृति के रूप को सॅवारने और गढने में उनकी काव्य साधना रत है। उनका कवि निरंतर गतिशील है और वह लघुता से व्यापकता, व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख होता हुआ उस दिव्य आलोकमयी भाव भूमि पर पहुँच गया है जहॉ एक नए सौन्दर्य प्रकाश की सृष्टि, लोक चेतना को चिर आलोकमयी रूप देने के लिए हो रही है। उनके कवि स्वप्न, विश्वव्यापी सुख और शान्ति के विराट सौन्दर्याकाश का अवगाहन कर रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी का यह महान कलाकार निश्चय ही सब से बड़ा सौन्दर्य सृष्टा है—भाव के आकाश का भी और कला की धरती का भी।

प्राकृतिक सौन्दर्य की सुरम्य स्थली अलमोड़ा जिले के पर्वतीय ग्राम कौसानी मे सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म २१ मई सन् १६०० को हुआ था।

जीवन परिचय

माता सरस्वतीदेवी पुत्र को जन्म देकर ६ घण्टे पश्चात् ही स्वर्गवासिनी होगई। पिता पण्डित गंगादत्त एक अङ्गरेज के चाय के बगीचे के मुनीम और लकडी के ठेकेदार थे। इस प्रकार पन्तजी एक समृद्ध परिवार के बालक थे। तीन बड़े भाइयों के पश्चात वे अपने पिता के सबसे छोटे पुत्र थे। फूफी की गोद मे उनका पालन-पोषण हुआ। बचपन से बड़े शात और सीधी प्रकृति के बालक थे। बाल-सुलभ चचलता उनमे तनिक भी न थी। न खेलने का शौक था, न कूदने का। लड़ाई झगड़े से सदैव दूर रहते। घर से बाहर निकलना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। हॉ अपने मकान के पास खड़े देवदार के वृक्षों की ओर निहारना तथा उनसे गिरते पीले चूर्ण को देखना उन्हें बहुत पसन्द था। हिम शिखरो के रजत रूप को प्रातः साय सुवर्णमय होते देखकर भी वे बहुत चकित होते थे।

चार पॉच साल की अवस्था मे बालक पन्त की शिक्षा-दीक्षा शुरू हुई। ग्यारह बर्ष की अवस्था मे सुमित्रानन्दन को अल्मोड़े के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल के चौथे दर्जे मे दाखिल कराया गया। यहीं उनकी रुचि हिन्दी की ओर जाग्रत हुई। १६१६ में उनकी प्रथम रचना 'अल्मोड़ा अखबार' में छपी। अपनी इस काव्य प्रतिभा को ज्यादा साधन सम्पन्न बनाने के लिए पन्तजी नें 'छन्द प्रभाकर' और 'काव्य प्रभाकर' के साथ साथ रीतिकालीन कवियो का अध्ययन किया। मतिराम और सेनापति उन्हें बहुत प्रिय थे। १६१६ से ही उनमे कविता प्रेम इतना बढ़ा कि वे एक-एक दिन मे अनेक कविताओ की रचना करने लगे। उनकी ये कविताएँ प्रारम्भ से ही खड़ी बोली मे थीं। इस समय पत मिडिल कक्षा के ही छात्र थे।

अल्मोड़ा से नवॉ दर्जा पास कर पत जी बनारस आए। यहॉ उन्होने हाई स्कूल पास किया, बंगला साहित्य का अध्ययन किया। सरोजनी नायडू की कविताएँ और प्रसाद का 'झरना' पढ़ा। काव्य रचना की ओर बराबर रुचि रखते रहे। इतिहास की विशेष-विशेष घटनाओ को तो वे पद्य बद्ध करके

रट लिया करते थे। प्रयाग आकर पत इण्टर के विद्यार्थी बने। यहा के एक कवि सम्मेलन में पन्तजी ने 'स्वप्न' कविता पढ़ी। श्रोताओ द्वारा वह बहुत पसन्द की गई। अब पन्त नौसिखिए कवि न रह कर ख्याति प्राप्त कवि बन रहे थे। पत का बहुत समय भी साहित्य पढ़ने और काव्य रचना में व्यतीत होता था। कीट्स और शैली की कविताएं उन्हें बहुत प्रिय लगती थीं। राजनीति को पंत से कोई दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी १९२१ के असहयोग आन्दोलन मे उन्होने कालेज छोड़ दिया। इण्टर न कर सके। इस असहयोग से एक लाभ अवश्य हुआ कि शिक्षा के क्षेत्र से सन्यास ग्रहण कर वे काव्य सरस्वती की ही एकात साधना मे लीन होगए। कवि रूप में पन्त ने खूब यश भी अर्जन किया। कवि सम्मेलन और हिन्दी पत्र उनकी कविताओ के लिए लालायित रहते थे।

इसी बीच पंत ने उपनिषदों, और रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ के वेदान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया। काट और हेगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिको को भी पढा। टालस्टाय के 'मेरा धर्म और उसके अनन्त पाप के सिद्धात' ने भी दिल को थोड़ा अपनी ओर खींचा। पन्त अब परमार्थ के सत्य और उसके सनातन रहस्य को ढूंढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे, पर अभी उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा था। हा इन सबने उन्हे जीवन और जगत के प्रति दुखवादी अवश्य बना दिया। इसी बीच उनके मझले भाई ९२००० रु० का कर्ज परिवार पर छोड कर स्वर्ग सिधार गए। जैसे-तैसे यह कर्ज अदा किया गया पर परिवार का आर्थिक ढाचा टूट कर गिर गया। पत को अब तक आर्थिक दृष्टि से कोई परेशानी नहीं थी पर अब नई चिन्ता के बोझ ने, दर्शन से परेशान उनके चित्त को और भी परेशान बनाया। उनका स्वास्थ्य भी गिर गया।

१९३० में पतजी अल्मोड़े लौट आए। यहीं उनकी भेंट कालाकांकर के महाराज अवधेशसिह तथा तथा उनके छोटे भाई सुरेशसिह से हुई। भेंट ने मित्रता का रूप लिया और पन्त जी कालाकॉकर चले आए। यहाँ उन्होने गावो के वास्तविक रूप को देखा और मार्क्सवासी साहित्य का अध्ययन किया। अध्यात्मवादी पन्त अब भौतिकवादी बनते जारहे थे। दो साल कालाकाकर रह कर वे पुनः अल्मोड़ा चले आये और इसके बाद प्रसिद्ध नृत्यकार उदयशंकर

भट्ट के साथ कानपुर, लखनऊ, आगरा, बडौदा, बम्बई आदि नगरो का भ्रमण किया। इसी भ्रमण मे पन्त जी का सम्पर्क श्री अरविद के सेक्रेटरी ए० बी० पुराणी की कन्या अनुसूया—जो उदयशंकर के केन्द्र मे नृत्य शिक्षा पाने आई थी से हुआ। वह अरविन्द के दार्शनिक विचारो की बडी प्रशंसा करती थी। पतजी भी प्रभावित हुए और उन्होने अरिविद साहित्य का अध्ययन किया। फिर तो वे बड़ी तेजी से इस नवीन दर्शन की ओर झुके। आज का उनका काव्य अरविद के जीवन दर्शन का ही काव्यात्मक रूपातर है।

आजकल पतजी प्रयाग के रेडियो स्टेशन पर उच्च पदाधिकारी हैं। उनकी साहित्य साधना भी जागरूक है। हॉ एक बात पतजी के सम्बन्ध मे और विशेष उल्लेखनीय है। वह यह कि पत जी अभी तक अविवाहित हैं।

पतजी का व्यक्तित्व बाहर और भीतर सभी ओर से बडा सुकुमार, कोमल और कमनीय है। उनका चम्पा जैसा गौरवर्ण, बड़े-बड़े भावपूर्ण नेत्र, पतले अधर, नुकीली नासिका और इन सबसे ऊपर लम्बे बल खाते रेशम के सुनहले बाल, लगता है जैसे पत जी सौन्दर्य की साक्षात मूर्ति हैं। अपनी प्रकृति, व्यवहार, वेश-भूषा, बातचीत सभी मे पतजी बड़े सरल, बड़े सौम्य, बड़े शात बड़े मितभाषी, शिष्ट, सुसंस्कृत और कलात्मक हैं। जनभीरु और सकोची भी बहुत हैं। ज्यादा भीड़-भाड उन्हें पसद ही नही। कोमल इतने हैं कि नाराज होना उन्होने सीखा ही नहीं। कटुता, विद्रोह और सघर्ष की कठोर कर्कश बाते उन्हें सुहाती ही नहीं। बस वे अपने जीवन को, अपने वातावरण को सुन्दर, कोमल और परिष्कृत चाहते हैं। इसी के वे आदी हैं। इसीलिए पत जी अव्यवस्थित कमरे मे नहीं बैठ सकते। अँधेरे में या कर्कश कठोर जमीन पर नहीं चल सकते। वीभत्स, भयानक दृश्य नही देख सकते। युद्ध हत्या से भरे उपन्यास नहीं पढ़ सकते। गन्दे कुरूप व्यक्तियो से बात नहीं कर सकते। सत्य तो यह है कि पंत जी अपनी कविता की भॉति कोमल कात कमनीय सुकुमार हैं।

व्यक्तित्व

पंतजी के अब तक अनेक काव्य-ग्रन्थ प्रकाश मे आ चुके हैं। विद्यार्थी जीवन से वे काव्य रचना करते आ रहे हैं और अभी तक उनकी साहित्यिक

रचमाएँ चेतना जागरूक है। उनकी अब तक की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

काव्य—वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, युगात, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, युगान्तर, उत्तरा।

गीत नाट्य—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्सना।

उपन्यास—हार।

कहानी सग्रह—पाच कहानियाँ।

अनुवाद—'मधुज्वाल' नाम से उमरखैयाम की रुबाइयो का हिन्दी रूपान्तर।

पतजी मूलतः प्रेम, सौन्दर्य और जीवन की कोमलतम भावनाओ के सुकुमार कवि हैं। 'वीणा' से लेकर 'उत्तरा' तक उनकी काव्य साधना ने जीवन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सौदर्य बोध की अभिव्यक्ति की है। जीवन का बहिरग सौदर्य उन्हें सुरम्य प्रकृति के मर्मर सगीत मे मिला है और यही सौदर्य उन्हें कल्पना के स्वर्गलोक में उड़ा ले गया जहा बाहर के ससार से आख मूँदकर, चिरनन सौदर्य की राशि से सज्जित स्वप्न जगत की उन्होंने सृष्टि की है। इसी स्वप्न जगत के स्वर्ण कपाट खोलकर वे आज जीवन के सौदर्य पथ पर बढ़ रहे हैं। वस्तु जगत के यथार्थ को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेना उनके कवि जीवन को रुचि कर नहीं, इसीलिए उस कुरूप यथार्थ को उतना महत्त्व न देकर, उससे आखे हटाकर अपने स्वप्निल ससार मे उसके अ दर्श और सौदर्यमयी रूप की सुकुमार अभिव्यक्ति ही उनकी काव्य साधना की मूल चेतना है। उनके अन्तर मे जो सौदर्य का चेतना-ज्वार उमड रहा है, काव्य के माध्यम से वे युग जीवन की शिराओं मे प्रवाहित करना चाहते हैं।

काव्य साधना

प्राकृतिक सौदर्य और सुषमा ने कवि के हृदय मे कविता का स्फुरण किया है। प्रकृति की आत्मा से साहचर्य स्थापित कर उसकी सुखद और आह्लाद भरी अभिव्यक्ति हमे पत की 'वीणा', 'पल्लव' आदि प्रारम्भिक रचनाओ मे मिलती है। अपने प्रकृति वर्णन मे पत ने एक आह्लादमयी चेतन सत्ता का

आभास प्राप्त किया है तथा सुकुमार नारी के रूप मे उसकी उपासना की है। अपने इसी रूप मे कवि छायावादी तथा रहस्यवादी है। उनकी इन कविताओ पर रवीन्द्र, शैली, कीट्स और टेनीसन की रचनाओ का स्पष्ट प्रभाव है। सौदर्य का यह कवि 'ग्रन्थि' मे प्रेम का कवि बन गया है। इस कृति मे यौवन, सौदर्य तथा सयोग वियोग जनित तरुण हृदय की मार्मिक अनुभूतिया हैं। 'गु जन' मे प्राकृतिक सुषमा के स्थान पर मानव जीवन के आन्तरिक सौदर्य का उन्मन गु जन है। यहा जैसे प्रकृति का भावुक कवि पत जीवन का चितन शील कवि बन गया है। उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा मे प्रविष्ट हुई है और उसी के अन्तर्भूत रूप व्यापारो को उसने काव्य का परिधान दिया है। वह जैसे प्रकृति के चिरतन सौदर्य के सदृश्य ही मानव जीवन के सौदर्य सृजन की प्रेरणा लेकर आया है।

'गु जन' से आगे युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या मे उन्होने जीवन के कटु यथार्थ का दर्शन किया है और इस यथार्थ को आदर्श मे परिवर्तन करने के लिए, जन जीवन की टूटी टहनियो को हरी भरी कोपलो से भरने के लिए, उसके कुरूप को सुन्दर बनाने के लिए स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूल और उत्तरा मे उन्होने आध्यात्मिक सौदर्य का दिव्य आलोक दिया है। भौतिकवाद के रूप मे वे आज युग जीवन के बहिरतर पक्ष को समुन्नत बनाने के साथ-साथ आध्यात्मिक रूप मे उसके अन्तर पक्ष का भी उत्कर्ष चाहते हैं। इस. प्रकार पत आज भौतिक उत्कर्ष और आध्यात्मवादी सौदर्य की समन्वय भूमि पर खड़े होकर पूर्ण विकसित एव नवल मानव सस्कृति को गढने मे साधना रत है। उनका समस्त काव्य इस तरह मानव जीवन की बहिरग और अन्तरग दोनो ही रूपों मे पूर्ण और सुन्दरतम अ[illegible] है। अपने इस विकास-क्रम मे कवि ने भाव सारिणी के जिन उपकूलो को स्पर्श किया है उनका दर्शन यहा उचित ही होगा।

अँग्रेजी कवि वायरन का कथन है "मै मनुष्य से कम प्यार नहीं करता। पर प्रकृति से अधिक प्यार करता हूँ।" ये शब्द हिन्दी के कवि पत के लिए अक्षरशः उपयुक्त हैं। उनके काव्य का प्रथम विषय

प्रकृति है और गौण विषय मानव है। मानव के रूप को भी वे प्रकृति के समान सुन्दर बनाना चाहते हैं। अब तक प्रकृति मानव जीवन से सम्बन्धित थी। इसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न था। पर बीसवीं शताब्दी मे वह मानव की भाति ही चेतना सम्पन्न और स्वतन्त्र बनी। प्रकृति की इस मुक्ति मे पत का सबसे बड़ा हाथ है। उन्होने मानव जीवन को प्रकृति से सम्बन्धित करके प्रकृति को सबसे अधिक गौरव प्रदान किया है। चन्दबरदाई से लेकर आज तक के समस्त हिन्दी कवियो मे पत प्रकृति के सबसे बड़े कलाकार है। प्रकृति का उन्होने शरीर ही नहीं देखा, उसकी आत्मा को भी देखा है और उसकी कोमल भावनाओ को जाना है।

प्रकृति पत के काव्य की जननी है। जन्म से ही मातृहीन पत के कवि शिशु ने प्रकृति के ममतामयी आचल मे मुँह छिपाकर वात्सल्य के मधुर रस से अपनी किशोर आत्मा और शरीर को पुष्ट बनाया है। पतजी खुद लिखते हैं "तब मैं छोटा सा चञ्चल भावुक किशोर था। मेरा काव्य कण्ठ अभी तक फूटा नही था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय मे वह अपनी मीठी मुस्कानो से भरी हुई चुप्पी अङ्कित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरो मे बज उठी।"

कवि की प्रथम कृति 'वीणा' का मुख्य वर्ण्य विषय ही प्रकृति है। वीणा काल मे उसने प्रकृति की छोटी-मोटी विविध वस्तुओ को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामिग्री सचित की है। फूल, पत्ते और चिड़िया बादल, इन्द्रधनुष, ओस, तारे, नदी, झरने, उषा, संध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियो और खिलौनो की तरह उसकी बाल कल्पना की पिटारी को सजाए हुए हैं—

"छोड़ द्रुमो की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल मे कैसे उलझादूँ लोचन ?

आदि सरस भावनाओ को बिखेरती हुई उसकी काव्य-कल्पना जैसे अपनी

समवयस्का बाल प्रकृति के गले मे बाहे डाले प्राकृतिक सौन्दर्य के छायापथ मे विहार कर रही है।

उस फैली हरियाली मे
कौन अकेली खेल रही मां
सजा हृदय की थाली मे।

लगता है जैसे स्निग्ध, सुन्दर, मधुर प्रकृति की गोद, मा की तरह कवि के किशोर जीवन का पालन एव परिचालन करती थी।

'वीणा' मे कवि प्रकृति के रूप पर मुग्ध है। एक रहस्यप्रिय बालिका की तरह वह उसके गुणो का अनुकरण कर उससे एकाकार होना चाहता है। 'वीणा' से आगे पल्लव मे प्रकृति प्रेम की अभिव्यजना अधिक प्राजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। वीणा की रहस्य प्रिय बालिका अब मुग्धा युवती का हृदय पाकर प्रकृति जीवन के प्रति अधिक सवेदनाशील बन गई है। अब उसके नयन गहरे, धु धले, धुले, सावले मेघो से भरे रहते हैं। उसकी आशा का सेतु इन्द्रधनुष सा है। निर्झर का अचल उसे आँसुओ सा गीला जान पड़ता है, वह अब मधुकरी के साथ फूलो के कटोरो से मधुपान करने को व्याकुल है। 'सोने का गान', 'निर्झर का गान', 'मधुकरी', 'निर्झरी', 'विश्ववेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओ मे प्रकृति की अतुल सौन्दर्य राशि से कवि ने अपने जीवन के ताने बाने को बुना है। इस पल्लव मे है—

दिवस का इनमे रजत प्रसार
उषा का स्वर्ण सुहाग
निशा का तुहिन अश्रु शृ गार,
सांझ का निस्वन राग
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार।

पत ने अब तक प्रकृति की सुकुमार भावनाओ के चित्र खींचे हैं पर अपनी परिवर्त्तन कविता मे उसके कठोर रूप की भी झलक दी है।' 'पल्लव' से आगे 'गु जन' मे भी कवि का प्रकृति प्रेम अत्यन्त जागरूक है। उसमे कवि का चितन पक्ष अधिक मुखर हुआ है। उसके अन्तर्मन की उदासी प्रकृति चित्रण मे सर्वत्र अभिव्यक्त है। चादनी कवि के लिए जग के दुख दैन्य

शयन पर रुग्ण जीवन बाला है। इस प्रकार वीणा की प्रकृति रचनाए जहाँ भाव प्रधान हैं, वहा पल्लव की कल्पना प्रधान गु जन की विचार प्रधान हैं। 'युगान्त' की प्रकृति पर मानववाद का प्रभाव है। इसमे प्रकृति के माध्यम से मानव की मगल आशा प्रगट की गई। कवि देखता है कि मानव जगत बहुत विकृत, कुरूप और विकलाग है, पर प्रकृति बहुत सुन्दर, पूर्ण और प्रसन्न है। इसीलिए मानव जीवन के कंकाल जाल मे प्राणो का मर्मर सगीत भरने के लिए वह प्रकृति से प्रार्थना करता है। 'ग्राम्या' मे गाव की प्रकृति का चित्रण है। गाव के खेत, पेड पौधे, पशु पक्षी, घर की ओर लौटतीं गाए, डालो पर बैठा घुघ्घू, बबूल पर बया का घोसला सभी को अपनी प्रकृति की बाहो मे समेट कर चला है। 'स्वर्ण किरण' और स्वर्ण धूल' मे प्रकृति और मनुष्य एक ही है, इस निष्कर्ष पर कवि पहुँचा है क्योकि प्रकृति को देखकर कवि मानव की याद कर उठता हैं। इतना अवश्य है कि प्रकृति अब पल्लव, वीणा की भाति रहस्यमयी, सूक्ष्म और मसृण नही रही। उसमे अब एक बौद्धिक स्थिति प्रज्ञता आ गई है। 'उत्तरा' का प्रकृति चित्रण प्रतीक विधान पर आधारित है। वहा प्रकृति कवि के अन्तश्चेतनावादी जीवन दर्शन का प्रतीक बनकर आई है। इसीलिए यहा प्रकृति सम्बन्धी रचनाओ मे शाति और पवित्रता का वातावरण छाया हुआ है।

समग्र रूप से पत का प्रकृति चित्रण अनेक विविधता लिए हुए है। वस्तु परिगणन प्रणाली, वातावरणचित्रण, प्रतीक विधान, मानवीयकरण, सश्लिष्ट चित्रण, उद्दीपन रूप, अलकार रूप, उसके कोमल और कठोर रूप, उल्लास और विषाद का रूप सभी प्रकार से प्रकृति की विराटता और गहनता को कवि ने अपने काव्य की परिधि मे ला समेटा है। जिस प्रकार सूर वात्सल्य क्षेत्र का कोन-कोना झाक गए है—उसी प्रकार कवि पंत प्रकृति का काना-कोना झाक गए हैं। कभी वे प्रकृति को चेतन सम्पन्न प्राणी मान उससे अपने मन की बाते कहते है, दुख सुख और प्रेम की बाते करते है, कभी उसके विराट सौन्दर्य को देख विस्मय करते है, और कभी नारी रूप मे उसकी उपासना करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि पन के कवि ने मूलतः प्रकृति की रम्य क्रोड़ मे ही क्रीड़ा की है। प्रकृति से भिन्न उसके

काव्य का अस्तित्व ही नही है। वीणा से लेकर उत्तरा तक दूध मिश्री की तरह प्रकृति, कवि के साथ रही है।

प्रकृति ने ही पत जी को छायावादी और रहस्यवादी बनाया है। कवि ने लिखा है "पर्वत प्रदेश के निर्मल चचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारो ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊंची चमकीली चोटिया रहस्य भरे शिखरो की तरह उठने लगी थी, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चदोवे की तरह आखो के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाए खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखो को चकाचौध कर चुकी थीं, फेनो के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिये बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश चुंबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर महान सदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह, प्रतिष्ठित हो चुका था।

छायावाद और रहस्यवाद

इससे स्पष्ट है कि प्रकृति ने ही अपने मे व्याप्त एक रहस्यमय और विराट सौन्दर्य चेतना के प्रति कवि के भीतर अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया। 'वीणा' और 'पल्लव' की अनेक रचनाओ मे प्रकृति की इस सौन्दर्य चेतना के प्रति यह अज्ञात आकर्षण जिज्ञासा और कुतूहल की प्रवृत्त लिए हुए है। प्रकृति की यह सौन्दर्यमयी शक्ति ही देवी, माता, सखी और प्रियतम के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। 'वीणा' और 'पल्लव' की अनेक रचनाओ मे प्रकृति कवि की आध्यात्मिक मा बनकर आई है जिससे वे अपने हृदय की जिज्ञासा शात करने के लिए विस्मय भरे प्रश्न पूछते है, और कभी प्रकृति को सखी जान अपने सुख दुख की बात करते है। वे सरिता से गीत सीखने के लिए उसके पास जाते है। बाल विहगणि से प्रथम रश्मि के आगमन की पहिचान का रहस्य जानना चाहते है :—

प्रथम रश्मि का आना रंगणि तूने कैसे पहचाना।
कहाँ कहाँ है बाल विहंगणि पाया तूने यह गाना।

पंत के छायावाद का सीधा सम्बन्ध प्रकृति से है। क्योकि कवि के मतानुसार प्राकृतिक चित्रो मे कवि की अपनी भावनाओ के सौन्दर्य का और अपनी भावनाओ मे प्राकृतिक सौन्दर्य का छाया चित्रण ही छायावाद है। इस प्रकार पत के छायावाद की अभिव्यक्ति प्रकृति मे मानवीय चेतना के आरोप द्वारा हुई है। पत का यह छायावाद फलतः रूढ़िगत न होकर स्वच्छद सरल और सरस है। वह दर्शन मूलक न होकर कला मूलक है। कल्पना की रम्य तूलिका से उसने रहस्यमयी प्रकृति के जो छायाचित्र अङ्कित किए, उसकी मानवीय भावनाओ का जो कुशल अंकन किया है वही तो उसका छायावाद है। उसका यह छायावाद वस्तुतः विषयगत न होकर शैलीगत ही है। जैसा कि शुक्लजी का कथन है " 'छायावाद' शब्द मुख्यतः शैली के अर्थ मे, चित्र भाषा के अर्थ मे ही उनकी (पत जी की) रचनाओ पर घटित होता है।"

छायावाद की भॉति ही पतजी का रहस्यवाद सहज स्वाभाविक है। क्योकि व्यक्तजगत के नाना रूपो और व्यापारो के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का आभास करता हुआ कवि जिस अतृप्त जिज्ञासा की बात करता है, वैसी रहस्यमयी भावनाए प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन मे इस रहस्यमय जगत को देखकर उठा करती है। रात्रि के रहस्यमय नक्षत्रो को देखकर, मेघो के गर्जन मे तड़ित की छवि को देखकर, समुद्र की उठती हुई तरगो को देखकर कवि विस्मय करता है कि न जाने कौन सी अज्ञात सत्ता उसे मौन निमन्त्रण दे रही है। उस अज्ञात सत्ता का परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक कवि की आत्मा कहती है—

न जाने कौन अये द्युतिमान
जान मुझको अबोध अज्ञान
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रो मे गान
अहे सुख दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकती तुम हो कौन।

पर अन्त मे कवि इस रहस्य को जान ही लेता है। वह अनुभव करता है

कि ये मेरे सकुमार प्रियतम हैं जो मुझे कभी उमडते पत्तो के साथ और कभी लहरो से हाथ बढ़ाकर उस पार अपने पास बुलाते हैं —

कभी उड़ते पत्तो के साथ, मुझे मिलते मेरे सुकुमार ।
बढ़ा कर लहरो से निज हाथ, बुलाते फिर मुझको उस पार ।

ये सकुमार प्रियतम निठुर भी हैं । विहग रव बन कर जब कवि का मन अपने चितचोर प्रियतम का गुण गान करने आया तभी वह अन्तर्ध्यान हो गया —

हुआ था जब संध्या आलोक
हंस रहे तुम पश्चिम की ओर
विहग रव बनकर मै चितचोर
गारहा था गुण किन्तु कठोर
रहे तुम नही वहाँ भी शोक
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

कवि अपने इस असीम प्रियतम को कैसे समझाये कि वह उससे भिन्न नहीं है । यदि वह जलद है तो कवि की आत्मा स्वाति है, तृषा बनकर वह चातक रूपी आत्मा मे समाया हुआ है :—

बताऊं मै कैसे सुन्दर !
एक हूँ मै तुम से सब भाँति ?
जलद हूँ मै यदि तुम हो स्वांति
तृषा तुम यदि मै चातक पाँति ?

पत के हृदय से ऐसी ही सरल शुचि रसधारा प्रवाहित हुई है । उसमे न तो प्रसाद की सी चितनशीलता है और न निराला की सी दार्शनिकता । उसमे कवि की रहस्य अनुभूति का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है ।

अन्य रोमाँटिक कवियो की भाँति कवि पन्त ने जनजीवन के वस्तु जगत से दूर कल्पना के स्वर्ण लोक मे प्रणय और रोमास के मादक चित्र सँजोए है ।

पंत की प्रेम भावना

पत का समस्त छायावादी काव्य प्रेम और सौदर्य की इसी अतृप्त पिपासा मे डूबा हुआ है । इतना अवश्य है कि प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने

के कारण उसका रूप रहस्यमय, अलौकिक, अपार्थिक और अतीन्द्रिय बन गया है। वह स्थूल न होकर सूक्ष्म, मासल होकर काल्पनिक है। इन गीतों मे नारी को नए रूप मे देखा है, और उसे दिव्यलोक की अप्सरा का रूप दिया है। प्रकृति के विराट सौदर्य मे ऐसे नारी रूप को प्रतिष्ठित कर उन्होने उसकी उपासना की है। पत की यही अशरीरी प्रेम भावना छायावाद और रहस्यवाद का रूप लेकर आई है, जिसकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है।

पर ऐसे रहस्यवादी पत लौकिक प्रेम और स्थूल शृगार के भी कवि हैं। 'ग्रन्थि' मे जन जीवन मे होने वाली प्रणय व्यापार की लौकिक कथा है। जिसमे अपनी प्रेयसी के सयोग और वियोग को लेकर कवि ने प्रेम और शृङ्गार के बड़े मादक और करुण चित्र उभारे हैं। प्रेम भावना का बड़ा मासल रूप वहा द्रष्टव्य है। इस मे न कोई रहस्य है, और न कोई आध्यात्मिकता। 'पल्लव' की 'आसू' और 'उच्छ्वास' कविताएँ भी ऐसी हैं। उसमे कवि की विरही आत्मा का करुण क्रदन है, हृदय की चीख पुकार है। आरम्भ मे ही आसू गीत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है—

आह यह कैसा गीला गान!

वर्ण वर्ण है उर की कंपन,
शब्द शब्द है सुधि की दशन
चरण चरण है आह
कथा है कण कण करुण कराह।

पर कवि की यह व्यक्तिगत वेदना अन्त मे सार्वभौमिक बन जाती है। वह अनुभव करता है कि समस्त सृष्टि मे प्रेम की निराशा और वेदना ही व्याप्त है—

गगन के उर मे भी घाव, देखती ताराएं भी राह।
भरा विद्युत छवि में जलदाह, चन्द्र के चितवन मे भी चाह।
दिखाते जड़ भी तो अपनाव, अनिल भी भरता ठंडी आह।

जायसी के विरह की व्यापकता कवि पत के इन विरह स्नात शब्दो मे कितनी सचाई के साथ उतरी है। पर कवि केवल वियोग का ही कवि नहीं है। 'गुंजन' की 'भावी पत्नी के प्रति' रचना मे उन्होने सौन्दर्य की रसमयी

कल्पना की है। पाठक का हृदय बरबस शृङ्गार की मादक लहरो मे वहाँ डूबने उतरने लगता है। उसके जन्म काल से लेकर उसके यौवनागम तक का वर्णन कवि ने रस ले लेकर किया है। एक अन्य रचना में वह अपनी प्रेयसी से एकान्त पाकर अनुनय-विनय करता है—

आज रहने दो यह गृह काज
प्राण रहने दो यह गृह काज
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ श्लथ उच्छ्वास
प्रिये लालस सालस वातास,
जगा रोओं मे सौ अभिलाप।

सयोग शृङ्गार के मासल प्रेम का यह चित्र कितना मादक, कितना सरस, कितना मानवीय और हमारे जीवन के निकट है। रीतिकालीन कवियो ने जहा नारी को काम-केलि की क्रीति दासी बना दिया था। उसका न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था न व्यक्तित्व। द्विवेदीयुगीन कवियो ने नैतिक आदर्शवाद के आवरण से नारी और उसके प्रेम की स्वाभाविकता को आच्छन्न कर दिया था। पत ने नारी और पुरुष की इस लौकिक प्रणयानुभूति को मानवीय और स्वाभाविक रूप दिया। जीवन के भरपूर रस से उसे ओतप्रोत किया।

मानवीय प्रेम और सौन्दर्य का यह सुकुमार कवि मानव जीवन के सुख-दुख का दार्शनिक कवि भी है। 'पल्लव' से 'गु जन' मे आकर उसने सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण किया है। पल्लव की प्रकृति सुषमा से सौन्दर्यसिक्त भूमि से 'गु'जन' के चिन्तन लोक मे वह उतरा है। कवि की परिवर्तन कविता इस दिशा में महत्वपूर्ण मोड़ है। उसमे कवि सौन्दर्य द्रष्टा न होकर ससार की अनित्यता और जीवन मरण के दर्शन का द्रष्टा हो गया है। दर्शन और उपनिषदो के अध्ययन ने उसके रागतत्व मे मन्थन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा को बदल दिया। जीवन के मधुर रूप मे उसे मृत्यु दिखाई देने लगी। बसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थि-पिंजर दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार जीवन की यथार्थता से टकराकर

पन्त का मानववाद

कवि का सौन्दर्य स्वप्न बिखर गया, और उसने मानव के चिरन्तन भाव जगत में प्रवेश किया। उसका व्योम-विहारी गीत खग अब जीवन के विटप पर उतर आया।

कवि के हृदय मे द्वन्द्व है, ससार की नित्यता और अनित्यता का, मानव जीवन के सुख दुख का। वह देखता है कि सारा संसार 'अति दुख' और अति सुख' से पीड़ित हैं। अन्त मे कवि समन्वयवादी दृष्टिकोण से इस द्वन्द्व को समाप्त कर लोक कल्याण की भाव भूमि पर चरण बढ़ाता है। कवि कहता है कि सुख दुख क्षणिक है। मानव जीवन चिरतन है, शाश्वत है।

अस्थिर है जग का सुख दुख, जीवन ही नित्य चिरंतन,
सुख दुख के ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन।

इसीलिए कवि ससार को मिथ्या समझ उससे विरक्त और उदासीन नहीं बनता। मानव जीवन मे ही वह उल्लास और आशा का सन्देश पाता है—

जग जीवन में उल्लास मुझे नव आशा नव अभिलाष मुझे।

इसीलिये कवि दृढ़ता पूर्वक जीवन रण में कूदने के लिए मानव-मात्र को उद्‌बोधन देता है—

जीवन की लहर लहर में हँस खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्थल में, नित बूढ़ बूढ़ रे भाविक॥

जीवन की इस धूप छाँह से खेलता हुआ मनुष्य सुन्दर से सुन्दरतम की ओर बढता जाय यही कवि का आदर्श है—

सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम।
सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर-सुन्दर जगजीवन॥

यह मानव-जीवन सुन्दर आदर्शों और विश्वासो से ही सुखमय और सुन्दर बन सकता है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन।

'गु जन' की विचारधारा का विकरित स्वरूप 'ज्योत्सना' गीति नाट्य में मिलता है। इसमें कवि संसार पर ही प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श प्रतिष्ठित करने की अपनी सैद्धान्तिक

कल्पना को भावनाओं के प्रतीक द्वारा पूरा करता है। 'ज्योत्सना' का यह गीत नई मानवता का संदेश गीत है—

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहों मे हैं मुक्ति यही जीवन बन्धन।

'युगात' रचना भी मानव कल्याण के उच्च आदर्शों से सॅजोई हुई है। यहाँ जैसे कवि के सौन्दर्य युग का अन्त हो गया है और वह पूर्णतः मानव-वादी कवि हो गया है। अब वह प्रकृति और सौन्दर्य की श्री सुषमा की अपेक्षा उसका प्रेमी है, जिससे मानव का हित हो सके। मानवीय संस्कृति को अभिनव रूप देने के लिए, भावी मानव के हित के लिए एक नवल सृष्टि की रचना चाहता है। वह युग जीवन को नए विचारों, नए भावो, नए सौन्दर्य, नए सगीत से अनुप्राणित बनाने के लिए निष्प्राण और जड़ प्राचीन रूढियो पर तीव्र आक्रोश प्रगट करता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पात्र,
हैं स्रस्त-ध्वस्त। हे शुष्क शीर्ण।
हिम ताप पीत, मधु बात भीत,
तुम वीतराग जड़ पुराचीन।

इस प्रकार गु जन, ज्योत्सना, युगात में कवि का मानव वादी स्वर मुखर है। यहाँ गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित वह मानव कल्याण का आशावादी कवि है। छायावाद के मोह जाल से छूटकर वह लोक जीवन का गायक बना है। इतना अवश्य है कि कवि की यह लोक मंगल साधना अन्तर्मुखी है। मानव कल्याण के स्वप्न ही उसने सॅजोए हुए हैं। जन जीवन के यथार्थ धरातल से परे अभी उसने अपनी कविता के चरण नहीं बढ़ाए। वह जैसे आसमान में ही विहार करता हुआ लोक जीवन की कल्याण भावना का सौन्दर्य जाल बुन रहा है। पर 'युगात' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे

प्रगतिवाद

कवि, कल्पना के स्वप्न नीड़ को तज कर वस्तु जगत की यथार्थ धरती पर उतर आता है। यहाँ उसका मूल स्वर अध्यात्म की अपेक्षा भौतिकवादी है और उसका छायावादी रूप प्रगतिवादी बन जाता है। मानववाद की अन्तर्मुखी

साधना यहाँ बहिर्मुखी बन गई है। कवि अब स्वप्नो की नही, जीवन के सत्य की बात करता है। आदर्शों का नहीं, यथार्थ का दिग्दर्शन कराता है। वह गाधीवाद से अब मार्क्सवाद की ओर आकर्षित होता है। 'युगात' मे इस प्रगतिशील स्वर की तुतलाहट है पर युगवाणी और ग्राम्या मे वह स्पष्ट और तीव्र हैं। युगवाणी मे शोषण हीन जन सस्कृति की आकाक्षा, मध्ययुग की सामन्तीय रूढ़ियो और मान्यताओ के प्रति विद्रोह, जनता की नैतिक और भौतिक आवश्यकताओ का प्रबल आग्रह है। वह उस युग की कल्पना करता है जहाँ—

श्रेणि मे मानव नहो विभाजित
धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण

इस प्रकार वर्ग हीन मानव समाज की कल्पना द्वारा वह साम्यवादी सिद्धान्तो को वाणी का आवरण देता है। इस साम्यवाद से कवि इतना अधिक प्रभावित है कि वह साम्यवाद के जनक 'मार्क्स' को शिवका तीसरा 'ज्ञान चक्षु' बतलाता है। ससार, इतिहास और समाज की जैसी व्याख्या साम्यवाद करता है, वैसी ही व्याख्या पन्तजी ने की है। उन्होने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद धनिक, शोषक वर्ग सभी के प्रति विरोध प्रकट करते हुए कृषक, मजदूरो की प्रशसा की हें। साम्यवाद के साथ ही वह स्वर्णयुग के मधुर पदार्पण की कामना करता है—

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।

कवि की 'ग्राम्या' मे गावो के यथार्थ जीवन के चित्र हैं। गुप्तजी की 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' की तुलना मे गावो का निम्न चित्र कितना यथार्थवादी है—

यह तो मानव लोक नही रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
झाड-फूँस के विवर यही क्या जीवन शिल्पीके घर ?

कीड़ो से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग मे।

ऐसे गाँवो में रहने वाले बालक, वृद्ध, युवती मजदूरनी आदि ग्रामीण व्यक्तित्व के सजीव चित्र ग्राम्या मे दृष्टव्य हैं। धोबियो, चमारो और कहारो के नृत्य पर लिखी हुई पुष्ट रचनाएँ लोक जीवन के बहुत निकट हैं। इस प्रकार 'युगवाणी' कवि के साम्यवादी सिद्धान्तो की व्याख्या है, ग्राम्या मे उसके व्यावहारिक पक्ष की स्थापना है। युगवाणी बुद्धि है और ग्राम्या भाव। पहला सिद्धान्त है, दूसरा जीवित आधार।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रगतिवादी साहित्य की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ उस समय की हैं जब प्रगतिवादी काव्य घुटनो के बल चल रहा था। पर इन रचनाओ ने उसके पैरो को दृढ गतिशीलता दी। इसीलिए प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा के शब्दो मे 'ग्राम्या' प्रगतिशील कविता का ऐतिहासिक मार्ग चिह्न है।

'ग्राम्या' और 'युगवाणी' मे साम्यवाद के प्रति आस्था रखते हुए भी श्री सुमित्रानन्दन पन्त का सघर्ष भीरु व्यक्तित्व मार्क्सवाद में अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सका। 'गु जन' और 'ज्योत्सना' के आत्मवादी स्वर जो 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' के भूतवाद मे दब गए थे, 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूल' और 'उत्तरा' मे पुनः तीव्र हो उठे। वास्तव मे जिस मानव सस्कृति के अभ्युत्थान का स्वप्न कवि ने 'ज्योत्सना' मे देखा था, समाजवाद उसका साधनमात्र था। 'युगवाणी' मे वह स्पष्ट कहता है—

अन्तश्चेतनावाद

राजनीत का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख—
एक बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।

जग की इस बृहत् सांस्कृतिक समस्या के निदान के लिए कवि ने जो हल ढूँढ़ा है वह भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय है। कवि

देखता है कि आज मानव जाति स्वार्थ, सघर्ष, वर्णभेद, वर्गभेद, की कुत्साओ से घिरा हुआ है। मानवता के मदिर मे यत्र और विज्ञान की विभीषिका का नर्तन हो रहा है। सामाजिक जीवन पूर्णतः विश्रृंखल, विषादमय और प्रपीड़ित है। इस सार्वभौम अधःपतन का मूल कारण है मानव जीवन में सतुलन का अभाव। आज मनुष्य अपने अन्तःस्वरूप को भुलाकर बाह्य जीवन मे ही खो गया है—

बहिर्चेतना जागृत जग मे अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियां जीवित अन्तर्जीवन मूर्छित मृत।

स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा मे इसी मूर्च्छित अन्तर्जीवन को चैतन्य बनाने का प्रयत्न है। कवि का सदेश है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य के समन्वय से ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है। मानव संस्कृति का स्वस्थ निर्माण कर सकता है। पत का यही संदेश अन्तश्चेतनावादी नव मानवतावाद है। कवि का यह नवीन विचार दर्शन अरविन्द के दार्शनिक धरातल पर टिका हुआ है। यहा कवि अखिल मानवता के भेदो को मिटाकर एक अखिल विश्व सस्कृति के निर्माण के लिए उत्सुक हैं। वह पूर्व और पश्चिम के देश भेद को अन्तश्चेतनावाद के समन्वय सूत्र से जोड़कर विश्व सस्कृति का चरम-उन्नयन चाहता है।

पत के इस अन्तश्चेतनावाद का आधार सृष्टि के प्रति विरक्ति नहीं वरन् एक मनोवैज्ञानिक अनुरुक्ति है। पत के अनुसार मानव का पूर्ण विकास अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनो के ही पूर्ण उत्कर्ष से सभव है। एकागी विकास मानव जीवन को अहितकर होगा। फलतः वे भूत और चेतना, अध्यात्म और भौतिकता, मन और मस्तिष्क का समन्वय करके एक पूर्ण मानवीय विकास की कल्पना करते हैं। अपनी इस काव्य सृष्टि द्वारा पन्त ने "मानवता को, नाश के स्थान पर निर्माण का, जड़ के स्थान पर चेतन का, विषमता के स्थान पर समता का, अनैक्य के स्थान पर ऐक्य का, घृणा के स्थान पर प्रेम का और भूत शक्ति के स्थान पर आत्मशक्ति के पुनरुत्थान का सदेश दिया है।" (ब्रिजेन्द्र स्नातक)

अपने भाव जगत की भांति पंत की कला भी सौन्दर्य प्रिय है। कलाकार के व्यक्तित्व की भांति सुकुमार और कोमल है। निराला की भांति उसमें मध्यान्ह की प्रखरता नहीं? बालारुण की रश्मियो का का हलका-हलका प्रकाश है। उसमें पुरुषत्व का ओज नही नारीत्व की कमनीयता है। ऐसी कला को

पंत की काव्य कला

पत जी के काव्य मे अनन्य प्रधानता मिली है। छायावादी कवियो मे पतजी सबसे अधिक सचेतन कलाकार हैं। भावों से अधिक कला के मोह ज्वाल ने उन्हें अधिक उलझाया है। नगेन्द्र जी ने ठीक ही लिखा है "पतजी प्रधान रूप से कलाकार ही है। इनके काव्य मे सबसे प्रथम कला का उसके उपरान्त विचारो का, अन्त मे भावो का स्थान रहता है।" इसमें भी सदेह नही कि छायावादी शैली का कलात्मक सौन्दर्य केवल पत के काव्य मे ही अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। पत का छायावाद ही भाव परक न होकर कला परक है।

पतजी के ऐसे कलामूलक काव्य की पहलो विशेषता उनकी अपरिमय कल्पनाशक्ति है। वाजपेयी जी के शब्दो मे कल्पना ही पतजी की कविता का मेरुदंड हैं, उनकी काव्य सृष्टि का मानदड है। कोरी कल्पना की बाल्य सुलभ रगीन उड़ानो से लेकर अत्यत तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियो के चित्रण से पतजी का विकासक्रम देखा जा सकता है।"

इस कल्पना प्रधान कला की सबसे बडी विशेषता उसकी चित्रमयता है। वह प्रत्येक अनुभूति, मानव मुद्राओ, चेष्टाओ, वातावरण और विविध भगिमाओ की ऐसी चित्रपटी प्रस्तुत करती है कि चलचित्रो के सदृश्य सारे चित्र आखो के सामने नाचने लगते हैं। थोडे से ही सकेत चित्रो मे सध्या का यह दृश्य कितना सजीव कितना स्वाभाविक है—

बांसो का झुरमुट
सध्या का झुटपुट
है चहक रही चिड़ियां
टी वी टी टुट टुट।

पत की इस चित्रमयी कला की एक और विशेषता है विशेषण विपर्यय। वे एक ही विशेषण के द्वारा सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने मे सिद्धहस्त हैं। लहर को उन्होने 'सरिता की चचल दृगकोर' और 'चीटी को भूरे बालो की कतरन' कहा है। इस प्रकार की चित्रमयी भाषा पत जी के काव्य मे सर्वत्र मिलेगी। पत के काव्य की दूसरी बड़ी विशेषता उनकी वर्ण योजना है। केवल वही कलाकार भावो की कुशलतम अभिव्यक्ति कर सकता है जिसे रगो की सूक्ष्म पहिचान होती है। अग्रेजी के कीट्स, रोसेटी, राबर्ट-ब्रिजेज कवियो मे यह बात बहुत पाई जाती है। पतजी भी इस कला मे बडे प्रवीण है। वे अपनी वर्ण योजना द्वारा हमे रूपरग ही नही उसके स्पर्श और गध का अनुभव कराते है। 'उषा की कनक मदिरा मुस्कान' मे उषा का हलका सुनहरी रूप कितना सरवर है!

कला के क्षेत्र मे पत का स्तुत्य रूप उनका शब्द शिल्प-सौन्दर्य है। उनका एक-एक शब्द उनके भावो की अन्तरात्मा का प्रतीक है। जिस प्रकार एक कुशल शिल्पी एक एक भगिमा, एक-एक रेखा मे प्रतिमा के विविध भावो का अङ्कन करता है, उसी प्रकार उनके शब्दो मे अनुभूति की रेखाओ का प्रकाश है। इसका कारण यह है कि शब्दो की अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान पतजी का है उतना अन्य किसी कवि को नही।

'शांत स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनन्त नीरव भूतल'

मै अपलक, नीरव, शात, स्निग्ध, आदि शब्द अपने भावो को, अपनी ही ध्वनि मे; आखो के सामने चित्रित करने मे कितने समर्थ हैं!

पंतजी भाव भाषा और स्वरैक्य के सामजस्य द्वारा ध्वनि चित्रण करने मे भी बड़े पटु है। 'विरह अहह कराहते इस शब्द को' मे ह की आवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई प्रत्यक्ष ही विरह वेदना से कराह रहा हो। इसी प्रकार "शत् शत् फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयकर" की शब्द ध्वनि से 'वासुकि सहस्र फन' की भयङ्करता चित्र की तरह खिच जाती है। पतजी की प्रायः सभी रचनाओ मे यह ध्वनि चमत्कार विद्यमान है।

पत की कविता कामिनी की कमनीय काति अलकारो की मजुल आभा से दीप्तमान है। उनकी अपरिमेय कल्पना शक्ति ने ऐसे-ऐसे सौन्दर्यशाली अलकारो को ला जुटाया है कि अन्य काव्य कामिनियो को उससे ईर्ष्या होना स्वाभाविक ही है। नीचे की पंक्तियो मे 'छाया' को मूर्त्त रूप देने के लिए कितनी सुन्दर अप्रस्तुत योजना का विधान किया है—

तरुवर के छायानुवाद सी, उपमासी भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा सी कटी छटी नव कविता सी।

इसी प्रकार साम्यमूलक अलकारो द्वारा मानसिक व्यापारो की बडी रमणीय व्यजना हुई है :—

तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गभीर मुझे करता है अधिक अधीर॥

पर सब से अधिक चमत्कार पत जी ने लक्षणामूलक अलंकारो मे दिखलाया है। 'मर्म पीड़ा के हास' 'अरुण कलियो के कोमल घाव', 'ए स्वप्नो के नीरव चुम्बन' मे कितना लाक्षणिक सौदर्य है यह छिपा नही। इसी प्रकार अमूर्त्त भावो को मूर्त्त रूप देने और उनके मानवीयकरण से भी कवि ने अपनी कला के सौदर्य को निखारा है। चादनी उनके लिए 'जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला' है। स्वप्नो को मूर्त्त रूप देता हुआ कवि लिखता है—

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान।

इससे स्पष्ट है कि कल्पना और सौन्दर्य जीवी होने के कारण पंतजी को अलकार भी प्रिय हैं। आधुनिक कवियो मे संभवतः उन्होने ही सबसे अधिक अलकारो का प्रयोग किया है। इतना भी सत्य है कि उनके अलकार विधान पर अंग्रेजी पालिश अधिक है। सब कुछ मिलाकर पतजी की अलकार प्रतिभा बड़ी मौलिक, बड़ी रचनात्मक है।

पतजी की कला का अनन्य सौन्दर्य उनके छन्दो मे प्रगट हुआ है। स्वय कवि के शब्दो में 'कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सबध है। कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छद मे लय-

मान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बधन हीनता मे प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन, तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हे सजीव बना देते हैं।" इस प्रकार छन्दो ने ही कवि की कविता के प्राणो मे संगीत भरा है, उसके हृदय को स्पन्दन दिया है। भावो की गति के अनुसार उनके छन्द चलते हैं। उनमे राग की धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त रहती है। छन्दो की कड़िया कही विशृ खलित नही हैं। उसकी गति मे पूर्ण सामजस्य है। डा० नगेन्द्र के शब्दो मे "जिस प्रकार जलौध पहाड़ से निर्भर नाद मे उतरता, चढाव मे मंद गति, उतार मे क्षिप्र वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारो को काटता छाटता, अपने लिए ऋजु कु चित पथ बनाता हुआ आगे बढता है, उसी प्रकार छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन के अनुरूप सकुचित प्रसारित होता सरल तरल ह्रस्व, दीर्घ गति बदलता है।" पंत जी के छदो की यह भिन्न-भिन्न गति रस विशेष की सृष्टि करने मे बड़ी सहायक है। उन्होने करुण रस के लिए मालिनी, पीयूष वर्षण, रूप माला, सखी, हरिगीतिका, शृङ्गार के लिए राधिका, वीर के लिए रोला छदो का प्रयोग किया है।

कला के क्षेत्र में खड़ी बोली के लिए पत का सबसे बड़ा उपकार उनका भाषा-सौन्दर्य है। उनके स्पर्श से खड़ी बोली की शिलारूप अहिल्या जैसे प्राणवान हो उठी है। खड़ी बोली के खुरदरे पन को स्निग्धता मसृणता' और कोमलता मे बदल देने मे कवि पंत का सबसे बड़ा हाथ है। श्री राहुल सास्कृत्यायन ने लिखा है "पन्त बीसवीं सदी के महान कवियो मे हैं इसमे सन्देह नही। लेकिन महान कवि होने के साथ-साथ हिन्दी के लिए उनकी एक और भी बड़ी देन है, वह है हिन्दी की भाषा को कोमल और कात बनाना। एक सच्चे पारखी की तरह पत ने त्रिकाल से मौजूदा शब्दो को सेर छटॉक मे नही, रत्ती और परमाणुओ के भार में तौल कर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आका और उसे किसी यूनानी प्रस्तर शिल्पी की भाति अपनी छेनी और हथोड़े को बहुत कोमल और दृढ़ हाथो से काटा छाटा, उसे सुन्दर

भावो के प्रगट करने का माध्यम बनाया। शब्दो के सुन्दर निर्माण और विन्यास मे पत अद्वितीय है।"

पत की इस कोमल भाषा मे व्याकरण की कठोरता भी कोमल बन गई है। इसीलिए उन्होने कई शब्द पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिग और स्त्रीलिग से पुल्लिग मे प्रयोग किए हैं। उन्होने कुछ शब्दो के विचित्र प्रयोग भी किए हैं। उदाहरणार्थ 'मनोज' शब्द जिसका अर्थ कामदेव है, पर इसका प्रयोग कवि ने उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ मे बापू के लिए किया है। भावो को मूर्त्त रूप देने के लिए उन्होने नए शब्द भी गढे हैं और चित्रगौरव के अनुरूप पर्यायवाची शब्दो के भिन्न-भिन्न प्रयोग किये हैं। प्रहसित, विहसित, स्मित, फूत्कार, पुराचीन, ऐसे ही शब्द हैं। वास्तव मे चित्रमयता, शब्दो की ध्वन्यात्मकता, भावो के लिए उनकी स्थानापन्नता, पंत जी के भाषा सौष्ठव की बहुत बड़ी विशेषता है।

पतजी हिन्दी के सुन्दरतम कलाकार है। भाव और कला दोनो का ही अनिर्वचनीय वैभव वे अपने साथ लिए हुए है। कला के क्षेत्र मे जहा उन्होने पुरातन काव्य की समता मे नई काव्यरीति का रंगमहल खडा किया है, वहीं भावना के क्षेत्र में प्रकृति और मानव जीवन के अतुल भाव सौंदर्य से हिन्दी ससार को श्री सम्पन्न बनाया है। हिन्दी काव्यधारा आज नित नए रूप धारण कर रही है। प्रयोगवाद के रूप मे आधुनिक किशोरियो की भाति नित नए फैशनो की साज सज्जा से अपना शृङ्गार रच रही हैं। ऐसी किशोर तरुणियो के बीच कवि पन्त की कविता गैरिक धारिणी सन्यासिनी के समान शान्त और उदात्त विचारो की गभीरता और पवित्रता से मडित है।

द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया मे छायावाद का रूप लेकर जिस अन्तर्मुखी, अशरीरी और स्वप्नो के वायवी वातावरण से रगीन काव्यधारा का प्रणयन हुआ, श्रीमती महादेवी वर्मा आज उसकी सर्वश्रेष्ठ कवयित्री है। छायावादी काव्यधारा के मुख्य आलोक स्तम्भ प्रसाद आज नही रहे, निराला विक्षिप्त हो गए, पन्त इस लीक को छोडकर सास्कृतिक अभ्युत्थान के कवि बन गए, अकेली महादेवी ही आज वाणी के मन्दिर मे प्रतिष्ठित रहस्यवादी काव्य प्रतिमा की अर्चना मे रत है। रहस्यवाद की दीपशिखा महादेवी के काव्य का स्नेह-दान पाकर आज भी प्रज्ज्वलित है। उसका प्रकाश मन्द नही पडा है। आज के तथाकथित प्रगतिशील काव्य की मान्यताओ के हलचल मे वह अपने एकाकीपन मे तन्मय और विश्वास मे मुस्कराती हुई निष्कम्प दीपशिखा है, जिसका अखण्ड आलोक चिरन्तन साहित्य के अखण्ड प्रकाश को विकीर्ण कर रहा है।

छायावाद की प्रत्यूप बेला मे आलोचको के जैसे तीखे प्रहार निराला को सहने पड़े वैसे ही छायावाद की साध्य वेला मे महादेवीजी को आलोचनाओ का कटु गरल पान करना पडा है। प्रगतिशील आलोचको ने अतृप्त काम की प्रेरणा को उनके काव्य का उत्स माना है। उसे पीड़ावादी, पलायनवादी काव्य का पर्याय मान मानव जीवन के लिये उसकी महत्ता को अस्वीकार किया है। उस काव्य को प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी और बेसुरी झकार कहा है। भावनाओ के अन्तर्लोक को तज, जन-जीवन की शिराओ मे काव्य चेतना का

उष्ण रक्त प्रवाहित करने का बारबार उनसे अनुरोध किया है। स्वयं छायावाद के उन्नायक कवि पत ने स्पष्ट कहा "इस युग की कविता स्वप्नो मे नही पल सकती, उसकी जडो को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।" पर महादेवी अविचलित भाव से अपनी अन्तर्मुखी काव्य-साधना मे लीन रही हैं। पंत की मान्यता को अस्वीकार कर उनके कवि विहग ने कठोर धरती का आश्रय नही लिया, व्योम के स्वप्न नीड़ को ही अपना बसेरा बनाया। एक सती नारी की तरह उनका काव्य एक ध्येय, एक आदर्श का अनुगामी रहा। इसे छोड़ उसने दूसरा सहारा अपनाया ही नही। जो इस आधार को छोड़ नई मान्यताओं को स्वीकार कर रहे थे उनके सम्बन्ध में महादेवीजी ने भविष्य वाणी की "हमे निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथको पार करके कदाचित फिर चिरसवेदन सक्रिय भावना मे जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।" आज महादेवीजी की यह व्यक्तिगत धारणा सत्य का रूप ले चुकी है। पत ही नही अज्ञेय, राहुल आदि अनेक लेखक प्रगतिवाद के क्षेत्र से विमुख बन चुके हैं। महादेवी की काव्य साधना की सार्थकता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है?

सुश्री महादेवी वर्मा का जन्म सवत् १९६४ मे फरुखाबाद मे हुआ था। पिता गोविन्द प्रसाद वर्मा एम० ए० एल० एल० बी० भागलपुर के एक स्कूल में हैडमास्टर थे। माता हेमरानी देवी हिन्दी की विदुषी और तुलसी, मीरा, सूर के साहित्य की भक्त थीं। फलतः साहित्यिक अभिरुचि के सस्कार बचपन से ही महादेवी जी को प्राप्त हुए। प्रारम्भिक शिक्षा महादेवीजी की इन्दौर मे हुई तथा घर पर रहकर उन्होने चित्र और सगीत की शिक्षा प्राप्त की। तेरह वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह डा० स्वरूप नारायण वर्मा के साथ सम्पन्न हुआ। श्वसुर स्त्री-शिक्षा के पक्ष मे नहीं थे। फलतः महादेवीजी की शिक्षा का क्रम टूट गया। श्वसुर के देहान्त के पश्चात वे पुनः शिक्षा की ओर अग्रसर हुईं। युक्त प्रान्त की मिडिल और हाई स्कूल की परीक्षा उन्होने प्रथम श्रेणी में प्राप्त की तथा समस्त छात्रो मे उनका स्थान सर्व प्रथम रहा।

जीवन परिचय

राज्य को ओर से उन्हें छात्रवृत्ति भी मिली। एम० ए० उन्होंने सस्कृत लेकर उत्तीर्ण किया। दर्शन के अध्ययन की ओर महादेवी जी की विशेष रुचि रही।

एम० ए० उत्तीर्ण करने के बाद महादेवीजी प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका रही। प्रसिद्ध नारी मासिक पत्रिका 'चाद' का भी आपने सम्पादन किया। हिन्दी साहित्य के ठोस सृजन, हिन्दी भाषा के विकास और हिन्दी लेखको की सहायता के लिये आपने 'साहित्यकार ससद' की भी स्थापना की। आजकल महादेवीजी राज्य विधान सभा की सदस्या हैं।

अपने जीवन और साहित्यिक विकास के लिए महादेवीजी ने स्वय लिखा है "मेरा बचपन बहुत अच्छा बीता। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ कई पीढियो मे कोई लड़की नही थी। न बाबा के कोई बहन थी, न मेरे पिता के। मै अपने बाबा के तप का फल हूँ। वह दुर्गा के उपासक थे और जब मै पैदा हुई तो वह बड़े प्रसन्न हुए कि चलो एक लडकी तो पैदा हुई। सम्पन्न परिवार था इसलिए अभाव कोई था नही। सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थी। शिक्षा के प्रति विशेष रुचि हमारे परिवार की दूसरी विशेषता थी। मेरी माताजी ब्रज भाषा के पद बनाती थी और बहुत सुन्दर। मीरा के पद तो बहुत सुन्दर गाती थी। वह अत्यधिक धार्मिक थीं और पूजा-पाठ उनका प्राण था। मेरे सस्कार भी वही हैं। आरम्भ मे तो मैंने पद बनाना ही प्रारम्भ किया था और मैं यह कहूँगी कि पद बनाने मे मुझे सफलता भी काफी मिली। फिर लिखना भी मैने ब्रजभाषा मे ही आरभ किया। श्रीगणेश समस्या पूर्ति से हुआ। वह भी एक पडितजी की कृपा से। वह मुझे पढ़ाने आते थे। उन्होने मुझे समस्या पूर्ति सिखाई। वह पढ़ाने आते और कोई समस्या दे जाते। मै दिन भर उसकी पूर्ति करती रहती थी। उसके बाद मैथिलीशरणजी की कुछ रचनाएँ पढ़ीं तो समझ मे आया कि जिस भाषा मे हम बोलते हैं, उसमे भी कविता हो सकती है। यह सोचकर मैने खड़ी बोलीमे कविता करना आरम्भ कर दिया और गुरुजी को दिखाया। वह बोले—'अरे, यह भी कोई कविता है, कविता तो ब्रजभाषा मे ही हो सकती है।' लेकिन मै चोरी-चोरी यह सब करती रही। पिगल शास्त्र देखकर हरिगीतिका छद भी ढूँढ निकाला

और उसी ढङ्ग पर लिखना आरम्भ किया। एक खण्ड काव्य भी लिखा, जिसकी मुझे याद नहीं है न जाने कहाँ पड़ा होगा? छन्द हरिगीतिका है और हूबहू गुप्तजी से मिलता-जुलता है। वह आ[illegible] में उन दिनों छपा भी था। लेकिन उसके बाद छोटे-छोटे गीत लिखने को मुझे प्रेरणा स्वतः हुई। उसमे करुणा की प्रधानता इसलिए है कि बुद्ध का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन मे मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी है। कदाचित यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी। वैसे मेरी जीवन यात्रा बड़ी सुन्दर रही है।''

व्यक्तित्व

अत्यन्त लाड प्यार मे पली पर वेदना का प्यार करने वाली महादेवीजी बड़ी ममतामयी, कोमल और करुणा की मूर्ति हैं। बुद्ध की अहिंसा जैसे उनमें मूर्तिमान हो गई है। एक बार उनकी सुनयना बिल्ली ने एक जानवर की हत्या कर डाली। महादेवीजी के नेत्रों मे आँसू छलछला आए। उस दिन से सुनयना उनके यहाँ नहीं रही। वे आदमी द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शे में भी नहीं बैठती क्योंकि वे अपने द्वारा किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाती। इस ममतामयी करुणा की मूर्ति के होठो पर वात्सल्य की मधुर हँसी तो हमेशा थिरकती रहती है। शिवचन्द्र नागर के शब्दो मे "उनके अधरो से फूटता हुआ अविरल मुक्तहास उस तरह है जैसे किसी शान्त भूधर के अंचल मे कोई दूध से श्वेत पारदर्शी जल का निर्झर फूट रहा हो और उसको धरा की रज मलिन न कर पाई हो। कोई भी व्यक्ति उनसे मिलने जाए तो यदि उसे और कुछ भी न मिले तो वह इस निर्झर मे स्नान करने के सुख से वंचित न रह पाएगा, ऐसा मेरा विश्वास है।''

ऐसी महादेवी जी का द्वार सबके लिए खुला हुआ है। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे सभी से वे बड़े प्रेम पूर्वक मिलती हैं। दीन-दुखियो, ग्रामीणो के वे कितने निकट हैं ये उनके 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृतियो के रेखा-चित्र' संस्मरण कृतियो से स्पष्ट है। "सचमुच महादेवीजी का मन इतना बड़ा

है कि उसमे संसार भर का दुख समा सकता है और ससार के लिए उनके पास इतनी हँसी है कि वे ससार के समस्त दुःख का अपनी हँसी से विनिमय कर सकती हैं।"

महादेवीजी अपने जीवन म बड़ी कलात्मक हैं। उनके ड्राइङ्ग रूम मे जाइए, प्रवेश करते ही मन कह उठेगा कि यह किसी कलाकार का कमरा है। कमरे के चित्र, मूर्तियाँ और फूलो की व्यवस्था सभी एक कुशल कलाकार के हाथो से सँवारे हुए है। ललित कलाओ की तो साक्षात् सरस्वती हैं। काव्य सगीत, चित्रकला तीनो का ही उन्हे बरदान प्राप्त है। उनके काव्य हमारी हिन्दी की गौरवनिधि है। उनके चित्रो की निकोलिस रोरिक जैसे विश्व-विख्यात कलाकारो ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। पर महादेवीजी की क्रियाशीलता काव्य और चित्रकला तक ही सीमित नही है, महादेवीजी सक्रिय देश सेविका भी है। सन १९४२ के राजनैतिक आन्दोलनो मे उन्होने जेठ की तपती-बलती दुपहरी मे गॉव-गॉव की धूल छानी और उन असहाय परिवारो के भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध किया जो ब्रिटिश साम्राज्यशाही के पाशविक अत्याचारो के शिकार बने थे, और इस प्रकार महादेवीजी "जहाँ एक ओर कल्पना के पखो से काव्य के स्वप्निल नभ मे विचरण करने वाली कवियित्री हैं, वही दूसरी ओर इस धरा की पीड़ा को अपने अन्तर मे समेटती हुई, अपनी सहानुभूति पूर्ण भावना से उसके ऑसू पोछती हुई, दोनो हाथो से दान देती हुई 'दानेश्वरी, वरदायिनी, महादेवी भी हैं।"

जैसा कि कवयित्री के जीवन से स्पष्ट है, बहुत प्रारम्भ से ही काव्य रचना उनके जीवन का अङ्ग बन चुकी थी। अब भी सार्वजनिक कार्यो मे व्यस्त रहते

रचनाएँ हुए भी उनकी साहित्य साधना निरन्तर सजग और विकासोन्मुख रही है। अनेक उत्कृष्ट कला कृतियो द्वारा महादेवीजी ने भारती के भडार को समृद्ध बनाया है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

काव्य—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत, दीपशिखा। 'यामा' मे नीहार रश्मि और नीरजा की कविताओ का सग्रह है। 'नीरजा' पर उन्हे ५००) का सेक्सरिया पुरस्कार तथा 'यामा' पर १२००) का मगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है।

संस्मरण—अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ ।

नारी साहित्य—शृङ्खला की कड़ियाँ ।

आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य ।

बुद्धिवादी वस्तु जगत से अस्पर्श्य महादेवी की अन्तर्मुखी काव्य साधना अखण्ड और एक रस भाव से समिष्टगत चेतना मे तादाम्य के लिये आकुल व्यष्टि आत्मा की सवेदनशील प्रणयानुभूतियो के गीले गान, सिहरन भरी करुणा और घुलघुल कर जलने वाली दीपशिखा का–पीड़ा के उल्लास से भरा आलोक लेकर चली हैं। उनकी दृष्टि मे विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त, अखड, अलौकिक, चिर सुन्दर पर अज्ञात चेतन सत्ता का छाया मात्र है। ज्ञात रूप मे यही कलाकार की विरहणी आत्मा का निराकार प्रियतम है, जिससे मिलन के लिए वह विकल और बेचैन बन वेदना और करुणा के गीत गाती है। प्रियतम के पथ मे सुधि के दीप सँजोती है। मान, अभिसार और शृङ्गार करती है। इसी अज्ञात प्रियतम के आकुल सपनो और विरह विदग्ध हृदय की सवेदनाओ के रहस्यमय जल से अपनी साधना के पट को बुनती है। इस आध्यात्मिक अनुभूति के सम्बन्ध में स्वय कवियित्री का कथन हैं "पहले बाहर खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम मे ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे हृदय मे ही खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव मे एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख दुख मिश्रित अनुभूति ही चिंतन का विषय बनने लगी और अन्त मे अब मेरे मन ने जाने कैसे उस भीतर बाहर मे एक सामजस्य ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख दुख को इस प्रकार बुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।" बस इसी व्यक्त सौन्दर्य मे अव्यक्त सौन्दर्य की झाँकी और उससे तादाम्य की चिर पिपासा इस कवयित्री की रहस्य साधना की सीमात रेखा और काव्य की परिधि बनी है। "इसमें उनकी प्रेयसी की भूमिका है जो परोक्ष प्रिय के लिए अहर्निश आतुर रहती है। प्रिय और प्रियतम की इस कल्पित आँख मिचौनी से ही उनका काव्य क्रीड़ामय है।"

काव्य साधना

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'साध्यगीत' और 'दीप शिखा' महादेवीजी

की इस रहस्य साधना के चरण चिह्न हैं। 'नीहार' में कवयित्री की उन अनुभूतियों का चित्रण है जो विश्व प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके प्रति जिज्ञासा और विस्मय की भावभूमि पर आधारित हैं :—

अवनि अम्बर की रूपहली सीप मे
तरल मोती सा जलधि जब काँपता।
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से,
ज्योत्स्ना के रजत पारावार मे।
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है ?

'रश्मि' की रचनाओं मे वह अप्रत्यक्ष सत्ता निराकार प्रियतम बन गई है और कवयित्री की आत्मा ने उससे नाता जोड़ लिया है। कहीं इस सम्बन्ध में अद्वैत की झलक है, कहीं द्वैतभाव की :—

मैं तुममे हूँ एक एक है जैसे रश्मि प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न भिन्न ज्यो घन से तड़ित विलास।

कवयित्री की इस रहस्य भावना का तीसरा सोपान 'नीरजा' मे मुखरित हुआ है। इस अवस्था मे आत्मा प्रकृति मे परमात्मा का आभास पाकर उससे मिलने के लिए तड़प उठती है—

वे स्मृति बनकर प्राणों में खटका करते है निशि दिन
उनकी इस निष्ठुरता को जिससे मै भूल न जाऊँ।

कभी वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए अपना शृंगार करती है। शशि उसका दर्पण बनता है, तिमिर ही केश का रूप लेते हैं, जिसमें तारको के फूलो को वह गूँथती है, फिर भी अपने ऐसे अभिनव शृंगार से वह अपने प्रियतम को नहीं रिझा पाती—

शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाए तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं।

कभी वे मधुर-मधुर दीपक से प्रियतम का पथ आलोकित करती हैं, फिर भी प्रियतम नही आते। प्रियतम के वियोग की यही वेदना महादेवी के काव्य का सर्वस्व है। विरह जनित करुणा की अजस्र धारा उनके काव्य मे बही है अनन्य विरह, अनन्य वेदना बस यही उनका जीवन है। प्राणो के दीप जला कर वे निठुर प्रियतम की आरती करती हैं। अहर्निश उनकी आँखे भीगती रहती है, हृदय सिहरन करता है, होठो की ओटो मे आहे सोती हे। किन्तु महादेवी की यह विरह वेदना मिलन की सरस और सुखद अनुभूतियो से अधिक मधुमय है—

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी सी।

उनकी यह पीडा उनके मानस में भीगे पट के समान लिपटी हुई है। वह चिर शाश्वत है और उसके सामने उन्हें मिलन तनिक भी प्रिय नही है—

'मिलन का मत नाम ले मैं विरह मे चिर हूँ।'

इस प्रकार पीड़ा में मधुर सुख का अनुभव करती हुई वे उसका अन्त नही चाहतीं। उनको साधना प्रिय है तृप्ति नही। प्रयत्न मे जो आत्म सुख उनको है वह तृप्ति में कहाँ—

मेरे छोटे जीवन मे देना न तृप्ति के कण भर
रहने दो प्यासी आँखे भरतीं आँसू के सागर।

और—

इस अव्यक्त क्षितिज रेखा पर तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हे पकड़ पाने के सारे प्रयत्न हों फीके।

इस प्रकार महादेवी जी ने वेदना को ही अपने काव्य का मूल द्रव्य रखा है। इसीलिए विनयमोहन शर्मा का कथन है "यदि उनकी कविता को किसी बाद से ही बाधना हो तो उसे 'दुखवाद' से अभिहित कर सकते हैं।" दुख महादेवीजी को क्यो इतना प्रिय है उनके ही शब्दो मे "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे ससार को एक सूत्र में बाध रखने की क्षमता रखता है। हमारा एक बूंद आसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाए बिना नही रहता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सबको बाटकर। विश्वजीवन मे अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जलबिन्दु समुद्र मे मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" इसीलिए महादेवी जी का हृदय दीप वेदना की अकलुष ज्वाला मे निशिदिन जलता रहता है। उनके काव्य मे इतनी आकुलता और छटपटाहट है, कि उन्हे आधुनिक युग की मीरा कहा जाता है। क्योकि मीरा अपने प्रियतम कृष्ण के लिए जैसे छटपटाती है, वैसी ही तीव्र वेदना महादेवीजी मे अपने निराकार प्रियतम के लिए है।

पर इस पर भी हम महादेवी जी को मीरा की परम्परा का कवि नही कह सकते। महादेवी को मीरा कहकर डा० हज रीप्रसाद के शब्दो मे "उन्हें युगो के पीछे फेंक देना है।" मीरा और महादेवी की पीड़ा मे बहुत अन्तर है। श्री जैनेन्द्रकुमार के शब्दो मे "महादेवी की पीडा चाहकर अपनाई हुई है, मीरा की अनिवार्य। मीरा अपने मे बेबस और अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए विकल है। वे प्यासी हैं इसलिए उनमे पानी की पुकार है। महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती है, इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होने जाना नही है। घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है ही नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग मे रस अधिक ढूँढती हैं। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नही करती। मीरा तो अपने गिरिधर गुपाल के पीछे लाज लुटा बैठी हैं। महादेवी के लिए सामाजिक सम्भ्रान्तता उतनी नगण्य वस्तु नहीं है। कोई गिरिधारी उनके लिए इतना मूर्त्त और वास्तव नहीं बन सकता, जो उन्हें

उधर से असावधान करदे । यानी अपने इष्ट को वह विचार रूप मे ही ग्रहण कर सकती हैं, प्रत्यक्ष रूप मे नहीं चाह सकतीं । इस तरह मीरा और महादेवी की पीड़ा में मैं किसी प्रकार की समकक्षता नहीं देख सकता ।"

महादेवी जी की यह रहस्य साधना उनकी विरह विह्वलता, आत्मा और परमात्मा का प्रणय निवेदन कबीर आदि निर्गुण सतो तथा सूफी कवियो के भी समकक्ष नहीं हैं । बुद्धि के क्षेत्र को नीचे छोड़कर जहाँ निर्गुण सत साधको और सूफी कवियों ने परम सत्ता का साक्षात्कार किया है महादेवी जी में निर्गुण सतो की सी यह साधना और विह्वलता नही है । उनके काव्य का धरातल बौद्धिक है । निर्गुण सतो मे प्रणयानुभूति के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं है, वहा महादेवी जी कविता मे और भी बहुत कुछ शेष है । जैनेन्द्र जी के ही शब्दो मे "वेदना वह (महादेवी जी की वेदना) समग्र नही किंचित बौद्धिक है । बुद्धि जानती है, इस कारण घुलने नहीं देती, यानी वह भक्ति से भिन्न है । भक्ति मे विह्वलता है, महादेवी के काव्य मे इतनी कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है । विह्वलता मे भाषा के किनारे टूटे फूटे बिना नहीं रह सकते जबकि महादेवी जी की कविता सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण है । कविता मे उनकी निजता डूबती नहीं है, बुद्धि की डोर से वह अलग थमी रहती है । वेदना वह जो बुद्धि को भिगोदे । बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीड़ा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं । जब कि वेदना का मूल प्राण है ।" सत्य तो यह है कि निर्गुण सतो की रहस्य भावना जहाँ साधना मूलक है, वही महादेवी जी की रहस्य भावना कला मूलक है ।

'साध्यगीत' और 'दीपशिखा' में महादेवीजी की यह रहस्य भावना चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है । यहाँ वे अपने भीतर ही अपने प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति करती हैं । उनका दुख सुख मे बदल जाता है । वियोग की राते मिलन की राते बन जाती हैं । अपनी आराधना से वे स्वय आराध्यमय बन जाती हैं । उनका पथ ही उनका निर्वाण बन जाता है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया
प्रतिपग शत बरदान बन गया ।

महादेवी जी के रहस्यवाद की यह सक्षिप्त सी रूपरेखा है। इस रहस्यवाद में उन्होंने "पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदात के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भावसूत्र में बाधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य हृदय को अवलम्ब दे सका, पार्थिव प्रेम से ऊपर उठ सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय कर सका।"

महादेवी के काव्य मे आत्मा, प्रकृति और परमात्मा इन तीन तत्वो की ही प्रधानता है। प्रकृति इन दोनो तत्वों के संबध को जोड़ने वाली बीच की कड़ी है। वह असीम प्रियतम की ओर संकेत करने वाली उनकी सहचरी है। विराट तक पहुचने के साधना मार्ग मे वह सदैव उनके साथ रही है।

महादेवी और प्रकृति

यही नहीं अपने निराकार प्रियतम से मिलन के लिए कलाकार की आत्मा ने प्रकृति ने पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर लिया है। 'मैं बनी मधुमास आली' 'मै नीर भरी दुख की बदली', 'प्रिय साध्य गगन मेरा जीवन', 'रात सी नीरव कथा तम सी अगम मेरी कहानी', गीत इसके प्रतीक हैं।

महादेवी जी ने प्रकृति का मानवीयकरण भी किया है। उसमे उन्होने एक ओर विराट की छाया देखी है वहीं अपनी छाया भी देखी है—

अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमंत जटित तारक अमोल
चपला विभ्रम स्मित इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेत निकर
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर।

वे प्रकृति के उपकरणो से अपना शृंगार भी करती हैं—

रंजित करदे यह शिथिल चरण
ले नव अशोक का अरुण राग।
मेरे मंडन को आज मधुर

ला रजनी गंधा का पराग।
यूथी की मीलित कलियो से अलि दे मेरी कबरी संवार।

समग्र रूप से प्रकृति महादेवी जी की काव्य साधना की पृष्ठभूमि बनी है, स्वय अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखती। प्रकृति मे उन्होने अपनी ही आशा, निराशा, रुदन हास, आकाक्षा और उत्कठा के चित्र अधिक अङ्कित किए हैं। पत की तरह प्रकृति मे उनका मन नहीं रमा। इसीलिए श्री विनयमोहन शर्मा के शब्दो मे "महादेवी के काव्य मे प्रकृति से परिचय पाना शहराती ड्राइग रूम के फर्श पर बन प्रागण की हरी दूब खोजने के समान अप्राकृत प्रयत्न है।"

अन्तर्मुखी सूक्ष्म भावनाओ को व्यक्त करने के लिए गीत काव्य सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसलिए गीतो के माध्यम से महादेवीजी ने अपने प्रणयी हृदय की अतृप्त प्रेम प्यास, विरक्तिमय अनुराग, तथा वेदना की सिहरन को वाणी दी है। इस रूप मे महादेवी जी का स्थान आधुनिक गीतकाव्य मे सर्वोपरि है। भाव, भाषा और सगीत की जैसी त्रिवेणी इन गीतो मे प्रवाहित हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके गीतो मे जो आत्म विस्मृति, तन्मयता, तरलता है वह अद्वितीय है। उनकी भावविदग्धता और मधुर सगीत हृदय को तन्मय बना देता है। उनके गीतो मे विरह की वैसी ही कातर वेदना है, जो मीरा के गीतो मे है। भावो की गहनता के साथ-साथ उसमे काव्य कला का मनोहर सौष्ठव है। शुक्लजी लिखते हैं—"गीत लिखने की शैली मे जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नही। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध प्रवाह और कहीं मिलता है और न हृदय की भावभगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और व्यजना से भरी पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।"

महादेवी का गीत काव्य

"गीतकर्त्री की दृष्टि से महादेवी को प्रसाद और निराला के बीच की शृंखला कहा जाता है। प्रसाद के गीतों में भाव प्रवणता, निराला के गीतो में चिंतन और महादेवी के गीतो में दोनो का समावेश है। निराला के गीत-स्वर ताल की शास्त्रीय मर्यादा के साथ चलते हैं और साथ ही दृश्यो की

शृंखला मे भी जकड़े हुए रहते हैं। प्रसाद और महादेवी के गीतो मे संगीत-शास्त्र का कोई बन्धन नही है। निराला मे शब्दो के ह्रस्व दीर्घ के विकार कम पाए जाते ह, प्रसाद मे अधिक। पर महादेवी मे प्रसाद से कम और निराला से अधिक मिलते हैं। निराला मे भावो की अन्विति के साथ गीत पूर्ण होता है, प्रसाद मे भी भाव प्रायः विच्छिन्न नही होने पाता, पर महादेवी के गीतो मे पूर्ण [illegible] पाई जाती है। उनका एक गीत एक ही भाव का पूर्ण परिणति नही होता। उसमे कई भाव झलक उठते हैं।"
(श्री विनयमोहन शर्मा)

महादेवी के इस गीत काव्य मे विविधता न होकर एक रसता है। एक ही भाव विभिन्न शब्दावलियो मे बार-बार दुहराया गया है। इसका मूल कारण यही है कि कवयित्री के हृदयाचल मे भाव प्रसूनो का आधिक्य नही है। एक ही भाव विविध रूप ग्रहणकर उनके काव्य का विषय बना है। इस प्रकार महादेवी जी के गीतकाव्य का क्षेत्र सीमित है।

छायावाद के ऐश्वर्ययुग मे महादेवीजी की काव्य कला का जन्म हुआ है। छायावादी अभिव्यजना उस समय इतनी परिपुष्ट थी कि उसमे किसी साधारण कवि के पाव जमना कठिन था। पर छायावाद के ऐश्वर्य युग मे महादेवी जी ने प्रवेश ही नहीं किया वे उसकी सर्वोच्च कलाराधिका भी बनीं। छायावाद की कला का सारा वैभव, सारा ऐश्वर्य उनमे आत्मसात् हो गया। इस मे भी सदेह नही कि रहस्यवादी अनुभूति के सम्यक प्रकाशन के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यकला की अपेक्षा है। रहस्यवाद की अशरीरी, अमूर्त, सूक्ष्म अनुभूतियो को स्थूल शब्दो मे बाधना सरल बात नहीं और फिर वहाँ भावो की बहुत सीमित परिधि भी होती है। थोड़े से तारो पर अनत झंकारे पैदा करनी होती है। ये सब असाधारण कलाकर्त्री के हाथो ही सम्भव है। कहना न होगा कि समस्त रहस्यवादी काव्य धारा में इस दृष्टि से महादेवी जी का स्थान सबसे ऊ चा है। उनकी कला का गगन चुम्बी ऐश्वर्य अपनी प्रतिस्पर्द्धा नही रखता।

महादेवी जी की काव्य कला

महादेवी जी की कला मोती के समान स्वच्छ और तरल है।

"भाषा के रंगो को हलके-हलके स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल तरल चित्र आक देना उनकी कला की विशेषता है। पंत की कला मे जड़ाव और कढ़ाई है, फलतः उनके चित्रो की रेखाए पैनी होती हैं। महादेवी की कला मे रग धुली तरलता है, जैसी कि पखुड़ियो मे पड़ी हुई ओस मे होती है।" (डा० नगेन्द्र)

महादेवी जी की इस काव्य कला की सबसे बड़ी विशेषता उसका अलकारिक सौन्दर्य है। अलकारो मे महादेवी को सागरूपक बहुत प्रिय है। प्रकृति, आत्मा और परम तत्व को लेकर उन्होने बड़े ही भावपूर्ण रूपको की उद्भावना की है। नीचे की पक्तियो मे आरती का रूपक कितना पूर्ण कितना कलात्मक है—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेगे आरती
दृग मेरे दो दीपक झिलमिल
भर आँसू का स्नेह रहा ढल
सुधि तेरी अविराम रही जल
पद ध्वनि पर अलोक रहूँगी आरती॥
प्रिय मेरे गीले नयन बनेगे आरती।

समासोक्ति अलंकार से महादेवी जी ने प्रकृति के कितके मनोहर चित्रो में रग भरा है। उदाहरण के लिए—

गुलाबो से रवि का पथ लीप।
जला पश्चिम मे पहला दीप।
विहसती सध्या भरी सुहाग।
दृगों से झरता स्वर्ण पराग।

यही नहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, विभावना, प्रतीप, अपन्हुति, व्यतिरेक, अलकारों की भव्य छटा भी उनके काव्य मे दर्शनीय है। कहीं-कहीं तो उनके मौलिक अप्रस्तुत बड़े रमणीय बड़े अद्भुत हैं—

विधु की चांदी की प्याली
मादक मकरन्द भरी सी

जिसमें उजियाली रातें
लुटती घुलती मिसरी सी

रस मे उजयाली रातो का घुलती हुई मिसरी के समान लुट जाने मे कितना भाव साम्य है।

महादेवीजी की काव्य कला की एक और विशेषता उसकी प्रतीक योजना है। कवयित्री की अपार्थिव रहस्यानुभूतिया प्रायः प्रतीको के माध्यम से ही पार्थिव रूप ग्रहण कर सकी हैं। सागर ससार का प्रतीक है, तरी जीवन की, तम अज्ञान का, प्रकाश ज्ञान का। इसी प्रकार वीणा के तार हृदय के भावो के लिए प्रयुक्त हुए हैं, दीपक आत्मा का प्रतीक बनकर आया है। इन प्रतीको का प्रयोग निश्चित रूप से एक भाव के लिए भी नहीं हुआ है। भावो के लिए जहा वीणा के तार प्रतीक हैं, वहीं कलियो का उच्छ्वास, और उज्ज्वल तारे भी। प्रतीको की इस बहुल योजना से महादेवीजी की भाव व्यजना साकेतिक अधिक बन गई है। फलतः साधारण पाठक के लिए वह बोधगम्य नहीं है। कवयित्री की भावनाओ मे बैठकर ही उसकी अभिव्यजना कला को पकड़ा जा सकता है।

महादेवी जी की काव्यकला की अन्य विशेषताए चित्रमयता, वर्ण योजना, शब्द शिल्प विधान, लाक्षणिक प्रयोग और मूर्त्तिमत्ता है। सीधी, सरल शैली मे तो वे कुछ कहना ही नही चाहती। अभिव्यजना मे सर्वत्र लाक्षणिक कला की मधुश्री बिखरी हुई है। इसीलिए महादेवी जी के गीतो मे आशा मुस्कराती है, आहे सोती हैं, शून्य गाता है, किरणे मचलती हैं, प्रभात हॅसता है शून्य गाता है। महादेवी जी के रूपको मे उनकी कला का अद्‌भुत निर्माण कौशल देखा जा सकता है। उनमे उदात्त कल्पना के सहारे उनकी अशरीरी भाव भगिमाए पूर्ण और सजीव चित्र के समान परिलक्षित है।

महादेवीजी कला का बहुत बडा आकर्षण उनकी अनमोल साचे मे गढ़ी भाषा है। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इस सबध मे लिखा है। भाषा की दृष्टि से आप आज हिन्दी के किसी भी कवि से पीछे नहीं है। पंतजी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत भार से आक्रॉत है। निराला के शब्दों में अबाध वेग अवश्य है, किन्तु उनकी भाषा मे वह पच्चीकारी नहीं। अन्य कवियो मे इस प्रकार चुन

चुन कर मोतियो की जडाई नहीं मिलती । भगवतीचरण वर्मा और बच्चन सर्व-साधारण के अधिक निकट हे । किन्तु इस मधुर निर्भरणी का कल कल निनाद अद्वितीय है । यह शब्दो की शिल्पकला आपकी अपनी है। यह भाषा अलकार भार से झुकी अवश्य है, किन्तु बड़े चतुर कारीगर के गढे ये अलकार हैं। एक-एक शब्द को चुन चुनकर इस शिल्पी ने सजाया है। हिन्दी काव्य परम्परा मे बिहारी, देव, केशव, मतिराम इसी श्रेणी के शिल्पी थे। शब्दो के इस मदिर आसव से बेसुध पाठक ध्वनि चमत्कार मे लीन रह जाता है। इस शब्द चित्रो के पीछे क्या है, वह नहीं पूछता।"

वास्तव मे भाषा की ऐसी मधुरिमा, ऐसा लोच लालित्य अन्यत्र मिलना कठिन है। सस्कृत शब्द प्रधान होते हुए भी वह हमारे मस्तिष्क को नही हृदय को छूती है। इसका कारण भाषा का लालित्य ही है। अपनी भाषा को अधिक से अधिक मधुर बनाने के लिए महादेवी जी ने 'ट' वर्ग के वर्णो तथा कठोर वर्णो का प्रयोग ही नहीं किया। 'प' वर्ग तथा 'त' वर्ग के वर्ण म, र, ल, ण, न तथा अनुस्वारयुक्त वर्णो का प्रयोग ही उन्हे रुचिकर हुआ है। मदिर, मादक, विधु, मुसकान, सुरभि, समीर, झरना, लोल, लहर, लास, तुहिन कण, पराग, मधुकन, नवल, नेह, राग, अजन, महादेवीजी के बहुत प्रिय शब्द हैं। ऐसे वर्ण स्वभावतः ही कोमल होते हैं।

महादेवी जी के गीतो की भॉति भाषा मे भी एकरसता है। वह आदि से लेकर अन्त तक प्रेम, करुणा और शृगार की कोमल झकार को लेकर चली है। उसका सर्वत्र एक स्तर रहा है। इससे ऊपर नीचे उतरने को वह प्रस्तुत ही नही है। निराला जहॉ जुही की कली जैसी रगीन भाषा लिखकर 'बादल राग' की दर्पभरी ओजस्वी भाषा का भी प्रणयन कर सकते हैं, पत जहॉ 'उत्तरा' 'स्वर्णधूलि' के सस्कृत निष्ठ गीतो के साथ-साथ 'बासो का झुरमुट टीवी टी टुट टुट' भाषा लिख सकते हैं, महादेवी जी को यह सब स्वीकार नहीं। उनकी भावभगिमाए निश्चित हैं, इसलिए भाषा का रूप भी निश्चित है। उसे किसी अन्य रूप मे ढालने की उन्हे आवश्यकता ही नही। फिर भी एक रस होते हुए भी महादेवी जी की भाषा का सौन्दर्य कहीं जड़ नही हुआ है। हर गीत मे उनकी भाषा सद्यस्नाता नायिका की भॉति हृदय को रस-

विभोर करने वाली है। उनकी आत्मा की भाति वह भी नित नवीन और अखड सुहागिनी है। यही बात महादेवी जी की समग्र कला के सबंध में कही जा सकती है।

महादेवी जी के छन्द सभी मात्रिक हैं और वे अपने मे पूर्ण हैं। उनके काव्य की स्वर लहरियाँ छन्दो की गति मे और भी मोहक होगई हैं। मात्रिक छन्दो के अतिरिक्त अनेक लोकगीतों मे भी महादेवी जी ने प्राण-प्रतिष्टा की है। श्री विशम्भर 'मानव' ने इस सम्बन्ध मे उचित ही कहा है। "गीतो मे टेक की विविधता से एक प्रकार की नूतनता, मौलिकता, और मुग्धता भरी हुई हैं। इनमे जो कोमलता, जो मधुरता और मुग्धता भरी हुई है उसकी प्रशसा सामर्थ्य से बाहर है। केवल स्वर साधन से उनके प्रभाव का परिज्ञान हो सकता है। उनमे सगीत का वह मोहन मन्त्र है जो मन को लोरी देकर स्वप्नाविष्ट करने की शक्ति रखता है।"

सब कुछ मिलाकर महादेवी जी की कला सहज स्फुरित, सहज प्रकाशित है। क्योकि काव्य यहाँ कलाकार की अन्तस्फूर्ति का विषय है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति नैसर्गिक सौन्दर्य से अभिभूत है। यह सौदर्य श्यामल सध्या के झिलमिल करते तारो का हलका हलका प्रकाश है, विद्युत दीपो का जग मग करता हुआ प्रकाश नही। इसीलिए यह सौन्दर्य हमारी आखो मे चकाचौध नहीं भरता, वरन सहज अनुराग जगाता है। वह हमे चुम्बक की तरह अपनी ओर खींचता है और इन गीतो को स्वर ‹ हरियो मे भावविसुध होने के लिए विवश करता है। उनकी इस कला मे "सौन्दर्य ही भाषा बन गया है और सगीत ने ही छन्द का रूप ग्रहण कर लिया है।" (डा० रामरतन भटनागर)।

प्रो० श्री रामचन्द्र महेन्द्र लिखते हैं—"कल्पना चाँदनी की साड़ी पहिन, तारो की स्वप्निल जाली मुह पर डाले, सध्या का सिदूर मुख श्री पर लगाए, जिस कवयित्री की रहस्यवादी कविता मानव-जगत से

महादेवी जी का गद्य बहुत ऊँची उठ कर भाव गगन मे बिहार करती है, उसी गद्यकार महादेवी की 'शृखला की कड़िया' तथा 'स्मृति की रेखाए' का धरातल यथार्थवादी, ठोस और पार्थिव हैं।

ससार की कठोर निर्ममता और हृदय हीनता को उन्होने देखा है। महादेवी की कविता मे जहा दया और प्रेम छलकता है, वहा गद्य मे उन्होने प्रतीड़ित नारी की परवशता, समाज की हृदय हीनता, कठोरता, जडता रूढियो को उखाड़ फेकने का प्रयत्न किया है। जहा कविता मे आपकी प्रकृति आत्म केन्द्रित है, वहा गद्य मे मूलतः समाज केन्द्रित है। उसमे जनता का दुर्दनीय अवसाद और आकुल पीड़ा उद्वेलित हो उठी है।

महादेवी जी के इस जनजीवन को स्फूर्ति देने वाले गद्य के कई रूप हैं। १—उनका विवेचनात्मक गद्य जो उनकी कविता—पुस्तको की भूमिका और कुछ स्फुट निबधो के रूप मे हैं, २—दूसरे उनके सस्मरण, ३—'चॉद' की उनकी नारी समस्या विषयक सम्पादकीय टिप्पणियाॅ जो 'शृङ्खला की कड़ियाॅ' नाम से पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार महादेजी जी के गद्य साहित्य की तीन प्रधान भूमिकाए हैं— १—साहित्य की विविध मान्यताओ को लेकर साहित्यालोचन। २—जन-जीवन की विविध भगिमाओ को स्पर्श करते हुए उनके संस्मरण ३—समाज के पाशविक बधनो मे छटपटाती नारी जीवन की करुणा की अभिव्यक्ति।

महादेवी जी का आलोचना साहित्य उनके काव्य की भाति ही महत्वपूर्ण है। छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, कविता और साहित्य के विविध रूपो को लेकर उन्होने प्रौढ़ साहित्य सिद्धातो को जन्म दिया है। उनके इन सिद्धातो मे जहाॅ साहित्य के स ातन सत्यो का प्रकाशन हैं वहीं, आधुनिक गद्य साहित्य की गति विधि का निरूपण भी। अपने इन सिद्धान्तो मे महादेवी जी सर्वथा मौलिक हैं। उनकी चितन शक्ति उनकी गहरी अनुभूति का परिणाम हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार वे जैसे बौद्धिक तथ्यो को पचा-पचा कर हमारे समक्ष रखती है। इसलिए महादेवीजी की समीक्षा शैली मे कोई उलझाव नही है। वह अन्य छायावादी समीक्षको की अपेक्षा काव्यात्मक भी अधिक है। उसमे पन्त और प्रसाद जैसी ठोस बौद्धिक विवेचना नहीं, टैगोर की सी लचीली चिन्तन शीलता है।

उनके गद्य का सबसे उदात्त रूप उनके जीवन के सस्मरणो मे मिलता है। उनके ये सस्मरण गॉव और नगरो की सामाजिक व्यवस्थाओ की कुंठाओ

के घेरे मे रुद्ध मनुष्य जीवन विशेष कर पीड़ित और चिर शोषित नारी जीवन की सचाई से भरे जीते जागते सजीव चित्र हैं। श्रीमती शचीरानी गुटूं ने सत्य ही कहा है कि 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाए' मे उनके अन्तर्भाव ऊपरी सतह पर उठने वाली लहरियो की भॉति नही, वरम् अन्तस, के गहन गभीर आलोड़न से उत्पन्न तीखे ठोस बिन्दु हैं जो मर्म पर चोट करते हुए अमिट रूप से अङ्कित हो जाते हैं, मानो भीतर की सारी शक्ति सञ्चित होकर शब्दो में सजीव हो उठती है। सामाजिक जीवन की गहरी पर्त्तो को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी जीवन के वैषम्य और शोषण को तीखे-पन से ऑकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्नवर्ग के निरीह साधन हीन प्राणियो का ऐसा हार्दिक और अनूठा चित्रण अन्यत्र कम ही मिलेगा।" महादेवी जी के ये सस्मरण उनके अपने जीवन के सस्मरण नही हैं वरन् भारतीय जीवन के सस्मरण चित्र हैं। भारतीय जीवन के प्राणो का करुण सङ्गीत ही इन संस्मरणो में मुखरित हुआ है।

'शृङ्खला की कड़िया' मे इस महादेवी ने सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित शोषित भारत के अशिक्षित नारी समाज की करुणा, वेदना का प्रतिनिधित्व किया है। वे केवल बौद्धिक सहानुभूति मात्र ही लेकर नहीं चलीं वरन् उनके साथ, समाज की रूढ़ियो और कुत्साओ, पर तीखे प्रहार के शस्त्र भी है, नारी समाज पर पुरुष वर्ग के किये जाने वाले अत्याचारो और अत्याचारो के प्रति तीव्र विद्रोह भी है। नारी की आवाज को उन्होने बहुत प्रबल स्वर मे ऊचा उठाया है। उसके स्वत्वो और अधिकारो की जोरदार शब्दों मे माग की है। आज के हमारे नारी समाज का तीखा परिचय इन पक्तियो मे देखिए—

"इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरजन के लिए रग-बिरगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है, तथा अपने पालित पशु पक्षियो के समान ही यह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेक हीन जीवन का सजीव चित्र देखना हो तो विवाह के समय गुलाब सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाच वर्ष बाद देखिए। उस समय उस असमय प्रौढ़ हुई दुर्बल सतानो की रोगिणी पीली माता मे कौनसी

विवशता, कौनसी रुला देने वाली करुणा न मिले ।"

कविता की भाति गद्य मे भी महादेवी जी ने संस्कृत गर्भित खड़ी बोली को अपनाया है । संस्कृत गर्भित होते हुए भी उनकी, भाषा सरल, प्रवाह पूर्ण और माधुर्य युक्त है । भाव, भाषा, और संगीत की त्रिवेणी के संगम पर उनके गद्य का निर्माण हुआ है । महादेवी जी का शब्द चयन बड़ा श्लिष्ट, भावानुकूल है तथा वाक्य विन्यास सुलझा हुआ और दृढ है । भाषा मे सर्वत्र कविता की सरसता तल्लीनता और तन्मयता है । जटिल होते हुए भी भाषा मे तीव्रवेग है । फलतः पाठक किसी स्थान पर भी अरुचि अनुभव नही करता वरन् कलाकार के भावो के साथ स्वय बहता चलता है । एक प्रकार से महादेवी जी भाव प्रवीण लेखिका हैं । इसलिए जिन स्थलो पर मार्मिक अनुभूति और सुन्दर कल्पना का समन्वय है वहा भाषा का मर्म स्पर्शनीय सौंदर्य पेक्षणीय है । सक्षेप मे भावुकता, विदग्धता तथा स्वानुभूतियो की स्फूर्ति दायिकता महादेवी जी की भाषा के विशिष्ट गुण हैं ।

गद्य शैली

अपने भावो की अभिव्यक्ति महादेवीजी ने बडी अलकारिक एव व्यजनापूर्ण शैली में की है । उनकी शैली मे कल्पना, भावुकता, सजीवता और भाषा चमत्कार सब एक साथ देखे जा सकते हैं । उनकी शैली मे जो स्पंदन है, हृदय को मथने की शक्ति है, सुकुमारता और तरलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । इसीलिए हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक श्री गुलाबराय जी का कहना है कि मैं गद्य मे महादेवी जी का लोहा मानता हूँ ।

वर्णनात्मक और भावात्मक इन दो शैलियो को महादेवी जी ने अपनी रचनाओ मे प्रधानता दी है । वर्णनात्मक शैली अपेक्षाकृत कुछ सरल है । इसमें वाक्य न अधिक छोटे है और न अधिक लम्बे हैं । सरल होते हुए भी भाषा प्राजल और परिष्कृत है । उदाहरण के लिए—

"जब तक स्त्रिया घरेलू काम काज मे फँसी रहती हैं, तब तक उनकी परवश स्थिति रहती है । स्त्री जाति की पूर्ण स्वाधीनता के लिए और इन्हे सच्चे अर्थ मैं पुरुषो का समकक्ष बनाने के लिये आवश्यक है, कि हम सामाजिक उत्पादन प्रणाली का सूत्रपात करे और स्त्रियो को इस बात का अवसर

दें कि वे भी पुरुषों ही की भांति सामाजिक उत्पादन के श्रम में हाथ बटा सकें। तब स्त्री और पुरुष की समान स्थिति हो जायगी।"

भावात्मक शैली महादेवीजी की प्रतिनिधि शैली है। इसमें शब्द चयन बड़ा भावपूर्ण तथा वाक्य विन्यास अलंकारिक है। उनकी इस शैली मे कवित्व का सौंदर्य अभिभूत है—

"चारो ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलता हुआ क्षितिज रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप मे जग मगाती असख्य चादी सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमे और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था जैसे किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों मे पहले रग की तूलिका डुबाकर नीचे धरातल पर इधर उधर फेर दी पृथ्वी अश्रु मुखी ही दिखाई पड़ती है।

'हिन्दी साहित्य के इतिहास मे छायावादी काव्य की जो महत्वपूर्ण भूमिका है महादेवी उसी की प्रतिनिधि कवयित्री हैं। हिन्दी साहित्य मे जो महत्वपूर्ण स्थान इस भूमिका का होगा वही सम्मान, वही गौरव महादेवीजी के काव्य को प्राप्त होगा। अपने गद्य साहित्य मे महादेवीजी ने स्वस्थ जन-वादी साहित्य को वाणी दे प्रगतिशील साहित्य की भूमिका सम्पादित की है। अभी उनकी साहित्य साधना पर विराम नहीं लगा पर अब तक उन्होंने जो कुछ दिया है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। वे जैसे हिन्दी के विशाल मन्दिर की साक्षात वीणापाणी है, चिरन्तन साहित्य चेतना की मगल मयी प्रतिमा हैं—

> हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा पाणी,
> स्फूर्ति चेतना रचना की प्रतिमा कल्याणी।

(निराला)